उपनिषदार्य्यभाष्य

द्वितीयभाग

जिसको

निखिलतन्त्रस्वतन्त्र श्री पं०आर्य्यमुनिजी प्रोफ़ेसर
संस्कृत फिलासफी डी. ए. वी. कालिज लाहौर

ने

निर्माण किया

और

पं०देवदत्तशर्म्मा

ने

दुर्गाचन्द के प्रबन्ध द्वारा बाम्बेयन्त्रालय लाहौर
में
मुद्रित कराके प्रकाशित
किया

सं० १९६७ सन् १९१० ई०

प्रथमवार १,०००] [मूल्य ४) रु०

ओ३म्

उपनिषदार्य्यभाष्य के द्वितीयभाग की

भूमिका

(१)

ब्रह्मास्मीत्यादिवाक्यं त्वमसि तदिति वा-
वाक्यजातं प्रमाणं, तद्धन्नानेति वाक्यं-
कथयति जगतो ब्रह्मणोऽनन्यरूपम् ।
एवं येऽज्ञान दोषादृषिमुनिं वचने सर्व-
था मुह्यमानाः, तेषां मोहापनोदे-
निगमपथयुतं ह्यार्य्यभाष्यं मदीयम् ॥

(२)

आत्मैवाभूद्यदा सर्वं, मिथ्यादृश्य प्रणाशतः ।
तत्केन कं विजानीयात्, केन को दृश्यते तदा ॥

(३)

तत्त्वमस्यादिभिर्वाक्यैर्ब्रह्माऽद्वैतं विवक्षितं ।
शाङ्करमतमादाय प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

(४)

केचिच्च युक्तिभिः प्राहुर्मिथ्यात्वंशुक्तिरूप्यवत् ।

वेदोपनिषदां तत्वं मिथ्यात्वे समञ्जसम् ॥

(५)

अर्थाभाससमाश्रित्य वाक्याभासं तथैव च ॥
कथयन्ति हि ते सर्वे महामोह विमोहिताः ॥

(६)

एतेषां तत्व बोधाय विज्ञाय वैदिकाशयं ।
छान्दोग्याद्यार्य्यभाष्यं तु मुनिनेदं विनिर्मितं ॥

॥ दोहा ॥

अस्ति भाति प्रिय सिन्धु में नाम रूप संसार ।
मरुमरीचिका सम नहीं याको करो विचार ॥

मायावादी "नेहनानास्तिकिञ्चन" बृहदा० ४।४।१९ इस वाक्य पर निर्भर करके यह कथन करते हैं कि इस सम्पूर्ण संसार की तीनो कालों में सत्ता नहीं अर्थात् शशशृङ्गादिकों के समान इसका अत्यन्ताभाव है, सो ठीक नहीं, क्योंकि जिस पदार्थ का जहां अत्यन्ताभाव होता है वह पदार्थ वहां तीनो कालों में नहीं होता और वहां न होने से ही उसका अत्यन्ताभाव कहा जाता है, या यों कहो कि "अनादिरनन्तोऽभावोऽत्यन्ताभावः" = जो अनादि तथा अनन्त अभाव हो उसका नाम "अत्यन्ताभाव" है, यदि संसार का तीनों कालों में अत्यन्ताभाव होता तो इस प्रपञ्च की कदापि उपलब्धि न होती परन्तु होती है और इस उपलब्धि को मायावादी भी

मानते हैं पर वह इस दोष का परिहार इस प्रकार करते हैं कि उक्त बृहदारण्यक वाक्य परमार्थरूप से जगत् का ब्रह्म में अभाव कथन करता है अर्थात् यह जगत् तीनों कालों में ब्रह्म के समान सद्रूप नहीं, और जो तीनों कालों में नाश को प्राप्त न हो उसको परमार्थ रूप से सत् कहते हैं, सत् तथा त्रिकालाबाध्य यह दोनों एकार्थ वाची शब्द हैं, यद्यपि वैदिक मत में प्रकृति भी नित्य कही जाती है, क्योंकि उसका भी नाश कभी नहीं होता केवल स्वरूप का परिवर्तन होजाता है तथापि उसको कूटस्थ नित्य नहीं कहसक्ते, कूटस्थ नित्य केवल चेतन ही होता है जड़ नहीं, इस प्रकार परिणामी नित्य तथा कूटस्थ नित्य भेद से नित्य दो प्रकार का माना गया है अस्तु, यहां प्रकार भेद केवल शास्त्र की प्रक्रिया के बोधनार्थ लिखागया, प्रकृत यह है कि जिसका ध्वंस न हो वह "नित्य" कहलाता है, इस लक्षण में अतिव्याप्तिरूप यह दोष आता है कि ध्वंस का ध्वंस कभी नहीं होता, क्योंकि जब घट फूटकर उसका प्रध्वंसाभाव होजाता है उस ध्वंस का नाश शास्त्रकार नहीं मानते, इसलिये उक्त लक्षण को दोष रहित करने के लिये यह लक्षण करना चाहिये कि "ध्वंसभिन्नत्वेसतिध्वंसाऽप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्"=जो पदार्थ स्वयं ध्वंसरूप न हो और न ध्वंस का प्रतियोगी हो उसको "नित्य" कहते हैं, यहां अभाव वाले पदार्थ का नाम "प्रतियोगी" है, जैसाकि प्रकृत में घट अपने प्रध्वंसाऽभाव का प्रतियोगी है, सो जो इस प्रकार अपने अभाव का प्रतियोगी न हो वह "नित्य" कहाता है, यह लक्षण

संसार में न घट सकने से संसार परमार्थरूप नहीं किन्तु प्राति-भासिक है अर्थात् रज्जु में सर्प तथा शुक्ति में रजत के समान प्रतीतिकाल में होने से मिथ्या है यह उक्त उपनिषद्वाक्य का तात्पर्य्य जानना चाहिये ॥

मायावादियों का यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि संसार का परमार्थरूप से ब्रह्म में होना किसी को भी अभिमत नहीं किन्तु सब शास्त्रकार यह मानते हैं कि संसार तीनो कालों में नित्य नहीं, इसी भाव को "सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" ऋग्० ८।८।४८। २=धाता=परमात्मा ने सूर्य्य तथा चन्द्रमा को पूर्वसृष्टि के समान बनाया, इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि सूर्य्य चन्द्रमारूप जगत् नित्य नहीं, इसलिये परमार्थरूप से जगत् का ब्रह्म में अभाव कथन करना सिद्धसाधन है, अतएव उक्त वाक्य का यह अर्थ कदापि नहीं ॥

और जो मायावादी सब पदार्थों का ब्रह्म में अत्यन्ताभाव मानते हैं, यह इसलिये ठीक नहीं कि जब महाप्रलय होता है तब सृष्टि का प्रध्वंसाभाव होजाता है अर्थात् यह सम्पूर्ण स्थूल जगत् उस समय अपने कारणरूप प्रकृति में लय होजाने से इसका प्रध्वंसा-भाव कहाजाता है, वास्तव में बात यह है कि जो सादि तथा अनन्त हो उसको "प्रध्वंसाभाव" कहते हैं, या यों कहो कि सृष्टि के प्रलय समय यह अभाव उत्पन्न होने से सादि और नाश का नाश न होने से अनन्त है, इस प्रकार सृष्टि अनित्य ठहरती है मिथ्या नहीं, इससे सिद्ध है कि "नेहनानास्ति किञ्चन" वाक्य को संसार के मिथ्या होने में लगाना ठीक नहीं ॥

और युक्ति यह है कि जो पदार्थ इन्द्रियादिकों के दोष से प्रतीत हो उसको "मिथ्या" कहते हैं, जैसाकि मरुभूमि में जल अथवा रज्जु में सर्प का अन्यथा भान होता है वास्तव में वह पदार्थ वहां नहीं होता, यदि संसार भी ऐसा ही होता तो उसका ज्ञान से अवश्य बाध होजाता परन्तु नहीं होता, हां कर्म से इसका बाध देखा जाता है, जैसाकि सच्चे सर्प को जबतक घर से बाहिर न फैंक दियाजाय अथवा लाठी से न मार दिया जाय तबतक उसकी निवृत्ति नहीं होसक्ती, एवं जब जीव के प्रारब्धकर्म भोगद्वारा क्षय होजाते हैं तब उसके शरीर का नाश होने से संसार भी कर्मों द्वारा नाश को प्राप्त कहा जाता है, इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय ईश्वर की कृति से होते हैं किसी भ्रम से नहीं, एवं "नेति नेति" बृहदा० ३।९।२६ इस वाक्य का तात्पर्य भी मिथ्यात्व में नहीं किन्तु ईश्वर के सजातीय भेद के निषेध में तात्पर्य है कि अग्न्यादि जड़ देवों से परमात्मा सर्वथा भिन्न है अर्थात् उक्त पदार्थ कदापि उसकी तुलना नहीं करसक्ते, इस वाक्य से पूर्व यह प्रकरण है कि हे याज्ञवल्क्य ! यह दिशायें किसमें प्रतिष्ठित हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि परमात्मा में, भला इस स्थल में संसार के मिथ्या होने का क्या प्रकरण, इसी प्रकार यह लोग "न तत्र रथा न रथ योगा" बृहदा०४।३।१० इस वाक्य से भी संसार को मिथ्या सिद्ध करते हैं परन्तु यह वाक्य स्वप्नावस्था का वर्णन करता है संसार के मिथ्या होने का नहीं, यदि उक्त वाक्य का तात्पर्य संसार के मिथ्या सिद्ध करने में होता तो "स्वप्न व्यवहारस्यैव प्राक् प्रतिबोधात्"

शं० भा० २।१।१४=जाग्रत् में आने से प्रथम स्वप्नव्यवहार के समान यह संसार है, इस प्रकार उपनिषत्कार भी स्वप्न का दृष्टान्त देकर संसार को मिथ्या सिद्ध करते परन्तु उपनिषदों के किसी स्थल में भी स्वप्न का दृष्टान्त देकर संसार को मिथ्या सिद्ध नहीं किया गया और यह हो ही कैसे सक्ता है, क्योंकि स्वप्नज्ञान केवल जागरित पदार्थों का अन्यथा ज्ञान है, इसलिये इस वाक्य से संसार मिथ्या सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इनके मत में मिथ्या वह कहलाता है जो अनिर्वचनीय=सत् असत् से सर्वथा विलक्षण हो, जिसका निर्वचन न होसके उसको यह लोग अनिर्वचनीय नहीं मानते किन्तु एक प्रकार के अनादि सान्त भाव पदार्थ को अनिर्वचनीय मानते हैं।

और अनादिसान्त प्रागभाव भी है अर्थात् जहां अभी कार्य्य उत्पन्न नहीं हुआ उस कारण में जो कार्य्य का अभाव उसका नाम "**प्रागभाव**" है, इसीलिये इन्होंने माया के लक्षण में भाव पद का निवेश किया है कि जो अनादि, सान्त तथा भाव हो उसको यह माया, अज्ञान तथा अविद्या नाम से कथन करते तथा इसी को संसार का उपादान कारण मानते हैं, यही पदार्थ इनके मत में अनिर्वचनीय है, और जब अनिर्वचनीय प्रपञ्च का ब्रह्म में अभाव हुआ तो वह किस नाम से कहा जायगा, इस विषय में इनका यह मन्तव्य है कि कल्पित प्रपञ्च की निवृत्ति ब्रह्म में ध्वंसरूप है, या यों कहो कि प्रपञ्च का ब्रह्म में प्रध्वंसाभाव है, ऐसा मानने से यह दोष आता है कि प्रध्वंसाभाव तो अनन्त होता है अर्थात् प्रध्वंसाभाव का

नाश नहीं होता, एवं एक ब्रह्म और दूसरा प्रध्वंसाभाव होने से इनके मत में यह अनिष्टापत्ति हुई कि दो पदार्थ सिद्ध होगये और ऐसा होने से यह द्वैतवाद रूप दोष को अपने मत से निवृत्त नहीं करसक्के, इसका उत्तर इनके मत में यह है कि यास्कमुनि निरुक्तकार ने (१) जन्म (२) सत्ता (३) वृद्धि (४) विपरिणाम (५) अपक्षय (६) विनाश, यह षट् अनिर्वचनीय पदार्थ के विकार माने हैं और यह सभी जन्मादिकों के समान क्षणिक हैं, जिस प्रकार प्रथम क्षण में "जायते" यह बुद्धि और द्वितीय क्षण में "जातः" यह बुद्धि होती है इसी प्रकार घट का प्रध्वंसाभाव भी क्षणिक है, क्योंकि प्रथम क्षण में "**नश्यति**"= घट नाश को प्राप्त होता है, यह बुद्धि और द्वितीय क्षण में "**विनष्टो घटः**"=घट नाश को प्राप्त होगया, यह प्रतीति होती है, इससे सिद्ध है कि क्षणिक होने से प्रध्वंसाभाव भी विनाशी है, इनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि जैसे "प्रागभाव नाश को प्राप्त होता है" यह वाक्य घट की उत्पत्ति के अभिप्राय से प्रागभाव में प्रयुक्त है इसी प्रकार "विनष्टो घटः" यह घट के अतीत काल के अभिप्राय से प्रध्वंस के क्षणिक होने में प्रतीत होता है वास्तव में प्रध्वंसाभाव में क्षणिक व्यवहार नहीं होता, क्योंकि यदि अभाव में क्षणिक व्यवहार होता तो अभाव को अभाव न कहा जाता, इसी अभिप्राय से महर्षि कणाद ने कथन किया है कि

"**नित्येष्वभावादनित्येषुभावात्कारणे कालाख्येति**"

वैशे० २ । २ । ९=अनित्य पदार्थों में ही कालकृत क्षणिकादि व्यवहार होते हैं नित्यों में नहीं, और दोष यह है कि ध्वंस के नाश मानने से फिर संसार के उन्मज्जन की आपत्ति

होगी ? मायावादियों ने इसका यह उत्तर दिया है कि जिस प्रकार प्रागभावाभाव घट के नाश से फिर प्रागभाव का उन्मज्जन नहीं होता इसी प्रकार प्रध्वंस के नाश से भी फिर प्रपञ्च का उन्मज्जन न होगा, उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि घट प्रागभाव का अभाव नहीं किन्तु प्रागभाव का अभाव ध्वंसरूप है जो अनन्त है फिर घटध्वंस से अद्वैत की सिद्धि कैसे ? वास्तव में तत्व यह है कि अद्वैत की सिद्धि के लिये इनको ऐसी२ कई एक कलिष्ट कल्पनायें करनी पड़ती हैं, कहीं ध्वंस मानना पड़ता है कहीं ध्वंस को क्षणिक मानकर एक अत्यन्ताभाव मानना पड़ता है और कहीं उस अत्यन्ताभाव को माया का कार्य्य होने से विनाशी मानना पडता है, जो युक्ति तथा अनुभव से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि अत्यन्ताभाव उस स्थल में होता है जहां प्रतियोगी की तीनों काल में सत्ता नहीं होती, इसी अभिप्राय से कुमारिलभट्ट ने लिखा है किः—

शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्य वर्जिताः।
शशश्रृंगादि रूपेण सोऽत्यन्ताऽभाव उच्यते ॥

अर्थ—शशश्रृङ्गादिरूप से जो पदार्थ का अभाव हो उसका नाम "अत्यन्ताभाव" है, और यह संसार इनके मत में शशश्रृङ्गादिकों के समान तुच्छ नहीं किन्तु भाव रूप है फिर प्रपञ्च का ब्रह्म में अत्यन्ताभाव कैसे ? और दोष इनके मत में यह है कि जब यह अत्यन्ताभाव को अनादि अनन्त मानते हैं तो फिर एक ब्रह्म की सिद्धि कैसे ? यदि यह कहें कि अत्यन्ताभाव ब्रह्मरूप है तो भावाभाव की एकता नहीं होसक्ती, इससे सिद्ध

है कि इनका ब्रह्म भी अत्यन्ताभावरूप ही है, इत्यादि युक्तियों से इनकी उक्त प्रतिज्ञा कदापि सिद्ध नहीं होती कि अस्ति=सद्रूप, भाति=प्रकाशरूप तथा प्रिय=आनन्दरूप ब्रह्म सच्चिदानन्द में संसार भ्रममात्र और ब्रह्म ही सत्यरूप है, इनकी इस प्रतिज्ञा का खण्डन हमने इस प्रकार किया है कि "**मरुमरीचिका सम नहीं**"=संसार मरुभूमि के जलसमान नहीं किन्तु अपनी अवस्था तथा अपने देशकाल में सत्य है।

भाव यह है कि यह संसार अपनी अवस्था भोगकर नाश को प्राप्त होजाता है, इसको शास्त्रीय परिभाषा में अनित्य कहते हैं, इस प्रकार संसार के अनित्य होने से इसका प्रध्वंसाभाव होता है अत्यन्ताभाव नहीं।

और जो मायावादी "**तत्त्वमसि**" वाक्य से यह अर्थ सिद्ध करते हैं कि "वह ब्रह्म तू है" अर्थात् छान्दोग्य के इस वाक्य से जो यह जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करते हैं सो इसलिये ठीक नहीं कि इस प्रपाठक में उक्त वाक्य से पूर्व कहीं भी ब्रह्म का प्रकरण नहीं आया, यह सम्पूर्ण वाक्य इस प्रकार है कि "**ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो**" छान्दो० ६।८।७=इसी आत्मा का यह सब चमत्कार है और उसी के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करने से "तू वह है" यह अर्थ उक्त वाक्य का है अथवा उक्त वाक्य में जो सूक्ष्मरूप चेतन कथन किया गया है "वह तू है" इस प्रकार चेतन के साथ सामानाधिकरण्य के

होगी ? मायावादियों ने इसका यह उत्तर दिया है कि जिस प्रकार प्रागभावाभाव घट के नाश से फिर प्रागभाव का उन्मज्जन नहीं होता इसी प्रकार प्रध्वंस के नाश से भी फिर प्रपञ्च का उन्मज्जन न होगा, उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि घट प्रागभाव का अभाव नहीं किन्तु प्रागभाव का अभाव ध्वंसरूप है जो अनन्त है फिर घटध्वंस से अद्वैत की सिद्धि कैसे ? वास्तव में तत्व यह है कि अद्वैत की सिद्धि के लिये इनको ऐसी२ कई एक कलिष्ट कल्पनायें करनी पड़ती हैं,कहीं ध्वंस मानना पड़ता है कहीं ध्वंस को क्षणिक मानकर एक अत्यन्ताभाव मानना पड़ता है और कहीं उस अत्यन्ताभाव को माया का कार्य्य होने से विनाशी मानना पडता है, जो युक्ति तथा अनुभव से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि अत्यन्ताभाव उस स्थल में होता है जहां प्रति-योगी की तीनों काल में सत्ता नहीं होती, इसी अभिप्राय से कुमारिलभट्ट ने लिखा है कि:—

शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्य वर्जिताः ।
शशश्रृंगादि रूपेण सोऽत्यन्ताऽभाव उच्यते ॥

अर्थ–शशश्रृङ्गादिरूप से जो पदार्थ का अभाव हो उसका नाम "अत्यन्ताभाव" है, और यह संसार इनके मत में शशश्रृङ्गादिकों के समान तुच्छ नहीं किन्तु भाव रूप है फिर प्रपञ्च का ब्रह्म में अत्यन्ताभाव कैसे ? और दोष इनके मत में यह है कि जब यह अत्यन्ताभाव को अनादि अनन्त मानते हैं तो फिर एक ब्रह्म की सिद्धि कैसे ? यदि यह कहें कि अत्यन्ताभाव ब्रह्मरूप है तो भावाभाव की एकता नहीं होसक्ती, इससे सिद्ध

है कि इनका ब्रह्म भी अत्यन्ताभावरूप ही है, इत्यादि युक्तियों से इनकी उक्त प्रतिज्ञा कदापि सिद्ध नहीं होती कि अस्ति=सद्रूप, भाति=प्रकाशरूप तथा प्रिय=आनन्दरूप ब्रह्म सच्चिदानन्द में संसार भ्रममात्र और ब्रह्म ही सत्यरूप है, इनकी इस प्रतिज्ञा का खण्डन हमने इस प्रकार किया है कि "**मरुमरीचिका सम नहीं**"=संसार मरुभूमि के जलसमान नहीं किन्तु अपनी अवस्था तथा अपने देशकाल में सत्य है।

भाव यह है कि यह संसार अपनी अवस्था भोगकर नाश को प्राप्त होजाता है, इसको शास्त्रीय परिभाषा में अनित्य कहते हैं, इस प्रकार संसार के अनित्य होने से इसका प्रध्वंसाभाव होता है अत्यन्ताभाव नहीं।

और जो मायावादी "**तत्त्वमसि**" वाक्य से यह अर्थ सिद्ध करते हैं कि "वह ब्रह्म तू है" अर्थात् छान्दोग्य के इस वाक्य से जो यह जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करते हैं सो इसलिये ठीक नहीं कि इस प्रपाठक में उक्त वाक्य से पूर्व कहीं भी ब्रह्म का प्रकरण नहीं आया, यह सम्पूर्ण वाक्य इस प्रकार है कि "**ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो**" छान्दो० ६।८।७=इसी आत्मा का यह सब चमत्कार है और उसी के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करने से "तू वह है" यह अर्थ उक्त वाक्य का है अथवा उक्त वाक्य में जो सूक्ष्मरूप चेतन कथन किया गया है "वह तू है" इस प्रकार चेतन के साथ सामानाधिकरण्य के

अभिप्राय से उक्त वाक्य का कथन है जीव ब्रह्म की एकता के अभिप्राय से नहीं।

और जो उक्त वाक्य के यह अर्थ करते हैं कि इस वाक्य में जीव के ब्रह्मनिष्ठ होने के अभिप्राय से "तत्त्वमसि" कथन किया गया है, वह इसलिये ठीक नहीं कि इसी प्रपाठक के ११वें खण्ड में यह वर्णन किया है कि:—

जीवापेत वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति। स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ॥

अर्थ—यह शरीर जीवात्मा से रहित होने पर ही मृतक कहाजाता है, जीव नहीं मरता, यह सब इसी आत्मा का भाव है और हे श्वेतकेतु वह आत्मा तू है, इस उपसंहार वाक्य से तत्त्वमसि के अर्थ ब्रह्मनिष्ठ होना नहीं बनते, क्योंकि इस वाक्य में जीव के साथ सामानाधिकरण्य वर्णन किया गया है ब्रह्म के साथ नहीं।

और जो स्वामी रामानुजाचार्य्य का कथन है कि "तत्" पद पूर्वप्रकृत ब्रह्म का वाची और "त्वं" पद चिदचिद्शरीर विशिष्ट ब्रह्म का वाची है, या यों कहो कि जीव तथा जड़ के साथ मिला हुआ जो ब्रह्म उसका वाचक उक्त पद है, इस प्रकार दोनों पद एक ब्रह्म के वाचक होने से इनके सामानाधिकरण्य में कोई दोष नहीं और अद्वैतवाद के अर्थ इसलिये ठीक नहीं कि जब उनके मत में एक ही आत्मा है तो फिर "तत्त्वमसि" वाक्य ने किसके अभेद का उपदेश किया, और भेदवादियों के

मत में यह अभेद बोधक वाक्य इसलिये नहीं घटसक्ता कि उनके मत में जब जीव ईश्वर का भेद है तो सामानाधिकरण्य कैसे ? एवं उक्त आचार्य ने भेद, अभेद, भेदाभेद सब मतों में दोष देकर स्वमत विशि त सिद्ध किया है, वह इसलिये ठीक नहीं कि जो दोष अद्वैतवादियों के मत में आते हैं वही इनके मत में भी आते हैं, क्योंकि यह भी नाम से अभेदवादी हैं जो तीन पदार्थों को स्वरूप से अनादि तथा परस्पर भिन्न कथन करके फिर भी विशिष्टाद्वैत नाम रखते हैं, इनके मत का विस्तारपूर्वक खण्डन "वेदान्तार्य्यभाष्य भूमिका" द्वितीयावृत्ति में कियागया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें, प्रकृत यह है कि "तत्त्वमसि" के अर्थ जीव ब्रह्म को भिन्न २ मानने वालों के मत में ही ठीक बन सक्ते हैं, जैसाकि ऊपर वर्णन कर आये हैं कि हे जीव ? तू उस अन्तर्यामीरूप स्वामी वाला है, एवं "अयमात्मा ब्रह्म" बृहदा० २।५।१९ के अर्थ भी भेदवाद में ही सङ्गत होते हैं कि "यह आत्मा ब्रह्म है" ऐसा समाधिस्थ योगी ही अनुभव करता है अन्य नहीं, इसी प्रकार "प्रज्ञानं ब्रह्म" ऐत०५।३=ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, यह वाक्य भी द्वैतवाद में ही संगत होता है, अब रहा "अहं ब्रह्मास्मि" बृहदा० १।४।१०= मैं ब्रह्म हूं, यह जीव समाधि द्वारा ब्रह्मस्थ होकर कथन करता है, वास्तव में जीव को ब्रह्मबोधन करना इस वाक्य का तात्पर्य्य नहीं, क्योंकि यह वाक्य जिस प्रकरण में आया है वहां साधर्म्य युक्त निकटस्थ होने के अभिप्राय से उक्त कथन किया है।

और जो हमने कई एक स्थलों में इस वाक्य के यह अर्थ किये हैं कि यह ब्रह्म के स्व अनुभव विषयक कथन है, यह हमारा लेख एकदेशी समझना चाहिये अर्थात् यह लेख आचार्य्य के मन्तव्य को प्रकारान्तर से सिद्ध करने के अभिप्राय से है, ठीक अर्थ इस वाक्य के यही प्रतीत होते हैं कि जब जीव ब्रह्म के अपहतपाप्मादि गुणों के समान अपने गुण बना लेता है तब ब्रह्म के निकटस्थ होने से अपने आपको ब्रह्मरूप से कथन करता है, इसी प्रकार "तत्त्वमसि" के अर्थ भी इसी भाव से जीव के किये गये हैं कि हे श्वेतकेतु ! उक्त भावों वाला होने से "तू वह है" अर्थात् तदन्तर्यामी वाला तू है, और फिर नव वार जीव के स्वरूप को अविनाशीरूप से बोधन करने के लिये वार २ कथन किया गया है, इस प्रकार हमारे अर्थों का वैदिकधर्म के आचार्य्य से विरोध नहीं, शेष रहा "अयमात्मा-ब्रह्म" बृहदा० २।४।१९ इसमें "आत्मा" शब्द ब्रह्म के लिये आया है, समाधि अवस्था में उसका साक्षात्कार करके जीव ऐसा कथन करता है, चतुर्थ महावाक्य "प्रज्ञानं ब्रह्म" ऐत०५।३ है, यह वाक्य ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कथन करता है, जीव को ब्रह्म नहीं, एवं उक्त चारो वाक्य जिनको मायावादी वेद वाक्य कहते हैं, इनसे जीव ब्रह्म के एकत्व की सिद्धि कदापि नहीं होसक्ती, वेद वाक्य तथा महावाक्य नाम इन्होंने अपनी ओर से रखलिया है वास्तव में यह उपनिषदों के वाक्य हैं, अन्य किसी ऋषि मुनि ने इनको महावाक्य नहीं कहा किन्तु अर्थाभासद्वारा स्वमतके पोषक समझकर एकमात्र मायावादियों ने ही इनको महावाक्य की पदवी

दी है अस्तु, प्रकृत यह है कि उक्त वाक्यों से इनके अद्वैतवाद की पुष्टि नहीं होती, क्योंकि उपनिषद् जीव, ईश्वर तथा प्रकृति के भेद को स्पष्टरूप से वर्णन करते हैं और पुण्य पाप की व्यवस्था के लिये इनको भी यह भेद मानना पड़ता है, इसी अभिप्राय से श्रीस्वा० शङ्कराचार्य जी ने "प्रयोजनवत्वाधिकरण" में जीव तथा जीवों के कर्मों को अनादि माना है, इतना ही नहीं किन्तु उक्त व्यवस्था के लिये इनके अनुयायी षट् पदार्थों को अनादि मानते हैं, जैसाकि (१) शुद्धचेतन (२) जीव (३) ईश्वर (४) अविद्या (५) अविद्या चेतन का परस्पर सम्बन्ध (६) इन अनादियों का परस्पर भेद, प्रथम तो जीव, ईश्वर तथा प्रकृति इन तीनों से पृथक् उक्त षट् पदार्थों का अनादित्व सिद्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि शुद्धब्रह्म तथा अविद्या के सम्बन्ध से ही इनके मत में ईश्वर जीव बनते हैं और जब शुद्ध चेतन मायोपहित होता है, या यों कहो कि जब माया के साथ मिलता है तब वह ईश्वर कहलाता है और जब उक्त चेतन अविद्योपहित होता है तब जीव कहलाता है, एवं उक्त दोनों का स्वरूप मायिक=माया से बना हुआ होने के कारण दोनों अनादि न रहे, शेष रही अविद्या तथा अविद्या का सम्बन्ध, यह दोनों इसलिये अनादि नहीं होसक्ते कि अविद्या, अज्ञान तथा माया, यह इनके मत में एकही पदार्थ के नाम हैं और वह अज्ञानरूप पदार्थ ब्रह्माश्रित होने के कारण अनादि नहीं कहेजासक्ते, क्योंकि ब्रह्म सदैव ज्ञानस्वरूप है, इसलिये अविद्या तथा अविद्या का सम्बन्ध यह दोनों अनादि न रहे, और इन सब का खण्डन होने से इनका भेद भी अनादि न रहा, इनके मत में केवल एकमात्र ब्रह्म ही

अनादि अनन्त सिद्ध होता है और अन्य पांच सादि तथा सान्त सिद्ध होते हैं, इसप्रकार एकमात्र ब्रह्म के अनादि मानने से संसार में ऊंच नीच रूप वैषम्य की कुछ भी व्यवस्था नहीं होसक्ती, इस दोष की निवृत्ति के लिये महर्षि व्यास ने यह कथन किया है कि " **न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्** " ब्र० सू० १।२।१०=प्रथम एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्म था, इससे सिद्ध है कि कर्म प्रथम न थे, इसका उत्तर ऋषि ने यह दिया कि यह ठीक नहीं, क्योंकि कर्म प्रवाहरूप से अनादि हैं, इस स्थल में स्वा०शङ्कराचार्य्य ने भी जीव को स्वरूप से अनादि माना है, इसप्रकार स्वरूप से अनादि केवल प्रकृति, जीव तथा ब्रह्म यह तीन पदार्थ ही ठहरते हैं और इनके माने हुए अविद्या, अविद्या का सम्बन्ध, मायोपहित ईश्वर और इनका भेद यह चारो अनादि सिद्ध नहीं होसक्ते ॥

और जो इन्होंने उक्त षट् अनादियों का इस प्रकार समर्थन किया है कि मायिक के अर्थ मायाकृत के नहीं किन्तु माया के अधीन स्थिति वाले के हैं, इस प्रकार उक्त षट् पदार्थ स्वरूप से अनादि सिद्ध होसक्ते हैं? इनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि यदि माया के अधीन जीव, ईश्वर, मायिक सम्बन्ध तथा भेद की स्थिति मानीजाय तो फिर भी एक माया तथा दूसरा ब्रह्म यह दो ही अनादि ठहरते हैं और इनके मत में माया का ब्रह्म विषयक अत्यन्ताभाव है, जैसाकि हम पूर्व दर्शा आये हैं, इसलिये माया अनादि नहीं ठहरती, क्योंकि अभाव का प्रतियोगी अनादि भाव मानाजाय तो प्रध्वंसाभाव

की सिद्धि होती है अत्यन्ताभाव की कदापि नहीं,यह विषय सूक्ष्म होने से यहां इसका अधिक विस्तार नहीं कियाजाता, यहां केवल इतना ही दर्शाना उपयुक्त है कि इनके उक्त अर्थ की सिद्धि उपनिषदों से नहीं होती, क्योंकि उपनिषदों का तात्पर्य्य संसार के मिथ्या होने तथा अद्वैतवाद में नहीं किन्तु सत्कर्म करके ब्रह्मलोक की प्राप्ति रूप मुक्त पद को प्राप्त होने में है, जैसाकि उपक्रम तथा उपसंहार द्वारा पायाजाता है अर्थात् छान्दोग्य के प्रारम्भ में जो उपासनाओं का वर्णन आया है वह प्राचीन काल में वैदिक उपासनायें थीं किसी प्रतीक वा किसी देवताविशेष की उपासना का विधान इस उपनिषद् में अंशमात्र भी नहीं, जैसाकि भाष्य के देखने से स्पष्ट प्रतीत होगा,यही नहीं किन्तु अनेक शिक्षाओं का वर्णन इन उपनिषदों में आया है जिनको जिज्ञासु स्वयं स्वाध्याय द्वारा ही जानसक्ते हैं, उनमें से कतिपय शिक्षाओं को हम यहां दर्शाते हैं।

छान्दोग्य प्रथम प्रपाठक चतुर्थ खण्ड में यह आख्यायिका है कि एक समय मृत्यु से भयभीत होकर देवों ने ऋगादि वेदों का आश्रय लिया,जब वहां भी उन्हें मृत्यु ने आपकड़ा तब उन्होंने वेदप्रतिपाद्य स्वतःप्रकाश ब्रह्म का आश्रयण किया फिर उक्त ब्रह्म पद को लाभ करते ही देव सर्वथा निर्भय होगये, कथा बहुत विस्तारपूर्वक है पर सार यह है कि अभय पद का कारण एकमात्र ब्रह्मप्राप्ति ही है जिसको मुख्य उद्देश्य समझकर उपनिषद्कर्त्ता ऋषियों ने वर्णन किया है॥

इसी प्रकार "सत्यकामजाबाल" तथा "सयुग्वारैक" इत्यादि अनेक महात्माओं के उपदेश मनोहर कथाओं द्वारा वर्णित

हैं जो मनुष्य को वास्तव में सत्य के विषय में सत्युग का दृश्य दर्शाते हैं, या यों कहो कि जिनको पढ़कर पुरुष दैवीसम्पत्ति के भावों वाला होजाता है, विस्तार के भय से यहां उनका पुनरुल्लेख नहीं किया जाता पाठक आद्योपान्त पढ़कर स्वयं विचारें।

बृहदारण्यक में सबसे प्रसिद्ध गाथा राजा जनक की है,जब राजा जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य से यह कथन किया कि "अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति"=हे भगवन्! अब आप मोक्ष का मेरे प्रति उपदेश करें तब याज्ञवल्क्य ने यह उपदेश किया कि हे राजन्! जिस प्रकार यह जीव स्वप्नादि अवस्थाओं में विचरता हुआ सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होकर सब दुःखों से छूट जाता है इसी प्रकार मुक्ति में सब दुःखों से छूटकर ब्रह्म के आनन्द को भोगता है, इसीलिये यह पुरुष असङ्ग कहलाता है, इस ब्रह्मानन्दामृत को पान करके जनक फिर बोले कि हे भगवन्! मुझको मुक्ति का और भी उपदेश करें तब मुनि ने कहा कि हे राजन्! यह जीव स्वप्न से सुषुप्ति और सुषुप्ति से जाग्रत् को प्राप्त होकर स्वकर्मानुसार सुख दुःख भोगता हुआ प्रारब्ध कर्मों को भोग कर ज्ञान तथा प्रसंख्यान द्वारा फिर उस मुक्तिरूप परमपद को प्राप्त होता है।

राजा ने कहा कि भगवन् मुझको और उपदेश करें, मुनि बोले कि हे राजन्! जिस प्रकार बड़ा मत्स्य नदी की लहरों में दोनों किनारों पर्य्यन्त तैरता है एवं यह पुरुष जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त्यादि अवस्था और मुक्त्यादि अवस्था रूप दोनों किनारों में अनादि काल से विचरता है परन्तु यह अभयपद को तभी प्राप्त

होता है जब मुक्ति अवस्था को पालेता है अर्थात् परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, उस अवस्था में इसको कोई शोक मोह तथा भय नहीं रहता, यह वह परमपद है जिसको पाकर अन्य कोई प्राप्यस्थान शेष नहीं रहता, यह वह पद है जिसकी प्राप्ति के लिये जीव को मनुष्य जन्म मिलता है, यह वह पद है जिस को पाकर पुरुष सर्वथा निर्भय होजाता है, इसी अभिप्राय से मुनि ने कहा कि हे जनक ! अब तू अभय पद को प्राप्त होगया है ।

यही पद उपनिषदों का मुख्य लक्ष्य है, यही पद है जो महाकाल को अकाल बना देता है अर्थात् जिसमें महाकाल का भय भी अकिञ्चित्कर होजाता है, इसी कारण प्राचीन समय में ऋषि लोग मृत्युरूप रोग की एकमात्र औषध उपनिषद् शास्त्र को ही मानते थे, क्योंकि इसके पठन पाठन करने वालों को मृत्यु नहीं सताता था, और वह औपनिषद ज्ञान के प्रभाव से इस संसार रूप महासागर में इस प्रकार विचरते थे कि "तद्यथा महा मत्स्य उभे कूलेऽनुसञ्चरति पूर्वञ्चापरञ्चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसञ्चरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च" बृहदा० ४ । ३ । १८=जैसे महामत्स्य महासागर में निर्भय होकर विचरता है, इसी प्रकार यह पुरुष उक्त ज्ञान के प्रभाव से इस भव-सागर में निर्भयता से विचरसक्ता है ॥

इसी अभय पद के कारण इस ब्रह्मविद्या रूप उपनिषदेवी को स्वदेशी तथा विदेशी सब सिर झुकाते थे, इसी भाव से मैक्स-मूलर, पालड्यूसन तथा शौपनहारादि सब विदेशी विद्वानों ने उक्त देवी की दिव्य शक्तियों को अनुभव करके अभय पद

लाभ किया, यह औपनिषद भाव काल के निम्नलिखित प्रभाव से निर्भय बनाता है,जैसाकिः—

काल कला संग खेलत है अरु दिव्य बनावत है सब रंगा, तुंग पहाड़ कहुं थल है मरु नीर अगाध बहे कहुं गंगा। कंजप्रभा दृग हैं जग में पुन ह्वै जरठापन ढंग कुढंगा, नूतन रूप अनूप कहुं कहुं होय गये सब के सब भंगा ॥१॥

ये सब भाव मिटैं तब ही जब कोविद की नर संगति पावे, भाष्य शरीरक आदि पढै कठ केन कथा मति संग मिलावे। साधन योग समाधि करे यम नेम निरन्तर लक्ष्य बनावे, ब्रह्म ही ब्रह्म चहुंदिग् देखत या विधि से पद निर्भय पावे ॥२॥

उक्त अभय पद प्राप्ति के लिये वैदिक ज्ञान का भाण्डार एक मात्र " उपनिषद्शास्त्र " ही है परन्तु इन पर प्रायः सब मत वादियों के भाष्य होने से जिज्ञासु को अभय पद प्राप्ति की तो कथा ही क्या किन्तु और भी अधिक महामोह बढ़ जाता है, इस दोष की निवृत्ति के लिये हमने " उपनिषदार्य्यभाष्य" का निर्माण किया है, जिसमें उपक्रम तथा उपसंहार को मिलाकर उपनिषदों का सत्यार्थ किया गया है, इसलिये जिज्ञासुजन इस को पढ़कर उक्त अभयपद के अधिकारी बनें ॥

आर्य्यमुनि

ओ३म्

उपनिषदार्य्यभाष्य के द्वितीयभाग की विषयसूची

छान्दोग्योपनिषद्—प्रथम प्रपाठक

द्वितीय प्रपाठक

तृतीय प्रपाठक

चतुर्थ प्रपाठक

पंचम प्रपाठक

विषय	पृष्ठ	पंक्ति

षष्ठ प्रपाठक

सप्तम प्रपाठक

अष्टम प्रपाठक

बृहदारण्यकोपनिषद्

प्रथमाध्याय

तृतीयाध्याय

चतुर्थाध्याय

पंचमाध्याय

ओ३म्

अथ छान्दोग्योपनिषदार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते

सङ्गति–ईशादि आठ उपनिषदों के अनन्तर समानाधिकरण वाक्य प्रधान सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् का प्रारम्भ किया जाता है अर्थात् तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णित "अहमन्नमहवन्नामित्यादि" वाक्यों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिये इसका प्रारम्भ किया गया है, इसकी सङ्गति समानाधिकरण वाक्यों के साथ भलीभांति पाई जाती है, क्योंकि इसमें " तत्त्वमस्यादि " वाक्यों का पूर्ण रीति से विचार किया गया है, अतएव उक्त उपनिषद् का प्रारम्भ करते हुए प्रथम " उद्गीथ " शब्द वाच्य ब्रह्मोपासना का वर्णन करते हैं:—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति-
ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥१॥

पद०–ओम् । इति । एतत् । अक्षरं । उद्गीथं । उपासीत । ओम् । इति । हि । उद्गायति । तस्य । उपव्याख्यानम् ।

पदा०–(ओम्,इति) "ओ३म्" यह परमात्मा का मुख्य नाम है जो (अक्षरं) अविनाशी है (एतत्) इसी को (उद्गीथं) वाणी का आधार मानकर (उपसीत) उपासना करे, क्योंकि (ओम्, इति) इस नाम से ही (हि) निश्चयकरके (उद्गायति) परमात्मा का गायन करते हैं (तस्य) उसका यह (उपव्याख्यानं) विशेष व्याख्यान है ।

भाष्य–"**अवति रक्षतीत्योम्**"=सर्वरक्षक होने से परमात्मा का नाम "**ओ३म्**" है, और यह मङ्गलार्थक भी है इसलिये सब वेदों के प्रारम्भ में इसका प्रयोग होता है, कईएक स्थलों में व्यापक होने के अभिप्राय से भी इसका प्रयोग किया गया है, यह ब्रह्म का मुख्य नाम है और सब उपनिषत्कार इसी की महिमा को वर्णन करते हैं जैसाकि "**एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्**" कठ० २ । १७=यही आलम्बन श्रेष्ठ है यही सर्वोत्तम है और इसी को जानकर पुरुष ब्रह्मलोक में पूजा जाता है "**यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायति**" प्रश्न० ५ । ५=जो पुरुष "ओ३म्" इस त्रिमात्रिक अक्षर द्वारा ध्यान करता है वह तेजोमय प्रकाशस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है "**प्रणवोधनुः शरोह्यात्माब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते**" मुण्ड० २ । २ । ४=जिज्ञासु को उचित है कि वह प्रणवरूप धनुष को लेकर संस्कृत मन द्वारा विषयरूप प्रमाद से रहित एकाग्रचित्त होकर ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेधन करे और फिर ब्रह्माकारवृत्ति द्वारा अपने आपको तन्मय करदे अर्थात् ऐसा निदिध्यासन करे कि उसकी वृत्ति विजातीयप्रत्ययरहित होकर ब्रह्माकार होजाय, इसी भाव को गी० १७ । २३ में इसप्रकार वर्णन किया है कि :–

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुराः ॥

अर्थ–ओ३म् तत् सत् इन तीन नामों से ही परमात्मा का

निर्देश कियाजाता है और इसी त्रिविध ब्रह्म निर्देश से ब्राह्मणादि वर्णों, वेदों तथा यज्ञों का विधान कियागया है इसलिये परमात्म-प्राप्ति का यही एकमात्र अवलम्बन है, इत्यादि अनेक स्थलों में ओङ्कार की ही उपासना का विधान है, अतएव इस स्थल में भी ओङ्कारप्रतिपादक ब्रह्म की उद्गीथरूप से उपासना कथन कीगई है "उद्गीयतेत्युद्गीथः"=जो उच्चस्वर से गायाजाय उसका नाम "उद्गीथ" है, इसप्रकार उद्गीथ धर्म का ओङ्कार विषयक कथन कियागया है, यदि "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" इतना ही कथन करते तो इसमें यह दोष था कि उक्त वाक्य से केवल उद्गीथरूप शब्द की ही उपासना पाईजाती, इसकी निवृत्ति के लिये उपनिषत्कार ने ओङ्कार को अक्षर का विशेषण दिया है कि "नक्षरतीत्यक्षरम्"=जिसका नाश तथा आविर्भाव और तिरो, भाव नहीं होता उसका नाम "अक्षर" है,इस प्रकार अक्षर शब्द यहां ब्रह्म का बोधक है,यदि यहां यह आशङ्का कीजाय कि उच्चस्वर से गान तो शब्द का होता है ब्रह्म का नहीं ? इसका उत्तर यह-कि उपासना काल में ब्रह्म का उच्चस्वर से गान कियाजाता है, यद्यपि उच्चता धर्म शब्दगत है तथापि तद्वाच्यतया उपचार से ब्रह्म को भी उद्गीथरूप से कथन किया है और इसी अभिप्राय से अक्षर ब्रह्म की उद्गीथरूप से उपासना कथन कीगई है ।

कई एक लोग यह आशङ्का करते हैं कि "ओ३म्" के साथ "इति" शब्द पढ़ना इस बात को सूचित करता है कि अ, उ, म इस वर्णत्रयात्मक ओङ्कार की उद्गीथरूप से उपासना करे ? इसका उत्तर यह है कि यदि वर्णत्रयात्मक ओङ्कार ही यहां उपासना का विषय होता तो "ओमिति" इतना कथन करना ही ओङ्काररूप

शब्द की उपासना को स्पष्ट सिद्ध करता था फिर अक्षर विशेषण देने की क्या आवश्यकता थी,अक्षर विशेषण इस बात को स्पष्टतया सिद्ध करता है कि " इति " शब्द ओङ्कार को लक्ष्य नहीं करता किन्तु ओङ्कारवाच्य ब्रह्म को निर्देश करता है।

और जो कईएक भाष्यकार इस वाक्य को प्रतीकोपासना विषयक लगाते हैं उनका यह अभिप्राय है कि ओङ्कार नामक उपासना इस वाक्य में कीगई है, या यों कहो कि "ओ३म्" शब्द ब्रह्म की प्रतीक है और " प्रतीक " के अर्थ यहां अङ्ग अथवा प्रतिनिधि के हैं, उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि यदि उक्त वाक्य का अभिप्राय प्रतीकोपासना से होता तो ओङ्कार को अक्षर का विशेषण न दियाजाता, क्योंकि " ओ३म् " अक्षररूप से सर्वत्र प्रसिद्ध है फिर अक्षर विशेषण देने की क्या आवश्यकता थी, हमारे मत में तो ओङ्कार शब्द की व्यावृत्ति के लिये अक्षर विशेषण दिया गया है जिससे निराकार ब्रह्म की उपासना सिद्ध होती है किसी वर्ण अथवा प्रतीकविशेष की नहीं।

प्रतीकवादियों के मत में अन्य दोष यह भी है कि " **अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्यानुसन्धानं प्रतीकोपासनम्** "=जो ब्रह्म न हो उसका ब्रह्मदृष्टि से ध्यान करने का नाम"**प्रतीकोपासना**" है, प्रतीकोपासना, मूर्त्तिपूजा और साकारोपासना, यह एकार्थवाची शब्द हैं,उक्त लक्षण से स्पष्ट सिद्ध है कि एक प्रकार की मिथ्यादृष्टि का नाम प्रतीकोपासना है और इसीलिये शास्त्रकारों ने इसको अध्यास माना है जिसको मिथ्याबुद्धि भी कहते हैं, यदि "ओ३म्" इस अक्षर में उपनिषत्कार को मिथ्याबुद्धि से ब्रह्म मानना अभिप्रेत होता तो उक्त अध्यास का निषेध भी आगे किसी स्थल में अवश्य

कियाजाता परन्तु इसकी निवृत्ति कहीं भी कथन नहीं की, इससे सिद्ध है कि यहां प्रतीकोपासना का कथन नहीं।

और युक्ति यह है कि "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" वृह० ३।८।९ इत्यादि स्थलों में उपनिषत्कार ऋषियों ने परमात्मा की अक्षररूप से उपासना कथन की है किसी मूर्त्ति वा प्रतीकद्वारा नहीं, अतएव उद्गीथोपासना से अक्षर ब्रह्म की ही उपासना अभिप्रेत है प्रतीकोपासना नहीं,उक्त अक्षर ब्रह्म की उपासना में अन्य युक्ति उत्तर वाक्य में यह है कि "ओमिति" इस रूप से अक्षर ब्रह्म का गायन किया जाता है इसलिये भी अक्षर से तात्पर्य्य यहां ब्रह्म का है और ओ३म् यह तस्य=उस अक्षर ब्रह्म का उपव्याख्यान=विशेष व्याख्यान है।

सं०—अब ओङ्कारप्रतिपाद्य ब्रह्म को सर्वोपरि कथन करते हैं:—

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः॥२॥

पद०—एषां। भूतानां। पृथिवी। रसः। पृथिव्याः। आपः। रसः। अपां। ओषधयः। रसः। ओषधीनां। पुरुषः। रसः। पुरुषस्य। वाक्। रसः। वाचः। ऋक्। रसः। ऋचः। साम। रसः। साम्नः। उद्गीथः। रसः।

पदा०—(एषां) इन (भूतानां) तत्वों का (पृथिवी) पृथिवी (रसः) सार है (पृथिव्याः) पृथिवी का (आपः) जल (रसः)

सार है (अपां) जलों का (ओषधः) ओषधियें (रसः) सार है (ओषधीनां) ओषधियों का (पुरुषः) पुरुष (रसः) सार है (पुरुषस्य) पुरुष का (वाक्) वाणी (रसः) सार है (वाचः) वाणी का (ऋक्) ऋग्वेद (रसः) सार है (ऋचः) ऋग्वेद का (साम) सामवेद (रसः) सार है (साम्नः) सामवेद का (उद्गीथः) उद्गीथ (रसः) सार है।

भाष्य—आकाश, वायु, तेज और जल इन चार तत्वों का पृथिवी रस है अर्थात् यह चारो पृथिवी में पाये जाते हैं इसकारण पृथिवी सब भूतों का रस कहलाती है, या यों कहो कि ईश्वराज्ञा द्वारा प्रकृतिके रजोगुण आधिक्य होने से अग्निद्वारा सन्तप्त होकर पृथिवी द्रवीभूत होती है उसके द्रवीभूत होने के कारण यहां पृथिवी को रस रूप से कथन किया गया है, पृथिवी के घनीभूत होने से जल अपने स्व २ स्थानों पर नियत होगये, इसी अभिप्राय से जलों को पृथिवी के रसरूप से कथन कियागया है, एवं जलों का सार बनस्पतिरूप ओषधियें, ओषधियों का सार मनुष्य, मनुष्य का सार बाणी= साहित्य, साहित्य का सर्वोपरि तत्व वेद, वेद का तत्व यह है कि उसके तात्पर्य्य में मग्न होकर सङ्गीत करना अर्थात् सामगीति, और साम का तत्व ओङ्कार है।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त चारो तत्व जिनके क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस यह चार गुण हैं इन सब का आधार पृथिवी होने से उसको सब भूतों का रस कथन किया है, पृथिवी का रस जल और जल का रस औषधियें=यव, गेहूं आदि खाद्य पदार्थ हैं, क्योंकि जल की सहायता से ही औषधियों की उत्पत्ति और पालन होता है, औषधियों का रस पुरुष है, क्योंकि औषधियों से ही पुरुष की वृद्धि होती है बिना औषधियों के पुरुष का जीवन नहीं रहसकता

अथवा औषधियों से पुरुष की उत्पत्ति होने के कारण भी पुरुष को उनका रस कथन किया है, पुरुष का रस वाग्=मधुर भाषण है, मधुरभाषण वाला ही पुरुष संसार में उच्चपद को प्राप्त होता है और उसीको मनुष्यजन्म के फल प्राप्त होते हैं, वाक् का रस ऋग् है अर्थात् सम्पूर्ण वैदिक छन्द वाणी का रस है, ऋग् का रस साम है अर्थात् वेद में जो गानयोग्य ऋचा हैं उनसे यहां साम का तात्पर्य्य है, जैसाकि मीमां० २।१।३६ में वर्णन किया है कि **"गीतिषु सामाख्या"**=गाने योग्य ऋचाओं का नाम **"साम"** है, अधिक क्या ऋचाओं का जो गान है वह मानो उनका रस है और साम का रस उद्गीथ=ओङ्कार है, या यों कहो कि सम्पूर्ण सामवेद के तत्वों का सारभूत केवल ब्रह्म ही है।

और बात यह है कि "रस" शब्द यहां तत्व के अभिप्राय से आया है जिसका आशय यह है कि यदि इस प्राकृत चराचर ब्रह्माण्ड के कारणभूत प्रकृति का तत्वभूत पृथिवी न होती तो तदाश्रित जल औषधियें भी कदापि न होसक्ते, उनके अभाव से पुरुष भी न होता और पुरुष के अभाव होने पर वेदादि सच्छास्त्र न होते फिर उक्त शास्त्रों के सारभूत ओंङ्कार की तो कथा ही क्या, श्लोक में ओङ्कार को सर्वोपरि सिद्ध करते हुए यह सिद्ध किया है कि मनुष्य जीवन का सार साहित्य=ललितभाषा है जिस को प्रकृत में वैदिकभाषा कथन किया है, जो पुरुष उक्त भाषा नहीं जानते वह नाममात्र के पुरुष हैं, क्योंकि पुरुष का पुरुषत्व तभी पायाजाता है जब उसमें पुरुषार्थ हो, जैसाकि **"विपर्त्तिपूरयति स्व न्यूनतां स पुरुषः"**=जो अपनी न्यूनता को पूर्ण करता है वह **"पुरुष"** है, वह न्यूनता चारप्रकार की है अर्थात् धर्माभावरूप

न्यूनता, अर्थाभावरूपन्यूनता, सन्तत्याभावरूप पितृऋणरूपी न्यूनता और परमात्मानन्दप्राप्तिरूप मोक्षधर्म की न्यूनता, जो पुरुष उक्त चारो प्रकार की न्यूनताओं को पूर्ण करलेता है वह "**पुरुष**" है, और योंतो शरीरमात्रधारी होने से पुरुष सभी कहेजाते हैं, यद्यपि "पुरुष" शब्द के अर्थ यह भी हैं कि "**पुरिशेते इति पुरुषः**"=जो पुर= देह में शयन करे उसका नाम "**पुरुष**" है परन्तु यह अर्थ परमात्मा में घटते हैं, क्योंकि निखिल ब्रह्माण्डों में वही शयन करता है मनुष्य की योग्यता उक्त विध व्यापक होने की नहीं, यदि देहमात्र में शयन करने से यहां पुरुष के अर्थ लियेजायं तो ठीक नहीं, क्योंकि उक्त अर्थ परमपुरुष ईश्वर में ही घटसक्ते हैं अन्यत्र नहीं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों में शयन करने से एकमात्र ईश्वर ही पुरुष कहलासक्ता है, और जीव के अर्थ पुरुषार्थ करने से ही पुरुष के हैं अन्यथा नहीं।

भाव यह है कि पुरुष का सार वेदवाणी और वेदरूपवाणी का सार उद्गीथ है, अतएव ओङ्कार के अर्थरूप ब्रह्म की उद्गीथरूप अर्थात् वैदिकज्ञानरूप साधनों से उपासना करनी चाहिये, यही इस श्लोक का सार है।

सं०—अब उक्त उद्गीथ को ब्रह्म की उपासना का स्थान कथन करते हैं:—

स एष रसानां रसतमः परमः।
परार्द्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः॥ ३॥

पद०—सः। एषः। रसानां। रसतमः। परमः। परार्द्ध्यः। अष्टमः। यत्। उद्गीथः।

पदा०-(यत्) जो (उद्गीथः) उद्गीथ है (सः, एषः) वह यह (रसानां) सम्पूर्ण सारभूत पदार्थों में (रसतमः) अत्युत्तम सार है (परमः) सर्वोपरि (परार्द्ध्यः) प्रापणीय स्थान है,और (अष्टमः) पृथिव्यादि रसों की अपेक्षा से आठवां है।

भाष्य-इसश्लोक में जो उद्गीथ को पृथिवी आदिकों की अपेक्षा से आठवें स्थान में कथन कियागया है वह सब रसों से श्रेष्ठतम होने के कारण परमात्मप्राप्ति के लिये सर्वोत्तम साधन है, इसीलिये उसको सर्वोपरि कथन कियागया है, "यःरसयतिआनन्दयति स रसः"= जो आनन्दित करता है उसका नाम "रस" है, सो उद्गीथ सब रसों का आकर होने से परमात्मा के समीप उपस्थित कराता है, और इसीलिये उसका नाम "परार्द्ध्य" है,"परञ्चतदर्द्धञ्चेति परार्द्धं तदर्हतीति परार्द्ध्यः"=परमस्थान का नाम "परार्द्ध" और उसके योग्य का नाम "परार्द्ध्य" है, इस व्युत्पत्ति से भी सिद्ध है कि उद्गीथ परमात्मप्राप्ति का एकमात्र साधन कथन किया गया है और इसी भाव को तैत्ति० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु०७श्लो०१ में इसप्रकार वर्णन किया है कि "यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"=जो यह सुकृत रसरूप ब्रह्म है वह आनन्दस्वरूप है उस आनन्दस्वरूप को यह जीव लाभ करके आनन्दित होता है।

कई एक भाष्यकार इससे प्रतीकोपासना सिद्ध करते हैं कि ओङ्काररूप अक्षर में ध्यान लगाकर परमात्मा की उपासना करे, उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि उद्गीथ का ध्यान करने के लिये यहां उसका परार्द्ध्य शब्द से व्यवहार नहीं किया

गया किन्तु परमात्मा का ज्ञापक=बोधक होने से यहां उसको ब्रह्म-प्राप्ति का स्थान कथन किया है, यदि प्रतीक के अभिप्राय से यहां उद्गीथ कथन करना अभिप्रेत होता तो उसको ब्रह्म का स्थान कथन न कियाजाता किन्तु ओङ्कार को स्थान कथन करते,यद्यपि एक अर्थ में ओङ्कार और उद्गीथ का एक ही पदार्थ है परन्तु उद्गीथ कोई एक अक्षररूप ही नहीं जो प्रतीक स्थानी मानाजाय किन्तु उद्गीथ वेद के उस भाग को भी कहते हैं जो उच्चस्वर से गाया जाता है और वह कोई एक प्रतीक नहीं।

और युक्ति यह है कि"**अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्यानुसंन्धानं हि प्रतीकोपासनम्**"=जो पदार्थ ब्रह्म नहीं उसका ब्रह्मभाव से ध्यान करने का नाम " **प्रतीकोपासना** " है, ऐसा ध्यान यहां उद्गीथविषयक विधान नहीं कियागया किन्तु यहां उद्गीथ को वेद का सार कथन कियागया है जिसका आशय यह है कि उद्गीथ परमात्मप्राप्ति का मुख्यसाधन है, इसी अभिप्राय से उपनिषदों के अन्य स्थलों में भी कथन किया है कि " **एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्** "=यही एक ओंकाररूप आलम्बन=आश्रय श्रेष्ठ है और इसी का सहारा सर्वोपरि है,इस प्रकार ब्रह्म का बोधक होने से उद्गीथ को उसकी प्राप्ति का मुख्यसाधन कथन कियागया है मूर्त्तिपूजा के अभिप्राय से नहीं।

सं०-अब यह कथन करते हैं कि कौन ऋग्, कौन साम और कौन उद्गीथ है:—

कतमाकतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति॥४॥

पद०-कतमा । कतमा । ऋक् । कतमत् । कतमत् । साम । कतमः । कतमः । उद्गीथः । इति । विमृष्टं । भवति ।

पदा०-(कतमा, कतमा) कौन २ (ऋक्) ऋचा है (कतमत्, कतमत्) कौन २ (साम) साम है (कतमः, कतमः) कौन २ (उद्गीथः) उद्गीथ है (इति) यह (विमृष्टं) विचार (भवति) कियाजाता है ।

भाष्य-पूर्वोक्त द्वितीय श्लोक में ऋग्, साम और उद्गीथ यह तीन शब्द आये हैं और यह अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त होते हैं, जैसाकि छन्दोबद्ध श्लोकमात्र को ऋग्, गानमात्र को साम, उद्गातृकर्तृक गानमात्र को उद्गीथ कहते हैं, अब यहां यह शङ्का होती है कि उक्त शब्दों का क्या अर्थ लेना चाहिये ।

सं०-अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं :—

वागेवर्क्, प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथस्तद्वा एतन्मिथुनम् । यद्वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च ॥५॥

पद०-वाक् । एव । ऋक् । प्राणः । साम । ओम् । इति । एतत् । अक्षरं । उद्गीथः । तत् । वै । एतत् । मिथुनं । यत् । वाक् । च । प्राणः । च । ऋक् । च । साम । च ।

पदा०-(वाक्, एव, ऋक्) वाणी ही ऋग्वेद है (प्राणः, साम) प्राण सामवेद है (ओम्, इति) सर्वरक्षक परमात्मा (एतत्) यह (अक्षरं) नाशरहित (उद्गीथः) ओंकार है (वै) निश्चय करके (तत्, एतत्) वह यह (मिथुनं) जोड़ा (यत्) जो (वाक्,

च, प्राणः) वाक् और प्राण हैं (च) वा (ऋक्, च, साम) ऋग् और साम है ।

भाष्य–पूर्व श्लोक में जो तीन प्रश्न किये थे उनका इस श्लोक में उत्तर दिया गया है कि वाक् ही ऋचा है अर्थात् ईश्वर की परम कल्याणरूप वेदवाणी को " ऋचा " कहते हैं, प्राण साम है अर्थात् आनन्द का दाता होने से " सामवेद " प्राण है, और ओ३म्= सर्वव्यापक सर्वरक्षक ब्रह्म ही " उद्गीथ " है ।

भाव यह है, कि मनुष्य का वाक्=वाणी और प्राण ब्रह्माश्रित होकर ही सफल होते हैं इसीप्रकार ऋग् और साम भी परमात्म परायण पुरुष के ही सफल होते हैं अन्य के नहीं, जैसाकि " आचार हीनं न पुनन्ति वेदा "=आचारहीन पुरुष को वेद पवित्र नहीं कर सकता, इस वाक्य में वर्णन किया है, इस वाक्य के अनुसार जो पुरुष वाणीरूप ऋग् तथा प्राणरूप साम को लक्ष्य रखता है उसी को उक्त मिथुन फलप्रद होता है अन्य को नहीं ।

सं०–अब उक्त मिथुन का फल कथन करते हैं :–

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳ सृज्यते। यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योस्यकामम्॥६॥

पद०–तत् । एतत् । मिथुनं । ओम् । इति । एतस्मिन् । अक्षरे । संसृज्यते । यदा । वै । मिथुनौ । समागच्छतः । आपयतः । वै । तौ । अन्योन्यस्य । कामम् ।

पदा०–(तत्, एतत्) वह यह (मिथुनं) जोड़ा (ओम्,इति,

एतस्मिन्, अक्षरे) ओम् इस अक्षर में (संसृज्यते) संयुक्त हैं (वै) निश्चय करके (यदा) जब (मिथुनौ) दो युग्म (समागच्छतः) एकत्रित होते हैं तब (वै) निश्चय करके (तौ) वह दोनों (अन्योन्यस्य) एक दूसरे के (कामं) काम को (आपयतः) पूर्ण करते हैं।

भाष्य–दो युग्म=ऋग् तथा साम और वाक् तथा प्राण जब परब्रह्म परमात्मा में संयुक्त होते हैं क्योंकि निखिलवेद का तात्पर्य्य केवल ब्रह्म से ही है अन्य नहीं तब वह दोनों एक दूसरे के काम को पूर्ण करते हैं, या यों कहो कि जैसे पुरुष और स्त्री रूप जोड़ा परस्पर प्रीति से युक्त होकर संसार में सुख भोगते हैं इसीप्रकार यह जीवात्मा जब ओंकार के साथ संयुक्त होता है तभी दोनों की सफलता होती है अर्थात् परमात्मा प्राणी को अपना आज्ञाकारी देखकर प्रसन्न होता है और वह अपने अभीष्टदेव को पाकर कृतकृत्य होजाता है, इसप्रकार एक दूसरे का कार्य्य सफल होना जोड़े का तात्पर्य्यरूप फल है।

सं०–अब उक्त अक्षरब्रह्म के ज्ञाता को फलप्राप्ति कथन करते हैं :—

आपयिता हवै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ७ ॥

पद०–आपयिता। ह । वै। कामानां । भवति । यः । एतत् । एवं । विद्वान् । अक्षरं । उद्गीथं । उपास्ते ।

पदा०–(ह) यह प्रसिद्ध है कि (यः) जो उपासक (एतत्) इस (अक्षरं) ओंकाररूप (उद्गीथं) ब्रह्म को (एवं) इसप्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (उपास्ते) उपासना करता है वह (वै)

निश्चय करके (कामानां) कामनाओं को (आपयिता) पूर्ण करने वाला (भवति) होता है ।

भाष्य-उद्गीथ प्रतिपाद्य ब्रह्म के ज्ञाता को फलप्राप्ति इसलिये कथन की है कि उसका ज्ञान भ्रमरहित होता है अर्थात् वेद प्रतिपाद्य होने से उसके ज्ञान में कोई भ्रान्ति नहीं होती, इसलिये वैदिक ज्ञान द्वारा ओ३म् अक्षर का ज्ञाता ही पर्य्याप्तकाम होसकता है अन्य नहीं ।

सं०-अब लोकप्रसिद्धि से उद्गीथ की उत्तमता वर्णन करते हैं:—

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरम्, यद्धिकिञ्चानुजानात्योमित्येव, तदाहैषो एवसमृद्धिर्यदनुज्ञा, समर्द्धयिता हवै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ८॥

पद०-तत् । वै । एतत् । अनुज्ञाक्षरं । यत् । हि । किञ्च । अनुजानाति । ओम् । इति । एव । तत् । आह । एषा । उ । एव । समृद्धिः । यत् । अनुज्ञा । समर्द्धयिता । ह । वै । कामानां । भवति । यः । एतत् । एवं । विद्वान् । अक्षरं । उद्गीथं । उपास्ते ।

पदा०-(वै) निश्चय करके (एतत्) यह (तत्) वह (अनुज्ञाक्षरं) स्वीकारवाचक अक्षर है (हि) क्योंकि (यत्) जो (किंच) कुछ (अनुजानाति) जानता है (तदा) तब (ओम्, इति, एव) ओम् ही को (आह) कहता है (एषा, उ, एव) यह ही (समृद्धिः)

विभूति है (यत्) जो (अनुज्ञा) स्वीकृति है (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध है कि वह पुरुष (कामानां) कामनाओं का (समर्द्धयिता) बढ़ानेवाला (भवति) होता है (यः) जो (एतत्) इस (अक्षरं, उद्गीथं) अविनाशी परमात्मा को (एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (विद्वान्) जानता हुआ (उपास्ते) उपासना करता है।

भाष्य–इस श्लोक में "ओंकार" अनुज्ञा अक्षर कथन कियागया है अर्थात् जब कोई पुरुष किसी अर्थ का स्वीकार करता है तब वह ओंकार का प्रयोग करता है,जैसाकि "भवता वेदान्तशास्त्रमधीतम्"= आपने वेदान्तशास्त्र पढ़ा है? इसप्रकार प्रश्न करने पर अधीतवेदान्त की ओर से यह उत्तर होता है कि "ओ३म्" हां पढ़ा है, इत्यादि, यहां अनुज्ञार्थ में ओंकार का प्रयोग दिखलाने का तात्पर्य यह है कि जैसे सत्योक्ति का स्वीकार करने वाला समृद्धि को प्राप्त होता है इसीप्रकार उद्गीथ अक्षर का मान करनेवाला सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाला होता है, इससे यह तात्पर्य्य कदापि नहीं कि जो अक्षर अनुज्ञा के लिये प्रयुक्त कियाजाता है उसी त्रिमात्रिक ओङ्कार की यहां उपासना विधान कीगई है किन्तु यह तात्पर्य्य है कि जिसप्रकार अनुज्ञा अभिधायक ओंकार का प्रयोक्ता समृद्धि वाला होता है इसीप्रकार अक्षर ब्रह्म का उपासक सब प्रकार के ऐश्वर्य्य को पाता है।

और बात यह है कि जैसे ईश्वर आज्ञा देता है कि "मा- गृधः कस्यस्विद्धनम्"=किसी के धन की इच्छा मत करो, इस आज्ञा को "ओ३म्" कहकर स्वीकार करे कि "ओ३म्" इस आपकी आज्ञा को स्वीकार करता हूं, इसीप्रकार अन्य आज्ञाओं को भी समझे कि परमात्मा मुझको आज्ञा देता है और मैं ओ३म्

हां हां कह सबको स्वीकार करता हूं, इस भाव को समझने वाला पुरुष समृद्धिमान् होता है।

सं०-अब ब्रह्माभिधायी ओंकार की श्रेष्ठता अन्य प्रकार से कथन करते हैं :—

तेनेयं त्रयीविद्या वर्त्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शꣳसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥ ९ ॥

पद०-तेन। इयं। त्रयी। विद्या। वर्त्तते। ओम्। इति। आश्रावयति। ओम्। इति। शंसति। ओम्। इति। उद्गायति। एतस्य। एव। अक्षरस्य। अपचित्यै। महिम्ना। रसेन।

पदा०-(तेन) उक्त ओङ्कार से (इयं) यह (त्रयी, विद्या) कर्म, उपासना, ज्ञानरूप तीनों प्रकार की विद्या (वर्त्तते) वर्त्तमान् हैं, क्योंकि (ओम्, इति) ओङ्कार अक्षर ही की अध्वर्यु (शंसति) स्तुति करते हैं (ओम्, इति) ओङ्कार अक्षर को ही होता (आश्रावयति) सुनाते हैं (ओम्, इति) ओङ्कार का ही (उद्गायति) उद्गाता गान करते हैं (एतस्य, एव) इस ही (अक्षरस्य) अविनाशी ईश्वर की (अपचित्यै) उपासना के लिये (महिम्ना) परमात्मा के महत्व द्वारा उसी के (रसेन) आनन्द से पुरुष ईश्वर परायण होता है।

भाष्य-ओङ्कार से ही त्रयीविद्या=कर्म, उपासना और ज्ञान रूप तीनो विद्यायें वर्त्तमान हैं, ऋत्विग् लोग प्रथम ओङ्कार को उच्चारण करके ही उनका प्रारम्भ करते हैं, या यों कहो कि ओङ्कार अक्षर का लक्ष्य जो ब्रह्म है उसी के द्वारा उक्त तीनों विद्यायें विद्यमान हैं, क्योंकि इनके आदि में प्रथम " ओम् " का ही उच्चा-

रण कियाजाता है, अधिक क्या कर्म, उपासना तथा ज्ञान इन तीनों काण्डात्मक वेद ओङ्कार अक्षर से व्याप्त है, क्योंकि "ओम्" कहकर ही ब्रह्मोपदेष्टा लोग ब्रह्म का कथन करते हैं तथा उक्त अक्षर परमात्मा के रसरूप व्रीहि, यवादि अन्नों से याज्ञिक लोग यज्ञ करते हैं और परमात्मदेव की उपासना से ही पुरुष सिद्धि को प्राप्त होता है, जैसाकि गी० १८। ४६ में भी वर्णन किया है कि "**स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**"=अपने शुभकर्मों द्वारा परमात्मा की उपासना करके ही पुरुष सिद्धि को पाता है, इससे सिद्ध है कि एकमात्र सिद्धि का उपाय "ओम्" अक्षर प्रतिपाद्य परमात्मा की उपासना ही है अन्य कोई नहीं।

सं०—अब ज्ञानी तथा अज्ञानी के लिये एकजैसा फल होने का पूर्वपक्ष करते हैं :—

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद, नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति॥१०॥

पद०—तेन। उभौ। कुरुतः। यः। च। एतत्। एवं। वेद। यः। च। न। वेद। नाना। तु। विद्या। च। अविद्या। च। यत्। एव। विद्यया। करोति। श्रद्धया। उपनिषदा। तत्। एव। वीर्य्यवत्तरं। भवति। इति। खलु। एतस्य। एव। अक्षरस्य। उपव्याख्यानं। भवति।

पदा०-(यः) जो (एतद्) इस अक्षर को (एवं) इस प्रकार (वेद) जानता है (च) अथवा (यः, च) और जो (न, वेद) नहीं जानता (उभौ) यह दोनों (तेन) उस ओङ्कार की सहायता से (कुरुतः) कर्म करते हैं (तु) पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है (च) और (विद्या) विद्या (च) और (अविद्या) अविद्या (नाना) भिन्न २ रूप वाली हैं (विद्यया) विद्या से (श्रद्धया) श्रद्धा से (उपनिषदा) ज्ञानपूर्वक कर्तव्य से (यद्, एव) जिस कर्म को (करोति) करता है (तद्, एव) वही कर्म (वीर्य्यवत्तरं) फलप्रद (भवति) होता है (इति,एव) पूर्वोक्त सम्पूर्ण वर्णन (खलु) निश्चय करके (एतस्य) इसी (अक्षरस्य) अविनाशी ईश्वर का (उपव्याख्यानं) विशेषव्याख्यान (भवति) है।

भाष्य-इस श्लोक में यह वर्णन कियागया है कि जो अक्षर ब्रह्म को जानता है और जो नहीं जानता वह दोनों ही उस ओङ्कार की सहायता से कर्म करते हैं और कर्म के सामर्थ्य से दोनों का फल तुल्य होगा, यदि ऐसा ही है तो अर्थज्ञान के लिये अधिक परिश्रम करना व्यर्थ है ? इसका समाधान उपनिषत्कार इस प्रकार करते हैं कि विद्या और अविद्या यह दोनों भिन्न २ पदार्थ हैं तो दोनों के फल समान कैसे होसक्ते हैं, विद्या=ज्ञानपूर्वक कर्म करने वाला सिद्धि को प्राप्त होता है और अविद्या=अज्ञानी सदा ही अनेक प्रकार के कष्ट सहन करता हुआ अपने जीवन को व्यर्थ खोता है, इसलिये दोनों एक नहीं, अतएव पुरुष को उचित है कि वह ज्ञानपूर्वक ओङ्कार का ज्ञाता हो तभी वह फल देसक्ता है अन्यथा नहीं, इसी अभिप्राय से इस उपनिषद् में शिक्षा दी है कि विद्या से युक्त होकर जो कर्म किये जाते हैं वही वीर्य्यवत्तर= अधिक फलदायक होते हैं परन्तु उसमें भी श्रद्धा और शिक्षा की

परमावश्यकता है, अतएव सिद्ध है कि यहां उस ब्रह्म का ही यह सम्पूर्ण वर्णन कियागया है इसी का आश्रयण करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है, या यों कहो कि जो पुरुष उक्त ओङ्कार प्रतिपाद्य ब्रह्माक्षर की श्रद्धा तथा ज्ञान से उपासना करते हैं वही उसकी उपासना से मुक्तिरूप अमृत को प्राप्त होते हैं अन्य नहीं।

और जो लोग उक्त स्थल में ओङ्कार की उपासना को प्रतीकोपासना में लगाते हैं उनको स्मरण रहे कि यदि ज्ञान तथा अज्ञानपूर्वक दोनों प्रकार की उपासना का एक जैसा फल होता तो उपनिषत्कार ज्ञानपूर्वक उपासना को सर्वोपरि सिद्ध न करते, क्योंकि इनके मत में प्रतीक में मिथ्या बुद्धि करके उसको ईश्वर मानाजाता है, इसलिये इस स्थल में ओङ्कार की उपासना से ब्रह्मोपासना ही अभिप्रेत है किसी वर्ण तथा साकार की उपासना का अभिप्राय नहीं॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

पदा०-(यः) जो (एतत्) इस अक्षर को (एवं) इस प्रकार (वेद) जानता है (च) अथवा (यः, च) और जो (न, वेद) नहीं जानता (उभौ) यह दोनों (तेन) उस ओङ्कार की सहायता से (कुरुतः) कर्म करते हैं (तु) पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है (च) और (विद्या) विद्या (च) और (अविद्या) अविद्या (नाना) भिन्न २ रूप वाली हैं (विद्यया) विद्या से (श्रद्धया) श्रद्धा से (उपनिषदा) ज्ञानपूर्वक कर्तव्य मे (यत्, एव) जिस कर्म को (करोति) करता है (तत्, एव) वही कर्म (वीर्य्यवत्तरं) फलप्रद (भवति) होता है (इति,एव) पूर्वोक्त सम्पूर्ण वर्णन (खलु) निश्चय करके (एतस्य) इसी (अक्षरस्य) अविनाशी ईश्वर का (उपव्याख्यानं) विशेषव्याख्यान (भवति) है ।

भाष्य-इस श्लोक में यह वर्णन कियागया है कि जो अक्षर ब्रह्म को जानता है और जो नहीं जानता वह दोनों ही उस ओङ्कार की सहायता से कर्म करते हैं और कर्म के सामर्थ्य से दोनों का फल तुल्य होगा, यदि ऐसा ही है तो अर्थज्ञान के लिये अधिक परिश्रम करना व्यर्थ है ? इसका समाधान उपनिषत्कार इस प्रकार करते हैं कि विद्या और अविद्या यह दोनों भिन्न २ पदार्थ हैं तो दोनों के फल समान कैसे होसक्ते हैं, विद्या=ज्ञानपूर्वक कर्म करने वाला सिद्धि को प्राप्त होता है और अविद्या=अज्ञानी सदा ही अनेक प्रकार के कष्ट सहन करता हुआ अपने जीवन को व्यर्थ खोता है, इसलिये दोनों एक नहीं, अतएव पुरुष को उचित है कि वह ज्ञानपूर्वक ओङ्कार का ज्ञाता हो तभी वह फल देसक्ता है अन्यथा नहीं, इसी अभिप्राय से इस उपनिषद् में शिक्षा दी है कि विद्या से युक्त होकर जो कर्म किये जाते हैं वही वीर्य्यवत्तर= अधिक फलदायक होते हैं परन्तु उसमें भी श्रद्धा और शिक्षा की

परमावश्यकता है, अतएव सिद्ध है कि यहां उस ब्रह्म का ही यह सम्पूर्ण वर्णन कियागया है इसी का आश्रयण करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है, या यों कहो कि जो पुरुष उक्त ओङ्कार प्रतिपाद्य ब्रह्माक्षर की श्रद्धा तथा ज्ञान से उपासना करते हैं वही उसकी उपासना से मुक्तिरूप अमृत को प्राप्त होते हैं अन्य नहीं।

और जो लोग उक्त स्थल में ओङ्कार की उपासना को प्रतीकोपासना में लगाते हैं उनको स्मरण रहे कि यदि ज्ञान तथा अज्ञानपूर्वक दोनों प्रकार की उपासना का एक जैसा फल होता तो उपनिषत्कार ज्ञानपूर्वक उपासना को सर्वोपरि सिद्ध न करते, क्योंकि इनके मत में प्रतीक में मिथ्या बुद्धि करके उसको ईश्वर मानाजाता है, इसलिये इस स्थल में ओङ्कार की उपासना से ब्रह्मोपासना ही अभिप्रेत है किसी वर्ण तथा साकार की उपासना का अभिप्राय नहीं॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—प्रथम खण्ड में ओङ्कार का व्याख्यान करके अब इस खण्ड में आध्यात्मिक उपासन कथन करते हैं :—

देवासुरा ह्वै यत्र संयेतिरे, उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनै-नानभिभविष्याम इति ॥ १ ॥

पद०—देवासुराः। ह। वै। यत्र। संयेतिरे। उभये। प्राजापत्याः। तद्। ह। देवाः। उद्गीथं। आजह्रुः। अनेन। एनान्। अभिभविष्यामः। इति।

पदा०—(ह) यह प्रसिद्ध है कि (देवासुराः) देव और असुर (उभये) दोनों (प्रजापत्याः) प्रजापति की सन्तान (वै) निश्चय करके (यत्र) जिस कारण (संयेतिरे) युद्ध करने को प्रवृत्त हुए (तद्) इसलिये (ह) प्रसिद्ध है कि (देवाः) देवों ने (उद्गीथं) उद्गीथ को (आजह्रुः) ग्रहण किया कि (अनेन) इससे (एनान्) इनको (अभिभविष्यामः, इति) जीतेंगे।

भाष्य—शास्त्र के अभ्यास द्वारा वेदाज्ञा पालन करने वाली वृत्तियों का नाम "देव" और तद्विपरीत बहिर्मुख वृत्तियों का नाम यहां "असुर" है, उक्त दोनो भावों वाली वृत्तियों में अहर्निश देवासुर संग्राम बना रहता है जिसको सब मनुष्य भले प्रकार अनुभव करते हैं, यह प्रत्यक्ष है कि जो पुरुष शास्त्रीय ज्ञान से शमदमादिसाधन सम्पन्न हैं अथवा जो अनुष्ठानपूर्वक वेदाज्ञा का

पालन करते हैं उनकी आसुरी वृत्तियें दबकर उत्तम वृत्तियों का राज्य होता है, इसलिये पुरुष को उचित है कि वह उद्गीथरूप ब्रह्म की उपासना में अहर्निश प्रवृत्त रहे ताकि आसुरी वृत्तियें उसको मन्द कर्मों में खींचकर न लेजायं॥

सं०—अब असुरों के विजयार्थ देव अपने उपास्यदेव का अन्वेषण करते हैं:—

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तँ हासुराः पाप्मनाविविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः।२

पद०—ते। ह। नासिक्यं। प्राणं। उद्गीथं। उपासाञ्चक्रिरे। तं। ह। असुराः। पाप्मना। विविधुः। तस्मात्। तेन। उभयं जिघ्रति। सुरभि। च। दुर्गन्धि। च। पाप्मना। हि। एषः। विद्धः

पदा०—(ह) प्रसिद्ध है कि (ते) वह देव (नासिक्यं) नासिकागत (प्राणं) प्राणवायु की (उद्गीथं) उद्गीथरूप से (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (तं) उसको (ह) निश्चय करके (असुराः) असुरों ने (पाप्मना) पापवृत्तिवाला (विविधुः) बनादिया (हि) क्योंकि (तेन) उक्त नासिकावृत्ति प्राण से पुरुष (सुरभि, च) सुगन्धि (च) और (दुर्गन्धि) दुर्गन्धि (उभयं) दोनों को (जिघ्रति) सूंघता है (तस्मात्) इसलिये (हि) निश्चय करके (एषः) यह प्राण (विद्धः) पाप से युक्त है॥

सं०—अब देव वाणी को उपास्य बनाते हैं:—

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। ताँ हा-

सुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयो-
भयं वदति सत्यञ्चानृतं च पाप्म-
ना ह्येषा विद्धा ॥ ३ ॥

पद०-अथ । ह । वाचं । उद्गीथं । उपासाञ्चक्रिरे । तां । ह । असुराः । पाप्मना । विविधुः । तस्मात् । तया । उभयं । वदति । सत्यं । च । अनृतं । च । पाप्मना । हि । एषा । विद्धा ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (ह) निश्चय करके (वाचं) बाणी की (उद्गीथं) उद्गीथरूप से (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (तां) उसको (ह) निश्चय करके (असुराः) दुष्टवृत्तियों ने (पाप्मना) पाप वृत्तिवाला (विविधुः) बनादिया (हि) क्योंकि (तया) उस बाणी से (सत्यं, च) सत्य (च) और (अनृतं) अनृत (उभयं) दोनों (वदति) बोलता है (तस्मात्) इस कारण (एषा) यह बाणी (पाप्मना) पाप से (विद्धा) युक्त है ।

सं०-अब देव चक्षु को उपास्य बनाते हैं:—

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे, तद्धा-
सुराःपाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं
पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च,
पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ४ ॥

पद०-अथ । ह । चक्षुः । उद्गीथं । उपासाञ्चक्रिरे । तत् । ह । असुराः । पाप्मना । विविधुः । तस्मात् । तेन । उभयं । पश्यति । दर्शनीयं । च । अदर्शनीयं । च । पाप्मना । हि । एतत् । विद्धम् ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (ह) निश्चय करके (चक्षुः) चक्षु की (उद्गीथं) उद्गीथरूप से (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (तत्) उसको (असुराः) दुष्टवृत्तियों ने (पाप्मना) पापवृत्तिवाला (विविधुः) बनादिया (ह) क्योंकि (तेन) उस चक्षु से (दर्शनीयं, च) देखने योग्य (च) और (अदर्शनीयं) नहीं देखने योग्य (उभयं) दोनों को (पश्यति) देखता है (तस्मात्) इसकारण (पाप्मना) पाप से (हि) निश्चय करके (एतत्) यह चक्षु (विद्धं) युक्त है ।

सं०-अब देव श्रोत्र को उपास्य बनाते हैं:—

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे, तद्धा-सुराःपाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳ शृणोति श्रवणीयञ्चाश्रवणीय-ञ्च, पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥५॥

पद०-अथ । ह । श्रोत्रं । उद्गीथं । उपासाञ्चक्रिरे । तत् । ह । असुराः । पाप्मना । विविधुः । तस्मात् । तेन । उभयं । शृणोति । श्रवणीयं । च । अश्रवणीयं । च । पाप्मना । हि । एतत् । विद्धम् ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (ह) निश्चयकरके (श्रोत्रं) श्रोत्र की (उद्गीथं) उद्गीथरूप से (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (तत्) इसको (ह) निश्चय करके (असुराः) दुष्ट-वृत्तियों ने (पाप्मना) पापवृत्तिवाला (विविधुः) बनादिया(हि) क्योंकि (तेन) उस श्रोत्र से (श्रवणीयं, च) सुनने योग्य (च) और (अश्रवणीयं)) नहीं सुनने योग्य (उभयं) दोनों को (शृ-णोति) सुनता है (तस्मात्) इसकारण (एतत्) यह श्रोत्र (पाप्मना) पाप से (विद्धं) युक्त है ।

सं०-अब देव मन को उपास्य बनाते हैंः—

अथ ह मन उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे, तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभय ँसङ्कल्पयते सङ्कल्पनीयश्चासंकल्पनीयश्च, पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ६ ॥

पद०-अथ । ह । मनः । उद्गीथं । उपासाञ्चक्रिरे । तत् । ह । असुराः । पाप्मना । विविधुः । तस्मात् । तेन । उभयं । सङ्कल्पयते । सङ्कल्पनीयं । च । असङ्कल्पनीयं । च । पाप्मना । हि । एतत् । विद्धम् ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (ह) निश्चय करके (मनः) मन की (उद्गीथं) उद्गीथरूप से (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (तत्) उसको (ह) निश्चय करके (असुराः) दुष्ट वृत्तियों ने (पाप्मना) पाप वृत्तिवाला (विविधुः) बनादिया (ह) क्योंकि (सङ्कल्पनीयं, च) सङ्कल्पयोग्य (च) और (असङ्कल्पनीयं) असङ्कल्पयोग्य (उभयं) दोनो विषयों का (सङ्कल्पयते) सङ्कल्प करता है (तस्मात्) इस कारण (एतत्) यह (पाप्मना) पाप से (विद्धं) युक्त है ।

सं०-अब देव प्राण को उपास्य बनाते हैं :—

अथ ह य एवायं मुख्यःप्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । त ँहासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्व ँसेत ॥ ७ ॥

पद०—अथ । ह । यः । एव । अयं । मुख्यः । प्राणः । तं । उद्गीथं । उपासाञ्चक्रिरे । तं । ह । असुराः । ऋत्वा । विदध्वंसुः । यथा । अश्मानं । आखणं । ऋत्वा । विध्वंसेत ।

पदा०—(अथ) इसके अनन्तर (ह) निश्चय करके देव (यः) जो (अयं) यह (मुख्यः) मुख्य (प्राणः) प्राण है (तं) उसको (एव) ही लक्ष्य करके (उद्गीथं) उद्गीथरूप से (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (तं) उस प्राण को (ऋत्वा) पाकर (ह) प्रसिद्ध है कि (असुराः) दुष्टवृत्तियें (विदध्वंसुः) छिन्नभिन्न होगईं (यथा) जैसे (आखणं) अभेद्य (अश्मानं) पत्थर को पाकर मिट्टी का ढेला (विध्वंसेत) छिन्नभिन्न होजाता है ।

भाष्य—उपरोक्त श्लोकों का भाव यह है कि असुर=दुष्ट वृत्तियों के विजयार्थ देव=इन्द्रिय अपने उपास्य देव का अन्वेषण करते हुए प्रथम नासिकागत प्राणवायु की उद्गीथरूप से उपासना करने लगे तब असुररूप वृत्तियों ने उनकी उपासना में विघ्न किया अर्थात् असुरों ने नासिका में वह भाव भरदिया जिससे वह दुर्गन्धि का त्याग करके सुगन्धिरूप स्वार्थ में फसजाय, अतएव इस स्वार्थी उपास्य देव के कारण देवता असुरों को न जीत सके, क्योंकि जिस सेना का नेता स्वार्थी हो वह दल कदापि कृतकार्य्य नहीं होसक्ता, फिर देवों ने " बाणी " को उपास्यदेव बनाया और उसके द्वारा भी कृतकार्य्य न होसके, क्योंकि वह सत्य और अनृत दोनों प्रकार का भाषण करने के कारण पाप से युक्त है, फिर देवों ने " चक्षु " को अपना उपास्यदेव बनाया और उसके द्वारा भी कृतकार्य्य न होसके, क्योंकि वह देखने योग्य और न देखने योग्य दोनों प्रकार के पदार्थों का अवलोकन करने के कारण पाप से युक्त है, फिर

देवों ने मन को उपास्यदेव बनाया और उसके द्वारा भी अपने अभीष्ट फल को प्राप्त न होसके, क्योंकि वह सङ्कल्प योग्य और असङ्कल्प योग्य दोनों प्रकार के विषयों का सङ्कल्प करने के कारण पाप से विद्ध है, इसके अनन्तर फिर देवों ने श्रेष्ठ सर्वोत्तम प्राण को अपना उपास्यदेव बनाया अर्थात् उस परम पवित्र ब्रह्म को लक्ष्य बना उसकी उपासना करने लगे तब उस प्राणरूप ब्रह्म को पाकर दुष्टवृत्तियें छिन्नभिन्न होगईं, जैसे पत्थर को पाकर मिट्टी का ढेला छिन्नभिन्न होजाता है ।

भाव यह है कि प्राण से तात्पर्य्य यहां ब्रह्म का है, जैसाकि "**प्राणिति सर्वं जगदिति प्राणः**"=जो सम्पूर्ण संसार को प्राणनरूप चेष्टा कराये उसका नाम "**प्राण**" है, सो एकमात्र परमात्मा ही सम्पूर्ण जगत् को प्राणरूप चेष्टा कराता है, इसलिये यहां प्राण शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण है अर्थात् जैसे इस देह की स्थिति का कारण एकमात्र शरीरवर्त्ति प्राण है इसीप्रकार इस सारे ब्रह्माण्ड की गति का कारण एकमात्र ब्रह्म है जिसको शास्त्रकारों ने "प्राण" शब्द से कथन किया है, अतएव मनुष्यमात्र को उचित है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जीवन हेतु गतिसंचारक ब्रह्म की ही उपासना करें अन्य इन्द्रियरूप प्राण तथा भौतिक पदार्थों की नहीं ।

सं०—अब उक्त प्राणरूप ब्रह्म की उपासना करनेवाले को फलप्राप्ति कथन करते हैं :—

एवम्, यथाश्मानमाखणमृत्वाविध्व ँ सत एव ँ हैव स विध्व ँसते । य एवं

विदि पापं कामयते, यश्चैनमभिदा-सति, स एषोऽश्माखणः ॥८॥

पद०-एवं। यथा। अश्मानं। आखणं। ऋत्वा। विध्वंसते। एवं। ह। एव। सः। विध्वंसते। यः। एवंविदि। पापं। कामयते। यः। च। एनं। अभिदासति। सः। एषः। अश्माखणः।

पदा०-(एवं) उक्त व्यवस्थानुसार (यथा) जैसे (आखणं) अभेद्य (अश्मानं) पत्थर को (ऋत्वा) पाकर मिट्टी का ढेला (विध्वंसते) नाश को प्राप्त होजाता है (एवं, एव) इसी प्रकार (ह) निश्चय करके (सः) वह पुरुष भी (विध्वंसते) नष्ट होजाता है (यः) जो (एवंविदि) उक्त प्रकार से जानने वाले ब्रह्मवेत्ता के साथ (पापं, कामयते) पाप की कामना करता है (च) और (यः) जो (एनं) इस ब्रह्मवादी का (अभिदासति) अनिष्ट चिन्तन करता है, क्योंकि (सः) वह (एषः) यह ब्रह्मवादी (अश्माखणः) अभेद्य पत्थर के समान है।

भाष्य-जिसप्रकार मिट्टी का ढेला पत्थर को प्राप्त होकर छिन्नभिन्न होजाता है इसीप्रकार प्राणरूप ब्रह्म की उपासना करने वाले से द्वेष करने वाले का नाश होजाता है, इसलिये सबको उचित है कि परमात्मपरायण पुरुष से कदापि द्वेष न करें, जहांतक बनसके यथाशक्ति उसकी सेवा और आज्ञापालन में तत्पर रहें, यही धर्म है जो सबको कर्तव्य है।

सं०-अब ब्रह्म से बहिर्मुख पुरुष का कथन करते हैं:-

नेवेतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यप-

हतपाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवत्येतमुएवान्त-तोऽवित्वोत्क्रामति व्याददात्ये वान्तत इति ॥ ९ ॥

पद०—न । एव । एतेन । सुरभि । न । दुर्गंधि । विजानाति । अपहतपाप्मा । हि । एषः । तेन । यत् । अश्नाति । यत् । पिबति । तेन । इतरान् । प्राणान् । अवति । एतं । उ । एव । अन्ततः । अवित्वा । उत्क्रामति । व्याददाति । एव । अन्ततः । इति ।

पदा०—(एतेन) पूर्वोक्त ब्रह्म की उपासना से (न, एव) नाहीं (सुरभि) सुख को (न) न (दुर्गन्धि) दुःख को (विजानाति) जानता है (हि) क्योंकि (एषः) ब्रह्मदर्शी (अपहतपाप्मा) निष्पाप होजाता है (तेन) इसकारण (यत्) जो (अश्नाति) खाता है (यत्) जो (पिबति) पीता है (तेन) उससे (इतरान्) अन्य (प्राणान्) इन्द्रियादिकों की (अवति) रक्षा करता है (उ) और जो (एव) निश्चय करके (एतं) इस प्राणरूप ब्रह्म को (अन्ततः) मरणकाल तक (एव) भी (अवित्वा) न जानकर (उत्क्रामति) शरीर को त्याग प्रस्थान करता है वह (अन्ततः) अन्तकाल में (व्याददाति,इति) मुख खोल लेता है कि मानो फिर श्वास लेगा ।

भाष्य—इस मन्त्र में ब्रह्मोपासक के दुःख का अभाव कथन कियागया है कि जब उक्त उपासक का ब्रह्म के साथ योग होजाता है तब वह द्वन्द्वों से छूट जाता है अर्थात् सुगन्धि, दुर्गन्धि, सुख, दुःख

शीत, उष्ण, मान, अपमानादि को समान समझता है, अधिक क्या जिसप्रकार ब्रह्म अपहतपाप्मा है इसीप्रकार संसर्ग गुण से उपासक भी विशुद्ध होजाता है और विशुद्ध होने से उसका खानपानादि व्यवहार, विद्या, बल आदि सब परोपकार दृष्टि से ही होते हैं स्वार्थ से कुछ नहीं, और जो परमात्मा का उपासक नहीं है वह अन्त समय=मरणकाल में अपना मुख खोलकर पुनः श्वास की आशा करता है कि यदि अब के फिर श्वास आजाय तो मैं ब्रह्मज्ञानी बनूं, फिर क्या होता है पश्चात्ताप और शोक करता हुआ अपनी सब प्यारी चीजों को छोड़कर अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है ।

भाव यह है कि सम्पूर्ण प्राणिवर्ग को प्राणशक्ति देने वाला एकमात्र प्राणरूप ब्रह्म ही है उसके ज्ञान का फल यह है कि उसका ज्ञाता दुःख पड़ने पर भी अपने आपको दुःखी नहीं मानता और न सुख में सुखी मानता है उसके लिये सुख दुःख समान होते हैं, क्योंकि उसको यह ज्ञान होता है कि यह सुख दुःख आगमापायी हैं तथा शीतोष्णादि द्वन्द्वों की सहिष्णुता से वह सर्वथा निष्पाप होजाता है और वह जो कुछ खान पानादि व्यवहार करता है वह सब शरीर यात्रा के लिये करता है और ऐसा ही पुरुष निष्काम कर्मी कहलाता है स्वार्थी नहीं, और जो उक्त प्रकार से प्राणरूप ब्रह्म का ज्ञाता नहीं वह मानो प्राणत्याग के समय मुख खोलकर यह पश्चात्ताप करता है कि यदि परमात्मा अब की वार फिर मनुष्य जन्म दें तो मैं ऐसी भूल कदापि न करूं अब की वार परमात्मपरायण अवश्य बनूं, फिर क्या होता है, इस प्रकार शोक और सन्ताप करता हुआ संसार से प्रयाण कर जाता है।

सं०—अब उक्त प्राणरूप परमात्मा का महत्व वर्णन करते हैं:—

तꣳहाङ्गिरा उद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥१०॥

पद०—तं । ह । अङ्गिराः । उद्गीथं । उपासाञ्चक्रे । एतं । उ । एव । आङ्गिरसं । मन्यन्ते । अङ्गानां । यत् । रसः ।

पदा०—(ह) यह प्रसिद्ध है कि (तं) प्राणरूप परमात्मा को अधिष्ठान मानकर (अङ्गिराः) आङ्गिरा नामक ऋषि (उद्गीथं) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रे) उपासना करते थे (एतं, उ) इसी को (एव) निश्चय करके (आङ्गिरसं) सम्पूर्ण अङ्गों का आधार (मन्यन्ते) मानते थे (यत्) जो (अङ्गानां) सृष्टि उत्पादक सब पदार्थों का (रसः) सार है ।

भाष्य—सब विद्वानों में श्रेष्ठ अङ्गिरा ऋषि भी उद्गीथरूप ब्रह्म की ही उपासना करते और उसीको सम्पूर्ण विश्व का आधार मानते थे, अतएव हम लोगों को भी अपने कल्याणार्थ उसी परब्रह्म परमात्मा की उपासना करनी चाहिये, क्योंकि वही सब पदार्थों का स्वामी, सब अङ्गों का आधार और प्रकृत्यादि सब पदार्थों का सार है ।

सं०—अब उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये और हेतु कथन करते हैं:—

तेन तꣳह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमुएव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एषः पतिः ॥११

पद०—तेन । तं । ह । बृहस्पतिः । उद्गीथं । उपासाञ्चक्रे । एतं । उ । एव । बृहस्पतिं । मन्यन्ते । वाग् । हि । बृहती । तस्याः । एषः । पतिः ।

पदा०—(ह)यह प्रसिद्ध है कि (तेन)उक्त हेतु से (तं) उस ब्रह्म की (बृहस्पतिः) बृहस्पति नामक ऋषि (उद्गीथं) उद्गीथरूप से (उपासाञ्चक्रे) उपासना करते थे (एव) निश्चय करके (एतं, उ) इसी को (बृहस्पतिं) वेदवाणी का अधिपति (मन्यन्ते) मानते थे (हि) क्योंकि जो (वाग्) वाणी (बृहती) बड़ी है (तस्याः) उसका (एषः) यह (पतिः) स्वामी है ।

भाष्य—यह श्लोक भी उक्तार्थ की पुष्टि में प्रमाण दिया गया है कि बृहस्पति नामा ऋषि भी उद्गीथरूप ब्रह्म की उपासना करते थे अर्थात् उक्त वेदवेत्ता विद्वान् ऋषि जो अपहतपाप्मादि गुणों के धारण करने के कारण सब से बड़े कहलाये वह भी ब्रह्म की ही उद्गीथरूप से उपासना करते थे, अतएव मनुष्य मात्र को उसी परमपिता परमात्मा की उपासना करनी चाहिये ।

सं०—अब " आयास्य " ऋषि की उपासना द्वारा उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं :-

तेन तꣳहायास्य उद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥ १२ ॥

पद०—तेन । तं । ह । आयास्यः । उद्गीथं । उपासाञ्चक्रे । एतं । उ । एव । आयास्यं । मन्यन्ते । आस्यात् । यत् । अयते ।

पदा०-(ह) यह प्रसिद्ध है कि (तेन) इसी हेतु से (तं) उसी ब्रह्म को अधिष्ठान मानकर (आयास्यः) "आयास्य" नामक ऋषि (उद्गीथं) उद्गीथ रूप ब्रह्म की (उपासाञ्चक्रे) उपासना करते थे (एव) निश्चयकरके (एतं, उ) इसी को (आयास्यं) आयास्य (मन्यन्ते) मानते थे (यत्) जो (आस्यात्) ब्रह्म को जानकर (अयते) दूसरों को जनाता है उसका नाम "आयास्य" है ॥

सं०-अब दल्भ्य नामक ऋषि के पुत्र "वक" नामा ऋषि की उपासना द्वारा उक्तार्थ को पुष्ट करते हैं:-

तेन तꣳवको दाल्भ्यो विदाञ्चकार स ह नैमिषयाणामुद्गाता बभूव सह स्मैभ्यः कामानागायति॥१३॥

पद०-तेन। तं। वकः। दाल्भ्यः। विदाञ्चकार। स। ह। नैमिषीयाणां। उद्गाता। बभूव। सः। ह। स्म। एभ्यः। कामान्। आगायति॥

पदा०-(ह) यह प्रसिद्ध है कि (तेन) इसी प्राणोपासना से (तं) उस उद्गीथ को (दाल्भ्यः) दल्भ्य नामक ऋषि के पुत्र (वकः) वक नामा ऋषि ने (विदाञ्चकार) जाना (सः) वह ऋषि (नैमिषीयाणां) नैमिषारण्य निवासी ऋषियों के (उद्गाता) उद्गाता नामक ऋत्विक् (बभूव) हुए और (ह) यह प्रसिद्ध है कि (सः) वह (एभ्यः) इनकी (कामान्) कामनाओं को (आगायति, स्म) पूर्ण करते थे।

भाष्य-उक्त श्लोकों में इतिहास वर्णन किया गया है कि आङ्गिरा

बृहस्पति आदि सब ऋषि उद्गीथरूप ब्रह्म की ही उपासना करते थे और यह "वक" नामा ऋषि केवल उनके उद्गाता ही नहीं किन्तु उनके कार्य्यों के पूर्ण करने वाले भी थे।

सं०-अब उक्त अध्यात्मोपासना का उपसंहार करते हैं:-

आगाता हवै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथ-मुपास्तइत्यध्यात्मम्॥१४॥

पद०-आगाता। ह। वै। कामानां। भवति। यः। एतत्। एवं। विद्वान्। अक्षरं। उद्गीथं। उपास्ते। इति। अध्यात्मम्॥

पदा०-वह ब्रह्मवित् पुरुष (ह, वै) निश्चय करके (कामानां) कामनाओं का (आगाता) पूर्ण करने वाला (भवति) होता है (यः) जो (एतत्) इस (अक्षरं) अविनाशी (उद्गीथं) ब्रह्म की (उपास्ते) उपासना करता है (इति, अध्यात्मं) यह अध्यात्म उपासना समाप्त हुई।

भाष्य-जिसमें केवल अक्षरब्रह्म का ही अनुसन्धान किया जाय उसका नाम 'अध्यात्मोपासना' है, जैसाकि 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः' तथा "य आदित्ये तिष्ठन् आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद" इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि जिसके भय से अग्नि तथा सूर्य्य तपता और जो सूर्य्य के अन्दर व्यापक है और जिसको सूर्य्य नहीं जानता वह ब्रह्म है उसीकी उपासना का नाम "अध्यात्मोपासना" है किसी वर्ण वा प्रतीकविशेष का नाम नहीं और वही मनुष्यमात्र को उपादेय है॥

इति द्वितीयःखण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—द्वितीय खण्ड में आध्यात्मिक उपासना का वर्णन करके अब इस खण्ड में अधिदैवत उपासन कथन करते हैं:—

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति उद्यँस्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता हवै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥१॥

पद०—अथ । अधिदैवतं । यः । एव । असौ । तपति । तं । उद्गीथं । उपासीत । उद्यन् । वै । एषः । प्रजाभ्यः । उद्गायति । उद्यन् । तमः । भयं । अपहन्ति । अपहन्ता । ह । वै । भयस्य । तमसः । भवति । यः । एवं । वेद ।

पदा०—(अथ) अब (अधिदैवतं) सूर्य्यादि दिव्य पदार्थों में ब्रह्म की उपासना कथन करते हैं (यः) जो (असौ) यह (तपति) तपता है (तं) उसकी (एव) निश्चय करके (उद्गीथं) उद्गीथरूप से (उपासीत) उपासना करे, क्योंकि (वै) निश्चय करके (उद्यन्) उदय होता हुआ (एषः) यह सूर्य्य (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (उद्गायति) ब्रह्म के यश का गायन करता है और (उद्यन्) उदय होता हुआ (तमः) अज्ञानरूप अन्धकार (भयं) मोहरूप भय को (अपहन्ति) नाश करता है (ह, वै)

निश्चयकरके वह पुरुष (भयस्य) भय का (तमसः) तम का (अपहन्ता) नाशक (भवति) होता है (यः) जो (एवं) इस प्रकार (वेद)जानता है ।

भाष्य–इस श्लोक में अलङ्काररूप से सूर्य्य को उद्गीथ कथन कियागया है अर्थात् जिसप्रकार यह भौतिक सूर्य्य तपता हुआ अन्धकार तथा तत्कृत भय का निवर्त्तक होता है इसी प्रकार उद्गीथ रूप अधिदैवत उपासन अज्ञानरूप अन्धकार तथा मोहरूप भय का नाशक होता है, यह ऐसा ही अलङ्कार है जैसाकि " द्यांमूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति, खं वै नाभिं चन्द्रसूर्य्यौ च नेत्रे, दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिश्च " इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि द्युलोक ब्रह्म का मूर्द्धा=मुखस्थानीय आकाश नाभि स्थानीय, चन्द्र सूर्य्य नेत्र स्थानीय और पृथिवी पाद स्थानीय है, जो पुरुष उक्त भाव को भलीभांति जानता है कि जिसप्रकार प्रकाश अन्धकार का निवर्त्तक है इसीप्रकार ब्रह्म अज्ञानरूपी तम का निवर्त्तक है वह इस ज्ञान से स्वयं भी तम तथा मोहरूप भय का निवर्त्तक होजाता है अर्थात् सूर्य्यादि दिव्य पदार्थों में जो दिव्य ज्योति है वह परमात्मा की ओर से है, इस लिये अन्तर्यामीरूप से सूर्य्यादि दिव्य पदार्थों में ब्रह्म को व्यापक समझकर उसीकी उपासना करनी चाहिये ।

यदि पूर्वपक्षी यहां यह आशङ्का करे कि उक्त उपासना से तो प्रतीकोपासना की सिद्धि होती है क्योंकि इसमें सूर्य की उद्गीथ रूप से उपासना कथन कीगई है ? इसका उत्तर यह है कि इस मंत्र

में सूर्य्य को उद्गीथ मानकर उपासना का विधान नहीं कियागया किन्तु सूर्य्य तथा उद्गीथ सम्बन्धी एक प्रकार का रूपोपन्यास कथन कियागया है, जैसाकि "रूपोपन्यासाच्च" ब्र० सू० १। २। २३ में वर्णन किया है और इसी भाव को मुण्डक २। १। ४ में इस प्रकार कथन किया हैं कि "अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः"=अग्नि परमात्मा का मुखस्थानीय, चन्द्रसूर्य्य नेत्र स्थानीय, दिशायें श्रोत्र और खुला हुआ मुख वेद है, यह कथन साकारोपासना के अभिप्राय से नहीं किन्तु ब्रह्म का महत्व वर्णन करने के अभिप्राय से है, इसी प्रकार यहां ब्रह्म का महत्व बोधन करने के लिये सूर्य्य और उद्गीथ की समानरूपता वर्णन कीगई है कि सूर्य्य स्वप्रकाश द्वारा प्रजा को प्रसन्न करता है और परब्रह्म ज्ञानरूप प्रकाश द्वारा प्रजा का कल्याण करता है, इसलिये उक्त आशङ्का ठीक नहीं ।

सं०—अब सूर्य्य तथा प्राण की समता कथन करतेहैं:—

समान उ एवायञ्चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिममसुञ्चोद्गीथमुपासीत ॥ २ ॥

पद०—समानः । उ । एव । अयं । च । असौ । च । उष्णः । अयं । उष्णः । असौ । स्वरः । इति । इमं । आचक्षते । स्वरः ।

इति। प्रत्यास्वरः। इति। अमुं। तस्मात्। वै। एतं। इमं। अमुं। च। उद्गीथं। उपासीत।

पदा०-(उ) यह स्पष्ट है कि (अयं) यह प्राण (च) और (असौ) वह सूर्य्य (समानः) समान (एव) ही हैं, क्योंकि (अयं) यह प्राण (उष्णः) उष्ण (च) और (असौ) वह सूर्य्य (उष्णः) उष्ण है (इमं) प्राण को (स्वर, इति) स्वर और (अमुं) सूर्य्य को (प्रत्यास्वरः, इति) प्रत्यास्वर नाम से (आचक्षते) कथन करते हैं (तस्मात्) इस कारण (वै) निश्चय करके (एतं) इस प्राण (च) और (इमं) इस सूर्य्य की (अमुं) इस (उद्गीथं) उद्गीथरूप से (उपासीत) उपासना करे।

भाष्य-इस श्लोक में प्राण और सूर्य्य की समानता वर्णन कीगई है अर्थात् दोनों ऊष्ण=गरम होने के कारण तुल्य हैं, क्योंकि प्राण के उपस्थित रहने पर ही शरीर उष्ण रहता है और न रहने पर ठंडा होजाता है, इससे सिद्ध है कि शरीर में उष्णरूप मुख्य प्राण ही है और सूर्य्य इस सारे ब्रह्माण्ड को उष्ण रखता है इस कारण दोनों की समता है, इस दृष्टान्त से केवल गुण की समता दिखलाई है और नाम की समता इस प्रकार है कि "प्राणिति सर्वं जगदिति प्राणः"=जो सम्पूर्ण जगत् को प्राणन क्रिया करावे उसका नाम "प्राण" है,और सूर्य्य को प्रत्यास्वर इसलिये कथन किया है कि वह अस्त होकर पुनरपि उदय होता है अर्थात् सूर्य्य का उदय होकर अस्त होना ही स्वर=गमन और फिर उदय होना प्रत्यास्वर कहाता है,इसप्रकार प्राण और आदित्य को समान जानकर उनमें ईश्वरशक्ति की

महिमा का चिन्तन करना चाहिये अर्थात् प्राण और आदित्य की उद्गीथरूप से उपासना करे, जैसाकि " **तदेवाग्निस्तदादित्यः तद्वायुस्तदुचन्द्रमा** " यजु० ३२ । १ इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि अग्नि, वायु, चन्द्रमा और सूर्य्य यह सब परमात्मा के नाम हैं, अतएव यहां प्राण तथा सूर्य्य परमात्मा के बोधक हैं इसी अभिप्राय से इनकी उद्गीथरूप से उपासना कथन कीगई है ।

सं०– अब प्राणायामार्थ व्यान की उद्गीथरूप से उपासना कथन करते हैं:—

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानोऽथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक् तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ॥३॥

पद०– अथ । खलु । व्यानं । एव । उद्गीथं । उपासीत । यत् । वै । प्राणिति । सः । प्राणः । यत् । अपानिति । सः । अपानः । अथ । यः । प्राणापानयोः । सन्धिः । सः । व्यानः । यः । व्यानः । सा । वाक् । तस्मात् । अप्राणन् । अनपानन् । वाचं । अभि । व्याहरति ।

पदा०–(अथ) अब यह कथन करते हैं कि (खलु) निश्चय करके (व्यानं, एव) व्यानरूप प्राण की (उद्गीथं) उद्गीथरूप से (उपासीत)

उपासना करे (वै) निश्चय करके (यत्) जो (प्राणिति) मुख और नासिका से बाहर निकलता है (सः, प्राणः)वह प्राण है (यत्) जो (अपानिति) भीतर जाता है (सः) वह (अपानः) अपान है (अथ) और (यः) जो (प्राणापानयोः) प्राण तथा अपान को (सन्धिः) मिलाने वाला है (सः) वह (व्यानः) व्यान है (यः) जो (व्यानः) व्यान है (सः) वह (वाक्) वाणी है (तस्मात्) इसलिये (अप्राणन्) प्राणवायु (अनपानन्) अपानवायु का निरोध न करता हुआ (वाचं) वाणी को (अभि, व्याहराति) बोलता है ।

भाष्य–इस श्लोक में व्यानरूप प्राण की उद्गीथरूप से उपासना कथन कीगई है और प्राण, अपान तथा व्यान का लक्षण किया है अर्थात् जो मुख और नासिका द्वारा बाहर निकलता है वह "**प्राण**" जो भीतर जाता है वह "**अपान**" और उक्त दोनों को मिलाने वाले का नाम "**व्यान**" है, इसी व्यान द्वारा प्राण तथा अपान का निरोध होता है और इन्हीं के निरोधपूर्वक प्राणायाम की विधि कथन कीगई है, अतएव उक्त मंत्र में व्यान की उद्गीथरूप से उपासना करने का अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार व्यान प्राणायामादिकों को धारण करता है इसी प्रकार व्यापकपरमात्मा सम्पूर्ण पदार्थों का धारण करता है इसीलिये यहां व्यान की उद्गीथरूप से उपासना कथन कीगई है अर्थात् "**व्याप्नोति सर्वजगदिति व्यानः**"=जो सम्पूर्ण जगत् को अपनी व्याप्ति में रखे उसका नाम "**व्यान**" है, इससे सिद्ध है कि वाणी का निरोध करता हुआ व्यानरूप परमात्मा की उपासना करे ।

सं०—अब "व्यान" शब्दवाच्य ब्रह्म की वेदरूपता कथन करते हैं :—

यावाक्सर्क्तस्मादप्राणान्ननपानन्नृचमभिव्याहरति यर्क्तत्साम तस्मादप्राणन्ननपानन्सामगायति यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ॥ ४ ॥

पद०—या । वाक् । सा । ऋक् । तस्मात् । अप्राणन् । अनपानन् ऋचं । अभिव्याहरति । या । ऋक् । तत् । साम । तस्मात् । अप्राणन् । अनपानन् । साम । गायति । यत् । साम । सः । उद्गीथः । तस्मात् । अप्राणन् । अनपानन् । उद्गायति ।

पदा०—(या) जो (वाक्) वाणी है (सा) वही (ऋक्) ऋग् है (तस्मात्) इस कारण (अप्राणन्, अनपानन्) प्राणवायु तथा अपानवायु का निरोध करता हुआ (ऋचं) ऋचा को (अभिव्याहरति) उच्चारण करे (या) जो (ऋक्) ऋग् है (तत्, साम) वही सामवेद है (तस्मात्)इसलिये(अप्राणन्,अनपानन्)प्राणवायु तथा अपान वायु का निरोध करता हुआ(साम) सामवेद को उद्गाता (गायति) गाता है (यत्, साम) जो साम है (सः) वही (उद्गीथः) उद्गीथ है (तस्मात्) इस कारण (अप्राणन्, अनपानन्) प्राण तथा अपान वायु का निरोध करता हुआ(उद्गायति)ब्रह्मविद् उद्गाता गाता है।

भाष्य—जो वाणी है वही ऋग् है, यह वर्णन प्रथम खण्ड में कर आये हैं अर्थात् वाक् ऋक्मूलक, ऋग् साममूलक और साम उद्गीथ बोधक है, अधिक क्या सम्पूर्ण पदार्थ उसी ब्रह्म के आधार पर स्थित हैं, इसी भाव को विचारता हुआ उद्गाता उच्चस्वर से

गायन करता है, या यों कहो कि व्यानरूप ब्रह्म का प्रतिपादक होने से यहां वाणी को ऋग्वेदरूप कथन कियागया है तथा ऋग्वेद को सामरूपता इस अभिप्राय से कथन कीगई है कि वेद वास्तव में एक है केवल विषय विभाग से उसका भेद है और वह साम उद्गीथरूप है जो उच्चस्वर से गायाजाता है, उक्त वेद का गायन प्राण तथा अपान के निरोधपूर्वक कियेजाने से वेद की व्यान के साथ समता कथन की है अर्थात् जैसे वेदोच्चारण प्राण तथा अपान को सम करदेता है इसी प्रकार व्यानरूप प्राण दोनों की समता करदेता है और जैसे परमात्मा अपनी व्यापकशक्ति से सबको स्वाधीन रखता है एवं वेदोच्चारण समय व्यान सब प्राणों को स्वाधीन रखता है।

सं०—अब उक्त अर्थ की पुष्टि में अन्य दृष्टान्त कथन करते हैं :—

अतो यान्यानि वीर्य्यवन्ति कर्माणि यथा-ग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्यधनुष आय-मनमप्राणन्ननपानꣳस्तानि करोत्ये-तस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत॥५

पद०—अतः। यानि। अन्यानि। वीर्य्यवन्ति। कर्माणि। यथा। अग्नेः। मन्थनं। आजेः। सरणं। दृढस्य। धनुषः। आयमनं। अप्राणं। अनपानन्। तानि। करोति। एतस्य। हेतोः। व्यानं। एव। उद्गीथं। उपासीत।

पदा०—(अतः) उक्त दृष्टान्त से भिन्न (यानि) जो (अन्यानि) अन्य (वीर्य्यवन्ति) बलवाले (कर्माणि) कर्म हैं (यथा) जैसे (अग्नेः, मन्थनं) अग्नि का मन्थन करना (आजेः) समभूमि बनाना

(सरणं) दौड़ना (दृढ़स्य, धनुषः) दृढ़ धनुष का (आयमनं) चढ़ाना आदि (तानि) इनको (अप्राणं, अनपानन्) प्राण और अपान के व्यापार को न करता हुआ पुरुष (करोति) करता है (एतस्य,हेतोः) इस कारण (व्यानं,एव) व्यान को ही लक्ष्य रखकर (उद्गीथं) उद्गीथरूप से (उपासीत) उपासना करे ।

भाष्य—व्यान सम्बन्धी कार्य्यों का जो पूर्वोक्त मन्त्र में वर्णन किया है उनसे भिन्न अन्य कर्म यह हैं कि जितने बलवाले काम किये जाते हैं वह सब व्यान द्वारा प्राण और अपान का निरोध करके होते हैं, जैसाकि काष्ठ वा अन्य पदार्थों के संघर्षण से अग्नि का निकालना, समभूमि करना, संग्रामादि में दौड़ना, धनुष का चढ़ाना, खींचना इत्यादि, इन सब कामों में पुरुष जब व्यान द्वारा प्राण और अपान का निरोध करता है तब यह काम होते हैं अन्यथा नहीं, इसी प्रकार व्यान=व्यापक परमात्मा की जब पुरुष उद्गीथरूप से उपासना करता है तभी उसके कार्य्य सिद्ध होते हैं अर्थात् जिस प्रकार व्यान अपनी शक्ति से प्राणापान को स्वाधीन रखता है इसीप्रकार परमात्मा अपनी स्वशक्ति से सब पदार्थों को स्वाधीन रखता है, अतएव सब पुरुषों को उचित है कि व्यान को लक्ष्य रखकर उद्गीथरूप से परमात्मा की उपासना करें ।

सं०—अब "उद्गीथ" शब्द के प्रत्येक अक्षर को ब्रह्म का प्रतिपादक कथन करते हैं :—

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेनह्युत्तिष्ठतिवाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीदं ँ

सर्वꣳस्थितम् ॥ ६ ॥

पद०-अथ। खलु। उद्गीथाक्षराणि । उपासीत । उद्गीथः। इति। प्राणः। एव। उत्। प्राणेन। हि। उत्तिष्ठति। वाक्। गीः। वाचः। ह। गिरः। इति। आचक्षते। अन्नं। थं। अन्ने। हि। इदं। सर्वं। स्थितं।

पदा०-(अथ) अब (खलु) निश्चय करके (उद्गीथाक्षराणि) उद्गीथ पद में जो २ अक्षर हैं उनकी (उपासीत) उपासना करे= विचारे (उद्गीथः, इति) उद्गीथ में उत्+गी+थ यह तीन अक्षर हैं जिनके पृथक् २ अर्थ यह हैं (प्राणः, एव, उत्) निश्चय करके प्राण उत् है (हि) क्योंकि (प्राणेन) प्राण से (उत्तिष्ठति) जीव उठता और इधर उधर गमन करता है (वाक्, गीः) वाक्=वाणी गी है (ह) क्योंकि (वाचः) वाणी को (गिरः) गिर (इति) इस प्रकार (आचक्षते) कथन करते हैं (अन्नं, थं) अन्न को थ कहते हैं (हि) क्योंकि (अन्ने) अन्न में (इदं, सर्वं) यह सब (स्थितं) स्थित हैं।

भाष्य-इस मन्त्र में उद्गीथाक्षरों के अर्थों का व्याख्यान किया गया है अर्थात् उत्+गी+थ इन तीन अक्षरों से मिलकर "उद्गीथ" शब्द बना है जिनके अर्थ यह हैं, "उत्" का अर्थ प्राण है, क्योंकि प्राण से प्राणी उठकर इधर उधर चलता फिरता तथा अन्य चेष्टा करता है अथवा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्राणन चेष्टा कराने के कारण यहां प्राण के अर्थ परमात्मा हैं अर्थात् जिस प्रकार प्राणों के प्रविष्ट होने पर ही प्राणीमात्र चेष्टा करता है इसीप्रकार परमात्मा की सत्ताद्वारा ही यह सब चराचर पदार्थ चेष्टा करते हैं तथा "गी" का अर्थ वेदवाणी है, जिसप्रकार वाणी से पुरुष बोलकर अपना

व्यवहार करता है इसी प्रकार वेदवाणी द्वारा ही परमात्मा का गायन कियाजाता है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं, वाणी, गिर, वाक्, सरस्वती यह सब पर्य्याय शब्द हैं, गिर् के रेफ का लोप होकर दीर्घ गी होजाता है जिसके अर्थ वाणी के हैं और "थ" का अर्थ अन्न है, क्योंकि अन्न में ही सब प्राणी स्थित हैं अन्न के विना कोई प्राणी स्थित नहीं रहसक्ता, जैसाकि अन्यत्र भी कहा है कि "अन्नꣳहि शरीरम्"=अन्न से ही इस शरीर की स्थिति है, और इसीको ब्रह्म भी कहा है, जैसाकि "अन्नं ब्रह्मेति"=अन्न ही ब्रह्म है अर्थात् अन्न शब्द ब्रह्म का वाचक है, अधिक क्या "उद्गीथ" शब्द सम्पूर्ण वेद और ब्रह्म का बोधक है, इसलिये पुरुष को उचित है कि इसके अर्थों को विचारता हुआ सम्पूर्ण वेदार्थ और तत्प्रतिपाद्य ब्रह्म का ध्यान करे।

सं०-अब रूपकालङ्कार से उद्गीथ को विराट्रूप कथन करते हैं:—

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वा-युर्गीरग्निस्थꣳसामवेद एवोद्यजुर्वेदो गी-र्ऋग्वेदस्थं दुग्धेस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एता-न्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपा-स्त उद्गीथ इति ॥ ७ ॥

पद०-द्यौ। एव। उत्। अन्तरिक्षं। गीः। पृथिवी। थं। आदित्यः। एव। उत्। वायुः। गीः। अग्निः। थं। सामवेदः। एव।

उत् । यजुर्वेदः । गीः । ऋग्वेदः । थं । दुग्धे । अस्मै । वाक् । दोहं । यः । वाचः । दोहः । अन्नवान् । अन्नादः । भवति । यः । एतानि । एवं । विद्वान् । उद्गीथाक्षराणि । उपास्ते । उद्गीथः । इति ।

पदा०-(द्यौ, एव, उत) द्युलोक ही उत् है (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (गीः) गी है (पृथिवी, थं) पृथिवी थ है (आदित्यः, एव, उत) आदित्य ही उत् है (वायुः, गीः) वायु गी है (अग्निः, थ) अग्नि थ है (सामवेदः, एव, उत्) सामवेद ही उत् है (यजुर्वेदः, गीः) यजुर्वेद गी है (ऋग्वेदः थं) ऋग्वेद थ है (अस्मै) उसी पुरुष के लिये (वाक्) वेदबाणी (दोहं) दूध को (दुग्धे) दोहती है (यः) जो (वाचः) वाणी का (दोहः) दोहने वाला= वेदार्थ का ज्ञाता है (यः) जो पुरुष (एतान्) इन (उद्गीथाक्षराणि) उद्गीथ के अक्षरों को (एवं, विद्वान्) पूर्वोक्त प्रकार से जानता हुआ (उपास्ते) उपासना करता है वह (अन्नवान्) अन्नवाला और (अन्नादः) अन्न का भोक्ता (भवति) होता है (उद्गीथः, इति) यही उद्गीथ है ।

भाष्य-इस मन्त्र में उद्गीथाक्षरों को रूपकालङ्कार से विराट् रूप कथन किया है कि द्युलोक उत् है, उत् शब्द का अर्थ ऊर्ध्व है और सब से ऊर्ध्व स्थित भाग को द्युलोक कहते हैं, अतएव सबसे उच्च होने के कारण उत् को द्युलोक कहा है, गी नाम वाणी का है, वाणी=शब्द का स्थान आकाश है और आकाश का नाम अन्तरिक्ष है सो द्युलोक से नीचे भाग का नाम अन्तरिक्ष और वह गी है, पृथिवी थ है, थ का शब्दार्थ स्थिति है अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों की स्थिति का निवासस्थान पृथिवी होने से उसको थ स्थानी कथन किया है, फिर उपरिस्थ होने के कारण सूर्य्य उत् है, वायु गी है क्योंकि वायु द्वारा ही वाणी का उच्चारण होता

है,और अग्नि थ है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ अग्नि में ही आरोपित हैं, इसीप्रकार सामवेद उत्, यजुर्वेद गी और ऋग्वेद थ है अधिक क्या यह तीनों शब्द अनेकार्थक हैं, इन तीनों के वर्णन से सारी विद्याओं का अन्तर्भाव जानना चाहिये जिसका भाव यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, सब देव और निखिलविद्यायें उसी परमपिता परमात्मा के आश्रित हैं, इस भाव से उपासक उसकी व्यापकता तथा महिमा का अनुसन्धान करे।

तात्पर्य्य यह है कि यदि उद्गीथाक्षरों में रूपोपन्यास किया जाय तो उक्त प्रकार से ही किया जासकता है कि उत् द्यौलोक= सब से ऊंचा है, गी=वाणी अन्तरिक्ष है, क्योंकि वाणी ही सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त होजाती है, और थ पृथिवी है, क्योंकि पृथिवी ही अधिकरणरूप से सब पदार्थों को स्तम्भन करती है तथा सूर्य्य को उत् इस अभिप्राय से कथन किया है कि वह अपनी ज्योति द्वारा सबकी उन्नति करने वाला है और जिसप्रकार वायु सर्वत्र व्याप्त है इसीप्रकार वेदवाणी सर्वत्र व्यापक होने के अभिप्राय से उसको वायुरूप कहा है और सामवेद को उत् इसलिये कथन किया है कि उसके भावों को गान करने से पुरुष आत्मिक उन्नति को प्राप्त होता है तथा यजुर्वेद को गी इस अभिप्राय से कहा है कि उससे पुरुष वेदवाणी का ज्ञाता होता है और ऋग्वेद को थ कथन करने का आशय यह है कि वह सम्पूर्ण वैदिकज्ञानों का आधार है, यायों कहो कि ऋग्, यजु, साम और अथर्व इन चार विभागों में जो वेद विभक्त है उन विभागों में से ऋग्वेद सबसे बड़ा होने के कारण उसका सबके अधिकरणरूप से वर्णन कियागया है और अथर्व का नाम यहां इसलिये कथन नहीं किया कि अथर्व यजुर्वेद के अन्तर्गत है, जैसाकि " शेष यजुः शब्दः " मीमां० २।१।३७

में प्रतिपादन किया है, इसका विशेष विचार " **मीमांसार्य्य भाष्य** " के इसी स्थल में कियागया है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं, इसप्रकार उत्, गी, थ इन तीनो अक्षरों के अर्थों को समझकर जो उपासक परमात्मा की उपासना करता है उसके लिये वेदवाणी अपने सम्पूर्ण अर्थों का प्रकाश करदेती है और वही ऐश्वर्य्यवाला तथा ऐश्वर्य्य का भोक्ता होता है।

सं०-अब ईश्वर की प्राप्तिजनक वेद का स्वाध्याय कथन करते हैं :—

अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन साम्नास्तोष्यन् स्यात्तत्सामोपधावेत् ॥ ८ ॥

पद :—अथ । खलु । आशीः । समृद्धिः । उपसरणानि । इति । उपासीत । येन । साम्ना । स्तोष्यन् । स्यात् । तत् । साम । उपधावेत् ।

पदा०—(अथ) अब यह कथन करते हैं कि (खलु) निश्चय करके (आशीः) ईश्वरप्राप्तिरूप (समृद्धिः) समृद्धि जिन उपायों से होती है उनको (उपसरणानि, इति) उपसरण कहते हैं उनका (उपासीत) चिन्तन करे (येन) जिस (साम्ना) साम से (स्तोष्यन्, स्यात्) परमात्मा की स्तुति कर्तव्य हो (तत्, साम) उस साम को (उपधावेत्) विचारे ।

भाष्य—परमात्मा के उपासन काल में जो २ विषय चिन्तनीय होते हैं उनका नाम "**उपसरण**" है,या यों कहो कि ईश्वर प्राप्ति के

साधनभूत जिन मन्त्रों द्वारा उसका निदिध्यासन कियाजाता है उनका नाम "उपसरण" है, कर्म, उपासना तथा ज्ञान इन तीनों को बोधन करनें वाले मन्त्र ईश्वरप्राप्ति के साधन कहलाते हैं सो इन तीनों को विचारे अथवा जिस साम से परमात्मा की स्तुति कर्तव्य हो उसका चिन्तन करे।

सं०-अब द्वितीय "उपसरण" कथन करते हैं :—

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिस्तोष्यन् स्यात्तां देवतामुपधावेत् ॥ ९ ॥

पद०-यस्यां। ऋचि। तां। ऋचं। यत्। आर्षेयं। तं। ऋषिं। यां। देवतां। अभिस्तोष्यन्। स्यात्। तां। देवतां। उपधावेत्।

पदा०-(यस्यां) जिस (ऋचि) ऋचा में परमात्मा का वर्णन हो (तां, ऋचं) उस ऋचा का (उपधावेत्) चिन्तन करे (यत्) जो (आर्षेयं) उस ऋचा का ऋषि हो (तं, ऋषिं) उस ऋषि के इतिहास का भी चिन्तन करे (यां) जिस (देवतां) मन्त्रस्थ देवता की (अभिस्तोष्यन्) स्तुति (स्यात्) हो (तां, देवतां) उस देवता विषयक (उपधावेत्) चिन्तन करे।

भाष्य-इस मन्त्र का आशय यह है कि जिन ऋचाओं में परमात्मा का वर्णन है उन ऋचाओं का चिन्तन करे तथा जिन२ ऋषियों और देवताओं ने ब्राह्मणादि ग्रन्थों द्वारा विशेष व्याख्यान रूप से उनका प्रकाश किया है उनके इतिहास पर दृष्टि डालता हुआ उन २ ऋचाओं को विचारे, वेद का परमपूज्य देव एकमात्र ब्रह्म ही है अन्य नहीं, जैसाकि "एकोदेवः सर्व भूतेषु गूढः"

इत्यादि वाक्यों में अन्यत्र भी स्पष्ट है कि देवता नाम परमात्मा का है परन्तु अग्नि, सूर्य्य आदि जो देव नाम से कथन किये गये हैं उनका भी उपयोग जान ब्रह्म की महिमा का अनुसन्धान करता हुआ उसी में चित्त को लगावे।

सं०-अब तृतीय "उपसरण" कथन करते हैं :—

येन छन्दसा स्तोष्यन् स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणःस्यात् तꣳस्तोममुपधावेत् ॥ १० ॥

पद०-येन। छन्दसा। स्तोष्यन्। स्यात्। तत्। छन्दः। उपधावेत्। येन। स्तोमेन। स्तोष्यमाणः। स्यात्। तं। स्तोमं। उपधावेत्।

पदा०-(येन, छन्दसा) जिन गायत्र्यादि छन्दों से (स्तोष्यन्, स्यात्) परमात्मा की स्तुति करनी हो (तत्, छन्दः) उन छन्दों को (उपधावेत्) विचारे (येन, स्तोमेन) जिस स्तोम द्वारा (स्तोष्यमाणः, स्यात्) स्तुति कर्तव्य हो (तं, स्तोमं) उस स्तोम का (उपधावेत्) चिन्तन करे।

भाष्य-जिन गायत्री आदि छन्दों में परमात्मा की स्तुति कीगई है उनको भलेप्रकार विचारे, क्योंकि विचारपूर्वक ध्यान करना ही उपयोगी होता है और जिस स्तोम से स्तुति करनी हो उसको भी भले प्रकार विचारे, स्तुति करने वाले मन्त्रसमुदाय का नाम "स्तोम" है, और ऐसे स्तोम प्रायः सामवेद में पाये जाते हैं, गायत्री, बृहती, जगती, उष्णिक, अनुष्टुप, पङ्क्ति और त्रिष्टुप यह सात "छन्द" और उक्थ, शस्त्र, रथन्तर तथा स्तोत्र आदि सामवेद

सम्बन्धी "स्तोम" हैं जिनको समय २ पर उद्गाता आदि गाते हैं, इन सबको भले प्रकार विचारता हुआ परमात्मा में चित्त को स्थिर करे।

सं०-अब चतुर्थ "उपसरण" कथन करते हैं:—

यां दिशमभिष्टोष्यन् स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥ ११ ॥

पद०-यां। दिशं। अभिस्तोष्यन्। स्यात्। तां। दिशं। उपधावेत्।

पदा०-(यां, दिशं) जिस रीति से (अभिस्तोष्यन्) परमात्मा का स्तवन (स्यात्) हो (तां, दिशं) उस रीति को (उपधावेत्) विचारे।

भाष्य-परमात्मप्राप्ति का सुगम से सुगम जो प्रकार हो उसी के द्वारा उपासक उसका चिन्तन करे अर्थात् परमात्मा के सच्चिदानन्दादि गुणों द्वारा उसका चिन्तन करे, उसकी रचना द्वारा उसके महत्व का चिन्तन करे अथवा पुरुष के सुखदुःखादि भोगद्वारा उसके न्याय का चिन्तन करे, इत्यादि परमात्मचिन्तन के अनेक उपाय हैं जिनमें से जिसमें उपासक की रुचि हो उसी द्वारा उसको विचारे, जैसाकि "यथाभिमत ध्यानाद्वा" यो० १। ३९ में वर्णन किया है कि शास्त्रोक्त चित्तस्थिति साधनों के मध्य स्वाभीष्ट साधन में संयम करने से चित्त स्थिर होकर परमात्मप्राप्ति होती है।

सं०-अब चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा परमात्मोपासन कथन करते हैं:-

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत, कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्यासो ह यदस्मै स

कामःसमृद्ध्येत । यत्कामःस्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥ १२ ॥

पद०—आत्मानं । अन्ततः । उपसृत्य । स्तुवीत । कामं । ध्यायन् । अप्रमत्तः । अभ्यासः । ह । यत् । अस्मै । सः । कामः । समृध्येत । यत् । कामः । स्तुवीत । इति । यत्कामः । स्तुवीत । इति ।

पदा०—(आत्मानं) मन को (अन्ततः) पूर्णरीति से (उपसृत्य) निरोध करके (स्तुवीत) परमात्मा का स्तवन करे (अप्रमत्तः) समाहित चित्तवाला (अभ्यासः) अभ्यास (ह) निश्चय करके (यत्) जो (अस्मै) इस जिज्ञासु के लिये रुचिकर हो (सः) वही (कामः) इसकी कामनाओं को (समृध्येत) बढ़ाता है क्योंकि (यत्) जिस (कामः) कामना से (स्तुवीत, इति) स्तुति कीजाती है वही कामना उसका लक्ष्य होती है।

भाष्य—श्लोक में " यत्कामःस्तुवीतेति " पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति वा आदर के लिये आया है, इस श्लोक में चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा परमात्मोपासन कथन कियागया है अर्थात् जिज्ञासु को उचित है कि वह चित्तवृत्तिनिरोधपूर्वक परमात्मा का ध्यान करे, जैसाकि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" यो० १ । २ में वर्णन किया है कि परमात्मविषयक ध्यान चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा ही होसक्ता है अन्यथा नहीं और इसी भाव को " तां योगमिति मन्यन्तेस्थिरामिन्द्रियधारणाम् "कठ० ६ । ११ में इस प्रकार वर्णन किया है कि आभ्यन्तर इन्द्रिय=बुद्धि की उस स्थिरता का नाम योग=ध्यान है जिसमें वह चेष्टा नहीं करती, उस समय पुरुष स्वरूप में स्थित होने के कारण क्लेश आदि प्रमाद से

रहित होता है, क्योंकि ईश्वरीय गुणों के प्रकाश और क्लेशादिकों के नाश का नाम योग है, इसी अभिप्राय से इस श्लोक में यह वर्णन किया है कि मन का भलीभांति निरोध करके समाहित चित्तवाला होकर परमात्मा का अभ्यास करे, यदि ऐसा न करेगा तो जो कामनायें उसके हृदय में होंगी वही उसके सामने आकर उसके चित्त को विक्षिप्त करेंगी और ऐसा होने पर वह परमात्मा का पूर्णरीति से ध्यान न करसकेगा, इसलिये जिज्ञासु को उचित है कि सब कामनाओं को दबाकर परमात्मा का ध्यान करे।

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—तृतीय खण्ड में अधिदैवत उपासना का वर्णन करके अब इस खण्ड में ओङ्कारप्रतिपाद्य ब्रह्म का प्रकारान्तर से कथन करते हैं :—

ओमित्ये तदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ।१।

भाष्य—इस मन्त्र का पदच्छेद तथा पदार्थ और भाष्य छा० १ । १ । १ में विस्तारपूर्वक लिख आये हैं वहां ही देखलें, यहां पुनः इस मन्त्र के लिखने का कारण यह है कि ओङ्कारप्रतिपाद्य ब्रह्म के प्रकरण में उद्गीथाक्षरों की मीमांसा तथा अन्य प्रकरणों का अन्तर पड़जाने के कारण अप्रासङ्गिक दोष की निवृत्ति के लिये पुनरपि उक्त मन्त्र को उद्धृत करके ब्रह्म का प्रकरण चलाया है, इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं ।

सं०—अब उस ब्रह्मप्राप्ति को आख्यायिकारूप से कथन करते हैं :—

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविश᳡स्तेछन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादय᳡स्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ।२।

पद०—देवाः । वै । मृत्योः । बिभ्यतः । त्रयीं । विद्यां । प्राविशन् । ते । छन्दोभिः । अच्छादयन् । यद् । एभिः । अच्छादयन् । तद् । छन्दसां । छन्दस्त्वम् ।

पदा०-(देवाः) विद्वान् लोग (वै) निश्चय करके (मृत्योः) मृत्यु से (बिभ्यतः) भयभीत हुए (त्रयीं, विद्यां) ऋग्, यजु तथा साम रूप चारो वेदों की तीनो विद्याओं में (प्राविशन्) प्रविष्ट हुए (ते) उन्होंने (छन्दोभिः) गायत्र्यादि छन्दों से अपने आपको (आच्छादयन्) ढांप लिया (यत्) जिसकारण (एभिः) इन छन्दों से देवताओं ने (आच्छादयन्) आच्छादित किया (तत्) इसलिये (छन्दसां) छन्दों को (छन्दस्त्वं) सफल कर दिया ।

भाष्य-इस मन्त्र का आशय यह है कि मृत्यु से भयभीत देवों ने ऋग्, यजु, साम तथा अथर्वरूप वेदों में वर्णित कर्म, ज्ञान तथा उपासनारूप त्रयी विद्या का आश्रय लिया अर्थात् उन्होंने वैदिक गायत्र्यादि छन्दों से अपने आपको आच्छादित करलिया जिसका आशय यह है कि देवों ने वेदों के स्वाध्याय में तत्पर हो आलस्य का परित्याग किया, क्योंकि वेदों का अनभ्यास ही मृत्यु और उनका अभ्यास करना ही जीवन है, जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्य्य पूर्वक वेदों के अभ्यास में तत्पर रहते हैं वह मृत्यु का अतिक्रमण करजाते हैं और जो आलसी हैं वह प्रतिदिन मृत्यु के भय से भयभीत रहते हैं, और इसी भाव को मनुस्मृति में इस प्रकार वर्णन किया है कि वेदों के अनभ्यास से ही मृत्यु ब्राह्मणों को मारता है और अभ्यासी चिरजीवी होता है, अधिक क्या वैदिक कर्मोंपासना तथा ज्ञान द्वारा देवों ने अपने आपको ऐसा आच्छादित किया कि मृत्युरूपी प्रहार से सर्वथा सुरक्षित रहें और छन्दों के अभ्यास द्वारा उनको भी सफल किया अर्थात् छन्दों का पठनपाठनरूप अभ्यास ही उनके साफल्य का कारण है।

सं०-अब उपचार से मृत्यु का देवों को ढूड़ना कथन करते हैं :—

तान्नु तत्रमृत्युर्यथामत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्य्यपश्यद्दचि साम्नियजुषि तेनु वित्त्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥ ३ ॥

पद०—तान् । उ । तत्र । मृत्युः । यथा । मत्स्यं । उदके । परिपश्येत् । एवं । पर्य्यपश्यत् । ऋचि । साम्नि । यजुषि । ते । नु । वित्त्वा । ऊर्ध्वाः । ऋचः । साम्नः । यजुषः । स्वरं । एव । प्राविशन् ।

पदा०—(यथा) जैसे (मत्स्यं) मछली को (उदके) जल में मत्स्यघाती (परिपश्येत्) देखता है (एवं) इसी प्रकार (मृत्युः) मृत्यु ने (उ) निश्चय करके (तान्) उन देवों को (तत्र) उस (ऋचि) ऋग्वेद में (साम्नि) सामवेद में (यजुषि) यजुर्वेद में स्थित (पर्य्यपश्यत्) देखा (नु) वितर्कार्थ में है (ते) वह देव (वित्त्वा) मृत्यु के इस आशय को जानकर (ऋचः) ऋग्वेद से (साम्नः) सामवेद से (यजुषः) यजुर्वेद से (ऊर्ध्वाः) ऊपर (स्वरं, एव) ओङ्कार को ही (प्राविशन्) प्राप्त हुए ।

भाष्य—जिस प्रकार मत्स्यघाती अनतिगंभीर जल में मत्स्य को देखता है इसी प्रकार मृत्यु ने उन देवों को ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के आश्रय में देखा, तत्पश्चात् वह देव मृत्यु के कर्तव्य को जान ऋग्, यजु तथा सामवेद से उपरिष्ठ होकर स्वर=ओङ्कार में प्रविष्ट हुए अर्थात् मृत्यु ने त्रयीविद्या में स्थिर देवों को मारने के लिये भलेप्रकार खोजा पर देव मृत्यु से डरते हुए ऋग्वेद=परमात्मा की स्तुति में लगे जब स्तुति से मृत्यु का भय दूर न हुआ तो सामवेद द्वारा ब्रह्म का गायन करने लगे, जब उससे भी मृत्यु ने

न छोड़ा तो यजुर्वेद में गये और वहां यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करने लगे, जब अनुष्ठान से भी मृत्यु का भय न मिटा तो ब्रह्म में प्रविष्ट हुए, जिसका आशय यह है कि निर्वीजसमाधि द्वारा ब्रह्म को प्राप्त हुए तब उनका मृत्युरूप भय मिटा, और यह सत्य है, ऋग्, यजु,तथा सामरूप त्रयीविद्या केवल धर्म,अर्थ,काम इन तीनो फलों को उत्पन्न करती है और इन तीनों में मृत्यु का भय बराबर बना रहता है, क्योंकि धार्मिक लोग मृत्यु का सामना करने के लिये धर्मपथ पर दृढ़ रहते हैं पर मृत्यु से बच नहीं सक्ते, इसी प्रकार अर्थसञ्चय करने वाले भी मृत्यु का ग्रास होते हैं फिर सन्ततिवर्ग संसार की उत्पत्ति करने वालों की तो कथा ही क्या, केवल मोक्ष धर्म ही मृत्यु से बचाता है अन्य कोई भी पदार्थ मनुष्य को मृत्यु की पाश से निर्मुक्त नहीं करसक्ता, इसी अभिप्राय से देवताओं ने ऋग्, यजु तथा साम का सहारा छोड़कर स्वर की शरण ली, वह स्वर कोई अक्षर वा मात्रा नहीं किन्तु स्वर नाम यहां ब्रह्म का है जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि "**स्वयं राजते इति स्वरः**"= जो स्वयं स्वसत्ता से विराजमान हो उसका नाम "**स्वर**" है, और वह एकमात्र ब्रह्म ही होसक्ता है अन्य नहीं, उक्त ब्रह्मरूप स्वर में देव लोग निर्वीज समाधि द्वारा जब प्रविष्ट होगये तो मृत्यु ने उनका पीछा छोड़ दिया अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त देवताओं के लिये फिर मृत्यु का क्या बस चलसक्ता था, स्मरण रहे कि ब्रह्मभाव के अर्थ जीव के ब्रह्म बनजाने के नहीं किन्तु ब्रह्म के आनन्दादि धर्मों को प्राप्त होने के हैं, जैसाकि "**भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च**" ब्र० सू० ४।४।२१ और "**तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्**" ब्र० सू० १।१।७ इत्यादि सूत्रों में ब्रह्मभाव का

कथन किया है कि वह मुक्ति अवस्था में ब्रह्म के साथ मिलकर ब्रह्मानन्दादि भावों को भोगता है, और इसी भाव को महर्षि जैमिनि ने "ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः" ब्र० सू० ४।४।५ में इस प्रकार वर्णन किया है कि ब्रह्म के जो अपहतपाप्मादि धर्म हैं उनके धारण करने से ही मुक्ति में जीव ब्रह्म की समता कही जाती है, और वह धृति ही उसके लिये ब्रह्मानन्दोपभोग है, मुक्ति अवस्था में ब्रह्म के आनन्द का वह सुखादिकों के समान भोक्ता नहीं कहाजासक्ता, जैसाकि मीमांसावार्तिक में कुमारिलभट्ट ने लिखा है कि :—

सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते।
स्वर्ग एव भवेद्देषः पर्य्यायेण क्षयी च सः ॥

अर्थ—यदि सुखभोग करना ही मोक्ष होता तो वह स्वर्गादिकों के समान क्षण २ में नश्वर होता परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि निर्बीजसमाधि द्वारा परमात्मपरायण होना ही "मुक्ति" है, ब्रह्म में निवास, ब्रह्मनिष्ठता, तद्धर्मतापत्ति, ब्रह्मभाव, अपवर्ग और मुक्ति यह सब पर्य्याय शब्द हैं, और इन सब नामों से शास्त्रों ने इसका कथन किया है।

प्रकृत यह है कि जब पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होकर उक्त मोक्ष पद को पालेता है तब उसको मृत्यु का भय नहीं रहता, क्योंकि उस समय उसकी ब्रह्म के साथ समता होजाती है, जैसाकि इसी उपनिषद् में आगे वर्णन कियाहै कि "सतासौम्य तदा सम्पन्नो भवति"=उस काल में जीव ब्रह्म को प्राप्त होजाता है, इसमें और युक्ति यह है कि जब समाधि, सुषुप्ति तथा मूर्छादि अवस्थाओं

में भी मृत्यु का भय नहीं रहता तब फिर मोक्षावस्था में तो उसके रहने की कथा ही क्या ।

कई एक लोग यहां यह आशङ्का करते हैं कि जो इस वाक्य में ऋगादि वेदों द्वारा मृत्यु का भय न मिटना कथन किया है इस से पाया जाता है कि वेद अपरा विद्या के ग्रन्थ हैं इनमें परा=ब्रह्मविद्या का गन्धमात्र भी नहीं ? इसका उत्तर यह है कि वेदों में परा तथा अपरा अर्थात् सांसारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार की विद्यायें पाई जाती हैं, यहां ऋगादि वेदों में छिपकर मृत्यु के भय न मिटने का अभिप्राय यह है कि जब तक पुरुष मोक्ष के साधनों द्वारा ब्रह्मपरायण नहीं होता तब तक केवल वेदों का पठन पाठन उसको मृत्यु के भय से नहीं बचा सक्ता, और जो यहां मृत्यु को मत्स्यघाती के दृष्टान्त से वर्णन किया गया है उसका अभिप्राय यह है कि मृत्यु एक अत्यन्त भयानक भाव है जिसके भय से ऋषि, मुनि, राजा प्रजा सब भयभीत हैं और जब तक पुरुष परमात्मपरायण न हो तब तक मृत्यु का भय दूर नहीं होसक्ता इसी भाव को स्फुट करने के लिये मत्स्यघाती का दृष्टान्त दिया है ।

अद्वैतवादी भाष्यकार इस श्लोक का यह अर्थ करते हैं कि जब तक पुरुष वेदत्रयी=कर्मकाण्ड में रहता है तब तक मृत्यु का ग्रास होता है और जब वह ज्ञान में आजाता है तब मृत्यु के भय से बच जाता है, उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि ऋगादि वेद केवल कर्मकाण्ड का ही भाण्डार नहीं किन्तु कर्म उपासना तथा ज्ञान इन तीनों का भाण्डार हैं, और यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है किसी एक सम्प्रदायी का नहीं, उक्त तीनों काण्डों का वर्णन वेद में इस प्रकार है कि "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" यजु०४०।२ इस

में कर्मों का वर्णन "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं" यजु० ३१।१८ इसमें ज्ञान का वर्णन और "क्रतोस्मर क्लिबेस्मर कृतꣳ स्मर" यजु०४० । १७ इसमें उपासना का वर्णन है, इत्यादि वेदों में अनेक मन्त्र पाये जाते हैं, जिनमें उक्त तीनो काण्डों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, फिर वेद ज्ञानरहित कैसे कहा जाता है, अतएव इस श्लोक का भाव यही है कि जब तक निदिध्यासनादि कर्मों तथा ब्रह्मानन्दानुभूतिरूप ज्ञान द्वारा परब्रह्मनिष्ठ नहीं होजाता तब तक केवल वेदों का पठन पाठन मृत्यु का बन्धन नहीं छुड़ा सक्ता, क्योंकि वेद ब्रह्मप्राप्ति के साधन और मृत्यु से बचने का साधन एकमात्र ब्रह्मप्राप्ति है ॥

सं०—अब वेदों को ब्रह्मप्राप्ति का साधन कथन करते हैं:—

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवꣳ सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्यदेवा अमृता अभया अभवन् ॥ ४ ॥

पद०—यदा । वै । ऋचं । आप्नोति । ओम् । इति । एव । अतिस्वरति । एवं । साम । एवं । यजुः । एषः । उ । स्वरः । यत् । एतत् । अक्षरं । एतत् । अमृतं । अभयं । तत् । प्रविश्य । देवाः । अमृताः । अभयाः । अभवन् ।

पदा०—(यदा) जब (वै) निश्चयकरके ब्रह्मवेत्ता (ऋचं) ऋग्वेद को (आप्नोति) प्राप्त होता है तब (ओम्, इति, एव)

ओङ्कार का ही (अतिस्वराति) उच्चारण करता है (एवं) इसी प्रकार (सामं) साम (एवं) इसी प्रकार (यजुः) यजुर्वेद का अध्ययन करता हुआ प्रथम ओङ्कार का ही उच्चारण करता है (एषः) यही (उ) निश्चय करके (स्वरः) ब्रह्म है (यत्) जो (एतत्) यह (अक्षरं) अविनाशी है (एतत्) यह (अमृतं) अमृत (अभयं) अभय है (तत्)उस ब्रह्म में (प्रविश्य) प्रवेश करके (देवाः) विद्वान् (अमृताः) मृत्यु से (अभयाः) भय से रहित (अभवन्) होजाते हैं ॥

भाष्य—जब ब्रह्मवित् पुरुष ऋग्वेद का आरम्भ करता है तब प्रथम ओङ्कार का ही आदर बुद्धि से उच्चारण करता है, एवं साम वेद तथा यजुर्वेद का अध्ययन जब ब्रह्मवित् पुरुष करता है तब भी ओङ्कार का ही उच्चारण करता है, निश्चयपूर्वक यही स्वर= ब्रह्म है जो यह अविनाशी अमृत और अभय है उसमें ही प्रविष्ट हो कर पूर्वज देव अमृत और अभय को प्राप्तहुए, इसलिये ओङ्कार प्रति-पाद्य ब्रह्म ही सार है और ऋगादि वेद उसकी प्राप्ति के साधन हैं, उसीको प्राप्त होकर देवता अमृत तथा अभय को पाते हैं, या यों कहो कि एकमात्र ब्रह्मप्राप्ति ही अमृतपद की प्राप्ति का हेतु है अन्य किसी पदार्थ से अमृतपद नहीं मिल सक्ता ।

सं०—अब विद्वान् तथा अविद्वान् सबके लिये ब्रह्मप्राप्ति का समानाधिकार कथन करते हैं :—

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरꣳ स्वरममृतमभयंप्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥५॥

पद०—सः । यः । एतत् । एवं । विद्वान् । अक्षरं । प्रणौति ।

एतत्। एव। अक्षरं। स्वरं। अमृतं। अभयं। प्रविशति। तत्। प्रविश्य। यत्। अमृताः। देवाः। तत्। अमृतः। भवति।

पदा०—(य) जो (एतत्) इस (अक्षरं) अविनाशी ब्रह्म को (एवं) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (प्रणौति) स्तुति करता है (सः) वह (एतत्) इस (एव) ही (अक्षरं) अविनाशी (अमृतं) अमृत (अभयं) अभय (स्वरं) ब्रह्म को (प्रविशति) प्राप्त होता है (यत्) जिस प्रकार उसको प्राप्त होकर (देवाः) विद्वान् (अमृताः) अमृत को प्राप्त हुए (तत्) इसी प्रकार अन्य साधक भी (तत्, प्रविश्य) उसमें प्रवेश करके (अमृतः) अमृत (भवति) होते हैं।

भाष्य—जो ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस अक्षर को जानता हुआ स्तुति करता है वह इसी अविनाशी अमृत तथा अभय ब्रह्म में प्रविष्ट होता है अर्थात् जिसप्रकार वेद वेदाङ्गों के ज्ञाता देव-लोग ब्रह्मनिष्ठ होकर अमृतपद को लाभ करते हैं इसीप्रकार वैराग्यादि साधनसम्पन्न पुरुष भी उस पद को लाभ करते हैं, क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति में सबको समान अधिकार है, जिसप्रकार उसको प्राप्त होकर विद्वान् अमृत को प्राप्त हुए इसी प्रकार अन्य साधक भी उसमें प्रवेश करके अमृत होते हैं।

और जो लोग यह कथन करते हैं कि यहां "देव" शब्द के अर्थ अलौकिक देवयोनि के हैं अर्थात् जो पुरुष अमृतपद को प्राप्त होकर देवलोक में रहते हैं उनको देव कहते हैं? उनका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने वालों के मत में उक्त प्रकार के देवों को ब्रह्मप्राप्ति कथन करना उनकी अप्रतिष्ठा है अर्थात् देवभाव तो उनके मत में तभी प्राप्त होता है जब वह अमृत होजाते हैं, और जब वह अमृत होगये फिर मृत्यु से डरना

ही इस बात को सिद्ध करता है कि देव कोई अलौकिक जाति नहीं किन्तु विद्वानों का नाम ही "देव" है।

और जो लोग प्राचीन विद्वानों का अर्थ यहां "देव" करते हैं और नवीन विद्वानों का अन्य लोग, उनके मत में भी इसकी व्यवस्था इसलिये ठीक नहीं बैठती कि प्राचीन और नवीन होने से अपने अधिकार में कोई भेद सिद्ध नहीं होता, इसलिये "देव" शब्द के अर्थ विद्वान् करना ही ठीक है अन्य नहीं।

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—चतुर्थ खण्ड में ओङ्कारप्रतिपाद्य ब्रह्म का वर्णन करके अब इस खण्ड में प्रणव तथा उद्गीथ को एकार्थवाची कथन करते हैं:—

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणवओमिति ह्येष स्वरन्नेति ।१।

पद०—अथ । खलु । यः । उद्गीथः । सः । प्रणवः । यः । प्रणवः । सः । उद्गीथः । इति । असौ । वै । आदित्यः । उद्गीथः । एषः । प्रणवः । ओम् । इति । हि । एषः । स्वरन् । एति ।

पदा०—(अथ) अब यह कथन करते हैं कि (खलु) निश्चय करके (यः) जो (उद्गीथः) उद्गीथ है (सः) वह (प्रणवः) ओंङ्कार है (यः) जो (प्रणवः) प्रणव है (सः) वह (उद्गीथः, इति,) उद्गीथ है (एषः) यह (उद्गीथः) उद्गीथ और (प्रणवः) प्रणव (वै) निश्चयकरके (असौ) यह (आदित्यः) ईश्वर हैं (हि) क्योंकि (एषः) उक्त दोनों (ओम्, इति) ब्रह्म ही को (स्वरन्, एति) कथन करते हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन कियागया है कि जो उद्गीथ है वही प्रणव और जो प्रणव वही उद्गीथ है, और उद्गीथ तथा प्रणव यह दोनों ईश्वर हैं, क्योंकि यह दोनों ओङ्कारवाच्य ब्रह्म से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् उक्त दोनों परमात्मा के नाम होने से इनको एकार्थवाची कथन कियागया है और जिस

परमात्मा के यह नाम हैं उसको सम्पूर्ण अज्ञानान्धतम का नाशक होने से "आदित्य" कहागया है और ओङ्कार को परमात्मा का अभिधायक इस अभिप्राय से कथन कियागया है कि वह उच्चस्वर से उच्चारण किया हुआ परमात्मा का गमक होता है, या यों कहो कि वैदिक लोग परमात्मा की आदित्य, प्रणव तथा उद्गीथादि अनेक नामों से उपासना करते हैं, इसलिये इनको ब्रह्म ही कथन किया गया है, और अल्पदर्शी लोग इसी उपासना को सूर्य्य तथा ओंङ्कार अक्षर की उपासना समझते हैं परन्तु स्मरण रहे कि यह जड़ोपासना शास्त्र का विषय न होने से अवैदिक है, अतएव एकमात्र परमात्मा की ही उपासना उपादेय होने से सबको कर्तव्य है।

सं०—अब आख्यायिका द्वारा उक्त उपासना का फल कथन करते हैं:—

एतमुएवाहमभ्यगासिषम्, तस्मान्मम त्व-मेकोसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच। रश्मीᳩस्त्वंपर्य्यावर्त्तयाद् बहवो वै ते भविष्यन्तीत्याधिदैवतम्॥२॥

पद०—एतं। उ। एव। अहं। अभ्यगासिषं। तस्मात्। मम। त्वं। एकः। असि। इति। ह। कौषीतकिः। पुत्रं। उवाच। रश्मीन्। त्वं। पर्य्यावर्त्तयात्। बहवः। वै। ते। भविष्यन्ति। इति। आधिदैवतं॥

पदा०—(ह) प्रसिद्ध है कि (कौषीतकिः) कौषीतकी

नामा ऋषिं ने अपने (पुत्रं) पुत्र को (उवाच) कहा कि (उ) निश्चयकरके (एतं) इसी ब्रह्म को (एव) ही (अहं) मैं (अ-भ्यगासिषं) भलेप्रकार गाता था (तस्मात्) इसीकारण (मम) मेरा (त्वं) तु (एकः) एक पुत्र (-असि, इति) है (त्वं) तू (ह) प्रसिद्ध परमात्मा को (रश्मीन्) सूर्य्य की किरण समान (पर्य्यावर्त्तयात्) सर्वत्र व्यापक समझकर उपासनाकर (ते) तेरे भी (वै) निश्चयकरके (बहवः) बहुत पुत्र (भविष्यन्ति) होंगे (इति, अधिदैवतं) इसी का नाम अधिदैवत उपासना है ।

भाष्य—कौषीतकी ऋषि ने अपने पुत्र को यह उपदेश किया कि हे पुत्र ! मैं एकमात्र सर्वव्यापक परमात्मा की ही उपासन करता था जिसका फल यह हुआ कि मेरे गृह में तु एक योग्य पुत्र उत्पन्न हुआ इसी प्रकार तू भी सूर्य्य की किरण समान सर्वत्र व्यापक परमात्मा की उपासना कर और विश्वास रख कि तेरे अनेक योग्य पुत्र उत्पन्न होंगे, परमात्मा को सर्वव्यापक समझकर उपासना करने का नाम " अधिदैवत " उपासना है, जिसका पीछे विस्तारपूर्वक वर्णन कर आये हैं ।

भाव यह है कि कौषीतकी ने अपने पुत्र को उपदेश किया कि एकमात्र सर्वव्यापक निराकार परमात्मा की उपासना का ही यह फल हुआ कि तु मेरे एक योग्य पुत्र उत्पन्न हुआ किसी जड़ोपासना से नहीं, तुम्हारा भी यही कर्तव्य होना चाहिये कि तुम भी एकमात्र उसी परमपिता परमात्मा की उपासना करो किसी जड़ देवता की नहीं ।

स्मरण रहे कि यद्यपि परमात्मोपासन का फल आध्यात्मिक है परन्तु पुत्रोत्पत्तिरूप पितृऋण की पूर्त्ति यहां इस अभिप्राय

से कथन की है कि प्राकृत जनों की प्रवृत्ति भी उक्त उपासना में अवर्जनीयतया हो, क्योंकि लोक में सर्वसाधारण की प्रवृत्ति पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणारूप एषणात्रय में पाई जाती है इसी अभिप्राय से यह पुत्रोत्पत्तिरूप सांसारिक फल इस श्लोक में कथन कियागया है किसी अन्य अभिप्राय से नहीं।

सं०—अब अध्यात्मोपासना कथन करते हैं:—

अथाध्यात्मम्,य एवायं मुख्यः प्राणस्तमु-द्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति।३।

पद०—अथ। अध्यात्मं। यः। एव। अयं। मुख्यः। प्राणः। तं। उद्गीथं। उपासीत। ओम्। इति। हि। एषः। स्वरन्। इति।

पदा०—(अथ) अब (अध्यात्मं) अध्यात्मोपासना कथन करते हैं (एव) निश्चय करके (यः) जो (अयं) यह (मुख्यः) मुख्य (प्राणः) परमात्मा है (तं) उसी को लक्ष्य करके (उद्गीथं) उद्गीथ की (उपासीत) उपासना करे (हि) क्योंकि (एषः) यह (ओम्, इति) "ओ३म्" इस प्रकार (स्वरन्, इति) उच्चारण किया हुआ परमात्मा का तात्पर्य्य रखता है।

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन कियागया है कि सर्वव्यापक, सर्वोत्तम तथा सबका उपासनीय एकमात्र वही परमपिता परमात्मा है उसीको लक्ष्य रखकर उद्गीथरूप से उपासना करे, क्योंकि उद्गीथ से तात्पर्य्य ब्रह्म का ही है, इसकी समानता पीछे विस्तारपूर्वक वर्णन कर आये हैं, इसलिये यहां अधिक व्याख्यान की आवश्यकता नहीं।

सं०-अब उक्त आख्यायिका की पुष्टि में अन्य दृष्टान्त कथन कहते हैं:—

एतमु एवाहमभ्यगासिषम्, तस्मान्ममत्व-मेकोसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच । प्राणाᳪस्त्वं भूमानमभिगायताद् बहवो वै मे भविष्यन्तीति॥४॥

पद०-एतं। उ। एव। अहं। अभ्यगासिषं। तस्मात्। मम। त्वं। एकः। असि। इति। ह। कौषीतकिः। पुत्रं। उवाच। प्राणान्। त्वं। भूमानं। अभिगायतात्। बहवः। वै। मे। भविष्यन्ति। इति।

पदा०-(ह) प्रसिद्ध है कि (कौषीतकिः) कौषीतकी ऋषि अपने (पुत्रं) पुत्र को (उवाच) बोले कि (उ) निश्चय करके (एतं) उक्त ब्रह्म की (एव) ही (अहं) मैंने (अभ्यगासिषं) उपासना की थी (तस्मात्) इस कारण (मम) मेरे (त्वं) तु (एकः) एक सुपुत्र (असि, इति) उत्पन्न हुआ (त्वं) तु (प्राणान्) प्राण के समान उसी (भूमानं) ब्रह्म की (वै) निश्चय करके (अभिगायतात्) भलेप्रकार उपासना कर कि (मे) मेरे (बहवः) बहुत पुत्र (भविष्यन्ति, इति) होवें।

सं०-अब उद्गीथ के ज्ञाता को अन्य फल कथन करते हैं:—

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति होतृषदनाद्धैवापिदुरु-द्गीतमनुसमाहरतीत्यनुसमा-हरतीति ॥ ५ ॥

पद०-अथ। खलु। यः। उद्गीथः। सः। प्रणवः। यः। प्रणवः। सः। उद्गीथः। इति। होतृषदनात्। ह। एव। अपि। दुरुद्गीतं। अनुसमाहरति। इति। अनुसमाहरति। इति।

पदा०-(अथ) अब यह कथन करते हैं कि (खलु) निश्चय पूर्वक (यः) जो (उद्गीथः) उद्गीथ है (सः) वही (प्रणवः) प्रणव है (यः) जो (प्रणवः) प्रणव है (सः) वही (उद्गीथः) उद्गीथ है (इति) जो ऐसा जानते हैं वह (ह) निश्चय करके (होतृषदनात्) होता के आसन पर से (एव,अपि) ही (दुरुद्गीतं) अशुद्धादि दुष्टगान को (अनुसमाहरति, इति) पूर्ण कर देते हैं।

भाष्य-"**अनुसमाहरतीति**" पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, जो उद्गीथ है वही प्रणव और जो प्रणव है वही उद्गीथ है, जो ब्रह्मविद् पुरुष इसप्रकार जानते हैं वह होता के आसन पर से ही उद्गातृकृत उद्गीथगान सम्बन्धी दोष को पूर्ण करदेते हैं अर्थात् जो होता इस भाव को भलीभांति जानता है कि प्रणव तथा उद्गीथ एक ही हैं और किसी जड़पदार्थ के बोधक नहीं किन्तु एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म के ही प्रतिपादक हैं वह होता होने के योग्य है उससे यदि उद्गीथ के उच्चारण में कोई दोष भी होजाय तो उद्गीथ तथा प्रणव का पूर्णज्ञान उसका मार्ज्जन कर देता है और जो ब्रह्मविद् नहीं वह कदापि होतृसदन के योग्य नहीं होसक्ता, क्योंकि अब्रह्मवेत्ता का लक्ष्य ब्रह्म कदापि नहीं होसक्ता, यदि वह होता बनता है तो केवल दक्षिणार्थ बनता है

उसका और कोई उत्तम भाव नहीं होसक्ता, यदि वह कर्मकाण्डी है तो उसमें इतना ही उच्चभाव होसक्ता है कि मैं इस कार्य्य को भलीभांति पूर्ण करूं और ब्रह्म को लक्ष्य रखकर तो ब्रह्मवेत्ता ही उद्गीथ का गायन करता है, जैसाकि :—

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः ।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः ॥

अथर्व० १९ । ५ । ४२ । १

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता ।
ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः
शमिताय स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ–ब्रह्म ही हवन करने वाला, वही यज्ञ, वही उद्गाता तथा अध्वर्यु और अध्वर्यु ब्रह्म से उत्पन्न हुआ और ब्रह्म में ही हवि पड़ती है, ब्रह्म ही स्रुवा है, ब्रह्म ही वेदी है, ब्रह्म से ही वेदी खोदी जाती है, ब्रह्म ही यज्ञ का तत्त्व है और जो हवन करने वाले ऋत्विजादि हैं वह भी ब्रह्म ही हैं, एवंविध अभेद को प्राप्त ब्रह्म के लिये यह हवन साधु हो, इत्यादि मन्त्रों में जो ब्रह्म को सर्वात्मभाव से कथन किया है वह अभेदोपासना के अभिप्राय से है, इसी प्रकार उद्गीथगायन समय में भी कोई भेदबुद्धि नहीं रहती, ज्ञानी होता एकमात्र ब्रह्मध्यान में मग्न होकर उद्गीथ का गायन करता है उसके गायन को स्वरादिकों के दोष क्या बिगाड़ सक्ते हैं, क्योंकि वह तो ब्रह्मध्यान में मग्न है उसकी ज्ञानाग्नि ने सब

दोषों को दग्ध करदिया है, इससे यह बात भी स्पष्ट होगई कि उद्गीथ तथा प्रणव किसी जड़पदार्थ के बोधक होते तो शमविधि की उपासना कदापि कथन न कीजाती, इस भाव का विशेष विवर्ण "तैत्तिरीयोपनिषद्" में किया है, विशेषाभिलाषी वहां देखलें।

इति पञ्चमःखण्डः समाप्तः

अथ षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-पांचवें खण्ड में प्रणव तथा उद्गीथ को एकार्थवाची वर्णन करके अब इस खण्ड में "अधिदैवतोपासन" कथन करते हैं :-

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढᳬसामतस्मादृच्यध्यूढᳬसाम-गीयते । इयमेव साग्निर-मस्तत्साम ॥१ ॥

पद०-इयं । एव । ऋग् । अग्निः । साम । तत् । एतत् । एतस्यां । ऋचि । अध्यूढं । साम । तस्मात् । ऋचि । अध्यूढं । साम । गीयते । इयं । एव । सा । अग्निः । अमः । तत् । साम ।

पदा०-(इयं) यह पृथिवी (एव) ही (ऋग्) ऋग्वेद है (अग्निः, साम) अग्नि के समान सामवेद है (तत्) वह (एतत्) यह (साम) सामवेद (एतस्यां) इस पृथिवी के समान (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढं) व्याप्त है (तस्मात्) इसीकारण (ऋचि) ऋग्वेद के (अध्यूढं) सहित (साम) सामवेद (गीयते) गाया जाता है (इयं, एव) यह पृथिवी ही (सा) सा है (अग्निः) अग्नि (अमः) अम है (तत्) यह दोनों मिलकर (साम) सामपद बनता है ।

भाष्य-पृथिवी के समान ऋग्वेद और अग्नि के समान सामवेद है और सामवेद ऋग्वेद के अन्तर्गत है इसीकारण ऋग् सहित साम गाया जाता है " सा " शब्द का अर्थ पृथिवी तथा

" अम " शब्द का अर्थ अग्नि है और यह दोनों मिलकर " साम " पद बनता है अर्थात् जिसप्रकार पृथिवी में सामान्यरूप से अग्नि व्याप्त है इसीप्रकार ऋग्वेद में सामवेद व्याप्त है, इसी अभिप्राय से ऋग् और साम की समता वर्णन की है और पृथिवी को ऋग् तथा अग्नि को साम स्थानीय इस अभिप्राय से वर्णन किया है कि जिसप्रकार ऋग् तथा साम परमात्मा के महत्व का गायन करते हैं इसीप्रकार पृथिवी तथा अग्नि भी उसके महत्व को कथन करते हैं, क्योंकि इनकी रचना परमात्मा की सत्ता से बिना कदापि नहीं होसकती, या यों कहो कि पृथिवी ऋग् के समान आश्रय और अग्नि साम के समान तदाश्रित है और यह दोनों मिलकर परमात्मा के महत्व को बतलाते हैं, इसलिये इनको वेदस्थानीय निरूपण कियागया है।

सं०-अब अन्तरिक्ष तथा वायु की वेदरूपता कथन करते हैं:-

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम, तदेतदेतस्या-मृच्यध्यूढꣳसाम। तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम॥ २॥

पद०-अन्तरिक्षं। एव। ऋग्। वायुः। साम। तत्। एतत्। एतस्यां। ऋचि। अध्यूढं। साम। तस्मात्। ऋचि। अध्यूढं। साम। गीयते। अन्तरिक्षं। एव। सा। वायुः। अमः। तत्। साम।

पदा०-(एव) निश्चयकरके (ऋग्) ऋग्वेद (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष समान (साम) सामवेद (वायुः) वायु के समान है

(तत्) वह (एतत्) यह वायु समान (साम) सामवेद (एतस्यां) अन्तरिक्ष समान (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढं) व्याप्त है (तस्मात्) इसकारण (ऋचि) ऋग्वेद (अध्यूढं) सम्मिलित (साम) सामवेद (गीयते) गायाजाता है (एव) निश्चय करके (सा) सा का अर्थ (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (अमः) अम का अर्थ (वायुः) वायु है (तत्) यह दोनों मिलकर (साम) साम पद बनता है।

भाष्य—ऋग्वेद अन्तरिक्षसमान और सामवेद वायु के समान है और यह वायु समान सामवेद अन्तरिक्षसमान ऋग्वेद में व्याप्त है इसीकारण ऋग्वेद के साथ ही गायाजाता है "सा" शब्द का अर्थ अन्तरिक्ष और "अम" शब्द का अर्थ वायु है और यह दोनों मिलकर "साम" पद बनता है अर्थात् जिसप्रकार अन्तरिक्ष अवकाशमय होने से सर्वत्र व्यापक और वायु तदाश्रित होता है इसीप्रकार विस्तृत ऋग्वेद में सामवेद वायु के समान व्याप्त है, या यों कहो कि जिसप्रकार इस विस्तृत नभोमण्डल में वायु के चलने से सर्वत्र गीतवत् ध्वनि होती है इसी प्रकार सामसम्मिलित ऋग्वेद के गान से वायु समान साम सर्वत्र फैलजाता है इसलिये इनकी समानता कथन कीगई है।

सं०—अब द्यौ और आदित्य में ऋग् तथा साम की समता कथन करते हैं :—

द्यौरेवर्गादित्यः साम, तदेतदेतस्यामृच्य-ध्यूढꣳसाम। तस्मादच्यध्यूढꣳसाम गीयते, द्यौरेव साऽऽदित्योऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥

पद०—द्यौः। एव। ऋग्। आदित्यः। साम। तत्। एतत्। एतस्यां। ऋचि। अध्यूढं। साम। तस्मात्। ऋचि। अध्यूढं। साम। गीयते। द्यौः। एव। सा। आदित्यः। अमः। तत्। साम।

पदा०—(एव) निश्चय करके (द्यौः) द्युलोक (ऋग्) ऋग्वेद (आदित्यः) आदित्य (साम) सामवेद है (तत्) वह (एतत्) यह आदित्य (साम) सामवेद (एतस्यां) इस द्युलोक के समान (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढं) व्याप्त है (तस्मात्) इस कारण (ऋचि) ऋग्वेद (अध्यूढं) सम्मिलित (साम, गीयते) साम गाया जाता है (द्यौः,एव) द्युलोक ही (सा) सा (अमः) अम पद का अर्थ (आदित्यः) आदित्य है (तत्) यह दोनों मिलकर (साम) साम है।

भाष्य—ऋग्वेद द्युलोक के समान और सामवेद आदित्य के समान है और यह आदित्य समान सामवेद द्युलोक के समान ऋग्वेद में सम्मिलित होने के कारण ऋग् सहित साम गायाजाता है, द्युलोक ही "सा" और आदित्य ही "अम" पद का शब्दार्थ है और यह दोनों मिलकर "साम" पद बनता है अर्थात् जिस प्रकार सूर्य्य सम्पूर्ण द्युलोक को अपने प्रकाश से प्रकाशित करदेता है इसीप्रकार सामगान सम्पूर्ण ऋग्रूप द्युलोक का सूर्य्यवत् प्रकाशक होने से इनकी समानता कथन कीगई है।

सं०—अब चन्द्रमा और नक्षत्रों में ऋग् तथा साम की समता कथन करते हैं :—

नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः, साम तदेतदेत-स्यामृच्यध्यूढꣳ साम। तस्मादृच्य-

ध्यूढꣳसाम गीयते। नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥ ४ ॥

पद०—नक्षत्राणि । एव । ऋग् । चन्द्रमाः । साम । तद् । एतद् । एतस्यां । ऋचि । अध्यूढं । साम । तस्माद् । ऋचि । अध्यूढं । साम । गीयते । नक्षत्राणि । एव । सा । चन्द्रमाः । अमः । तद् । साम ।

पदा०—(एव) निश्चय करके (नक्षत्राणि) नक्षत्रों के समान (ऋग्) ऋग्वेद (चन्द्रमाः) चन्द्रमा के समान (साम) सामवेद है (तद्, एतद्) वह यह चन्द्रमा के समान (साम) सामवेद (एतस्यां) इन नक्षत्रों के समान (ऋचि,अध्यूढं) ऋग्वेद में सम्मिलित है (तस्माद्) इसी कारण (ऋचि, अध्यूढं) ऋग्वेद सम्मिलित (साम, गीयते) साम गायाजाता है (नक्षत्राणि, एव) नक्षत्र ही (सा) सा (अमः) अम (चन्द्रमाः) चन्द्रमा है और (तद्) यह दोनों मिलकर (साम) साम है ।

भाष्य—ऋग्वेद नक्षत्रों के समान और सामवेद चन्द्रमा के समान है और यह चन्द्रमा के समान सामवेद नक्षत्र समान ऋग्वेद में सम्मिलित होने से ऋग् सहित साम का गान होता है "सा" का शब्दार्थ नक्षत्र और "अम" का शब्दार्थ चन्द्रमा है और यह दोनों मिलकर साम बनता है, जिसका आशय यह है कि ऋग्वेद की ऋचायें नक्षत्रों के समान अनन्त है और साम अपनी गीतिरूप कौमुदी द्वारा प्रकाशित होने के कारण साम को चन्द्रमा और नक्षत्रों को ऋग् कथन कियागया है और यह दोनों समान हैं ।

सं०—अब छाया आतप के समान ऋग् तथा साम की सन्धि कथन करते हैं :—

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम । तदेतदे-तस्यामृच्यध्यूढꣳ साम । तस्मा-दृच्यध्यूढꣳ साम गीयते ॥५॥

पद०—अथ । यत् । एतत् । आदित्यस्य । शुक्लं । भाः । सा । एव । ऋग् । अथ । यत् । नीलं । परः । कृष्णं । तत् । साम । तत् । एतत् । एतस्यां । ऋचि । अध्यूढं । साम । तस्मात् । ऋचि । अध्यूढं । साम । गीयते ।

पदा०—(अथ) इसके अनन्तर (यत्) जो (एतत्) यह (आदित्यस्य) आदित्य की (शुक्लं) श्वेत (भाः) दीप्ति है (एव) निश्चय करके (सा) वही (ऋग्) ऋग्वेद है (अथ) और (यत्) जो (नीलं) नील (परः, कृष्णं) अतिशय कृष्ण है (तत्) वह (साम) सामवेद है (तत्,एतत्) वह यह अतिशय कृष्ण (साम) सामवेद (एतस्यां) शुक्लदीप्ति के समान (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढं) व्याप्त है (तस्मात्) इस कारण (ऋचि, अध्यूढं) ऋग्वेद सम्मि-लित (साम, गीयते) साम गायाजाता है ।

भाष्य—आदित्य की शुक्लदीप्ति के समान ऋग् तथा अतिशय कृष्ण दीप्ति के समान सामवेद है और कृष्णदीप्ति के समान सामवेद शुक्ल दीप्तिसमान ऋग्वेद में सम्मिलित होने के कारण ऋग् सहित साम गायाजाता है, यहां ऋग्वेद को सूर्य्य की शुक्लदीप्ति के

समान इसलिये कथन किया है कि ऋग्वेद स्तुति प्रधान होने से सब पदार्थों के प्रकाशरूप ज्ञान का सूचक है और साम गीती प्रधान होने से उस दीप्ति की शोभा को कृष्णरङ्ग के समान बढ़ाता है अर्थात् जिसप्रकार श्वेत और कृष्ण पदार्थ साथ२ रखे हुए एक दूसरे की शोभा को बढ़ाते हैं इसी प्रकार ज्ञान और कर्म यह दोनों एक दूसरे की शोभा को बढ़ाते हैं, इसी भाव को शुक्ल, कृष्णरूप से कईएक ग्रन्थकारों ने वर्णन किया है जो अधिक विस्तार होने के कारण नहीं लिखाजाता, या यों कहो कि ऋग् ज्ञानप्रधान होने से शुक्लदीप्ति के समान और साम कर्मप्रधान होने से कृष्णता के समान हैं और यह दोनों मिलकर एक दूसरे की शोभा को बढ़ाते हैं, अतः दोनों समान हैं।

सं०—अब उपसंहार में सम्पूर्ण सूर्य्यादि देवों में ब्रह्म की व्यापकता कथन करते हैं :—

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥ ६ ॥

पद०—अथ। यत्। एव। एतत्। आदित्यस्य। शुक्लं। भाः। सा। एव। सा। अथ। यत्। नीलं। परः। कृष्णं। तत्। अमः।

तत् । साम । अथ । यः । एषः । अन्तरादित्ये । हिरण्मयः । पुरुषः । दृश्यते । हिरण्यश्मश्रुः । हिरण्यकेशः । आप्रणखात् । सर्वः । एव । सुवर्णः ।

पदा०–(अथ) अब यह कथन करते हैं कि (एव) निश्चय करके (आदित्यस्य) आदित्य की (यत्) जो (एतत्) यह (शुक्लं) श्वेत (भाः) ज्योति है (सा, एव) वही (सा) सा शब्द वाच्य है (अथ) और (यत्) जो (नीलं, परः, कृष्णं) नील=अतिशय श्यामता है (तत्)वह (अमः) अम है और (तत्) वह (साम) साम है (अथ) और (यः) जो (एषः) यह (अन्तरादित्ये) आदित्य के मध्य में (हिरण्मयः) ज्योतिर्मय (पुरुषः) पुरुष (दृश्यते) दीखता है जिसके (हिरण्यश्मश्रुः) ज्योतिर्मय बाल डाढ़ी मूंछ समान और (हिरण्यकेशः) ज्योति ही जिसके केश सदृश है (आप्रणखात्) नख शिख (सर्वः, एव) सब ही (सुवर्णः) शोभनवर्ण वाला है ।

भाष्य–जो आदित्य की शुक्लदीप्ति है वह " सा " शब्द वाच्य और अतिशय कृष्णदीप्ति " अम " शब्द वाच्य है इन दोनों के मिलने से " साम " पद बनता है और जो यह आदित्य के मध्य पुरुष दीखता है जिसके श्मश्रु ज्योतिवत् और केश भी ज्योति समान हैं और जो नख शिख सब ही ज्योतिर्मय है अर्थात् देदीप्यमान इस जगत् वा सूर्य्यादि में जो यह सर्वव्यापक ब्रह्म है वह विज्ञान तथा सम्पूर्ण धन ऐश्वर्य्य आदि सुखों का प्रभु है और जो नख से लेकर शिखा पर्य्यन्त ज्योतिर्मय तथा परम शोभनीय है वही सबका उपास्यदेव है ।

भाव यह है कि इस मन्त्र में परमपिता परमात्मा की सर्वव्यापकता कथन कीगई है अर्थात् संसार में कोई प्राकृत पदार्थ ऐसा नहीं जो ईश्वर के महत्व का वर्णन न करता हो, सूर्य्य, चन्द्र तारागण आदि सभी पदार्थ उसके महत्व का वर्णन करते और वह सबमें पूर्णरूप से व्याप्त होरहा है, इसी भाव को स्पष्टतया बोधन करने के लिये इस प्रकरण में सूर्य्यादि दिव्य पदार्थों में रूपक बांधकर परमात्मा का महत्व वर्णन कियागया है कि इस सूर्य्यमण्डल में जो ज्योतिर्मय पुरुष है वह परमात्मा है उसके केश, श्मश्रु आदि सब ज्योतिर्मय हैं अर्थात् वह परमपुरुष स्वयंप्रकाशस्वरूप है, यह वह भाव है जिसको वेद में "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" यजु० ३१। १८ इस वाक्य द्वारा वर्णन किया है कि वह ज्ञानस्वरूप स्वतःप्रकाश है अर्थात् "आदित्यवर्णो यस्य स आदित्यवर्णः"=अविद्यानिवर्तकस्वरूप का नाम "आदित्यवर्ण" है,और यही परमात्मा का वर्ण है अन्य श्वेत पीतादि कोई वर्ण नहीं,इसी भाव को यहां हिरण्य श्मश्रु आदि शब्दों से कथन किया है अथवा जिस प्रकार "वाग्विवृताश्चवेदाः"=वाणी ही वेद है, इस मुण्डक वाक्य में रूपकालङ्कार से वेदों को ईश्वर का मुख वर्णन किया है इसीप्रकार यहां रूपकालङ्कार से ईश्वर के हिरण्य श्मश्रु कथन किये गये हैं साकार के अभिप्राय से नहीं, उक्त वाक्य की व्याख्या "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" ब्र० सू० १। १। २० में विस्तारपूर्वक कीगई है, इसलिये यहां विशेष व्याख्यान की आवश्यकता नहीं।

सं०—अब रूपकालङ्कार से उक्त पुरुष के चक्षु तथा नाम का कथन करते हैं :—

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी। तस्योदिति नाम। स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति हवै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥ ७ ॥

पद०—तस्य। यथा। कप्यासं। पुण्डरीकं। एवं। अक्षिणी। तस्य। उत्। इति। नाम। सः। एषः। सर्वेभ्यः। पाप्मभ्यः। उदितः। उदेति। ह। वै। सर्वेभ्यः। पाप्मभ्यः। यः। एवं। वेद।

पदा०—(यथा) जैसे (कप्यासं, पुण्डरीकं) लालकमल होता है (एवं) इसी प्रकार (तस्य) उस ज्योतिर्मय पुरुष के (अक्षिणी) नेत्र हैं (तस्य) उसका (उत्) उत् (इति) यह (नाम) नाम है (सः, एषः) वह यह (सर्वेभ्यः, पाप्मभ्यः) सब पापों से पृथक् होकर (उदितः) उदय होता है (यः, एवं, वेद) जो पुरुष इस प्रकार जानता है वह (ह, वै) निश्चय करके (सर्वेभ्यः) सम्पूर्ण (पाप्मभ्यः) पापों से पृथक् होकर (उदेति) उदय होता है।

भाष्य—उस परमात्मा के लाल कमल के समान नेत्र हैं "उत्" उसका नाम है और वह सब पापों से पृथक् होकर उदय=प्रकाशित होता है, या यों कहो कि वह निखिल पापगन्ध से रहित है, जो ब्रह्मवेत्ता पुरुष परमात्मा को इस प्रकार जानता है वह भी पापों से पृथक् होकर संसार में प्रकाशित होता है अर्थात् परमात्मा का ज्ञाता सब पापों से पार होजाता है।

इस श्लोक में रूपकालङ्कार से परमात्मा का नाम और नेत्र कथन किये गये हैं जैसाकि हम कई स्थलों में लिख आये हैं परन्तु

कई एक पौराणिक टीकाकार इसके यह अर्थ करते हैं कि "कप्यास पुण्डरीक" कथन करने से यहां साकार बोधन में तात्पर्य है और इसी अभिप्राय से पीछे हिरण्यश्मश्रुरूप से उक्त पुरुष का वर्णन किया गया है ? इसका उत्तर यह है कि "रूपोपन्यासाच्च" ब्र० सू० १।२।२३ तथा "तद्धर्मोपदेशात्" ब्र० सू० १।१।२० इत्यादि सूत्रों में महर्षि व्यास ने इस विषयवाक्य को स्पष्ट कर दिया है कि यहां परमात्मा का केवल रूपक बांधा है जिसका फल यह है कि जिज्ञासु उक्त पुरुष के महत्व को भलेप्रकार समझ जांय, इसी अभिप्राय से उपनिषदों में अन्यत्र भी कथन किया है कि—"**अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ**" "**द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रावदन्ति, खं वै नाभिं चन्द्र सूर्य्यौ च नेत्रे दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिश्च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूत प्रणेता**"=अग्नि उसका मुख स्थानीय, चन्द्र सूर्य्य नेत्र स्थानीय हैं, द्यौलोक मस्तक, आकाश नाभि, दिशायें श्रोत्र और पृथिवी पाद स्थानीय है, एवंविध रूपवाला परमात्मा सब भूतों का आधार है, इसीप्रकार इस श्लोक में भी नाभ और नेत्र, रूपकालङ्कार से कथन किये गये हैं वास्तव में वह निराकार है, उक्त प्रकार से रूपक बांधकर वर्णन करने का नाम "**रूपोपन्यास**" है, ऐसे रूपक साकार के साधक नहीं किन्तु परमात्मा को सर्वोपरि बोधन करने के अभिप्राय से हैं, "पुरुष" शब्द के अर्थ यहां परमात्मा के हैं जैसाकि "**पुरिशेते इति पुरुषः**"=जो पुर नाम ब्रह्माण्ड में शयन करे उसका नाम "पुरुष" अथवा "**पूरयतीति परुषः**"=जो

इस सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक हो उसका नाम "पुरुष" है।

सं०-अब उक्त पुरुष में प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव से वेदों का सम्बन्ध कथन करते हैं:-

तस्यर्क् च साम च गेष्णौ । तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता । स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥८॥

पद०-तस्य । ऋग् । च । साम । च । गेष्णौ । तस्मात् । उद्गीथः । तस्मात् । तु । एव । उद्गाता । एतस्य । हि । गाता । सः । एषः । ये । च । अमुष्मात् । पराञ्चः । लोकाः । तेषां । च । ईष्टे । देवकामानां । च । इति । अधिदैवतं ।

पदा०-(तस्य) उस व्यापक परमात्मा को (गेष्णौ) गान करनेवाले (ऋग्) ऋग्वेद (च) और (साम, च) सामवेदादि हैं (तस्मात्) इसी कारण वह (उद्गीथः) उद्गीथ कहलाता है (तस्मात्) इसी कारण (तु, एव) निश्चय करके (उद्गाता) उद्गाता ऋत्विक् भी उद्गाता होता है (हि) क्योंकि (एतस्य) इसी ब्रह्म का वह (गाता) गान करनेवाला है (सः, एषः) वह यह ब्रह्म (ये,च) जो (अमुष्मात्) इस आदित्यलोक से (पराञ्चः) ऊपर स्थित (लोकाः) लोक हैं (तेषां, च) उनका (ईष्टे) स्वामी तथा धारण करता है और (देवकामानां, च) विद्वानों की कामनाओं का भी (ईष्टे) पूर्ण करनेवाला है (इति, अधिदैवतं) यह अधिदैवत उपासना है।

भाष्य—ऋग्वेद,यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद यह सब उस सर्वव्यापक परमात्मा का गायन करते हैं इसीकारण वह उद्गीथ और इसी कारण उद्गाता ऋत्विक् परमात्मा का गायक कहलाता है, क्योंकि वह उसी का गानेवाला है, जो सूर्य्य से भी ऊपर लोक हैं उनका भी वह शासक है और विद्वानों के मनोरथों का भी पूर्ण करनेवाला है, जहां दिव्य पदार्थों में ब्रह्म का व्यापकभाव से उपासन कथन कियाजाता है जैसाकि उक्त श्लोकों द्वारा सूर्य्यादि देवों में ब्रह्म का उपासन वर्णन कियागया है,वहां इस उपासना का नाम **"अधिदैवतोपासना"** है।

और जो लोग सूर्य्य तथा हिरण्यश्मश्रु आदि वाक्यों द्वारा ईश्वर को साकार सिद्ध करते हैं उनको स्मरण रहे कि यदि यहां सूर्य्यादि जड़ पदार्थों की उपासना अभिप्रेत होती तो इस उपासना का नाम **"अधिदैवतोपासना"** कदापि न होता, इससे सिद्ध है कि यहां सूर्य्यादिकों में व्यापकभाव से ब्रह्म का ही उपासन वर्णन किया गया है किसी जड़ पदार्थ का नहीं।

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-छठें खण्ड में अधिदैवतोपासना का वर्णन करके अब इस खण्ड में आध्यात्मिक उपासन कथन करते हैं :-

अथाध्यात्मम्, वागेवर्क् प्राणः साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम। तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते। वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम॥१॥

पद०-अथ। अध्यात्मं। वाक्। एव। ऋग्। प्राणः। साम। तद्। एतद्। एतस्यां। ऋचि। अध्यूढं। साम। तस्माद्। ऋचि। अध्यूढं। साम। गीयते। वाक्। एव। सा। प्राणः। अमः। तद्। साम।

पदा०-(अथ) अब (अध्यात्मं) अध्यात्मोपासन कथन करते हैं (ऋग्) ऋग्वेद (एव) निश्चय करके (वाक्) बाणी (साम) सामवेद (प्राणः) प्राण है (तद्, एतद्) वह यह (साम) सामवेद (एतस्यां) इस (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढं) व्याप्त है (तस्माद्) इसी कारण (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढं) सम्मिलित (साम) सामवेद (गीयते) गायाजाता है (एव) निश्चय करके (सा) सा (वाक्) बाणी (अमः) अम (प्राणः) प्राण है (तद्) यह दोनों मिलकर (साम) साम कहाता है।

भाष्य-इस श्लोक में अध्यात्मोपासन वर्णन कियागया है अर्थात् बाणी के समान ऋग्वेद तथा प्राण के समान सामवेद है और यह प्राणसमान सामवद वाक्समान ऋग्वेद के अन्तर्गत होने से ऋचाबद्ध साम गायाजाता है, "सा" का शब्दार्थ वाक् और

"अम" का शब्दार्थ प्राण है और यह दोनों मिलकर "साम" बनता है, गत खण्ड में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन कर आये हैं अतएव यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

चक्षुरेवर्गात्मा साम, तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम। तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते। चक्षुरेव साऽऽत्माऽमस्तत्साम ॥ २ ॥

पद०-चक्षुः। एव। ऋग्। आत्मा। साम। तद्। एतद्। एतस्यां। ऋचि। अध्यूढं। साम। तस्मात्। ऋचि। अध्यूढं। साम। गीयते। चक्षुः। एव। सा। आत्मा। अमः। तद्। साम।

पदा०-(एव) निश्चय करके (चक्षुः) चक्षु (ऋग्) ऋग्वेद (आत्मा, साम) आत्मा सामवेद है (तद्, एतद्) वह यह (साम) सामवेद (एतस्यां) इस (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढं) व्याप्त है (तस्मात्) इसकारण (ऋचि) ऋग्वेद (अध्यूढं) सम्मिलित (साम, गीयते) सामवेद गायाजाता है (चक्षुः, एव) चक्षु ही (सा) सा (आत्मा, अमः) आत्मा अम है (तद्) यह दोनों मिलकर (साम) साम बनता है।

भाष्य-इस श्लोक में उसी पूर्वप्रकृत विषय को स्फुट किया है कि निश्चय करके चक्षु के समान ऋग्वेद और आत्मा* के समान सामवेद है और यह आत्मसमान सामवेद चक्षुसमान ऋग्वेद में सम्मिलित होने के कारण ऋग् सहित साम गायाजाता है "सा"

* यहां "आत्मा" शब्द से तात्पर्य्य चक्षुगत गोलक का है

का शब्दार्थ चक्षु तथा "अम" का शब्दार्थ आत्मा है और यह दोनों मिलकर "साम" बनता है।

श्रोत्रमेवर्ङ्मनः साम, तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम। तस्मादृच्यध्यूढꣳसाम गीयते। श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥

पद०—श्रोत्रं। एव। ऋग्। मनः। साम। तत्। एतत्। एतस्यां। ऋचि। अध्यूढं। साम। तस्मात्। ऋचि। अध्यूढं। साम। गीयते। श्रोत्रं। एव। सा। मनः। अमः। तत्। साम।

पदा०—(एव) निश्चय करके (श्रोत्रं) श्रोत्र (ऋक्) ऋग्वेद (मनः, साम) मन सामवेद है (तत्, एतत्) वह यह (साम) सामवेद (एतस्यां) इस (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढं) व्याप्त है (तस्मात्) इसी कारण (ऋचि, अध्यूढं) ऋग् सम्मिलित (साम, गीयते) साम गायाजाता है (एव) निश्चय करके (श्रोत्रं) श्रोत्र (सा) सा (मनः) मन (अमः) अम है और (तत्) यह दोनों मिलकर (साम) साम बनता है।

भाष्य—श्रोत्र ही ऋग्वेद के समान तथा मन सामवेद के समान है और यह मन समान सामवेद श्रोत्र समान ऋग्वेद में सम्मिलित है इसकारण ऋग् सहित साम गायाजाता है, "सा" का शब्दार्थ श्रोत्र तथा "अम" का शब्दार्थ मन है और इन दोनों धर्मविशिष्ट "साम" कहाजाता है।

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम । तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥ ४ ॥

पद०—अथ । यत् । एतत् । अक्ष्णः । शुक्लं । भाः । सा । एव । ऋग् । अथ । यत् । नीलं । परः । कृष्णं । तत् । साम । तत् । एतत् । एतस्यां । ऋचि । अध्यूढं । साम । तस्मात् । ऋचि । अध्यूढं । साम । गीयते । अथ । यत् । एव । एतत् । अक्ष्णः । शुक्लं । भाः । सा । एव । सा । अथ । यत् । नीलं । परः । कृष्णं । तत् । अमः । तत् । साम ।

पदा०—(अथ) अब यह कथन करते हैं कि (यत्) जो (एतत्) यह (अक्ष्णः) चक्षु की (शुक्लं, भाः) श्वेत दीप्ति है (सा, एव, ऋग्) वह ही ऋग्वेद (अथ) और (यत्) जो (नीलं, परः, कृष्णः) नील=अतिशय श्याम है (तत्साम) वह साम है (तत्) वह (एतत्) यह (साम) साम (एतस्यां) इस (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्युढं) व्याप्त है (तस्मात्) इस कारण (ऋचि) ऋग्वेद (अध्यूढं) सहित (साम, गीयते) साम गायाजाता है (अथ) और (एव) निश्चयकरके (यत्) जो (एतत्) यह (अक्ष्णः) चक्षुगत (शुक्लं, भाः) श्वेत दीप्ति है (सा, एव) वह ही (सा) सा (अथ) और (यत्) जो (नीलं, परः, कृष्णं) नील=

अतिशय कृष्ण दीप्ति है (तद्) वह (अमः) अम है और (तद्) वह (साम) साम है ।

भाष्य–जो यह चक्षुगत शुक्ल दीप्ति है उसके समान ऋग्, जो अतिशय श्याम दीप्ति है उसके समान सामवेद है और यह साम ऋग्वेद के अन्तर्गत होने से ऋग्सहित गायाजाता है "सा" शब्द का वाच्य नेत्रगत शुक्लदीप्ति तथा "अम" शब्द का वाच्य कृष्णदीप्ति है और यह दोनों मिलकर "साम" शब्द का वाच्य है अर्थात् उभयधर्मविशिष्ट साम है ।

सं०–अब अक्षिगत पुरुष का कथन करते हैं :—

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम। तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म। तस्यैतस्य तदेवरूपं यदमुष्यरूपं। यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ। यन्नाम तन्नाम ॥ ५ ॥

पद०–अथ। यः। एषः। अन्तः। अक्षिणि। पुरुषः। दृश्यते। सा। एव। ऋग्। तद्। साम। तद्। उक्थं। तद्। यजुः। तद्। ब्रह्म। तस्य। एतस्य। तद्। एव। रूपं। यद्। अमुष्य। रूपं। यौ। अमुष्य। गेष्णौ। तौ। गेष्णौ। यद्। नाम। तद्। नाम।

पदा०–आध्यात्मिकोपासना के अनन्तर (अथ) अब यह कथन करते हैं कि (यः) जो (एषः) यह (अन्तः, अक्षिणि) चक्षु के मध्यगत (पुरुषः) पुरुष (दृश्यते) दृष्टिगत होता है (सा,एव)

वही (ऋग्) ऋग्वेद (तत्) वही (साम) सामवेद (तत्) वही (उक्थं) उक्थ (तत्) वही (यजुः) यजुर्वेद (तत्) वही (ब्रह्म) ब्रह्म है (तस्य) उसका (एतस्य) यह (तत्, एत्र) वही बोधन कराने वाला (रूपं) रूप है (यत्) जो (अमुष्य) आदित्य में व्यापक पुरुष का (रूपं) रूप है (यौ) जो (अमुष्य) ब्रह्म के (गेष्णौ) गायक हैं (तौ) वही इसके भी (गेष्णौ) गायक हैं (यत्, नाम) जो उसका नाम है (तत्, नाम) वही उसका भी नाम है।

भाष्य--जो अक्षि=नेत्र में व्यापक पुरुष दृष्टिगत होता है मानो वही ऋग्वेद, वही सामवेद, वही उक्थ, वही यजुर्वेद और वही ब्रह्म है अर्थात् चारो वेद प्रतिपादित जो पुरुष है वही ब्रह्म है, इसका वही रूप है जैसा आदित्य में व्यापक पुरुष का रूप है, जो उसके गायक हैं वही इसके और जो उसका नाम है वही इसका नाम है।

स्मरण रहे कि यहां "अक्षि" शब्द सब ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण है अर्थात् जो परमात्मा आदित्य में व्यापक है, जो चन्द्रमा में व्यापक है और जो सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक होरहा है, वही पुरुषगत सब इन्द्रियों में व्यापक है, इसी भाव को बृहदा० ५।५।४ में इसप्रकार वर्णन किया है कि "यो यं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः तस्य भूरिति शिरः एकं शिरः एकमेतदक्षरम् भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वेऽक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा"= जो यह दक्षिण अक्षि में पुरुष है उसका "भू" शिर है, शिर एक होता है भू भी एक अक्षर है "भुवः" उसका बाहु है, बाहु

दो होते हैं भुव भी दो अक्षरों का है "स्वर" उसकी प्रतिष्ठा है अर्थात् त्रिभुवन व्यापी वह परमात्मा है और वही ऋग्, यजुः साम तथा अथर्व चारो वेदों का प्रतिपाद्य है वही सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों का ईश है और वही मनुष्य की कामनाओं को पूर्ण करता है, इसलिये पुरुष को उचित है कि उसको सर्वत्र व्यापक समझकर उसीकी उपासना में प्रवृत्त रहे ॥

सं०—अब उस परमात्मा का महत्व वर्णन करते हैं:—

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानाञ्चेति । तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति । तस्मात्ते धनसनयः ॥६॥

पद०—सः । एषः । ये । च । एतस्मात् । अर्वाञ्चः । लोकाः । तेषां । च । ईष्टे । मनुष्यकामानां । च । इति । तत् । ये । इमे । वीणायां । गायन्ति । एतं । ते । गायन्ति । तस्मात् । ते । धनसनयः ।

पदा०—(च) और (ये) जो (अस्मात्) इस लोक से (अर्वाञ्चः) अधःस्थित (लोकाः) लोक हैं (तेषां, च) उनका भी (सः, एषः) वही यह (ईष्टे) स्वामी है (च) और (मनुष्य-कामानां) मनुष्य की कामनाओं को पूर्ण करने वाला है (च) और (इति, तत्) इसीकारण (ये) जो (इमे) विद्वान् लोग (वीणायां) वीणावाद्य में (गायन्ति) गाते हैं (एतं) इसी

ब्रह्म को (ते) वे (गायन्ति) गाते हैं (तस्मात्) इसीकारण (ते) वह (धनसनयः) धनाढ्य होते हैं।

भाष्य–वही ब्रह्म इस लोक से अधःस्थित लोकों का स्वामी और मनुष्य की कामनाओं का ईशिता है, इसी कारण ब्रह्म के जानने वाले वीणा में इसीको गाते हैं और वह आप्तकाम होते हैं, इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि उसी एकमात्र परमात्मा का ध्यान करें, उसीकी आज्ञापालन और उसी के प्रेम में मग्न रहें ताकि वह हमारी कामनाओं को पूर्ण करे॥

सं०–अब उक्त आध्यात्मिक उपासना का फल कथन करते हैं:—

अथ य एतदेवं विद्वान् साम गायत्युभौ स गायति। सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताᳪश्चाप्नोति देवकामाᳪश्च ॥ ७ ॥

पद०–अथ। यः। एतत्। एवं। विद्वान्। साम। गायति। उभौ। सः। गायति। सः। अमुना। एव। सः। एषः। ये। च। अमुष्मात्। पराञ्चः। लोकाः। तान्। च। आप्नोति। देवकामान्। च।

पदा०–(अथ) अब फल कथन करते हैं कि (यः) जो पुरुष (एवं) उक्त प्रकार से ब्रह्म को (विद्वान्) जानता हुआ (एतत्) इस (साम) सामवेद को (गायति) गाता है (सः) वह (उभौ) आध्यात्मिक तथा अधिदैवत ब्रह्म को (गायति) गाता

है (सः) वह पुरुष (अमुना) विज्ञानबल से (एव) निश्चय करके (ये) जो (अमुष्मात्) इस लोक से (पराञ्चः) ऊपर (लोकाः) लोक हैं (तान्) उनको (आप्नोति) प्राप्त होता है (च)और (सः, एषः) वह यह पुरुष (देवकामान्) देवकामनाओं को (च) भी प्राप्त होता है।

भाष्य–जो पुरुष उक्त प्रकार से ब्रह्म को जानता हुआ सामवेद गायन करता है वह उपरिष्ठ लोकों तथा देव कामनाओं को प्राप्त होता है अर्थात् उच्च अवस्था को प्राप्त होकर आनन्दित होता है "लोक" शब्द के अर्थ यहां अवस्थाविशेष के हैं जिसको "तैत्तिरीयोपनिषद्" में भलेप्रकार वर्णन कर आये हैं विशेषाभिलाषी वहां देखलें॥

सं०–अब ब्रह्मवेत्ता का कर्तव्य कथन करते हैंः—

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताँ श्चाप्नोति मनुष्यकामाँश्च। तस्माद्ु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥ ८ ॥

पद०–अथ। अनेन। एव। ये। च। एतस्मात्। अर्वाञ्चः। लोकाः। तान्। च। आप्नोति। मनुष्यकामान्। च। तस्मात्। उ। ह। एवंवित्। उद्गाता ब्रूयात्।

पदा०–(अथ) फिर (एव) निश्चयकरके (अनेन) इस ब्रह्मज्ञान से ही (ये, च) जो (एतस्मात्,अर्वाञ्चः) यह अधोगत (लोकाः) लोक हैं (तान्, च) उनको भी (आप्नोति) प्राप्त होता है (मनुष्यकामान्, च) मनुष्य की कामनाओं को प्राप्त होता है

(तस्मात्) इसकारण (उ, एव) निश्चयपूर्वक (एवंवित्) इसप्रकार ब्रह्म का जानने वाला (उद्गाता) उद्गाता (ब्रूयात्) अपने शिष्यादिकों को ब्रह्म का उपदेश करें।

भाष्य-ब्रह्मवेत्ता जो उच्च अवस्था को प्राप्त होकर मनुष्य कामनाओं को पूर्णकरचुका है वही उद्गाता बनने के योग्य होता है उसका कर्तव्य है कि वह उस परमपवित्र परमात्मा का अपने शिष्यादिकों में उपदेश करे ताकि उनमें विज्ञान की वृद्धि हो और वह उस पूर्ण परमात्मा को प्राप्त हों जो उच्च से उच्च अवस्था को प्राप्त है।

सं०-अब सामगान का प्रकार कथन करते हैं:—

कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामागानस्येष्टे। य एवं विद्वान् सामगायति, सामगायति ॥ ९ ॥

पद०-कं। ते। कामं। आगायानि। इति। एषः। हि। एव। कामागानस्य। ईष्टे। यः। एवं। विद्वान्। साम। गायति। साम। गायति।

पदा०-हे यजमान! (ते) तेरी (कं) किस (कामं) कामना को लक्ष्य रखकर (आगायानि, इति) ब्रह्म का गान करूं (हि) क्योंकि (एषः, एव) वही (कामागानस्य) कामनाओं की पूर्ति का (ईष्टे) स्वामी है (यः) जो (एवं) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (साम, गायति) सामगाता है वह अभीष्ट फल को प्राप्त होता है।

भाष्य–श्लोक में "सामगायति" पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, उद्गाता का कथन है कि हे यजमान ! मैं तेरी किस कामना को लक्ष्य रखकर सामगान द्वारा उस परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करूं, क्योंकि वही सब कामनाओं का पूर्ण करने वाला है, जो ब्रह्म को इस प्रकार जानता हुआ सामगाता है वह अपनी कामनाओं का पूरक होता है ।

स्मरण रहे कि जहां आत्म सम्बन्धी पदार्थों में ब्रह्म की व्याप्ति कथन कीजाय उसका नाम " अध्यात्मोपासना " और जहां आत्मा से भिन्न सूर्य्यादि देवों में ब्रह्म की व्याप्ति कथन कीजाय उसका नाम "अधिदैवतोपासना" है, कईएक अल्पदर्शी लोग उक्त उपासनाओं से साकारोपासना समझ लेते हैं सो यह उनकी भूल है, उपनिषद् शास्त्र ब्रह्मविद्या का भाण्डार होने से उसमें निस्सार जड़ोपास्ति का गन्ध कैसे होसक्ता है, अतएव उनका कथन ठीक नहीं ।

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—सप्तम खण्ड में आध्यात्मिक उपासना कथन करके अब इस खण्ड में उद्गीथवेत्ताओं का इतिहास वर्णन करते हैं :—

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुःशिलकःशालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति । ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥ १ ॥

पद०—त्रयः । ह । उद्गीथे । कुशलाः । बभूवुः । शिलकः । शालवत्सः । चैकितायनः । दाल्भ्यः । प्रवाहणः । जैवलिः । इति । ते । ह । ऊचुः । उद्गीथे । वै । कुशलाः । स्मः । हन्त । उद्गीथे । कथां । वदामः । इति ।

पदा०—(ह) प्रसिद्ध है कि (उद्गीथे) उद्गीथ में (त्रयः) तीन पुरुष (कुशलाः) निपुण (बभूवुः) हुए (शालावत्सः) शालावान् ऋषि का पुत्र (शिलकः) शिलक (चैकितायनः) चिकितायन ऋषि का पुत्र (दाल्भ्यः) दाल्भ्य (जैवलिः) जीवल का पुत्र (प्रवाहणः) प्रवाहण (इति) यह तीनों (ते, ह, ऊचुः) आपस में परस्पर बोले कि (उद्गीथे) उद्गीथ में (वै) निश्चय करके हम लोग (कुशलाः, स्मः) निपुण हैं (हन्त) यदि सबकी सम्मति होतो (उद्गीथे) उद्गीथ सम्बन्धी (कथां) विचार (वदामः, इति) करें ।

भाष्य–शिलक, दाल्भ्य और प्रवाहण यह तीनों ऋषि जो उद्गीथ विद्या में निपुण थे इन्होंने परस्पर मिलकर विचार किया कि हम तीनों उद्गीथ विद्या के भले प्रकार जानने वाले हैं यदि सबकी सम्मति होतो हम लोग प्रश्नोत्तर की रीति से उक्त विद्या सम्बन्धी विचार करें अर्थात् यह जानें कि हम लोगों ने इस विद्या को कहां तक समझा है।

सं०–अब उक्त तीनों ऋषि विचार करते हैं :—

तथेति ह समुपविविशुः। स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच। भगवन्तावग्रेवदतां, ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाच श्रोष्यामीति॥ २॥

पद०–तथा। इति। ह। समुपविविशुः। सः। ह। प्रवाहणः। जैवलिः। उवाच। भगवन्तौ। अग्रे। वदतां। ब्राह्मणयोः। वदतोः। वाचं। श्रोष्यामि। इति।

पदा०–(तथा, इति, ह) वह तीनों तथास्तु कहकर (समुपविविशुः) समीप बैठगये (सः) वह (ह) प्रसिद्ध (प्रवाहणः, जैवलिः) जीवल ऋषि का पुत्र प्रवाहण (उवाच) बोला कि (भगवन्तौ) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न आप दोनों (अग्रे) प्रथम (वदतां) बोलें (वदतोः) विचार करते हुए (ब्राह्मणयोः) आप दोनों ब्राह्मणों की (वाचं) वाणी को (श्रोष्यामि, इति) मैं श्रवण करूंगा।

भाष्य–उपरोक्त विचारानन्तर वह तीनों ऋषि समीप बैठगये उनमें से प्रसिद्ध ऋषि प्रवाहण बोला कि हे भगवन्! प्रथम आप

दोनों बोलें आप दोनों ब्राह्मणों का विचार मैं श्रवण करूंगा।

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच। हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥ ३ ॥

पद०-सः। ह। शिलकः। शालावत्यः। चैकितायनं। दाल्भ्यं। उवाच। हन्त। त्वा। पृच्छानि। इति। पृच्छ। इति। ह। उवाच।

पदा०-(सः) वह (ह) प्रसिद्ध (शालावत्यः) शालावान् ऋषि का पुत्र (शिलकः) शिलक (चैकितायनं) चैकितायन ऋषि के पुत्र (दाल्भ्यं) दाल्भ्य से (उवाच) बोला कि (हन्त) यदि आप उचित समझें तो मैं (त्वा) आपसे (पृच्छानि, इति) पूछूं (इति, ह, उवाच) इसके अनन्तर दाल्भ्य ने उत्तर दिया कि (पृच्छ) पूछिये।

भाष्य-प्रवाहण के कथनानुसार शालावान् ऋषि का पुत्र शिलक चैकितायन ऋषि के पुत्र दाल्भ्य से बोला कि हे भगवन्! यदि आप अनुचित न समझें तो मैं आपसे प्रश्न करूं, यह सुनकर दाल्भ्य ने बड़ी उदारता से उत्तर दिया कि आप प्रश्न करें।

सं०-अब शिलक और दाल्भ्य ऋषि का प्रश्नोत्तर कथन करते हैं :—

का साम्नो गतिरिति स्वरइति होवाच। स्वरस्य का गतिरिति प्राणइति होवाच। प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाच।

अन्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥ ४ ॥

पद०—का । साम्नः । गतिः । इति । स्वरः । इति । ह । उवाच । स्वरस्य । का । गतिः । इति । प्राणः । इति । ह । उवाच । प्राणस्य । का । गतिः । इति । अन्नं । इति । ह । उवाच । अन्नस्य । का । गतिः । इति । आपः । इति । ह । उवाच ।

पदा०—(साम्नः) सामवेद का (का, गतिः, इति) क्या आश्रय है (ह) निश्चय करके (उवाच) बोला कि (स्वरः, इति) स्वर है (स्वरस्य, का, गतिः, इति) स्वर की क्या गति है (ह) निश्चय करके (प्राणः, इति) प्राण है (प्राणस्य, का, गतिः, इति) प्राण की क्या गति है (ह) निश्चय करके (अन्नं, इति) अन्न है (अन्नस्य, का, गति, इति) अन्न की क्या गति है (ह) निश्चय करके (आपः, इति) जल है (उवाच) यह उत्तर दिया ।

भाष्य—शिलक ऋषि ने दाल्भ्य ऋषि से प्रश्न किया कि हे भगवन् ! आप यह कथन करें कि सामवेद का कौन आश्रय है ? दाल्भ्य ने उत्तर दिया कि साम का आश्रय स्वर है, क्योंकि साम में स्वर प्रधान होने से वह स्वराधीन कथन किया जाता है, प्रश्न—स्वर का आश्रय क्या है ? उत्तर—प्राण, क्योंकि प्राण के बिना स्वर का उच्चारण नहीं होसकता, प्रश्न—प्राण का आश्रय क्या है ? उत्तर—अन्न, क्योंकि अन्न के बिना प्राण नहीं रहसकते, प्रश्न—अन्न का आश्रय कौन है ? उत्तर—जल, क्योंकि जल के बिना अन्न की उत्पत्ति नहीं होसक्ती, इस कारण अन्न का आश्रय जल है, गति, आश्रय तथा आधार यह सब पर्य्याय शब्द हैं ।

स्मरण रहे कि यहां उद्गीथ सम्बन्धी प्रश्न न करके साम सम्बन्धी प्रश्न करने का तात्पर्य्य यह है कि उद्गीथ का ज्ञान वेदों के अधीन है और छान्दोग्य सामवेदीय होने से प्रथम सामवेद सम्बन्धी ही विचार करना आवश्यक था, क्योंकि जबतक किसी विषय के मूल को स्पष्ट न कियाजाय तबतक उस विषय का निर्णय होना कठिन है, इसलिये प्रथम सामविषयक प्रश्न करना ही उचित था, यद्यपि चारो वेद स्वर के आश्रित हैं परन्तु यहां गेय होने से सामवेद में स्वर स्पष्टतया प्रतीत होने के कारण साम का आश्रय स्वर कहागया है और "स्वर" शब्द का अर्थ परमात्मा भी है जैसाकि चतुर्थ खण्ड में वर्णन कियागया है, स्वर का आश्रय प्राण है, "प्राण" शब्द से तात्पर्य्य यहां शरीरगत वायु का है और वह प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान भेद से पांच प्रकार का है जिसका वर्णन "ऐतरेयोपनिषद्" में भले प्रकार कर आये हैं।

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाच। अमुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच। स्वर्गं वयं लोकꣳ सामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसꣳस्तावꣳहि सामेति ॥ ८ ॥

पद०—अपां। का। गतिः। इति। असौ। लोकः। इति। ह। उवाच। अमुष्य। लोकस्य। का। गतिः। इति। न। स्वर्गं।

अन्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥ ४ ॥

पद०-का । साम्नः । गतिः । इति । स्वरः । इति । ह । उवाच । स्वरस्य । का । गतिः । इति । प्राणः । इति । ह । उवाच । प्राणस्य । का । गतिः । इति । अन्नं । इति । ह । उवाच । अन्नस्य । का । गतिः । इति । आपः । इति । ह । उवाच ।

पदा०-(साम्नः) सामवेद का (का, गतिः, इति) क्या आश्रय है (ह) निश्चय करके (उवाच) बोला कि (स्वरः, इति) स्वर है (स्वरस्य, का, गतिः, इति) स्वर की क्या गति है (ह) निश्चय करके (प्राणः, इति) प्राण है (प्राणस्य, का, गतिः, इति) प्राण की क्या गति है (ह) निश्चय करके (अन्नं, इति) अन्न है (अन्नस्य, का, गति, इति) अन्न की क्या गति है (ह) निश्चय करके (आपः, इति) जल है (उवाच) यह उत्तर दिया ।

भाष्य-शिलक ऋषि ने दाल्भ्य ऋषि से प्रश्न किया कि हे भगवन् ! आप यह कथन करें कि सामवेद का कौन आश्रय है ? दाल्भ्य ने उत्तर दिया कि साम का आश्रय स्वर है, क्योंकि साम में स्वर प्रधान होने से वह स्वराधीन कथन किया जाता है, प्रश्न-स्वर का आश्रय क्या है ? उत्तर-प्राण, क्योंकि प्राण के बिना स्वर का उच्चारण नहीं होसकता, प्रश्न-प्राण का आश्रय क्या है ? उत्तर-अन्न, क्योंकि अन्न के बिना प्राण नहीं रहसकते, प्रश्न-अन्न का आश्रय कौन है ? उत्तर-जल, क्योंकि जल के बिना अन्न की उत्पत्ति नहीं होसक्ती, इस कारण अन्न का आश्रय जल है, गति, आश्रय तथा आधार यह सब पर्य्याय शब्द हैं ।

स्मरण रहे कि यहां उद्गीथ सम्बन्धी प्रश्न न करके साम सम्बन्धी प्रश्न करने का तात्पर्य यह है कि उद्गीथ का ज्ञान वेदों के अधीन है और छान्दोग्य सामवेदीय होने से प्रथम सामवेद सम्बन्धी ही विचार करना आवश्यक था, क्योंकि जबतक किसी विषय के मूल को स्पष्ट न कियाजाय तबतक उस विषय का निर्णय होना कठिन है, इसलिये प्रथम सामविषयक प्रश्न करना ही उचित था, यद्यपि चारो वेद स्वर के आश्रित हैं परन्तु यहां गेय होने से सामवेद में स्वर स्पष्टतया प्रतीत होने के कारण साम का आश्रय स्वर कहागया है और "स्वर" शब्द का अर्थ परमात्मा भी है जैसाकि चतुर्थ खण्ड में वर्णन कियागया है, स्वर का आश्रय प्राण है, "प्राण" शब्द से तात्पर्य यहां शरीरगत वायु का है और वह प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान भेद से पांच प्रकार का है जिसका वर्णन "ऐतरेयोपनिषद्" में भले प्रकार कर आये हैं।

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाच। अमुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच। स्वर्गं वयं लोकꣳ सामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसꣳस्तावꣳहि सामेति॥ ८॥

पद०—अपां। का। गतिः। इति। असौ। लोकः। इति। ह। उवाच। अमुष्य। लोकस्य। का। गतिः। इति। न। स्वर्गं।

लोकं । अतिनयेत् । इति । ह । उवाच । स्वर्गं । वयं । लोकं । साम । अभिसंस्थापयामः । स्वर्गसंस्तावं । हि । साम । इति ।

पदा०—फिर ऋषि ने पूछा कि (अपां, का, गति, इति) जल का आश्रय क्या है (ह) निश्चय करके (असौ, लोकः, इति) यह स्वर्ग लोक है (अमुष्य, लोकस्य, का, गतिः, इति) इस लोक का आश्रय कौन है (न, स्वर्गं, लोकं, अतिनयेत्, इति) स्वर्ग लोक का अतिक्रमण कोई नहीं करसक्ता (ह) निश्चय करके (वयं) हम लोग भी (स्वर्गं, लोकं) स्वर्ग लोक में ही (साम) सामवेद को (अभिसंस्थापयामः) स्थापित=प्रतिष्ठित मानते हैं, क्योंकि (हि) निश्चय करके (स्वर्गसंस्तावं) स्वर्ग की स्तुति करने वाला (साम, इति) सामवेद है ।

भाष्य—प्रश्न—जल का आश्रय क्या है? उत्तर—यह स्वर्गलोक प्रश्न—स्वर्गलोक का आश्रय कौन है? उत्तर—उसका अतिक्रमण कोई नहीं करसक्ता अर्थात् उससे ऊपर कोई नहीं, हम लोग भी स्वर्गलोक में ही सामवेद को प्रतिष्ठित मानते हैं, क्योंकि निश्चयकरके स्वर्गलोक की स्तुति करने वाला साम है।

सं०—अब शिलक ऋषि कथन करते हैं :—

तं॑ ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम । यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मूर्द्धा ते विपतेदिति ॥ ६ ॥

पद०—तं । ह । शिलकः । शालावत्यः । चैकितायनं । दाल्भ्यं । उवाच । अप्रतिष्ठितं । वै । किल । ते । दाल्भ्य । साम । यः । तु । एतर्हि । ब्रूयात् । मूर्द्धा । ते । विपतिष्यति । इति । मूर्द्धा । ते । विपतेत् । इति ।

पदा०—(ह) वह प्रसिद्ध (शालावत्यः, शिलकः) शालावान् ऋषि के पुत्र शिलक (वै) निश्चय करके (तं) उस (चैकितायनं, दाल्भ्यं) चैकितायन ऋषि के पुत्र दाल्भ्य से (उवाच) बोले कि (दाल्भ्य) हे दाल्भ्य (ते) तेरी (साम) उद्गीथविद्या (अप्रतिष्ठितं) अप्रतिष्ठित है (वै, किल) निश्चय तु इस तत्व को नहीं जानता (यः) जो (एतर्हि) इस काल में (ब्रूयात्) कोई साम का ज्ञाता बोले (मूर्द्धा, ते, विपतेत्, इति) तेरा शिर गिरजाय तो (मूर्द्धा, ते, विपतिष्यति, इति) तेरा शिर अवश्य गिरजायगा ।

भाष्य—उपरोक्त प्रश्नोत्तर काल में शिलकऋषि दाल्भ्य से बोले कि हे दाल्भ्य ! तेरा साम अप्रतिष्ठित है तु साम के तत्व नहीं समझता, यदि कोई सामवित्=साम का जानने वाला इस समय तुम से कहे कि तुमने अनर्थ भाषण किया है तो तेरा अवश्य शिर गिरजायगा, तु इस भाव को भलेप्रकार नहीं जानता अर्थात् तेरा शिर इन उद्गीथ सम्बन्धी उच्चभावों से शून्य=गिरा हुआ है ।

सं०—अब शिलक दाल्भ्य को उद्गीथ का उपदेश करते हैं:—

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धि होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरिति अयं लोक इति होवाच । अस्य लोकस्य का गतिरिति,

न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच । प्रतिष्ठां वयं लोकꣳसामाभिसꣳ स्थापयामःप्रतिष्ठासꣳस्तवꣳहि सामेति ॥ ७ ॥

पद०—हन्त । अहं । एतत् । भगवतः । वेदानि । इति । विद्धि । ह । उवाच । अमुष्य । लोकस्य । का । गतिः । इति । अयं । लोकः । इति । ह । उवाच । अस्य । लोकस्य । का । गतिः । इति । न । प्रतिष्ठां । लोकं । अतिनयेत् । इति । ह । उवाच । प्रतिष्ठां । वयं । लोकं । साम । अभिसंस्थापयामः । प्रतिष्ठासंस्तवं । हि । साम । इति ।

पदा०—(भगवतः) हे भगवन् ! (हन्त) आप कृपा करें कि (अहं) मैं (एतत्) इस सामविद्या को आपके द्वारा (वेदानि, इति) जानूं (विद्धि, इति, ह, उवाच) शिलक ने कहा कि सीखिये (अमुष्य) लोकस्य, का, गतिः, इति) स्वर्गलोक का आश्रय क्या है (अयं, लोकः, इति) यह लोक (अस्य, लोकस्य, का, गतिः, इति) इस लोक का आश्रय कौन है (प्रतिष्ठां) पृथिवी (लोकं) इस लोक को (न, अतिनयेत्, इति) अतिक्रमण करके साम को अन्यत्र कोई नहीं लेजाता (वयं) हम भी (साम) साम को (प्रतिष्ठां) पृथिवी (लोकं) लोक में (अभिसंस्थापयामः) स्थापित रखते हैं (हि) क्योंकि (प्रतिष्ठासंस्तवं, साम, इति) पृथिवी की ही स्तुति करने वाला साम है ॥

भाष्य—दाल्भ्य ने शिलक से कहा कि यदि मैं उद्गीथ को नहीं समझा तो कृपाकरके आप मुझको इसका तत्व समझावें, शिलक ने उत्तर दिया कि बड़ी प्रसन्नता से आप इस भाव को

मुझसे समझें तब दाल्भ्य ने प्रश्नकिया कि स्वर्गलोक का आश्रय कौन है ? शिलक ने उत्तर दिया कि यह लोक, प्रश्न–इस इस लोक का आश्रय कौन है ? उत्तर–यह पृथिवी है, क्योंकि इसका अतिक्रमण कर साम को कोई अन्यत्र नहीं लेजाता हम लोग भी इसी पृथिवीलोक में साम को स्थापित करते हैं, क्योंकि पृथिवी का स्तवन करने वाला ही यह साम है ।

सं०–अब प्रवाहण ऋषि कथन करते हैं:—

तꣳह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य साम । यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मूर्द्धा ते विपतेदिति । हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच ॥ ८ ॥

पद०– तं । ह । प्रवाहणः । जैवलिः । उवाच । अन्तवत् । वै । किल । ते । शालावत्य । साम । यः । तु । एतर्हि । ब्रूयात् । मूर्द्धा । ते । विपतिष्यति । इति । मूर्द्धा । ते । विपतेत् । इति । हन्त । अहं । एतत् । भगवतः । वेदानि । इति । विद्धि । इति । ह । उवाच ।

पदा०–(ह) वह प्रसिद्ध (प्रवाहणः,जैवलिः,उवाच) जीवल ऋषि का पुत्र प्रवाहण बोला कि (शालावत्य) हे शिलक (ते,साम) तेरा सामज्ञान (वै) निश्चयकरके (अन्तवत्) विनश्वर है (किल)

क्योंकि (एतर्हि) तेरे इस उत्तर को सुन (यः) जो सामवित् (ब्रूयात्) बोले (मूर्द्धा, ते, विपतेत्, इति) तेरा शिर गिरजाय (मूर्द्धा, ते, विपतिष्यति इति) तो तेरा शिर अवश्य गिरजायगा (भगवतः) हे भगवन् (हन्त, अहं, एतत्) यदि आप कहें तो मैं इस विज्ञान को आप से (वेदानि, इति) जानूं, तब (इति, ह, उवाच) प्रवाहण ने कहा कि (विद्धि) सीखो।

भाष्य—शिलक का उत्तर सुनकर जीवल ऋषि का पुत्र प्रवाहण बोला कि हे शिलक! तेरा सामज्ञान विनश्वर=नाश होने वाला है, तुमने साम का आश्रय ठीक नहीं बतलाया, तेरे इस प्रकार उत्तर को सुनकर कोई सामवित् तुम से कहेकि तुमको सामज्ञान नहीं तो तुम्हारा शिर नीचा होजायगा, क्योंकि तुम इस भाव को ठीक नहीं समझे, तब शिलक ने प्रवाहण से निवेदन किया कि हे भगवन्! मैं इस विज्ञान को आपसे जानना चाहता हूं कृपा करके आप मुझे समझावें तब प्रवाहण ने कहा कि तथास्तु, अवश्य सिखावेंगे॥

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब शिलक प्रवाहण से प्रश्न करते हैं:—

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशःपरायणम् ॥१॥

पद०—अस्य । लोकस्य । का । गतिः । इति । आकाशः । इति । ह । उवाच । सर्वाणि । ह । वै । इमानि । भूतानि । आकाशात् । एव । समुत्पद्यन्ते । आकाशं । प्रति । अस्तं । यन्ति । आकाशः । हि । एव । एभ्यः । ज्यायान् । आकाशः । परायणं ।

पदा०—(अस्य, लोकस्य, का, गतिः, इति) इस लोक का आश्रय क्या है (ह) निश्चकरके (आकाशः, इति) आकाश है (ह, वै) यह प्रसिद्ध है कि (सर्वाणि, इमानि, भूतानि) यह सब भूतजात (आकाशात्, एव, समुत्पद्यन्ते) आकाश से ही उत्पन्न होकर (आकाशं, प्रति, अस्तं, यन्ति) अन्त में आकाश में ही लय होजाते हैं (हि) क्योंकि (आकाशः, एव) आकाश ही (एभ्यः) इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् से (ज्यायान्) महत्तम है और (आकाशः) आकाश ही (परायणं) आश्रय है।

भाष्य—शिलक ने महर्षि प्रवाहण से प्रश्न किया कि हे भगवन् ! आप यह कथन करें कि इस लोक का आश्रय क्या है ? ऋषि ने उत्तर दिया कि इसका आश्रय आकाश है, यहां

आकाश नाम ब्रह्म का है, क्योंकि जिसमें सम्पूर्ण प्राणि तथा भूतजात भलेप्रकार अवकाश पावें उसका नाम " आकाश " है अथवा जो सम्पूर्ण भूतों को प्रकाशित करे उसको "आकाश" कहते हैं, सम्पूर्ण भूतजात उसी ब्रह्म से उत्पन्न होते और उसी में लय होजाते हैं, क्योंकि ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् से महत्तम=बड़ा है और वही सबका आश्रय है, अतएव सिद्ध है कि इस लोक का आश्रय वही ब्रह्म है अन्य कुछ नहीं ।

सं०-अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति। परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति। य एतदेवं विद्वान् परोवरीयांसमुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

पद०-सः । एषः । परोवरीयान् । उद्गीथः । सः । एषः । अनन्तः । परोवरीयः । ह । अस्य । भवति । परोवरीयसः । ह । लोकान् । जयति । यः । एतत् । एवं । विद्वान् । परोवरीयांसं । उद्गीथं । उपास्ते ।

पदा०-(सः, एषः) वह यह (उद्गीथः) उद्गीथ (परोवरीयान्) सर्वोत्तम है (सः,एषः) वह यह (अनन्तः) अनन्त है (यः) जो (विद्वान्) ब्रह्मवेत्ता (एवं) इस प्रकार जानता हुआ (एतत्) इस (परोवरीयांसं) सर्वोत्कृष्ट (उद्गीथं) ब्रह्म की (उपास्ते)

उपासना करता है (अस्य) उसका (परोवरीयः) आगे और पीछे का जीवन पवित्र (भवति) होजाता है और (ह) निश्चय करके (परोवरीयसः) उत्तरोत्तर (लोकान्) अवस्थाओं को (जयति) जय करता है ।

भाष्य—वह सर्वोत्तम उद्गीथ=ब्रह्म अनादि अनन्त और परमपवित्र है, जो पुरुष उक्त उद्गीथरूप ब्रह्म को जानता हुआ उपासना करता है उसका जीवन पवित्र होजाता है और निश्चयपूर्वक आगे पीछे की अवस्थाओं को जय करलेता है अर्थात् प्रकृति से परे जो अतिसूक्ष्म परब्रह्म है उसको जो जान लेता है वह सब अवस्थाओं को जय करता है, या यों कहो कि उसको जाग्रत, स्वप्न सुषुप्त्यादि अवस्थायें तथा अन्य शारीरिक अवस्थायें मोह में नहीं डालसक्तीं, क्योंकि उसको परमात्मा का तत्वज्ञान होचुका है ।

सं०—अब उक्त अर्थ की पुष्टि में एक इतिहास वर्णन करते हैं :—

तꣳहैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच । यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते । परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति ॥ ३ ॥

पद०—तं । ह । एतं । अतिधन्वा । शौनकः । उदरशाण्डिल्याय । उक्त्वा । उवाच । यावत् । ते । एनं । प्रजायां । उद्गीथं । वेदिष्यन्ते । परोवरीयः । ह । एभ्यः । तावत् । अस्मिन् । लोके । जीवनं । भविष्यति ।

पदा०-(शौनकः) शुनक ऋषि का पुत्र (अतिधन्वा) अतिधन्वा नामक ऋषि (ह) निश्चयकरके (तं,एतं) उस उद्गीथ को जानकर अपने शिष्य (उदरशाण्डिल्याय) उदरशाण्डिल्य को (उक्त्वा) उपदेश करता हुआ (उवाच) बोला कि (यावत्) जबतक (ते) तेरी (प्रजायां) सन्तति में से कोई (एतं) इस (उद्गीथं) उद्गीथ को (वेदिष्यन्ते) जानेंगे उनको (तावत्) तबतक (अस्मिन्, लोके) इस लोक में (एभ्यः) इस जीवन से (परोवरीयः) उच्च (जीवनं) जीवन (भविष्यति) होगा।

भाष्य-उद्गीथरूप ब्रह्म के ज्ञाता का जीवन अति पवित्र और उच्च होता है, क्योंकि वह इसलोक के मनुष्यों से अतिश्रेष्ठ मानाजाता है, इसी भाव को इस श्लोक में वर्णन किया है कि अतिधन्वा नामक ऋषि जो इस उद्गीथ के ज्ञाता थे उन्होंने अपने शिष्य उदरशाण्डिल्य को उपदेश किया कि जबतक तेरी सन्तति में से कोई इस उद्गीथ का ज्ञाता न होगा तब तक उसका उच्च जीवन न बनेगा, या यों कहो कि जब तेरे परिवार में इस उद्गीथ के ज्ञाता उत्पन्न होंगे तब उनका इस जीवन से उच्च जीवन होगा।

सं०-अब उद्गीथ के ज्ञाता को फल कथन करते हैं :—

तथाऽमुष्मिँल्लोके लोक इति। स य एतमेवं विद्वानुपास्ते, परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके जीवनं भवति तथाऽमुष्मिँल्लोके लोक इति। लोके लोक इति ॥४॥

पद०—तथा । अमुष्मिन् । लोके । लोकः । इति । सः । यः । एतं । एवं । विद्वान् । उपास्ते । परोवरीयः । एव । ह । अस्य । अस्मिन् । लोके । जीवनं । भवति । तथा । अमुष्मिन् । लोके । लोकः । इति । लोके । लोकः । इति ।

पदा०—जैसे उद्गीथ के ज्ञाता का जीवन इस लोक में उच्च होता है (तथा) वैसे ही (अमुष्मिन्, लोके) दूसरे जन्म में भी (लोकः, इति) उच्च स्थान पाता है (सः, यः, विद्वान्) सो जो विद्वान् (एवं) इसप्रकार (एतं) इस उद्गीथ की (उपास्ते) उपासना करता है (अस्य) उसका (जीवनं) जीवन (एव, ह) निश्चय करके (परोवरीयः) उच्च (भवति) होता है (तथा) वैसे ही (अमुष्मिन्, लोके) दूसरे जन्म में भी उत्तम (लोकः, इति) स्थान मिलता है ।

भाष्य—"लोके लोक इति" पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, इस श्लोक का भाव यह है कि जिसप्रकार उद्गीथ के ज्ञाता का जीवन इस लोक में पवित्र होता है इसीप्रकार दूसरे लोक में भी उच्चस्थान मिलता है, सो जो विद्वान् इस उद्गीथ की उपासना करते हैं उनका जीवन पवित्र होता है और इस देह त्याग के अनन्तर भी उनको उत्तम जन्म मिलता है ।

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—नवम खण्ड में उद्गीथवेत्ताओं का इतिहास वर्णन करते हुए उद्गीथ का भलेप्रकार महत्व वर्णन किया, अब इस खण्ड में एक आख्यायिका द्वारा यज्ञादि कर्मों को ज्ञानपूर्वक अनुष्ठेय कथन करते हैं :—

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्यासह जायायोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥ १ ॥

पद०—मटचीहतेषु । कुरुषु । आटिक्या । सह । जायया । उषस्तिः । ह । चाक्रायणः । इभ्यग्रामे । प्रद्राणकः । उवास ।

पदा०—(मटचीहतेषु) टिड्डियों से क्षेत्र के विनाश होने पर (कुरुषु) कुरु देशवासी (आटिक्या) भ्रमण में समर्थ (जायया, सह) अपनी स्त्री के साथ (ह) प्रसिद्ध (चाक्रायणः, उषस्तिः) चक्र ऋषि का पौत्र उषस्ति नामा ऋषि (इभ्यग्रामे) इभ्यग्राम में (प्रद्राणकः) कुत्सितरूप धारणकर (उवास) निवास करते थे ।

भाष्य—टिड्डी आदि उपद्रवों से कुरुदेश में दुर्भिक्ष होने के कारण उषस्ति नामा ऋषि उस देश को त्यागकर अपनी स्त्री के साथ इभ्यग्राम में जहां धन पुष्कल था वहां निवास करते थे अर्थात् अन्नादिकों के न मिलने से मलिनरूप बने हुए किसी के आश्रय में रहते थे ।

सहेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं विभिक्षे, तꣳ होवाच । नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये मे इम उपनिहिता इति ॥ २ ॥

पद०-सः । ह । इभ्यं । कुल्माषान् । खादन्तं । विभिक्षे । तं । ह । उवाच । न । इतः । अन्ये । विद्यन्ते । यत् । च । ये । मे । इमे । उपनिहिताः । इति ।

पदा०-(सः, ह) उस प्रसिद्ध उषस्ति ऋषि ने (कुल्माषान्) उड़दों को (खादन्तं) खाते हुए (इभ्यं) इभ्य नामक धनिक पुरुष से (विभिक्षे) भिक्षा मांगी (तं, ह, उवाच) तब उस ऋषि से वह धनिक बोला कि (यत्) जो मैं कुल्माष खारहा हूं (इतः) इनसे (अन्य) अन्य (न, विद्यन्ते) नहीं हैं (ये, इमे, च, मे, उपनिहिताः, इति) यह जो मेरे भोजनपात्र में रखे हुए हैं इनसे भिन्न नहीं ।

भाष्य-एकदिन उस प्रसिद्ध उषस्ति नामा ऋषि ने उड़दों को खाते हुए किसी धनवान् पुरुष से भिक्षा मांगी, उस धनिक ने ऋषि से कहाकि मेरे भोजनपात्र में जो खाद्यपदार्थ रखे हुए हैं इनसे अतिरिक्त मेरे यहां कुछ नहीं है, इस कारण मैं आपको भिक्षा देने मैं असमर्थ हूं और उच्छिष्ट देना अनुचित है, अतएव आपके लिये इस समय मैं कुछ भी नहीं करसकता ।

सं०-अब ऋषि कथन करते हैं:—

एतेषां मे देहीति होवाच, तानस्मै प्रददौ, हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीतꣳ स्यादिति होवाच ॥ ३ ॥

पद०-एतेषां । मे । देहि । इति । ह । उवाच । तान् । अस्मै । प्रददौ । हन्त । अनुपानं । इति । उच्छिष्टं । वै । मे । पीतं । स्यात् । इति । ह । उवाच ।

पदा०-(एतेषां) इन माषों को (मे) मुझे (देहि) दो (इति) यह (ह) प्रसिद्ध ऋषि (उवाच) बोले, इसके अनन्तर (असौ) इस ऋषि को (तान्) वह माष (प्रददौ) देकर कहा कि (हन्त) मुझे करुणा आती है (अनुपानं) जल भी लीजिये, तब ऋषि ने (उवाच) कहा कि (वै) निश्चयकरके (मे) मुझको (उच्छिष्टं) उच्छिष्ट (पीतं) पीना (स्यात, इति) होगा।

भाष्य-उषस्ति ऋषि ने कहा कि जो माष तू खारहा है यही मुझे दो क्योंकि मैं क्षुधातुर होरहा हूं यह कथन सुनकर उस धनवान् ने वह माष उनको देकर कहा कि बड़े शोक की बात है और मुझे करुणा आती है कि यह उच्छिष्ट माष मुझे आपको देने पड़े हैं, अस्तु, इस जल को भी ग्रहण करें, तब ऋषि ने कहाकि इस जल को मैं नहीं लूंगा, क्योंकि यदि मैं इस जल को पान करूं तो मुझको अवश्य उच्छिष्ट जल पीने का दोष होगा।

सं०-अब इभ्य ऋषि से प्रश्न करता है :—

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच ।
कामो म उदपानमिति ॥ ४ ॥

पद०-न । स्वित् । एते । अपि । उच्छिष्टाः । इति । न । वै । अजीविष्यं । इमान् । अखादन् । इति । ह । उवाच । कामः । मे । उदपानं । इति ।

पदा०—(स्वित्) क्या (एते) यह माष (अपि) भी (न, उच्छिष्टाः, इति) उच्छिष्ट नही हैं (इमान्) इन माषों को (अखादन्) न खाऊं तो (वै) निश्चयकरके (न) नहीं (अजीविष्यं) जीऊंगा (इति) इस प्रकार (ह) वह ऋषि (उवाच) बोले, और (उदपानं) जलपान (मे) मेरी (कामः, इति) इच्छानुसार मिलसक्ता है।

भाष्य—जब ऋषि ने इभ्य से उच्छिष्ट माष खाने के लिये ले लिये तब इभ्य ने कहा कि यह उच्छिष्ट जल भी लीजिये, ऋषि ने उत्तर दिया कि यह उच्छिष्ट जल नहीं लूंगा,तब उस इभ्य ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! यह माष भी तो उच्छिष्ट हैं इन्हें आपने क्यों ग्रहण किया ? तब ऋषि ने उत्तर दिया कि यह माष उच्छिष्ट नहीं, क्योंकि यदि इन माषों को मैं न खाऊं तो प्राण धारण नहीं करसक्ता और मनुष्यजीवन के फलचतुष्टय के लिये प्राणधारण करना आवश्यक है, अतएव उच्छिष्ट माषों के ग्रहण करने में भी कोई दोष नहीं परन्तु जल मुझे मेरी इच्छानुसार सर्वत्र मिलसक्ता है, इसलिये यह उच्छिष्ट जल लेने की मुझको आवश्यकता नहीं।

स ह खादित्वाऽतिशेषान् जायाया आज-हार। साऽग्र एव सुभिक्षा बभूव,तान् प्रतिगृह्य निदधौ ॥ ५ ॥

पद०—सः । ह । खादित्वा । अतिशेषान् । जायायै । आजहार । सा । अग्रे । एव । सुभिक्षा । बभूव । तान् । प्रतिगृह्य । निदधौ ।

पदा०—(सः) वह (ह) प्रसिद्ध ऋषि उन माषों को (खादित्वा) खाकर (अतिशेषान्) शेष बचे हुओं को (जायायै) अपनी स्त्री

के लिये (आजहार) ले आये (सा) वह स्त्री (अग्रे, एव) प्रथम ही (सुभिक्षा) उत्तम शिक्षा (बभूव) प्राप्त कर चुकी थी इसकारण (तान्) उन माषों को (प्रतिगृह्य) लेकर (निदधौ) रखदिये ।

भाष्य—वह प्रसिद्ध ऋषि उन माषों को खाकर शेष माषों को अपनी धर्मपत्नि के लिये ले आये परन्तु वह उनके आने से प्रथम ही उत्तम भिक्षा पाचुकी थी इसलिये उन माषों को उठाकर रखदिया ।

इस प्रकरण में कई लोगों को यह शङ्का होगी कि उक्त ऋषि ने जो उच्छिष्ट अन्न का ग्रहण किया इससे क्या तात्पर्य ? क्या सबको यह कार्य्य कर्तव्य है अथवा इससे कोई अन्य बात सिद्ध की है ? इसका उत्तर यह है कि आपत्काल में उच्छिष्ट अन्न के खाने में कोई दोष नहीं, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह मनुष्य जन्म के फलचतुष्टय इस शरीर के धारण करने से ही प्राप्त होते हैं और अन्न के बिना यह शरीर स्थिर नहीं रहसक्ता,इसलिये आपत्काल में उच्छिष्टान्न खाने में कोई पाप नहीं, जैसाकि मनुजी ने धर्मशास्त्र में भी वर्णन किया है कि :—

जीवितात्ययमापन्नोयोऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिवपङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥

अर्थ—जो मृत्युप्रायः पुरुष जहां तहां से अन्न खाता है वह पाप से लिप्त नहीं होता, जैसाकि आकाश पङ्क से लिप्त नहीं होता, और इसी भाव को बृहदा० ५ । १२ । १ में इस प्रकार वर्णन किया है कि "शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात्"=अन्न के बिना प्राण शुष्क होजाते हैं, इसलिये प्राणों की रक्षार्थ सब स्थानों से अन्न का ग्रहण करलेने में कोई पाप नहीं, इसी अभिप्राय से तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्न की इस प्रकार प्रशंसा की है कि :—

अन्नं न निन्द्यात् तद्व्रतम्, अन्नं न परिचक्षीत तद्व्रतम्, अन्नं बहुकुर्वीत तद्व्रतम्, अन्नाद्धै प्रजाः प्रजायन्ते ॥

अर्थ–अन्न की निन्दा नहीं करनी चाहिये यह व्रत है, अन्न का त्याग नहीं करना चाहिये यह व्रत है, अन्न बहुत उपलब्ध करना चाहिये यह व्रत है, क्योंकि अन्न से ही प्रजायें होती हैं, इसी भाव को लेकर साम० ६।३।१०।९ में अन्न के देने का इस प्रकार विधान किया है कि :—

यो मा ददाति स इदेव माऽव-
दहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

अर्थ–जो विवेकी पुरुष अन्यों को अन्न देकर खाता है वही पुरुष प्राणीमात्र की रक्षा करता है और जो पुरुष लोभवश होकर समर्थ होने पर भी अन्य प्राणियों को न देकर स्वयं ही खाता रहता है उस लोभी अन्न खाने वाले को मैं अन्न खाजाता हूं, अतएव सबको उचित है कि यथाशक्ति प्राणीमात्र को देकर अन्न का भक्षण करना चाहिये, और परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये कि :—

य इमा विश्वा विश्वकर्मा यो नः पिता ।
अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि ॥ यजु० ३४।५८

अर्थ–हे परमात्मन्! आप इन सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों की सृष्टि रचने वाले हो, हे अन्नपते! हम लोगों को आप अन्न दें, अतएव सिद्ध है कि :—

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाःसंस्थिति हेतवः ।
तान्निघ्नता किन्नहतं रक्षता किन्नरक्षितम् ॥

अर्थ—धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष की स्थिति का हेतु प्राण हैं सो उन प्राणों के नाश करने वाले सबको नाश करते हैं और उनकी रक्षा करने वाले सब की रक्षा करते हैं, इसलिये उचित है कि आपत्ति काल में उच्छिष्टादि अन्न की मीमांसा नहीं करनी चाहिये, उस समय प्राणों की रक्षार्थ जो कुछ मिलजाय उसीको खाकर परमात्मपरायण रहें,इसके अतिरिक्त यह बात भलेप्रकार याद रखने योग्य है कि उच्छिष्टादि अन्न का आपत्काल में ही ग्रहण है अन्य काल में कोई किसी का उच्छिष्ट न खावे और न कोई किसी को उच्छिष्ट देवे, धर्मशास्त्र के अनुसार आपत्काल से अन्यकाल में उच्छिष्ट का देने और लेने वाला दोनों पापी होते हैं, जैसाकि :—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्नचोच्छिष्टःक्वचित् व्रजेत् ॥
मनु० २। ५६

अर्थ—न किसी को अपना जूठा पदार्थ दे न किसी से ले और न किसी के भोजन के बीच खावे, न अधिक भोजन करे और न भोजन किये पश्चात् हाथ मुख धोये विना कहीं इधर उधर जाय ।

सं०—अब उक्त आपद्ग्रस्त ऋषि अपनी भार्या से विचार करते हैं :—

स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच, यद्बताऽन्नस्य लभेमहि। लभेमहि धनमात्रां राजाऽसौ यक्ष्यते, स मा सर्वैरार्त्विज्यै-र्वृणीतेति ॥ ६ ॥

पद०—सः । ह । प्रातः । सञ्जिहानः । उवाच । यत् । बत । अन्नस्य । लभेमहि । लभेमहि । धनमात्रां । राजा । असौ । यक्ष्यते । सः । मा । सर्वैः । आर्त्विज्यैः । वृणीत । इति ।

पदा०—(सः) वह (ह) प्रसिद्ध ऋषि (प्रातः, संजिहानः) प्रातःकाल उठते ही अपनी स्त्री से (उवाच) बोले कि (यत्) जो (अन्नस्य) थोड़ासा भोजन (लभेमहि) मिलजाय तो (धनमात्रां) धन (लभेमहि) प्राप्त करूं (असौ, राजा) यहां का राजा (यक्ष्यते) यज्ञ करने वाला है (सः) वह (मा) मुझको पात्र समझकर (सर्वैः) सम्पूर्ण (आर्त्विज्यैः) ऋत्विक् कर्मों के लिये (वृणीत, इति) वरेगा और उससे अवश्य धन मिलेगा ।

भाष्य—श्लोक में "बत" प्रत्यय खेदार्थ में आया है, वह प्रसिद्ध ऋषि प्रातःकाल उठते ही अपनी स्त्री से बोले कि यदि इस काल में कुछ खाने को अन्न मिलजाय तो आज कुछ धन प्राप्त होने की आशा है अर्थात् यहां का राजा यज्ञ करने वाला है और वह मुझको सब ऋत्विक् कार्य्यों के निरीक्षणार्थ अवश्य स्वीकार करेगा परन्तु घर में कुछ अन्न होतो उसको खाकर राजा के समीप जाऊं, क्योंकि क्षुधार्त होने के कारण

यदि वहां न बोलसका तो कदाचित् अवक्ता समझकर मुझको राजा स्वीकार न करें, इसलिये कुछ भोजन मिलजाय तो कृतकार्य्य होने की आशा है।

सं०—अब स्त्री कथन करती है :—

तं जायोवाच, हन्त पत इम एव कुल्माषा इति। तान् खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय॥ ७॥

पद०—तं। जाया। उवाच। हन्त। पते। इमे। एव। कुल्माषाः। इति। तान्। खादित्वा। अमुं। यज्ञं। विततं। एयाय।

पदा०—(तं) उस पति से (जाया) स्त्री (उवाच) बोली (पते) हे स्वामिन् (इमे, एव, कुल्माषाः) यह ही कुल्माष रखे हैं आप उन्हें ग्रहण करें तब (इति) वह (तान्) उनको ही (खादित्वा) खाकर (विततं) विस्तारित (अमुं) इस (यज्ञं) यज्ञ में (एयाय) गये।

भाष्य—श्लोक में "हन्त" प्रत्यय खेदार्थ आया है, वह स्त्री अपने पूज्य स्वामी से बोली कि हे पते! यह ही उच्छिष्ट कुल्माष जो आपने कल सायंकाल मुझको दिये थे रखे हैं आप इनको ग्रहण करें तब वह ऋषि उन्हीं को खाकर राजा के विस्तारित यज्ञ में गये॥

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश। स ह प्रस्तोतारमुवाच॥ ८॥

पद०-तत्र। उद्गातॄन्। आस्तावे। स्तोष्यमाणान्। उपोपविवेश सः। ह। प्रस्तोतारं। उवाच।

पदा०-(तत्र) वहां जाकर (आस्तावे) यज्ञशाला में (स्तोष्यमाणान्) स्तुति करने वाले (उद्गातॄन्) उद्गाताओं के (उपोपविवेशः) समीप बैठगये (सः, ह) वह प्रसिद्ध ऋषि (प्रस्तोतारं) प्रस्तोता ऋत्विक् से (उवाच) बोले कि:—

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता। तांश्चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि, मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति॥ ९॥

पद०-प्रस्तोतः। या। देवता। प्रस्तावं। अन्वायत्ता। तां। चेत्। अविद्वान्। प्रस्तोष्यसि। मूर्द्धा। ते। विपतिष्यति। इति।

पदा०-(प्रस्तोतः) हे प्रस्तोता ऋत्विक् (या, देवता) जो देवता (प्रस्तावं) प्रस्ताव में (अन्वायत्ता) विद्यमान है (तां) उसको (चेत्) यदि (अविद्वान्) न जानता हुआ तु (प्रस्तोष्यसि) प्रस्ताव करेगा तो (ते) तेरा (मूर्द्धा) शिर (विपतिष्यति, इति) गिरजायगा।

भाष्य-वह ऋषि वहां यज्ञशाला में स्तुति करने वाले उद्गाता आदि ऋत्विजों के समीप बैठगये उसके पश्चात् वह प्रसिद्ध ऋषि प्रथम प्रस्तोता नामक ऋत्विक् से बोले कि हे प्रस्तोता! जो देवता प्रस्ताव कर्म से सम्बन्ध रखता है उसको तु न जानता हुआ प्रस्ताव करेगा तो तेरा शिर अवश्य गिरजायगा अर्थात् तु लज्जित होगा।

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथ-मन्वायत्ता । ताश्चेदविद्वानुद्गास्यसि, मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति ॥१०॥

पद०—एवं । एव । उद्गातारं । उवाच । उद्गातः । या । देवता । उद्गीथं । अन्वायत्ता । तां । चेत् । अविद्वान् । उद्गास्यसि । मूर्द्धा । ते । विपतिष्यति । इति ।

पदा०—(एवं, एव) इसीप्रकार वह ऋषि (उद्गातारं) उद्गाता से (उवाच) बोले कि (उद्गातः) हे उद्गाता (या, देवता) जो देवता (उद्गीथं) उद्गीथ कर्म से (अन्वायत्ता) सम्बन्ध रखता है तु (चेत्) यदि (तां) उसको (अविद्वान्) न जानता हुआ (उद्गास्यसि) उस कर्म का आरम्भ करेगा तो (ते) तेरा (मूर्द्धा) शिर (विपतिष्यति, इति) गिरजायगा ।

भाष्य—इसीप्रकार वह ऋषि उद्गाता ऋत्विक् से बोले कि हे उद्गाता ! जो देवता उद्गीथकर्म=परमात्मोपासन तथा स्तुत्यादि से सम्बन्ध रखता है उसको न जानता हुआ तु यदि उक्त कर्म का उद्गान आरम्भ करेगा तो अवश्यमेव लज्जित होगा ।

एवमेव प्रतिहर्त्तारमुवाचप्रतिहर्त्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता । ताश्चेदविद्वान् प्रति-हरिष्यसि,मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति,ते ह समारतास्तूष्णीमासाञ्चक्रिरे ॥ ११ ॥

पद०—एवं । एव । प्रतिहर्त्तारं । उवाच । प्रतिहर्त्तः । या । देवता । प्रतिहारं । अन्वायत्ता । तां । चेत् । अविद्वान् । प्रतिहरिष्यसि । मूर्द्धा । ते । विपतिष्यति । इति । ते । ह । समारताः । तूष्णीं । आसाञ्चक्रिरे ।

पदा०—(एवं, एव) इसी प्रकार वह ऋषि (प्रतिहर्त्तारं) प्रतिहर्त्ता नामक ऋत्विक् से (उवाच) बोले कि (प्रतिहर्त्तः) हे प्रतिहर्त्ता (या, देवता) जो देवता (प्रतिहारं) प्रतिहार कर्म से (अन्वायत्ता) सम्बन्ध रखता है (चेत्) यदि (तां) उसको (अविद्वान्) न जानता हुआ तु (प्रतिहरिष्यसि) प्रतिहार कर्म करेगा तो (ते) तेरा (मूर्द्धा) शिर (विपतिष्यति, इति) गिर जायगा (ते, ह) वह प्रसिद्ध प्रस्तोता आदि इसप्रकार ऋषि के वचन को सुनकर (समारताः) अपने स्व २ कर्म से निवृत्त हो (तूष्णीं) चुपचाप (आसाञ्चक्रिरे) बैठगये ।

भाष्य—प्रतिहर्त्ता सम्बन्धी कर्म का नाम "प्रतिहार" है, वह ऋषि इसीप्रकार प्रतिहर्त्ता नामा ऋत्विक् से बोले कि हे प्रतिहर्त्ता ! जो देवता प्रतिहार कर्म से सम्बन्ध रखता है उसको न जानता हुआ प्रतिहार कर्म का आरम्भ करेगा तो तु अवश्य लज्जित होगा, ऋषि के इस प्रकार बचनों को सुनकर वह प्रसिद्ध ऋत्विक् लोग अपने२ कर्म को त्यागकर चुप चाप बैठगये ॥

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उक्त ऋषि से यजमान कथन करता है :—

अथ हैनं यजमान उवाच, भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥ १ ॥

पद०—अथ । ह । एनं । यजमानः । उवाच । भगवन्तं । वै । अहं । विविदिषाणि । इति । उषस्तिः । अस्मि । चाक्रायणः । इति । ह । उवाच ।

पदा०—(अथ) इसके अनन्तर (यजमानः) यजमान (ह) निश्चयपूर्वक (एनं) इस ऋषि से (उवाच) बोला कि (भगवन्तं) हे पूजनीय देव (वै) निश्चयकरके (अहं) मैं (विविदिषाणि, इति) जानना चाहता हूं कि आप कौन हैं तब ऋषि (उवाच) बोले कि (ह) प्रसिद्ध (चाक्रायणः, इति) चाक्रायणऋषि का पौत्र (उषस्तिः) उषस्ति नामा (अस्मि) हूं ।

भाष्य—उषस्ति नामा ऋषि ने जब राजा के विस्तरित यज्ञ में सब कार्य्यकर्त्ताओं को निरुत्तर कर दिया और वह सब जब स्व २ कर्म से निवृत्त होकर चुपचाप बैठगये तब यजमान राजा ने ऋषि से पूछा कि हे भगवन् ! मैं आपको निश्चयरूप से जानना चाहता हूं कि आप कौन हैं ? तब ऋषि ने उत्तर दिया कि मैं प्रसिद्ध चाक्रायण ऋषि का पौत्र उपस्ति हूं ।

स होवाच, भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वै-रार्त्विज्यैः । पर्य्यैषिषम्, भगवतो वा अहमवित्त्याऽन्यानवृषि ॥ २ ॥

पद०–सः । ह । उवाच । भगवन्तं । वै । अहं । एभिः । सर्वैः । आर्त्विज्यैः । पर्य्यैषिषं । भगवतः । वै । अहं । अवित्त्या । अन्यान् । अवृषि ।

पदा०–(सः) वह (ह, उवाच) प्रसिद्ध यजमान बोला कि (भगवन्तं) हे पूजनीय आपको (वै) ही (एभिः) इन (सर्वैः) सम्पूर्ण (आर्त्विज्यैः) ऋत्विक् कर्म के लिये (अहं) मैंने (पर्य्यैषिषं) अन्वेषण किया परन्तु (भगवतः) हे भगवन् ! आपके (वै) निश्चित (अवित्त्या) अलाभ से (अन्यान्) अन्यों को (अहं) मैंने (अवृषि) वरण किया ।

भाष्य–उक्त ऋषि का नाम आदि सुनकर वह प्रसिद्ध यजमान बोला कि हे भगवन् ! मैंने प्रथम आपको ही सम्पूर्ण ऋत्विक् कर्मों के लिये इतस्ततः अन्वेषण किया था परन्तु आपके न मिलने से मैंने इन सब ऋत्विकों को वरण किया है, मैं अपने को धन्य मानता हूं और मेरा बड़ा भाग्य है कि खोजने पर भी जो नहीं मिले वह सम्प्रति स्वयमेव पधारकर समागत हुए हैं ।

सं०–अब यजमान प्रधान आचार्य्य होने की ऋषि से प्रार्थना करते हैं :—

भगवाꣳस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति, तथेत्य-थतर्ह्येत एव समतिसृष्टाःस्तुवतां यावत्त्वे-

भ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति, तथेति ह यजमान उवाच ॥ ३ ॥

पद०-भगवान् । तु । एव । मे । सर्वैः । आर्त्विज्यैः । इति । तथा । इति । अथ । तर्हि । एते । एव । समतिसृष्टाः । स्तुवतां । यावत् । तु । एभ्यः । धनं । दद्याः । तावत् । मम । दद्याः । इति । तथा । इति । ह । यजमानः । उवाच ।

पदा०-(भगवान्) हे भगवन् (तु) अब भी (एव) आप ही (मे) मेरे (सर्वैः) सम्पूर्ण (आर्त्विज्यैः, इति) ऋत्विक् कर्म के लिये नियुक्त हों, तब ऋषि ने कहा (तथा, इति) ऐसा ही होगा पर (अथ, तर्हि) आप ऐसा करें कि (एते, एव) यह सब जिन्हें आप वर चुके हैं (समतिसृष्टाः) प्रसन्नतापूर्वक मुझको स्वीकारार्थ (स्तुवतां) स्तुति करें (तु) और आपका यह कर्तव्य होना चाहिये कि आप (एभ्यः) इनको (यावत्) जितना (धनं) धन (दद्याः, इति) देवें (मम) मुझको भी (तावत्) उतना ही देवें तब (ह) स्पष्टतया (यजमानः) यजमान (उवाच) बोला कि (तथा, इति) ऐसा ही होगा ।

भाष्य-जब यजमान राजा को यह भलेप्रकार परिज्ञान होगया कि यह बहुगुणी और ऋत्विजादि कर्मों में अति निपुण हैं तब राजा ने निवेदन किया कि हे भगवन् ! आप अब मेरे सम्पूर्ण ऋत्विक् कर्मों के निरीक्षणकर्त्ता प्रधान आचार्य्य होवें, क्योंकि आपके न मिलने पर इन सबको वरण कियागया था तब ऋषि ने कहा कि ऐसा ही होगा परन्तु हे राजन् ! अब यह कर्तव्य है कि यह सब ऋत्विक् लोग प्रसन्नतापूर्वक मेरी स्तुति करते

हुए मेरे वरण होने के लिये प्रार्थना करें और आप इनको जितना धन दें उतना ही मुझको भी देना, यजमान ने यह सब तथास्तु कहकर स्वीकार किया।

सं०-अब "प्रस्तोता" नामक ऋत्विक् ऋषि से प्रश्न करता है :—

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद, प्रस्तोतर्यादेवता प्रस्तावमन्वायत्ता। ताञ्चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि, मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति॥४॥

पद०-अथ। ह। एनं। प्रस्तोता। उपससाद। प्रस्तोतः। या। देवता। प्रस्तावं। अन्वायत्ता। तां। चेत्। अविद्वान्। प्रस्तोष्यसि। मूर्द्धा। ते। विपतिष्यति। इति। मा। भगवान्। अवोचत्। कतमा। सा। देवता। इति।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (प्रस्तोता) प्रस्तोता नामक ऋत्विक् ने (एनं) इस ऋषि के (उपससाद) समीप आकर विनयपूर्वक पूछा कि आपने कहा था कि (प्रस्तोतः) हे प्रस्तोता (या, देवता) जो देवता (प्रस्तावं, अन्वायत्ता) प्रस्ताव से सम्बन्ध रखता है (चेत्) यदि (तां) उसको (अविद्वान्) न जानता हुआ तू (प्रस्तोष्यसि) प्रस्ताव करेगा तो (ते) तेरा (मूर्द्धा) शिर (विपतिष्यति, इति) गिरजायगा सो (भगवान्) हे भगवन् (मा) मुझको (अवोचत्) बतलावें कि (सा) वह (कतमा) कौनसा (देवता, इति) देवता है।

भाष्य—यजमान राजा की स्वीकृति के अनन्तर प्रस्तोता नामक ऋत्विक् ने ऋषि के निकट आकर विनयपूर्वक पूछा कि हे भगवन् ! आपने मुझसे कहा था कि हे प्रस्तोता ! जो देवता प्रस्ताव से सम्बन्ध रखने वाला है अर्थात् जिस देवता के लिये प्रस्ताव कियाजाता है उसको न जानता हुआ यदि तू प्रस्ताव करेगा तो तुझको अवश्य लज्जित होना पड़ेगा, सो हे भगवन् ! कृपाकरके यह कथन करें कि वह देवता कौन है ।

सं०—अब ऋषि कथन करते हैं :—

प्राण इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति । प्राणमभ्युज्जिहते, सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता, ताञ्चेदविद्वान्प्रस्तोष्योमूर्द्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ५ ॥

पद०— प्राणः । इति । ह । उवाच । सर्वाणि । ह । वै । इमानि । भूतानि । प्राणं । एव । अभिसंविशन्ति । प्राणं । अभि । उज्जिहते । सा । एषा । देवता । प्रस्तावं । अन्वायत्ता । तां । चेद् । अविद्वान् । प्रास्तोष्यः । मूर्द्धा । ते । व्यपतिष्यत् । तथा । उक्तस्य । मया । इति ।

पदा०—(ह) वह प्रसिद्ध ऋषि (उवाच) बोले कि (प्राणः, इति) प्रस्तावित देवता प्राण है, क्योंकि (वै) निश्चयकरके (सर्वाणि) सम्पूर्ण (इमानि, भूतानि) यह प्राणीजात (प्राणं, एव) प्राण में ही (अभिसंविशन्ति) निवास करते हैं, और (ह)

प्रसिद्ध है कि (प्राणं) प्राण की ही (अभि) आज्ञा से (उज्जिहते) उत्पन्न होते हैं (सा) वही (एषा, देवता) यह देवता (प्रस्तावं) प्रस्ताव के (अन्वायत्ता) योग्य है (चेत्) यदि (तां) उसको (अविद्वान्) न जानता हुआ (मया, इति) मेरे (तथा,उक्तस्य) उक्त कथनानुसार निवारित न होकर (प्रास्तोष्य) प्रस्ताव करता तो (ते, मूर्द्धा) तेरा शिर (व्यपतिष्यत्) गिरजाता ।

भाष्य—उषस्ति ऋषि ने उक्त प्रस्तोता के प्रश्न का यह उत्तर दिया कि प्रस्तावित देवता प्राण है अर्थात् " **प्राणिति सर्वं जगदितिप्राणः**"=जो सम्पूर्ण जगत् को प्राणन क्रिया करावे उसका " **प्राण** " है, सो यहां प्राण नाम ब्रह्म का है, जैसाकि ब्र० सू० १।१।२३ में वर्णन किया है कि "**अतएव प्राणः**"=पूर्वोक्त हेतुओं से प्राण नाम ब्रह्म का है, और बृहदा० ४।४। १८ में इस प्रकार वर्णन किया है कि " **प्राणस्य प्राणम्** "=वह जीवगत प्राण का भी प्राण है, इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि प्राण नाम ब्रह्म का है,यह सम्पूर्ण प्राणीजात उसी से उत्पन्न होते, उसी में चेष्टा करते और अन्त में उसी में लय होजाते हैं, वही एकमात्र देव प्रस्ताव योग्य है, यदि उसको न जानता हुआ तु मुझसे निवारित होने पर भी प्रस्ताव करता तो तेरा शिर अवश्य गिरजाता अर्थात् तैने बहुत अच्छा किया कि मेरे कथनानुसार अपने कर्म से उपरत होगया, यदि तू हठात् उक्त कर्म से उपरत न होता तो तेरा बड़ा अनिष्ट होता, क्योंकि यज्ञ के तात्पर्य्य को न जानकर यज्ञ कराना सर्वथा अनुचित है।

सं०-अब " उद्गाता " नामा ऋत्विक् ऋषि से प्रश्न करता है :—

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता । ताञ्चेदविद्वानुद्गास्यसि, मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ६ ॥

पद०-अथ । ह । एनं । उद्गाता । उपससाद । उद्गातः । या । देवता । उद्गीथं । अन्वायत्ता । तां । चेत् । अविद्वान् । उद्गास्यसि । मूर्द्धा । ते । विपतिष्यति । इति । मा । भगवान् । अवोचत् । कतमा । सा । देवता । इति ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (उद्गाता) उद्गाता (एनं) इस ऋषि के (उपससाद) समीप आकर बोला कि आपने कहा था कि (उद्गातः) हे उद्गाता (या) जो (देवता) देवता (उद्गीथं) उद्गीथकर्म के (अन्वयत्ता) सम्बन्ध में है (तां) उसको (चेत्) यदि (अविद्वान्) न जानता हुआ तू (उद्गास्यसि) गान करेगा तो (ते) तेरा (मूर्द्धा) शिर (विपतिष्यति, इति) गिरजायगा सो (भगवान्) हे भगवन् आप (मा) मुझको (अवोचत्) कथन करें कि (कतमा, सा, देवता, इति) वह कौनसा देवता है ।

भाष्य-प्रस्तोता की शङ्का का समाधान होने के अनन्तर उद्गाता नामक ऋत्विक् विनयपूर्वक ऋषि के समीप आकर बोले कि हे भगवन् ! आपने मुझसे पूछा था कि हे उद्गाता ! जो

देवता उद्गीथ कर्म से सम्बन्ध रखता है उसको न जानता हुआ यदि तू उद्गीथ कर्म का आरम्भ करेगा तो तेरा अवश्य अनिष्ट होगा, सो हे भगवन् ! कृपाकरके आप यह कथन करें कि उद्गीथ सम्बन्धी वह कौन देवता है।

सं०—अब उक्त ऋषि कथन करते हैं:—

आदित्य इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति । सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता तांश्चेदविद्वानुदगास्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्यमयेति ॥ ७ ॥

पद०—आदित्यः । इति । ह । उवाच । सर्वाणि । ह । वै । इमानि । भूतानि । आदित्यं । उच्चैः । सन्तं । गायन्ति । सा । एषा । देवता । उद्गीथं । अन्वायत्ता । तां । चेत् । अविद्वान् । उदगास्यः । मूर्द्धा । ते । व्यपतिष्यत् । तथा । उक्तस्य । मया । इति ।

पदा०—(ह) वह प्रसिद्ध ऋषि (उवाच) बोले कि उद्गीथ सम्बन्धी देवता (आदित्यः, इति) आदित्य है (ह, वै) निश्चय करके (इमानि, सर्वाणि, भूतानि) यह सब प्राणी (सन्तं) उसी सत्यस्वरूप (आदित्यं) आदित्य को (उच्चैः) उच्चस्वर से (गायन्ति) गाते हैं (सा, एषा, देवता) वही यह देवता (उद्गीथं, अन्वायत्ता) उद्गीथ सम्बन्धी है (चेत्) यदि (तां) उसको

(अविद्वान्) न जानता हुआ (उद्गास्यः) गान करता तो (मया) मुझ से (तथा, उक्तस्य) उक्त कथनानुसार (ते) तेरा (मूर्द्धा) शिर (व्यपतिष्यत्, इति) गिरजाता ।

भाष्य—उषस्ति ऋषि ने उद्गाता को उत्तर दिया कि उद्गीथ कर्म का देवता आदित्य है अर्थात् "**आसमन्तात् द्योतते प्रकाशते इति आदित्यः**"=जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करे उसका नाम "**आदित्य**" है, सो यहां आदित्य नाम परमात्मा का है, जिसका वर्णन छठे खण्ड में भले प्रकार कर आये हैं, सब प्राणीमात्र उसी सर्वत्रव्यापक आदित्य=ब्रह्म को उच्चस्वर से गाते हैं और वही यह प्रसिद्ध देवता उद्गीथ से सम्बन्ध रखता है सो हे उद्गाता ! उसको तू न जानता हुआ मुझ से निवारित होने पर भी उद्गीथ का गायन करता तो तेरा शिर अवश्य गिरजाता अर्थात् तेरा अनिष्ट होता, सो तुमने अच्छा किया कि अपने कर्म से विरत होगये ।

सं०—अब "प्रतिहर्त्ता" नामक ऋत्विक् ऋषि से प्रश्न करता है :—

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद, प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता । तांश्चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ८ ॥

पद०-अथ । ह । एनं । प्रतिहर्ता । उपससाद । प्रतिहर्तः । या । देवता । प्रतिहारं । अन्वायत्ता । तां । चेत् । अविद्वान् । प्रतिहरिष्यसि । मूर्द्धा । ते । विपतिष्यति । इति । मा । भगवान् । अवोचत् । कतमा । सा । देवता । इति ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (प्रतिहर्ता) प्रतिहर्ता (एनं) इस ऋषि के (उपससाद) समीप आये और बोले कि आपने जो कहा था कि (प्रतिहर्तः) हे प्रतिहर्ता (या) जो (देवता) देवता (प्रतिहारं) प्रतिहार कर्म से (अन्वायत्ता) सम्बन्ध रखता है (चेत्) यदि (तां) उसको (अविद्वान्) न जानता हुआ तू (प्रतिहरिष्यसि) प्रतिहार कर्म करेगा तो (ते) तेरा (मूर्द्धा) शिर (विपतिष्यति, इति) गिर जायगा, सो (भगवान्) हे भगवन् (मा) मुझको (अवोचत्) कथन करें कि (कतमा, सा, देवता, इति) वह कौन देवता है ।

भाष्य-उद्गाता के प्रश्नानन्तर प्रतिहर्ता नामक ऋत्विक् उक्त ऋषि के निकट आकर विनयपूर्वक बोले कि हे भगवन् ! आपने मुझसे कहा था कि हे प्रतिहर्ता ! जो देवता प्रातिहार कर्म से सम्बन्ध रखता है उसको न जानता हुआ यदि तु प्रतिहार कर्म करेगा तो तेरे लिये अनिष्ट होगा सो कृपा करके आप यह कथन करें कि वह प्रतिहार सम्बन्धी देवता कौन है ।

सं०-अब ऋषि उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं :—

अन्नमिति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति ।

सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता, ताञ्चे-
दविद्वान् प्रत्यहरिष्यो मूर्द्धा ते
व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति,
तथोक्तस्य मयेति ॥ ९॥

पद०-अन्नं। इति। ह। उवाच। सर्वाणि। ह। वै। इमानि। भूतानि। अन्नं। एव। प्रतिहरमाणानि। जीवन्ति। सा। एषा। देवता। प्रतिहारं। अन्वायत्ता। तां। चेत्। अविद्वान्। प्रत्य-हरिष्यः। मूर्द्धा। ते। व्यपतिष्यत्। तथा। उक्तस्य। मया। इति। तथा। उक्तस्य। मया। इति।

पदा०--(ह) वह प्रसिद्ध ऋषि (उवाच) बोले कि वह देवता (अन्नं, इति) अन्न है, क्योंकि (ह, वै) निश्चय करके (सर्वाणि, इमानि, भूतानि) यह सम्पूर्ण जीव (अन्नं, एव) अन्न को ही (प्रतिहरमाणानि) खाकर (जीवन्ति) जीते हैं (सा, एषा, देवता) वही यह देवता (प्रतिहारं, अन्वायत्ता) प्रतिहार सम्बन्धी है (चेत्) यदि (तां) उसको (अविद्वान्) न जानता हुआ तू (प्रत्यहरिष्यः) प्रतिहार कर्म करता तो (मया, इति) मुझ से (तथा, उक्तस्य) ठीक २ वर्णन होने पर (ते) तेरा (मूर्द्धा) शिर (व्यपतिष्यत्) गिरजाता।

भाष्य-" तथोक्तस्य मयेति " पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, प्रतिहर्ता नामक ऋत्विक् के पूछने पर उषस्ति ऋषि ने उत्तर दिया कि प्रतिहार कर्म का देवता अन्न

है अर्थात् उक्त ऋत्विक् परमात्मा से प्रार्थना करे कि हे परमात्मन्! आप हमको प्रभूत अन्न दें, क्योंकि यह सम्पूर्ण प्राणी अन्न को ही खाकर जीते हैं, प्रतिहार सम्बन्धी यही देव है, उसको न जानता हुआ यदि तू प्रतिहार कर्म करता तो वह अवश्य अनिष्ट का हेतु होता, सो यह तुमने अच्छा किया कि मेरे कहने पर उक्त कर्म से उपरत होगये॥

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—एकादश खण्ड में उषस्ति ऋषि का प्राणरक्षार्थ उच्छिष्ट अन्न का भक्षण कथन करके अब इस खण्ड में एक आख्यायिका द्वारा प्रभूत अन्न के लाभार्थ सब जीव परमात्मा से प्रार्थना करते हैं :—

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध वकोऽदाल्भ्योऽग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज ॥ १ ॥

पद०—अथ । अतः । शौवः । उद्गीथः । तत् । ह । वकः । अदाल्भ्यः । अग्लावः । वा । मैत्रेयः । स्वाध्यायं । उद्वव्राज ।

पदा०—(अथ) इसके अनन्तर (अतः) अन्न प्राप्त्यर्थ (शौवः, उद्गीथः) सब जीव परमात्मा से प्रार्थना करते हैं, (वकः) वक्ता (अदाल्भ्यः) अविनाशी (अग्लावः) प्रसन्न चित्त (वा) और (मैत्रेयः) सबका सुहृद् जीव (तत्, ह) उस प्रसिद्ध (स्वाध्यायं, उद्वव्राज) स्वाध्याय को प्राप्त हुआ ।

भाष्य—इस श्लोक में अन्न की प्राप्ति के लिये सब जीव परमात्मा से प्रार्थना का आरम्भ करते हैं, वक्ता, अविनाशी, प्रसन्नचित्त तथा सबका सुहृद्, इत्यादि विशेषणयुक्त जीव प्रथम उस प्रसिद्ध स्वाध्याय को प्राप्त हुआ ।

भाव यह है कि जबतक पुरुष स्वाध्याय नहीं करता तबतक उसका हृदय शुद्ध नहीं होता और न वह परमात्मपरायण होसक्ता है, परमात्मपरायण वही पुरुष होता है जो विद्वान् वेदवेत्ता गुरु द्वारा स्वाध्याय करता हुआ अपने कर्तव्य को समझता है, जैसाकि निम्नलिखित मंत्र में गुरुशिष्य का कर्तव्य कथन किया है कि :—

अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अथा पितॄन्त्सुविदत्रां उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति।

ऋग् १० । १४ । १०

अर्थ—हे शिष्य ! वेदविहित कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का अनुष्ठान करो जिनके यह वेदरूप चार साधन हैं जो शुद्ध, पवित्र और निर्दोष हैं इनका गुरूपदिष्टमार्ग से स्वाध्याय करो अर्थात् परमविज्ञानी पिता, आचार्यादिकों को प्राप्त होओ जो परमात्मपरायण होने के कारण परम आनन्द भोग रहे हैं, इस से सिद्ध है कि वेदों के पठनपाठन द्वारा ही पुरुष परमात्मपरायण होसक्ता है अन्यथा नहीं, और उपासन कर्मकाण्ड के अन्तर्गत होने से वेदों का पठनपाठन सार्थक है इसीलिये उक्त श्लोक में वर्णन किया है कि उन जीवों ने परमात्मा की उपासना के लिये प्रथम स्वाध्याय करने की चेष्टा की ।

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्येश्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥ २ ॥

पद०—तस्मै । श्वा । श्वेतः । प्रादुर्बभूव । तं । अन्ये । श्वानः । उपसमेत्य । ऊचुः । अन्नं । नः । भगवान् । आगायतु । अशनायाम । वै । इति ।

पदा०—(तस्मै) उस परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करने के लिये (श्वेतः, श्वा) शुद्ध अन्तःकरण जीव (प्रादुर्बभूव) उपस्थित हुआ (तं) उस मुख्य जीव से (अन्ये, श्वानः) अन्य साधारण जीव (उपसमेत्य) समीप आकर (ऊचुः) बोले (भगवान्) हे भगवन् (नः) हम लोगों के लिये भी (अन्नं) अन्न (आगायतु) ब्रह्म से प्रार्थनापूर्वक सम्पादन करें, जिसको (वै) निश्चयकरके (अशनायाम, इति) हम लोग भक्षण कर तृप्त हों ॥

भाष्य—उस परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करने के लिये साधनसम्पन्न शुद्ध अन्तःकरण जीव उपस्थित हुआ, उस मुख्य जीव से अन्य साधारण प्राणी बोले कि आप कृपाकरके हम लोगों के लिये भी परमात्मा से अन्न की प्रार्थना करें, क्योंकि हम लोग बुभूक्षित होरहे हैं ॥

तान्होवाचेहैवमाप्रातरुपसमीयातेति, तद्ध वकोऽदाल्भ्योऽग्लावो वा मैत्रेयःप्रतिपालयाञ्चकार ॥३॥

पद०—तान् । ह । उवाच । इह । एव । मा । प्रातः । उपसमीयात । इति । तद् । ह । वकः । अदाल्भ्यः । अग्लावः । वा । मैत्रेयः। प्रतिपालयाञ्चकार ।

पदा०-(तान्) उन साधारण जीवों से (ह) निश्चयकरके वह मुख्यजीव (उवाच) बोला कि (इह,एव) यहां ही (प्रातः) प्रातःकाल (मा) मेरे (उपसमीयात्, इति) समीप आओ, और वह (तद्, ह) वहीं पर (वकः) वक्ता (अदाल्भ्यः) अविनाशी (अग्लावः) प्रसन्नचित्त (वा) तथा (मैत्रेयः) सब का सुहृद् जीव (प्रतिपालयाञ्चकार) प्रतिपालन की इच्छा करता हुआ उनको देखने लगा।

भाष्य-जब सब प्राणी एकत्रित होकर उस मुख्यजीव के समीप गये तब वह प्रधान जीव उनसे बोला कि तुमलोग प्रातःकाल इसी स्थान पर मेरे पास आओ और वह वक्ता, अविनाशी, प्रसन्नचित्त तथा सबका सुहृद् इत्यादि गुणविशिष्ट प्रधान जीव सब के प्रतिपालन की इच्छा करता हुआ वहीं पर स्थिर रहकर सबकी प्रतीक्षा करने लगा॥

सं०-अब सब जीवों का मुख्य जीव के समीप जाना कथन करते हैं:—

तेह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणः संरब्धाःसर्पन्तीत्येवमाससृपुस्तेह समुपविश्य हिङ्चक्रुः॥४॥

पद०-ते। ह। यथा। एव। इदं। बहिष्पवमानेन। स्तोष्यमाणः। संरब्धा। सर्पन्ति। इति। एवं। आससृपुः। ते। ह। समुपविश्य। हिञ्चक्रुः॥

पदा०-(यथा,एव) जिस प्रकार (इदं) इस यज्ञादिकर्म में (वहिष्पवमानेन) वहिष्पवमान नामक स्तोत्र द्वारा (स्तोष्यमाणः) परमात्मा की स्तुति वाले (ते) वे उद्गाता आदि ऋत्विक् (संरब्धाः) परस्पर मिलकर (सर्पन्ति, इति) चलते हैं (एवं) इसीप्रकार (ह) निश्चयकरके (ते) वह सब जीव (आससृपुः) मिलकर चले, और उस प्रधान जीव के (समुपविश्य) समीप बैठकर (हिञ्चक्रुः) सामगान करने लगे।

भाष्य-प्रातःकाल सब जीव मिलकर साधनसम्पन्न जीव की आज्ञानुसार उसकी सेवा में उपस्थित हुए अर्थात् जिसप्रकार यज्ञादि कर्म में वहिष्पवमान नामक स्तोत्र द्वारा परमात्मा की स्तुति करते हुए उद्गाता आदि ऋत्विक् परस्पर मिलकर चलते हैं इसी प्रकार वह सब जीव सम्मिलित होकर उस प्रधान जीव के समीप पहुंचे और प्रभूत अन्न के लाभार्थ वहीं बैठकर सामगान द्वारा परमात्मा से प्रार्थना करने लगे। अहा सत्य है, क्या ही अपूर्वभाव इस आख्यायिका में भरा है जो पुरुष शुद्धान्तःकरण द्वारा उस परमपिता परमात्मा के समीप जाकर प्रार्थना करते हैं कि हे दयामय ! हम अपने अज्ञान से पापी बनकर तुम्हारी शरण में आन पड़े हैं तुम्हारे बिना कौन है जो हमको इस पापपिशाच से बचाकर पुण्य का मार्ग दिखलायें, हे सच्चिदानन्द अन्तर्यामिन् प्रभो ! हम सब पतित क्षुधातुर दीनदुःखी तुम्हारे द्वार पर आये हैं आप अपनी करुणा और परम कृपा से हमको अन्नवस्त्रादि दें जिससे हम सुखी रहकर तुम्हारी आज्ञा का पालन करें, तुम्हीं को

प्रणाम करें तुम्हारी पूजा भक्ति तथा प्रेम हमारे जीवन का लक्ष्य हो, हम हाथ जोड़कर यही भिक्षा मांगते हैं।

स्मरण रहे कि यह अपूर्व ज्ञान तभी उपलब्ध होसक्ता है जब पुरुष किसी साधनसम्पन्न द्वारा स्वाध्याय करता हुआ परमात्मपरायण हो, जैसाकि इस आख्यायिका में एक ब्रह्मवादी जीव को प्राप्त होकर अनेक साधारण जीवों का उद्धार हुआ।

सं०–अब सब जीव मिलकर सामगान करते हैं:—

ओ३मदाऽमोंऽपिवाऽमोंऽदेवो वरुणः प्रजापतिःसविता२ऽन्नमिहा२हर-दन्नपते३ऽन्नमिहा२ऽऽहराऽऽ हरो३मिति ॥ ५॥

पद०–ओ३म् । अदाम । ओ३म् । पिवाम । ओ३म् । देवः । वरुणः । प्रजापतिः । सविता । अन्नं । इह । आहरत् । अन्नपते । अन्नं । इह । आहर । आहर । ओ३म् । इति ।

पदा०–(ओ३म्) हे सर्वरक्षक ब्रह्म आपकी कृपा से (अदाम) हम लोग भोजन करें (ओ३म्) हे जगत्पिता (पिवाम) आपकी कृपा से हम लोग पान करें (ओ३म्) हे जगदीश्वर आप हमारी उक्त इच्छा को पूर्ण करें, आप (देवः) दिव्यस्वरूप (वरुणः) सबकी इच्छा को पूर्ण करने वाले (प्रजापतिः) सम्पूर्ण प्रजाओं के स्वामी (सविता) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जनक हैं, आप कृपाकरके (इह) हम लोगों को (अन्नं) अन्न (आहरत्) दीजिये (अन्नपते) हे अन्नपते ! (अन्नं) अन्न (इह)

यहां (आहर) हम लोगों को कृपाकरके दीजिये (आहर) अवश्य ही दीजिये (ओ३म्) हे परमात्मन् ! हम लोगों को तृप्त कीजिये, यह आपसे प्रार्थना है ।

भाष्य–सम्पूर्ण जीव मिलकर इस साम द्वारा परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे परमात्मन् ! आपके अनुग्रह से हम लोग सुखपूर्वक भोजन करें, हे जगत्पालक परमात्मन् ! आपकी कृपा से पान करें, यह हम जीवों की आशा पूर्ण हो, हे भगवन् ! आप देव, वरुण, प्रजापति और सविता हैं आप हमें अन्न प्रदान करें, हे अन्नपते ! अन्न का दान दीजिये, अधिक क्या कृपाकरके आप अवश्य ही हमको अन्न प्रदान करें, ताकि हम अन्न को भक्षण कर सन्तुष्ट रहें यह हम बारम्बार आपसे विनयपूर्वक प्रार्थना करते हैं ॥

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—द्वादशखण्ड में प्रभूत अन्न के लाभार्थ सब जीवों की प्रार्थना कथन करके अब इस खण्ड में "हाउ" "हई" आदि स्तोभाक्षर जो सामगान में आते हैं उनका रहस्य वर्णन करते हैं :—

अयं वाव लोको हा उकारो वायुर्हा इकारश्चन्द्रमा अथकार आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥ १ ॥

पद०—अयं । वाव । लोकः। हा उकारः। वायुः। हा इकारः। चन्द्रमाः। अथकारः। आत्मा । इहकारः । अग्निः । ईकारः ॥

पदा०—(अयं) यह (वाव) ही (लोकः) पृथिवी लोक (हा उकारः) "हा उकार" नामक स्तोभ है (वायुः) वायव्य गुणों के उद्देश्य से (हा इकारः) "हा इकार" शब्द का गान होता है (चन्द्रमाः) चान्द्रमस गुणों के उद्देश्य से (अथकारः) "अथकार" शब्द का गान होता है (आत्मा, इहकारः) आत्मोद्देश्य से "इहकार" शब्द का और (अग्निः,ईकारः) आग्नेय पदार्थों के उद्देश्य से "ईकार" शब्द का गान होता है ।

भाष्य—पृथिवीलोक=पार्थिव गुणों के विज्ञानार्थ "हा उकार" शब्द का गान होता है अर्थात् उक्त शब्द द्वारा ऋत्विक् लोग परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे विद्यानिधे !

आप अपनी परम कृपा से हमको वह विज्ञान प्रदान करें कि जिसके द्वारा हम पार्थिव गुणों को जानें, इसी प्रकार "हा इकार" शब्द से यह प्रार्थना है कि आप अपनी कृपा से वायु सम्बन्धी गुणों का विकाश हमारे हृदय में करें, "अथकार" शब्द से चन्द्रमा सम्बन्धी गुणों के लिये तथा "इहकार" शब्द से आत्मोद्देश्य सम्बन्धी प्रार्थना की जाती है कि हे महान् परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से हमारी आत्मा को महान् करें जिससे हम उक्त तत्वों के गुणों को समझकर अपने में धारण करसकें और "इकार" शब्द द्वारा अग्निसम्बन्धी गुणों की प्रार्थना से तात्पर्य है कि हे प्रकाश-स्वरूप परमात्मन् ! आप अपनी करुणा से हमारे आत्मा में वह शक्ति प्रदान करें जिससे हम अग्निसम्बन्धी गुणों को भलेप्रकार जानकर उपयोग में लासकें, यह हमारी नम्रतापूर्वक प्रार्थना है इसीप्रकार भिन्न २ गुणों के ज्ञानार्थ भिन्न २ शब्दों द्वारा परमपिता परमात्मा से प्रार्थना कीगई है जिसका आशय यह है कि पुरुष परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता हुआ उक्त विद्याओं के जानने में प्रयत्नवान् हो तभी मनुष्यजीवन का उद्देश्य पूर्ण होसक्ता है अन्यथा नहीं ।

आदित्य ऊकारो निहवएकारो विश्वे-देवा औहोइकारः प्रजापतिर्हिङ्कारः प्राणःस्वरोऽन्नं या वाग्विराट्॥२॥

पद०—आदित्यः। ऊकारः। निहवः। एकारः। विश्वेदेवाः। औहोइकारः। प्रजापतिः। हिङ्कारः। प्राणः। स्वरः। अन्नं। या। वाग्। विराट्।

पदा०—(आदित्यः) द्युलोकस्थ गुणों के ज्ञानार्थ (ऊकारः) "ऊकार" (निहवः, एकारः) आवाहनार्थ "एकार" (विश्वदेवाः, औहोइकारः) सूर्य्यादि देवों के गुण ज्ञानार्थ "औहोइकार" (प्रजपतिः,हिङ्कारः)याज्ञिक गुणों के ज्ञानार्थ"हिङ्कार"(प्राणः, स्वरः) प्राणविद्या के ज्ञानार्थ "स्वर" (अन्नं, या) अन्न प्राप्त्यर्थ प्रार्थना के लिये"या"और (वाग् ,विराट्) सम्पूर्ण जगत् के गुण ज्ञानार्थ "वाग्" नामा स्तोभ गायाजाता है।

भाष्य—द्युलोक सम्बन्धी गुणों के ज्ञानार्थ "ऊकार" नामक स्तोभ गायाजाता है अर्थात् उक्त स्तोभ द्वारा परब्रह्म परमात्मा से ऋत्विक् लोग प्रार्थना करते हैं कि हे परमात्मन्! आप ऐसी कृपा करें कि जिससे हम लोग द्युलोकस्थ गुणों को जानें, इसी प्रकार आवाहन के लिये "एकार" सूर्य्यादि देवों के गुण ज्ञानार्थ "औहोइकार" याज्ञिक गुण ज्ञानार्थ "हिङ्कार" प्राणविद्या के ज्ञानार्थ "स्वर" तथा अन्न की प्राप्ति के लिये "या" और सम्पूर्ण जगत् के गुण ज्ञानार्थ अथवा सबके कल्याणार्थ "वाग्" नामक स्तोभ गायाजाता है,परमात्मा की प्रार्थना समय में जिन २ विषयों को लक्ष्य रखकर जिस२ साम से प्रार्थना कीजाती है उनका नाम"स्तोभ" है,स्मरण रहे कि प्रार्थना तभी सफल होती है जब उस विषय के लिये पूर्णरूप से योग्यता प्राप्त कीजाय अन्यथा नहीं।

सं०–अब ब्रह्मप्राप्त्यर्थ गाने वाले "स्तोभ" का कथन करते हैं :—

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः सञ्चरो हुङ्कारः ॥ ३ ॥

पद०–अनिरुक्तः । त्रयोदशः । स्तोभः । सञ्चरः । हुङ्कारः ।

पदा०–(अनिरुक्तः) अनिर्वचनीय असीम ब्रह्म के ज्ञानार्थ (त्रयोदशः) तेरहवां (सञ्चरः) अन्य सब स्तोभों से सम्बन्ध रखने वाला (हुङ्कारः) "हुंकार" नामक (स्तोभः) स्तोभ गाया जाता है ।

भाष्य–इस खण्ड में पीछे पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य्यप्रभृति पदार्थों के ज्ञानार्थ (१) हा उकार (२) हा इकार (३) अथकार (४) इहकार (५) ईकार (६) ऊकार (७) एकार (८) औहो इकार (९) हिङ्कार (१०) स्वर (११) या (१२) वाक्, यह बारह "स्तोभ" कथन किये गये हैं, अब उक्त श्लोक में विद्यानिधि असीम परमपिता परमात्मा के ज्ञानार्थ यह तेहरवां "हुङ्कार" नामक स्तोभ कथन कियागया है जो सब स्तोभों से सम्बन्ध रखता है अर्थात् सब पदार्थों को जानते हुए अन्त में वही अनिरुक्त जिज्ञासनीय है, क्योंकि उसके बिना जाने पुरुष का आत्मा कदापि शान्त नहीं होता और न उसका मनुष्यजीवन सफल होता है, और सम्पूर्ण सामगान का तात्पर्य्य भी उसी से है ।

सं०–अब अन्त में उक्त सामगान का फल कथन करते हैं :—

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं,यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतामेव ँ साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद इति ॥ ४ ॥

पद०–दुग्धे । अस्मै । वाक् । दोहं । यः । वाचः । दोहः । अन्नवान् । अन्नादः । भवति । यः । एतां । एवं । साम्नां । उपनिषदं । वेद । उपनिषदं । वेद । इति ।

पदा०–(अस्मै) उक्त स्तोभों के ज्ञाता के लिये (वाक्) बाणी (दोहं) दुग्ध को (दुग्धे) दुहती है (यः) जो (वाचः) बाणी का (दोहः) दुग्ध है और वह (अन्नवान्) अन्न वाला तथा (अन्नादः) अन्न का भोक्ता (भवति) होता है (यः) जो (साम्नां) सामवेद सम्बन्धी (एतां) इस (उपनिषदं) उपनिषद् को (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है ।

भाष्य–“ **उपनिषदं वेद इति** ” पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता तथा खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, बाणी स्वयं बाणीरूप दूध को दुहकर उस साधक को देती है जो उक्त त्रयोदश स्तोभों का ज्ञाता है अर्थात् उक्त ज्ञाता पुरुष की बाणी में ऐसा अमृतरूप मिठास आजाता है कि सम्पूर्ण संसार के प्राणी उससे प्यार करते हैं, संसार में उसका कोई अनिष्टचिन्तन करने वाला नहीं होता सम्पूर्ण संसार उसका सुहृद् होता है, इसी भाव को योगशास्त्र में इसप्रकार वर्णन किया है कि“**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्**” यो० २ । ३६=परमात्मपरायण पुरुष की बाणी सत्य के सिद्ध होने पर क्रिया तथा फल का आश्रय होजाती है अर्थात् ऐसा पुरुष यदि अधार्मिक पुरुष को भी

अपनी वाणी से "धार्मिको भव"=तू धार्मिक होजा, ऐसा कहदे तो वह धार्मिक होजाता है और दुखी को "सुखी भव"=तू सुखी होजा, इस प्रकार कहदे तो वह उसके कथनानुसार आचरण करने से निश्चय सुखी होजाता है, ऐसे पुरुष की वाणी कभी व्यर्थ नहीं जाती किन्तु जो वह कथन करता है वही होजाता है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "योगार्य्यभाष्य" में किया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें, उक्त गुण सम्पन्न पुरुष ही ऐश्वर्य्यवान् तथा ऐश्वर्य्य का भोक्ता होता है जो सामवेद सम्बन्धी इस तत्व को जानता है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिवद्धे
छान्दोग्योपनिषदार्य्यभाष्ये
प्रथमःप्रपाठकः समाप्तः

ओ३म्

अथ द्वितीयःप्रपाठकः प्रारभ्यते

सं०—प्रथम प्रपाठक में उद्गीथरूप ब्रह्मोपासना का विस्तार पूर्वक वर्णन किया, अब इस प्रपाठक में साम सम्बन्धी विचार आरम्भ करते हुए प्रथम "साम" तथा "असाम" का लक्षण कथन करते हैं:—

समस्तस्य खलु साम्न उपासनꣳसाधु, यत्खलुसाधु तत्सामेत्याचक्षते,य-दसाधुतदसामेति ॥ १ ॥

पद०—समस्तस्य । खलु । साम्नः । उपासनं । साधु । यत् । खलु । साधु । तत् साम । इति । आचक्षते । यत् । असाधु । तत् । असाम । इति ।

पदा०—(खलु) निश्चयकरके (समस्तस्य) सम्पूर्ण (साम्नः) सामवेद का (उपासनं) विचार (साधु) कल्याणकर है, (यत्) जो (खलु) निश्चयकरके (साधु) कल्याणकर है (तत्) उसको (साम) साम (आचक्षते, इति) कहते हैं और (यत्) जो (असाधु) अश्रेयसकर है (तत्) उसको (असाम, इति) असाम कहते हैं।

भाष्य—इस श्लोक में सामवेद की महिमा वर्णन कीगई है अर्थात् यह कथन कियागया है कि सम्पूर्ण सामवेद का विचार करना पुरुष के लिये कल्याणकारी है, जो निश्चयकरके

कल्याणकारी हो उसको "साम" और जो अश्रेयसकर है उसको "असाम" कहते हैं, यह विद्वानों ने इसका लक्षण किया है।

सं०-अब उक्त अर्थ को लौकिक उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं:—

तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥ २ ॥

पद०-तत्। उत। अपि। आहुः। साम्ना। एनं। उपागात्। इति। साधुना। एनं। उपागात्। इति। एव। तत्। आहुः। असाम्ना। एनं। उपागात्। इति। असाधुना। एनं। उपागात्। इति। एव। तत्। आहुः।

पदा०-(तत्) उसको (उत) अन्य वेदवेत्ता (अपि) भी (आहुः) कथन करते हैं कि (साम्ना, एनं, उपागात् इति) साम से इसको प्राप्त हुआ (साधुना, एनं, उपागात्, इति) साधुभाव से इसको प्राप्त हुआ (एव) निश्चयकरके (तत्, आहुः) यह कथन करते हैं, (असाम्ना, एनं, उपागात्, इति) असाम से इसको प्राप्त हुआ (असाधुना, एनं, उपागात्, इति) असाधु भाव से इसको प्राप्त हुआ (एव, तत्, आहुः) बुद्धिमान् पुरुष ऐसा ही कथन करते हैं।

भाष्य—उपरोक्त श्लोक के भाव को इस श्लोक में स्पष्ट किया है अर्थात् "साम" और "असाम" के अर्थ को स्पष्टतया दर्शाया है कि लोक में इनका व्यवहार किसप्रकार होता है, इस भाव को यह श्लोक इसप्रकार वर्णन करता है कि बुधजन उक्त शब्दों का प्रयोग लोक में इस प्रकार करते हैं कि "**साम से इसको प्राप्त हुआ**" जिसका अर्थ यह है कि "**साधुभाव से इसको प्राप्त हुआ**" इसीप्रकार "**असाम से इसको प्राप्त हुआ**" अर्थात् "**असाधु भाव से इसको प्राप्त हुआ**" ऐसा शास्त्रज्ञ पुरुष कथन करते हैं।

सार यह है कि साम के अर्थ "**साधु**" और असाम के अर्थ "**असाधु**" हैं, "साधु" शब्द का अर्थ "**उत्तम**" और "असाधु" का अर्थ "**अनुत्तम**" है, जैसाकि लोक में सर्वत्र व्यवहार होता है कि बड़ी उत्तमता से इसको गाकर सुनाया अथवा अनुत्तम रीति से इसके पास गाया, इत्यादि, अधिक क्या लौकिक उदाहरणों से भी "साम" शब्द का अर्थ "साधु" ही सिद्ध कियागया है।

सं०—अब उक्त अर्थ की सिद्धि में अन्य उदाहरण कथन करते हैं:—

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधुभवति साधुबतेत्येव तदाहुरसाम नो बतेतियद-साधुभवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः॥३॥

पद०—अथ । उत । अपि । आहुः । साम । नः । बत । इति यत् । साधु । भवति । साधु । बत । इति । एव । तत् । आहुः । असाम । नः । बत । इति । यत् । असाधु । भवति । असाधु । बत । इति । एव । तत् । आहुः ।

पदा०—(अथ) इसके अनन्तर (उत, अपि) और भी आचार्य्य (आहुः) कथन करते हैं कि जब किसी को (यत्) जो (साधु) उत्तम पदार्थ प्राप्त (भवति) होता है तो वह कहता है कि (नः) हमको (तत्) वह (साम) उत्तम पदार्थ (बत, इति) उसकी कृपा से प्राप्त हुआ है (साधु, बत, इति) उत्तम पदार्थ प्राप्त हुआ है (एव, आहुः) ऐसा ही कथन करता है (यत्, असाधु, भवति) जब असाधु पदार्थ प्राप्त होता है तो वह यह कहता है कि (नः) हमको (बत, इति) उसकी कृपा से (तत्, असाम) वह असाम प्राप्त हुआ है (एव, तत्, आहुः) वह ऐसा ही कथन करता है ।

भाष्य—उक्त अर्थ को इस श्लोक में इसप्रकार स्फुट किया है कि जब किसी को कोई साधु=उत्तम पदार्थ प्राप्त होता है तो वह कहता है कि हमको यह साम=उत्तम पदार्थ उस परमात्मा की ओर से प्राप्त हुआ है, और इसके विपरीत असाधु=अकल्याणकर पदार्थ प्राप्त होता है तो वह कहता है कि हमको असाम=अकल्याणकर पदार्थ उसकी ओर से प्राप्त हुआ है अर्थात् असाधु प्राप्त हुआ है ।

या यों कहो कि प्रजा के लिये जब कोई [illegible] बात होती है तो प्रजा कहती है कि यह हमारे लिये " साम " है और जब

अशुभ होता है तो सब कहते हैं कि यह हमारे लिये "असाम" है अर्थात् साधु नहीं असाधु है।

सं०-अब उक्त सामज्ञान का फल कथन करते हैंः—

स य एतदेवं विद्वान् साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳसाधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥ ४ ॥

पद०-सः। यः। एतत्। एवं। विद्वान्। साधु। साम। इति। उपास्ते। अभ्याशः। ह। यत्। एनं। साधवः। धर्माः। आ। च। गच्छेयुः। उप। च। नमेयुः।

पदा०-(सः) वह पुरुष (यः) जो (एतत्) इस (साम) साम को (एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (साधु) मङ्गलमय (विद्वान्) जानता हुआ (उपास्ते) उपासना करता है (ह) निश्चयकरके (एनं) इस उपासक को (अभ्याशः) शीघ्र ही (यत्) जो (साधवः, धर्माः) मङ्गलमय धर्म हैं वह (आ, च, गच्छेयुः) प्राप्त होते हैं (च) और (उप, नमेयुः) वह उसके स्वाभाविक होजाते हैं।

भाष्य-इस श्लोक में यह भाव वर्णन कियागया है कि जो पुरुष सामवेद को पूर्वोक्त गुणों सहित मङ्गलमय जानता हुआ उपासता=विचारता है उस उपासक को शीघ्र ही मङ्गलमय धर्म

प्राप्त होते हैं और वह धर्म उसके अपने होजाते हैं अर्थात् फिर उससे संसार में कोई अनिष्ट नहीं होता वह संसार के सब पदार्थों तथा प्राणियों को साधुदृष्टि से देखता है. या यों कहो कि केवल वेद में ही उसकी साम बुद्धि नहीं होती किन्तु ईश्वर रचित सब पदार्थों में उसकी साधुदृष्टि होती है और वह आनन्दित होकर संसार में विचरता है।

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—प्रथम खण्ड में "साम" का अर्थ तथा उसके ज्ञान का इमत्व वर्णन करके अब इस खण्ड में पृथिवी आदि लोकलोकान्तरों में पंचविधि साम की उपासना कथन करते हैं :—

लोकेषुपञ्चविध ँसामोपासीत, पृथिवी हिङ्कारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यःप्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥ १ ॥

पद०—लोकेषु । पञ्चविधं । साम । उपासीत । पृथिवी । हिङ्कारः । अग्निः । प्रस्तावः । अन्तरिक्षं । उद्गीथः । आदित्यः । प्रतिहारः । द्यौः । निधनं । इति । ऊर्ध्वेषु ।

पदा०—(लोकेषु) पृथिवी आदि लोकों के मध्य (पंचविधं) पंचविध (साम) साम को (उपासीत) विचारे (पृथिवी, हिङ्कारः) पृथिवी को हिङ्कार रूप से (अग्निः, प्रस्तावः) अग्नि को प्रस्ताव रूप से (अन्तरिक्षे, उद्गीथः) अन्तरिक्ष को उद्गीथरूप से (आदित्यः, प्रतिहारः) आदित्य को प्रतिहाररूप से (द्यौः, निधनं) द्युलोक को निधनरूप से विचारे (इति) और इस व्यवस्था को (ऊर्ध्वेषु) एक दूसरे से ऊपर समझे।

भाष्य—पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यौ इन पांच लोकलोकान्तरों के मध्य हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन, इस पांच प्रकार के साम को विचारे अर्थात् सामगीति

के जो यह पांच विभाग हैं इनका भलेप्रकार चिन्तन करे, दो वा अधिक उद्गाता मिलकर जिस साम को गाते हैं उसका नाम "हिङ्कार" है,इस सामगान मेंउद्गाता लोग "हिं" वा "हुं" शब्द का अधिक उच्चारण करते हैं इसलिये भी इसको "हिङ्कार" कहते हैं, प्रस्तोता जिस साम को गाता है उसका नाम "प्रस्ताव" उद्गाता जिस साम को गाता है उसका नाम "उद्गीथ" प्रतिहर्त्ता जिसका गान करता है उसका नाम "प्रतिहार" और जिसको सब मिलकर गाते हैं उसका नाम "निधन" है, पृथिवीलोक को हिङ्काररूप से विचारने का तात्पर्य्य यह है कि इस पृथिवीलोक में उस परमपिता परमात्मा की विचित्र रचना का भलेप्रकार अनुसन्धान करता हुआ उसकी महिमा को सामगान द्वारा लोगों पर प्रकट करे जिससे लोग परमात्मपरायण होकर मनुष्यजीवन सफल करें अथवा इस पृथिवीलोक की रचना के तत्त्व को विचारता हुआ सामगानद्वारा चित्त को प्रफुल्लित करके उसकी भक्ति में लगावे, इसी प्रकार फिर अग्नि के तत्व को विचारे, फिर अन्तरिक्ष लोक का चिन्तन करे पुनः आदित्यलोक फिर द्युलोक और सब से पश्चात् ऊर्ध्वलोक का चिन्तन करे, इस प्रकार क्रम से ऊपर२ विचारता जाय, ऐसा करने वाला परमात्मा को पालेता है और एक साथ उपरि लोकों का चिन्तन करने वाला वहां नहीं पहुंचसक्ता वह योगभ्रष्ट पुरुष की न्याईं नीचे गिरकर पतित होजाता है, इससे सिद्ध है कि नियमानुसार पौड़ी २ चढ़ने वाला ही पथ से पतित न होकर अपने लक्ष्य को प्राप्त होता है, यही भाव इस श्लोक में वर्णन कियागया है।

सं०—अब अधोमुख लोकविषयक कथन करते हैं :—

अथाऽऽवृत्तेषु,द्यौर्हिङ्कार आदित्यः प्र-स्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ २ ॥

पद०—अथ । आवृत्तेषु । द्यौः । हिङ्कारः । आदित्यः । प्रस्तावः । अन्तरिक्षं । उद्गीथः । अग्निः । प्रतिहारः । पृथिवी । निधनम् ।

पदा०—(अथ) अब (आवृत्तेषु) अधोमुख लोकों का क्रम कथन करते हैं कि (द्यौः, हिङ्कारः) द्युलोक को हिङ्काररूप से (आदित्यः, प्रस्तावः) आदित्य लोक को प्रस्तावरूप से (अन्तरिक्षं, उद्गीथः) अन्तरिक्ष को उद्गीथरूप से (अग्निः, प्रतिहारः) अग्नि को प्रतिहार रूप से (पृथिवी, निधनं) पृथिवी को निधन रूप से विचारे।

भाष्य—उपरोक्त श्लोक में ऊर्ध्वमुख लोकों का वर्णन करके इसश्लोक में अधोमुख लोकों का कथन किया है कि द्युलोक को हिङ्काररूप से विचारे जिसका तात्पर्य्य यह है कि जैसे उद्गाता लोग हिङ्कारविधि का सम्पादन करते हैं इसी प्रकार मानो द्युलोकस्थ तारागण तथा नक्षत्रादि सब मिलकर उसी महान् परमात्मा के ऐश्वर्य्य का गायन कररहे हैं, इस भाव को विचारता हुआ पुरुष उसकी महिमा का सामगान द्वारा अनुसन्धान करे, इसी प्रकार आदित्यलोक को प्रस्तावरूप से विचारने का तात्पर्य्य यह है कि जिसप्रकार प्रस्तोता लोग सामगान द्वारा प्रस्ताव

करते हैं कि उठो उस महान् परमपिता परमात्मा की शरण में आओ जिसका ऐश्वर्य्य सर्वत्र भासित होरहा है एवं मानो सूर्य्य उदय होकर सब प्राणियों को उपदेश करता है कि उठो, जागो निद्रा का त्याग करके उस ईश्वर की महिमा का अवलोकन करो जो तुम्हारा नियन्ता और सर्वरक्षक है, इस प्रकार प्रस्ताव करता हुआ सूर्य्य उदय होता है, अन्तरिक्ष को उद्गीथरूप द्वारा चिन्तन करने का अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार ऋत्विक् लोग उच्चस्वर से गान करते हुए उद्गीथ कर्म को समाप्त करते हैं इसीप्रकार अन्तरिक्षस्थ वायु मेघ तथा विद्युत् आदि सब उच्चस्वर से उसकी महिमा को गाते हुए भासमान होरहे हैं, एवं अग्नि को प्रतिहार इस अभिप्राय से कथन लिया है कि जिसप्रकार प्रतिहर्त्ता सामगान करता हुआ यज्ञशेष का वितरण करता है इसी प्रकार अग्नि हुत पदार्थों को यथाभाग बांट देता है, इस प्रकार अग्नि तत्त्व को विचारता हुआ परमात्मचिन्तन करे, एवं क्रमागत चिन्तन करता हुआ सब से पीछे पृथिवी लोक को विचारे, क्योंकि अधोमुख लोकों में सब से ऊपर पृथिवी लोक है अर्थात् पृथिवी लोक में परमात्मा की महिमा का अनुसन्धान करता हुआ सामगान द्वारा परमात्मा में चित्तस्थिर करे, इसी भाव को अलङ्कार द्वारा अथर्व० ९ । ३ । ६ में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविताप्रस्तौति ॥१॥ बृहस्पतिरूर्जयोद्गायातित्वष्टापुष्ट्या प्रतिहरति विश्वेदेवा निधनम् ॥२॥

अर्थ–उस परमपिता परमात्मा के यश को गायन करने के लिये उषा=प्रातःकाल मानो हिङ्कार विधि को पूर्ण करता है, सूर्य्य प्रस्ताव विधि, मध्यान्ह सूर्य्य पूर्ण ज्योति युक्त होकर उद्गीथ विधि, अपरान्ह सूर्य्य पुष्टि प्रदान द्वारा प्रतिहार विधि और सायंकाल में विश्वेदेवा=सम्पूर्ण प्राणी मानो निधन साम को गाते हैं, क्योंकि निधन साम अंत में गाया जाता है जिसका तात्पर्य्य यह है कि दिन की तप्त ज्वाला से संतप्त हृदय जगत् सन्ध्याकाल में सब कर्मों को समाप्त करके जो शान्तिलाभ करते हैं इसी का नाम " निधन " है।

सं०–अब ऊर्ध्व तथा अधोमुख लोकों के ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च । य एतदेवं विद्वांल्लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ ३ ॥

पद०–कल्पन्ते । ह । अस्मै । लोकाः । ऊर्ध्वाः । च । आवृत्ताः । च । यः । एतत् । एवं । विद्वान् । लोकेषु । पंचविधं । साम । उपास्ते ।

पदा०–(यः) जो उपासक (एतत्) इस (पंचविधं, साम) पांच प्रकार के साम को (एवं) उक्त प्रकार से (विद्वान्) जानता हुआ (लोकेषु) पृथिवी आदि लोकरूप में (उपास्ते) विचारता है (अस्मै) उसको (ह) निश्चयकरके (ऊर्ध्वाः, लोकाः, च) ऊपर के लोक (च) और (आवृत्ताः) नीचे के लोक (कल्पन्ते) प्राप्त होते हैं।

भाष्य—इस श्लोक में उक्त पंचविध साम को पंचविध लोकों द्वारा विचारने का फल कथन किया है अर्थात् जो उपासक उक्त प्रकार से पंचविध साम को लोकलोकान्तरों द्वारा विचारता है वह ऊर्ध्व और आवृत्त सब लोंको का ज्ञान प्राप्त करलेता है अर्थात् वह दोनों प्रकार के सब लोकलोकन्तरों के तत्त्व को जानलेता है, यही कारण है कि प्राचीन लोग अनुष्ठानी होने के कारण तत्त्ववेत्ता होते थे और आजकल उस प्रथा के उठ जाने से लोग ईश्वरीय रचना का अनुसन्धान न करने के कारण तत्ववित् नहीं होते, अतएव सब पुरुषों को उचित है कि वह ईश्वरीय रचना का अनुसन्धान करते हुए परमपिता परमात्मा को प्राप्त हों, यही मनुष्य जीवन का एकमात्र उद्देश्य है ॥

इति द्वितीयःखण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—पृथिवी आदि लोकों में पंचविध सामोपासना का वर्णन करके अब इस खण्ड में वृष्टि द्वारा पंचविध साम का विचार कथन करते हैं :—

वृष्टौपञ्चविधꣳसामोपासीत,पुरोवातो हिङ्कारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः॥१॥

पद०—वृष्टौ । पंचविधं । साम । उपासीत । पुरोवातः । हिङ्कारः । मेघः । जायते । सः । प्रस्तावः । वर्षति । सः । उद्गीथः । विद्योतते । स्तनयति । सः । प्रतिहारः ।

पदा०—(वृष्टौ) वृष्टि द्वारा (पंचविधं) पांच प्रकार के (साम) साम को (उपासीत) विचारे (पुरोवातः, हिङ्कारः) पुरोवात वायु का हिङ्काररूप से विचार करे और (मेघः, जायते) आकाश में जो मेघ उत्पन्न हुआ दीखता है (सः, प्रस्तावः) उसको प्रस्तावरूप से (वर्षति) जो वर्षता है (सः, उद्गीथः) उसको उद्गीथरूप से (विद्योतते) आकाश में जो विद्युत् चमकती है और (स्तनयति) गरजता है (सः, प्रतिहारः) उसको प्रतिहार रूप से विचारे ॥

उद्गृह्णाति तन्निधनम्, वर्षति हास्मै वर्षयति ह । य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधꣳसामोपास्ते ॥ २ ॥

पद०—उद्गृह्णाति । तत् । निधनं । वर्षति । ह । अस्मै । वर्षयति । ह । यः । एतत् । एवं । विद्वान् । वृष्टौ । पंचविधं । साम । उपास्ते ॥

पदा०—(उद्गृह्णाति) वर्षा का जो उपसंहार करता है (तत्, निधनं) वह निधन है, (ह) निश्चय करके (यः) जो पुरुष (एतत्) इसको (एवं) उक्त प्रकार से (विद्वान्) जानता हुआ (वृष्टौ) वृष्टि विषय में (पंचविधं) पांच प्रकार के (साम) साम का (उपास्ते) विचार करता है (अस्मै) उस उपासक के लिये

(ह) निश्चय करके (वर्षति) आनन्द की वृष्टि होती है और वह (वर्षयति) दूसरों के हृदय में भी आनन्द की वृष्टि करता है॥

भाष्य–उक्त श्लोकों में वृष्टि द्वारा पंचविध साम का विचार और उस विचार का फल कथन कियागया है अर्थात् हिङ्कार द्वारा पुरोवात वायु को विचारे, आकाश में जो मेघ चारो ओर से एकत्रित हो उत्पन्न होते हैं वह प्रस्ताव है अर्थात् उत्पन्न हुए मेघ को देखकर जो वृष्टि होने की आशा प्रजाओं में होती है वह मेघोन्नति वृष्टि का प्रस्ताव है, जो वर्षा होती है वह उद्गीथ है अर्थात् जैसे उद्गाता मन्द २ स्वर से उद्गीथ का गान करते हैं इसी प्रकार मानो उद्गीथ कर्म का विधान करती हुई जलधारा मन्द २ स्वर से गिरती है, आकाश में जो विद्युत् प्रकाशित होती तथा गरजता है वह दोनों मिलकर प्रतिहार है और जो धीरे २ वर्षा समाप्त होती है अथवा जो वर्षा का उपसंहार करता है वह निधन है, जो पुरुष उक्त भाव को भलेप्रकार जानता हुआ वृष्टि विषय में पंचविध साम का विचार करता है उसके लिये कल्याण होता है और वह दूसरों को भी आनन्दित करता है॥

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब जलों में पञ्चविध साम का विचार कथन करते हैं:–

सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳ सामोपासीत,मेघो यत् सम्प्लवते स हिङ्कारो यद्वर्षति स प्रस्तावो

याः प्राच्यःस्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ॥ १ ॥

पद०—सर्वासु । अप्सु । पञ्चविधं । साम । उपासीत । मेघः। यत् । सम्प्लवते । सः । हिङ्कारः । यत् । वर्षति । सः । प्रस्तावः । याः । प्राच्यः । स्यन्दन्ते । सः । उद्गीथः । याः । प्रतीच्यः । सः । प्रतिहारः । समुद्रः । निधनं ।

पदा०—(सर्वासु, अप्सु) सब जलों में (पंचविधं, साम) पंचविध साम को (उपासीत) विचारे (यत्) जो (मेघः) मेघ (सम्प्लवते) चारो ओर से घिर घटाबांधकर उठते हैं (सः, हिङ्कारः) वह हिङ्कार है (यत्, वर्षति) जो वर्षता है (सः, प्रस्तावः) वह प्रस्ताव है (याः) जो जल (प्राच्यः, स्यन्दन्ते) पूर्वमुख होकर बहते हैं (सः, उद्गीथः) वह उद्गीथ है (याः) जो (प्रतीच्यः) पश्चिम मुख हो बहते हैं (सः, प्रतिहारः) वह प्रतिहार है (समुद्रः, निधनं) समुद्र निधन है ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह वर्णन कियागया है कि नदी, कूप, तड़ागादि जलों में पंचविध साम का विचार करे अर्थात् जलों में भी सब दृश्यमान पदार्थों को देख ईश्वरीय विभूति की महिमा का अवलोकन करता हुआ परमात्मा में चित्त स्थिर करे, जैसाकि मेघ=बादल इधर उधर से घिर घटाबांधकर वर्षा की तैयारी करते हैं वह मानो "हिङ्कार" है, क्योंकि हिङ्कारविधि में भी सब ऋत्विक् लोग चारो ओर से एकत्रित हो परमात्मा का स्तवन करते हुए यज्ञ का प्रारम्भ करते हैं, जो वर्षता है वह मानो

" प्रस्ताव " है, क्योंकि वर्षा होने से नदी आदि के बढ़ने का प्रस्ताव होता है, जो जल पूर्वमुख हो बहते हैं वह मानो "उद्गीथ" जो पश्चिम मुख हो बहते हैं वह " प्रतिहार " और सब जलों की समुद्र में समाप्ति होने से समुद्र को "निधन" कथन कियागया है ॥

सं०-अब उक्त जलों के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान् भवति, य एतदेवं विद्वान् सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ २ ॥

पद०-न । ह । अप्सु । प्रैति । अप्सुमान् । भवति । यः । एतत् । एवं । विद्वान् । सर्वासु । अप्सु । पंचविधं । साम । उपास्ते ।

पदा०-(यः) जो पुरुष (एवं) उक्त प्रकार से (विद्वान्) जानता हुआ (सर्वासु, अप्सु) सब जलों में (एतत्) इस (पंचविधं) पांचप्रकार के (साम) साम को (उपास्ते) विचारता है वह (ह) निश्चयकरके (अप्सु) जलों में (न) नहीं (प्रैति) मरता, और वह (अप्सुमान्, भवति) जलों वाला होता है ।

भाष्य-इस श्लोक में जलों के ज्ञान का फल कथन किया गया है अर्थात् जो पुरुष जलों में उक्त पंचविध साम का विचार करता है, या यों कहो कि जो जल की विद्या को भलेप्रकार जानता है वह कदापि जलों में डूबकर नहीं मरता प्रत्युत

वह जलों का स्वामी होता है, अतएव सब पुरुषों को उचित है कि जलों की विद्या को भलेप्रकार जानें ताकि जलों द्वारा हमारी सब ओर से रक्षा हो।

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब ऋतुओं में पंचविध साम का विचार कथन करते हैं:—

ऋतुषु पञ्चविधꣳसामोपासीत, वसन्तो हिङ्कारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम्॥१॥

पद०—ऋतुषु । पंचविधं । साम । उपासीत । वसन्तः । हिङ्कारः । ग्रीष्मः । प्रस्तावः । वर्षाः । उद्गीथः । शरत् । प्रतिहारः । हेमन्तः । निधनम् ।

पदा०—(ऋतुषु) ऋतुओं में (पंचविधं) पांचप्रकार की (साम) सामविधि को (उपासीत) विचारे (वसन्तः, हिङ्कारः) वसन्तऋतु हिङ्कार (ग्रीष्मः,प्रस्तावः) ग्रीष्म प्रास्तव (वर्षाः, उद्गीथः) वर्षा उद्गीथ (शरद्, प्रतिहारः) शरद् प्रतिहार (हेमन्तः, निधनं) हेमन्त निधन है ।

भाष्य—इस श्लोक में ऋतुओं द्वारा पंचविध साम का विचार वर्णन कियागया है कि वसन्तऋतु हिङ्कार है, क्योंकि

जिसप्रकार वसन्तऋतु में विविध कुसुम तथा क्षेत्रों में अन्नादि के फूलने से सब प्रजायें प्रफुल्लित हो परमात्मा को धन्यवाद देती हुई यज्ञादिक प्रारम्भ करती हैं इसी प्रकार हिङ्कारविधि को पूर्ण करते हुए सब ऋत्विक् लोग परमात्मा का स्तवन करते हुए आनन्द को प्राप्त होते हैं, ग्रीष्म ऋतु को प्रस्ताव इस अभिप्राय से वर्णन कियागया है कि वह वर्षा के भविष्यत् का प्रस्ताव करती है कि गरमी की अधिकता से आगे वर्षा होगी, वर्षा को उद्गीथ इस कारण कथन कियागया है कि जैसे उद्गाता लोग सामगान द्वारा प्रसन्नचित्त हो परमात्मा का स्तवन करते हैं इसी प्रकार मानो वर्षा का नाद परमात्मा का गान कर रहा है, इसी प्रकार शरद् ऋतु प्रतिहार और हेमन्त ऋतु निधन है अर्थात् शरद् ऋतु कल्याण को लाता और हेमन्त ऋतु में सब जीव नीरोग होकर यज्ञादि द्वारा परमात्मपरायण होने के लिये यत्नवान होते हैं ॥

सं०—अब उक्त ऋतुओं के ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति । य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ २ ॥

पद०—कल्पन्ते । ह । अस्मै । ऋतवः । ऋतुमान् । भवति । यः । एतत् । एवं । विद्वान् । ऋतुषु । पंचविधं । साम । उपास्ते ।

पदा०—(यः) जो पुरुष (एवं) उक्त प्रकार से (विद्वान्) जानता हुआ (ऋतुषु) ऋतुओं में (एतत्) इस (पंचविधं)

पंचविध (साम) साम का (उपास्ते) विचार करता है (अस्मै) उसके लिये (ह) निश्चयकरके (ऋतवः) सब ऋतुयें (कल्पन्ते) कल्याणकारी होती हैं और वह (ऋतुमान्, भवति) ऋतुमान् होता है ।

भाष्य–जो पुरुष उक्त प्रकार से सब ऋतुओं में पंचविध साम का विचार करता है उसको सब ऋतुयें अनुकूल होती हैं अर्थात् सब ऋतुओं में उसके लिये कल्याण होता है और ऐसा पुरुष ही ऋतुमान् कहलाता है, या यों कहो कि शीतोष्ण वर्षा आदि का सहन करके वाला नीरोग रहता है उसपर कोई ऋतु अपना प्रभाव नहीं डालसक्ती ।

इति पञ्चमःखण्डः समाप्तः

अथ षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब पशुविषयक पंचविध साम का कथन करते हैं:—

पशुषु पंचविधꣳसामोपासीत, अजाः हिङ्कारोऽवयःप्रस्तावो गावउद्गीथोऽश्वा प्रतिहारः पुरुषोनिधनम् ॥ १ ॥

पद०–पशुषु । पंचविधं । साम । उपासीत । अजाः । हिङ्कारः । अवयः । प्रस्तावः । गावः । उद्गीथः । अश्वाः । प्रतिहारः । पुरुषः । निधनं ।

पदा०–(पशुषु) पशुओं में (पंचविधं) पंचविध (साम) साम का (उपासीत) चिन्तन करे (अजाः, हिङ्कारः) बकरी हिङ्कार (अवयः, प्रस्तावः) भेड़ प्रस्ताव (गावः, उद्गीथः) गाय उद्गीथ (अश्वाः, प्रतिहारः) अश्व प्रतिहार (पुरुषः, निधनं) पुरुष निधन है ।

सं०–अब उक्त विचार का फल कथन करते हैं :—

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान् भवति । य एतदेवं विद्वान् पशुषु पञ्चविधँ सामोपास्ते ॥२॥

पद०–भवन्ति । ह । अस्य । पशवः । पशुमान् । भवति । यः । एतत् । एवं । विद्वान् । पशुषु । पंचविधं । साम । उपास्ते ।

पदा०–(यः) जो पुरुष (एवं) उक्त प्रकार से (विद्वान्) जानता हुआ (पशुषु) पशुओं में (एतत्) इस (पंचविधं, साम) पंचविध साम का (उपास्ते) विचार करता है (अस्य) उसके (ह) निश्चय करके (पशवः) बहुत पशु (भवन्ति) होते हैं और वह (पशुमान्, भवति) पशुओं वाला होता है ।

भाष्य–उक्त श्लोकों में पशुविषयक पंचविध साम का विचार तथा उसका फल वर्णन कियागया है कि मानो अजा हिङ्कार, अवि प्रस्ताव, गायें उद्गीथ, अश्व प्रतिहार और पुरुष निधन है, जो उपासक उक्त प्रकार से पशुओं में पंचविध साम को विचारता है उसके बहुत पशु होते हैं अर्थात् वह धनाढ्य होता है ।

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब प्राणविषयक पंचविध साम का कथन करते हैं:—

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत। प्राणो हिङ्कारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनम्, परोवरीयांसि वा एतानि ॥ १ ॥

पद०—प्राणेषु। पंचविधं। परोवरीयः। साम। उपासीत। प्राणः। हिङ्कारः। वाक्। प्रस्तावः। चक्षुः। उद्गीथः। श्रोत्रं। प्रतिहारः। मनः। निधनं। परोवरीयांसि। वै। एतानि।

पदा०—(प्राणेषु) प्राणों में (पंचविधं) पंचविध (परोवरीयः) उत्तरोत्तर श्रेष्ठ (साम) साम को (उपासीत) विचारे (प्राणः) प्राण (हिङ्कारः) हिङ्कार (वाक्) बाणी (प्रस्तावः) प्रस्ताव (चक्षुः) चक्षु (उद्गीथः) उद्गीथ (श्रोत्रं, प्रतिहारः) श्रोत्र प्रतिहार (मनः) मन (निधनं) निधन है (वै) निश्चय करके (एतानि) यह सब (परोवरीयांसि) उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

भाष्य—इस श्लोक में प्राणों द्वारा पंचविध साम का चिन्तन कथन कियागया है अर्थात् उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होने से घ्राणस्थ प्राण "हिङ्कार" और वाक्स्थित प्राण प्रस्ताव है, क्योंकि बाणी द्वारा ही प्रस्ताव कियाजाता है, चक्षुः उद्गीथ है, क्योंकि नेत्रों द्वारा ही परमात्मा की विभूति को देखकर उसमें श्रद्धाभक्ति उत्पन्न होती है और फिर सामगान द्वारा उसका महत्व अपने हृदय में धारण करते हैं, श्रोत्र को प्रतिहार इसलिये कथन

किया है कि ब्रह्मवादी पुरुषों द्वारा उसका यशकीर्त्तन श्रवण करके उसमें अपनी भक्ति दृढ़ करते हैं और मन को निधन कथन करने का तात्पर्य्य यह है कि मन इन्द्रियों का राजा होने से सब इन्द्रियों द्वारा लाये हुए विषय मन को ही प्राप्त होते हैं, इस प्रकार यह सब प्राण उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

सं०—अब उक्त प्राणों के मनन का फल कथन करते हैं:—

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति। य एतदेवं विद्वान् प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयःसामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥ २ ॥

पद०—परोवरीयः। ह। अस्य। भवति। परोवरीयसः। ह। लोकान्। जयति। यः। एतत्। एवं। विद्वान्। प्राणेषु। पंचविधं। परोवरीयः। साम। उपास्ते। इति। तु। पंचविधस्य।

पदा०—(यः) जो पुरुष (एवं) उक्त प्रकार से (प्राणेषु) प्राणा में (विद्वान्) जानता हुआ (एतत्) इस (परोवरीयः) उत्तरोत्तर श्रेष्ठ (पंचविधं) पंचविध (साम) साम का (उपास्ते) चिन्तन करता है (ह) निश्चय करके (अस्य) उसका जीवन (परोवरीयः) पवित्र (भवति) होजाता है, और (ह) निश्चयकरके (परोवरीयसः) सर्वोत्तम (लोकान्) लोकों को (जयति, इति) जय करता है (तु) शब्द दृढ़ता के लिये आया है (पंचविधस्य) यह पंचविध साम का वर्णन है।

भाष्य—इस श्लोक में यह वर्णन किया है कि जो पुरुष प्रथम श्लोक में वर्णित श्रेष्ठ प्राणों में पंचविध साम का चिन्तन करता

है वह उच्च जीवन वाला तथा रोगरहित होकर परमात्म परायण होता है, और निश्चयकरके वह सर्वोत्तम लोकों का जय करता है, "लोक" शब्द के अर्थ यहां अवस्थाविशेष के हैं ॥

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-उक्त खण्डों में पंचविध-सामोपासना का वर्णन करके अब सप्तविध साम की उपासना कथन करते हैं:—

अथ सप्तविधस्य, वाचि सप्तविधँ सामोपासीत। यत्किञ्चवाचो हुमिति स हिङ्कारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः॥१॥

पद०-अथ। सप्तविधस्य। वाचि। सप्तविधं। साम। उपासीत। यत्। किंच। वाचः। हुं। इति। सः। हिङ्कारः। यत्। प्र। इति। सः। प्रस्तावः। यत्। आ। इति। सः। आदिः।

पदा०-(अथ) अब (सप्तविधस्य) सप्तविध साम का वर्णन करते हैं (वाचि) वाणी विषयक (सप्तविधं) सप्तविध (साम) साम का (उपासीत) चिन्तन करे (वाचः) वाणी विषयक (यत्, किं, च) जो कुछ (हुं,इति) "हुं" अक्षर है (सः) वह (हिङ्कारः) हिङ्कार (यत्) जो (प्र, इति) "प्र"

अक्षर है (सः) वह (प्रस्तावः) प्रस्ताव है (यत्) जो (आ, इति) "आ" अक्षर है (सः) वह (आदिः) आदि नामक साम है।

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥ २ ॥

पद०–यत्। उत्। इति। सः। उद्गीथः। यत्। प्रति। इति। सः। प्रतिहारः। यत्। उप। इति। सः। उपद्रवः। यत्। नि। इति। तत्। निधनम्।

पदा०–(यत्) जो (उत्, इति) "उत्" पद है (सः) वह (उद्गीथः) उद्गीथ है (यत्) जो (प्रति, इति) "प्रति" पद है (सः) वह (प्रतिहारः) प्रतिहार है (यत्) जो (उप, इति) "उप" पद है (सः) वह (उपद्रवः) उपद्रव है (यत्) जो (नि, इति) "नि" अक्षर है (तत्) वह (निधनं) निधन है।

भाष्य–इन दोनों श्लोकों में सप्तविध साम की उपासना कथन कीगई है अर्थात् हुं, प्र, आ, उत्, प्रति, उप और नि, यह सप्तप्रकार के साम हैं और यही प्रायः सम्पूर्ण गान में आते हैं, इन सबकी सूक्ष्मता का चिन्तन करे, या यों कहो कि इन सब को भलेप्रकार विचारता हुआ सामगान द्वारा ईश्वर की महिमा का चिन्तन करता हुआ अन्यों पर भी प्रकट करे।

सं०–अब उक्त सप्तविध साम के विचारने वाले को फल कथन करते हैं:—

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहम्, यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधꣳ सामोपास्ते ॥ ३ ॥

पद०–दुग्धे । अस्मै । वाक् । दोहं । यः । वाचः । दोहः । अन्नवान् । अन्नादः । भवति । यः । एतत् । एवं । विद्वान् । वाचि । सप्तविधं । साम । उपास्ते ।

पदा०–(अस्मै) उक्त पुरुष के लिये (वाक्) बाणी स्वयं (दोहं) दुग्ध को (दुग्धे) दुहती है (यः) जो (वाचः) बाणी का (दोहः) दुग्ध है, और वही (अन्नवान्) प्रभूत अन्नवाला और (अन्नादः) भले प्रकार खाने वाला (भवति) होता है (यः) जो (एवं, विद्वान्) उक्त प्रकार से जानता हुआ (वाचि) बाणी में (एतत्) इस (सप्तविधं) सप्तविध (साम) साम को (उपास्ते) विचारता है ।

भाष्य–इस श्लोक में यह बर्णन कियागया है कि जो उक्त सप्तविध साम को बाणी में विचारता है उसके लिये बाणी स्वयं अपने दूध को दुहती है अर्थात् उसकी बाणी में दुग्धरूप ऐसा रस उत्पन्न होजाता है कि संसार में सब उससे प्यार करने वाले तथा उसके मित्र होते हैं, क्योंकि उसकी बाणी का मिठास सब को उसकी ओर आकर्षित करलेता है और जो पुरुष कटुभाषण करते हैं उनका संसार में कोई भी सुहृद् नहीं होता उनका जीवन मरण समान ही होता है, इसलिये पुरुष को मधुरभाषी होने के लिये सदा यत्नवान् होना चाहिये और ऐसा पुरुष ही ऐश्वर्य

सम्पन्न तथा ऐश्वर्य्य का भोक्ता होता है जो उक्त सप्तविध साम को बाणी में विचारता है ।

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डःप्रारभ्यते

सं०-अब आदित्य और सप्तविध साम की समता कथन करते हैं:—

अथ खल्वमुमादित्यꣳसप्तविधꣳसामो-पासीत । सर्वदा समस्तेन साम, मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥१॥

पद०-अथ । खलु । अमुं । आदित्यं । सप्तविधं । साम । उपासीत । सर्वदा । समः । तेन । साम । मां । प्रति । मां । प्रति । इति । सर्वेण । समः । तेन । साम ।

पदा०-(खलु) निश्चयकरके (अथ) अब (अमुं) इस (आदित्यं) आदित्यसमान (सप्तविधं, साम) सप्तविध साम को (उपासीत) विचारे जो (सर्वदा) सर्वकाल में (समः) तुल्य है (तेन) इसकारण (साम) साम समान है (मां, प्रति) मेरे प्रति (मां, प्रति) मेरे प्रति, परस्पर एक दूसरे के प्रति समान है (इति) इसकारण (सर्वेण, समः) सबप्रकार से

समान है (तेन, साम) इस हेतु से वह साम आदित्य के तुल्य है।

भाष्य—आदित्य नाम सूर्य्य और हिङ्कार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन, यह सप्तविध साम कहाता है, सूर्य्य और इस सप्तविध साम की इसश्लोक में समानता वर्णन कीगई है कि जिसप्रकार आदित्य सर्वकाल में तुल्य है इसी प्रकार सप्तविध साम सर्वदा तुल्य है और परस्पर एक दूसरे के प्रति दोनों समान हैं, या यों कहो कि जिसप्रकार आदित्यरूप सूर्य्य मनुष्य से लेकर चींटी पर्य्यन्त सब जीवों को समान ही भासता है और सब प्राणी मेरा २ कहकर प्रसन्न होते हैं इसीप्रकार ज्ञानी अज्ञानी सभी सामगान श्रवण कर उसमें निमग्न होजाते हैं, अतएव जैसे सामगान सर्वप्रिय है इसी प्रकार आदित्य भी सर्वप्रिय होने के कारण दोनों समान हैं।

सं०—अब "हिङ्कार" विधि का कथन करते हैं:—

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्ययत्पुरोदयात्स हिङ्कारस्तदस्य-पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिङ्कुर्वन्ति हिङ्कारभाजिनोह्येतस्य साम्नः॥२॥

पद०—तस्मिन्। इमानि। सर्वाणि। भूतानि। अन्वायत्तानि। इति। विद्यात्। तस्य। यत्। पुरोदयात्। सः। हिङ्कारः। तत्। अस्य। पशवः। अन्वायत्ताः। तस्मात्। ते। हिङ्कुर्वन्ति। हिङ्कारभाजिनः। हि। एतस्य। साम्नः॥

पदा०-(तस्मिन्) उस आदित्य के (इमानि, सर्वाणि, भूतानि) यह सब भूतजात (अन्वायत्तानि) अधीन हैं (इति, विद्यात्) ऐसा जानना चाहिये (तस्य) उस सूर्य्य के (पुरोदयात्) उदय होने से पूर्व (यत्) जो ब्रह्ममुहूर्त्त काल है (सः, हिङ्कारः) वह हिङ्कार है (अस्य) इस सूर्य्य के (तत्) उस काल के (अन्वायत्ताः) अधीन (पशवः) पशु हैं (तस्मात्) इसकारण (ते) वह (हिङ्कुर्वन्ति) हिङ्कारविधि का अनुष्ठान करते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य) इस (साम्नः) सामगानरूप (हिङ्कारभाजिनः) हिंकारविधि के पात्र पशु ही हैं ॥

सं०-अब " प्रस्ताव " विधि का कथन करते हैं:—

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशꣳसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥२॥

पद०-अथ । यत् । प्रथमोदिते । सः । प्रस्तावः । तत् । अस्य । मनुष्याः । अन्वायत्ताः । तस्मात् । ते । प्रस्तुतिकामाः । प्रशंसाकामाः । प्रस्तावभाजिनः । हि । एतस्य । साम्नः ॥

पदा०-(अथ) अब प्रस्तावविधि कथन करते हैं (प्रथमोदिते) सूर्य्य के प्रथमोदय काल में (यत्) जो मुहूर्त्त होता है (सः, प्रस्तावः) वह प्रस्ताव है, क्योंकि (अस्य) इस सूर्य्य के (तत्) उस मुहूर्त्त के (अन्वायत्ताः) अधीन (मनुष्याः) मनुष्य हैं (तस्मात्) इस कारण (ते) वह मनुष्य (प्रस्तुतिकामाः) उस काल में स्तुति की कामना वाले और (प्रशंसाकामाः) प्रशंसा

की कामना वाले होते हैं (हिं) क्योंकि (एतस्य) इस आदित्य समान (साम्नः) सामवेद के (प्रस्तावभाजिनः) प्रस्ताव-पात्र मनुष्य हैं ॥

सं०-अब " आदि " विधि का कथन करते हैं :—

अथ यत्सङ्गववेलायाᳪस आदिस्तदस्य वयाᳫंस्यन्वायत्तानि। तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्भणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनिह्येतस्य साम्नः ॥ ४ ॥

पद०-अथ। यत्। सङ्गववेलायां। सः। आदिः। तत्। अस्य। वयांसि। अन्वायत्तानि। तस्मात्। तानि। अन्तरिक्षे। अनारम्भणानि। आदाय। आत्मानं। परिपतन्ति। आदिभाजीनि। हि। एतस्य। साम्नः॥

पदा०-(अथ) अब आदिविधि कथन करते हैं (सङ्गववेलायां) सूर्य्य की किरण निकलने का (यत्) जो काल है (सः,आदिः) वह आदि है (वयांसि) पक्षीगण (अस्य) इस (तत्) काल के (अन्वायत्तानि) अधीन हैं (तस्मात्) इसकारण (तानि) वह पक्षीगण (अन्तरिक्षे) आकाश में (अनारम्भणानि) आश्रयरहित हो (आत्मानं) अपने को (आदाय) लेकर (परिपतन्ति) चारो ओर उड़ते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य) इस (साम्नः) आदित्यसमान साम की (आदिभाजीनि) आदिविधि के पात्र वह पक्षीगण हैं ॥

सं०–अब "उद्गीथ" विधि कथन करते हैं:—

अथ यत्सम्प्रतिमध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ८ ॥

पद०–अथ। यत्। सम्प्रति। मध्यन्दिने। सः। उद्गीथः। तत्। अस्य। देवाः। अन्वायत्ताः। तस्मात्। ते। सत्तमाः। प्राजापत्यानां। उद्गीथभाजिनः। हि। एतस्य। साम्नः।

पदा०–(अथ) अब उद्गीथविधि कथन करते हैं (सम्प्रति) सम्प्रति (मध्यन्दिने) मध्यान्ह काल में (यत्) जो मुहूर्त्त होता है (सः,उद्गीथः) वह उद्गीथ है (अस्य) इस आदित्य सम्बन्धी (तत्) उस मुहूर्त्त के (अन्वायत्ताः) अधीन (देवाः) विद्वान्-गण हैं (तस्मात्) इस कारण (ते) वह विद्वान् (प्राजापत्यानां) परमात्म रचित पदार्थों में (सत्तमः) सर्वोत्तम हैं (हि) क्योंकि (एतस्य, साम्नः) इस आदित्यसमान साम की (उद्गीथभाजिनः) उद्गीथविधि के पात्र वही हैं ॥

सं०–अब "प्रतिहार" विधि कथन करते हैं :—

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ६ ॥

पद०-अथ । यत् । ऊर्ध्वं । मध्यन्दिनात् । प्राक् । अपराह्णात् । सः । प्रतिहारः । तत् । अस्य । गर्भाः । अन्वायत्ताः । तस्मात् । ते । प्रतिहृताः । न । अवपद्यन्ते । प्रतिहारभाजिनः । हि । एतस्य । साम्नः ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (मध्यन्दिनात्) मध्यान्हकाल के (ऊर्ध्वं) ऊपर (अपराह्णात्,प्राक्) अपराह्ण से पूर्व (यत्) जो काल (सः,प्रतिहारः) वह प्रतिहार है (अस्य) इस (तत्) काल के (अन्वायत्ता) अधीन (गर्भाः) गर्भ होते हैं (तस्मात्) इसकारण (ते) वह गर्भ (प्रतिहृताः) स्थिर होकर (अवपद्यन्ते) गिरते (न) नहीं (हि) क्योंकि (एतस्य, साम्नः) वह इस आदित्यसमान साम की (प्रतिहारभाजिनः) प्रतिहार विधि के भागी हैं ।

सं०-अब " उपद्रव " विधि का कथन करते हैं :—

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षँ श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ७ ॥

पद०-अथ । यत् । ऊर्ध्वं । अपराह्णात् । प्राग् । अस्तमयात् । सः । उपद्रवः । तत् । अस्य । आरण्याः । अन्वायत्ताः । तस्मात् । ते । पुरुषं । दृष्ट्वा । कक्षं । श्वभ्रं । इति । उपद्रवन्ति । उपद्रवभाजिनः । हि । एतस्य । साम्नः ।

पदा०-(अथ) अब प्रतिहारविधि के अनन्तर (अपराह्णात्) अपराह्ण से (ऊर्ध्वं) ऊपर (अस्तमयात्) अस्त समय से

(प्राग्) पूर्व (यत्) जो काल (सः, उपद्रवः) वह उपद्रव है (आरण्याः) बन के पशु (अस्य) इस आदित्य सम्बन्धी (तत्) उस काल के (अन्वाअत्ताः) अधीन होते हैं (तस्मात्) इस कारण (ते) वह पशु (पुरुषं) पुरुष को (दृष्ट्वा) देखकर (कक्षं) बन को वा (श्वभ्रं) निज स्थान को (उपद्रवन्ति) भाग जाते हैं (हि) क्योंकि वह (एतस्य) इस (साम्नः) साम की (उपद्रवभाजिनः, इति) उपद्रव विधि के भागी हैं।

सं०—अब "निधन" विधि का कथन करते हैं:—

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनम्, तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधाति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्यँ सप्तविधँ सामोपास्ते ॥ ८ ॥

पद०—अथ। यत्। प्रथमास्तमिते। तत्। निधनं। तत्। अस्य। पितरः। अन्वायत्ताः। तस्मात्। तान्। निदधाति। निधनभाजिनः। हि। एतस्य। साम्नः। एवं। खलु। अमुं। आदित्यं। सप्तविधं। साम। उपास्ते।

पदा०—(अथ) अब उपद्रव के अनन्तर (प्रथमास्तमिते) प्रथम अस्तकाल में (यत्) जो मुहूर्त्त होता है (तत्) वह (निधनं) निधन है (पितरः) मातापितादि पितर (अस्य) इस आदित्य सम्बन्धी (तत्) मुहूर्त्त के (अन्वायत्ताः) अधीन कार्य्य करते हैं (तस्मात्) इस कारण पुरुष (तान्) उन पितरों को (निद-

धति) रक्षार्थ सन्निहित करते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य) इस (साम्नः) साम की (निधनभाजिनः) निधनविधि के वह पात्र हैं (एवं) इस प्रकार (खलु) निश्चयकरके जो (अमुं) इस (आदित्यं) आदित्य के समान (सप्तविधं) सप्तविध (साम) साम की (उपास्ते) उपासना करते हैं वह आदित्य के तत्त्व-ज्ञाता होते हैं ।

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डःप्रारभ्यते

सं०—अब मृत्यु को अतिक्रमण करने वाले परस्पर समान सप्तविध साम का कथन करते हुए प्रथम " हिङ्कार " तथा " प्रस्ताव " की समता वर्णन करते हैं:—

अथ खल्वात्मसम्मितमतिमृत्यु सप्तविधꣳसामोपासीत। हिङ्कार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥१॥

पद०—अथ । खलु । आत्मसम्मितं। अतिमृत्यु । सप्तविधं। साम। उपासीत । हिङ्कारः । इति । त्र्यक्षरं। प्रस्तावः। इति। त्र्यक्षरं। तत्। समम्।

पदा०—(अथ) अब यह कथन करते हैं कि (खलु)

निश्चयकरके (आत्मसम्मितं) आपस में परस्पर समान (अति-मृत्यु) मृत्यु को अतिक्रमण करने वाले (सप्तविधं, साम) सप्तविध साम को (उपासीत) विचारे (हिङ्कारः, इति, त्र्यक्षरं) "हिङ्कार" यह पद तीन अक्षरों का (प्रस्तावः, इति, त्र्यक्षरं) "प्रस्ताव" पद भी तीन अक्षरों का है (तत्) यह दोनों (समं) समान हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन किया गया है कि आपस में परस्पर समान यह जो मृत्यु को आतिक्रमण करने वाला सप्तविध साम है उसका चिन्तन करे, वह आपस में समान इस प्रकार है कि "हिंकार" हिं+का+ र इन तीन अक्षरों का समुदाय है और "प्रस्ताव" भी प्र+स्ता+व इन तीन अक्षरों से मिलकर बना है, अतएव दोनों त्रिमात्रिक होने के कारण समान हैं ।

सं०—अब "आदि" तथा "प्रतिहार" साम की समानता कथन करते हैं :—

आदिरिति द्व्यक्षरम्, प्रतिहार इति चतुर-क्षरम् । तत इहैकं तत्समम् ॥ २ ॥

पद०—आदिः । इति । द्व्यक्षरं । प्रतिहारः । इति । चतुरक्षरं । ततः । इह । एकं । तत् । समम् ।

पदा०—(आदिः, इति) "आदि" पद (द्व्यक्षरं) दो अक्षरों का (प्रतिहारः, इति) "प्रतिहार" पद (चतुरक्षरं) चार अक्षरों का है (ततः) उस प्रतिहार पद से (एकं)

एक अक्षर लेकर (इह) इस "आदि" पद में मिला देने से (तत्) दोनों (समं) समान होजाते हैं ॥

भाष्य–इस श्लोक में "आदि" साम और "प्रतिहार" साम की समानता वर्णन कीगई है कि "आदि" पद आ+दि इन दो अक्षरों का और "प्रतिहार" प्र+ति+हा+र इन चार अक्षरों का समुदाय है, इस प्रातिहार के उक्त चार अक्षरों में से एक अक्षर निकालकर "आदि" पद के दो अक्षरों में जोड़ देने से दोनों तीन २ अक्षरों के होजाने से इनकी समानता होजाती है।

सं०–अब "उद्गीथ" तथा "उपद्रव" साम की समता कथन करते हैं:—

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ ३ ॥

पद०–उद्गीथः। इति। त्र्यक्षरं। उपद्रवः। इति। चतुरक्षरं। त्रिभिः। त्रिभिः। समं। भवति। अक्षरं। अतिशिष्यते। त्र्यक्षरं। तत्। समम्।

पदा०–(उद्गीथः, इति, त्र्यक्षरं) उद्गीथ पद में तीन अक्षर (उपद्रवः, इति, चतुरक्षरं) उपद्रव पद में चार अक्षर हैं (त्रिभिः, त्रिभिः, समं) उक्त दोनों में तीन २ अक्षरों की

समता (भवति) है (अक्षरं, अतिशिष्यते) एक अक्षर शेष रहजाता है अन्य (ऽयक्षरं) तीन २ अक्षरों से (तत्) वह (समं) समान हैं।

भाष्य-" उद्गीथ " पद उत्+गी+थ इन तीन अक्षरों का समुदाय और " उपद्रव " पद उ+प+द्र+व इन चार अक्षरों से मिलकर बना है, उक्त दोनों में तीन २ अक्षरों की समता है और एक अक्षर शेष रहजाता है सो एक को छोड़कर शेष अंश में दोनों समान हैं।

सं०-अब " निधन " साम की समता कथन करते हैं :-

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति। तानि ह वा एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि।४।

पद०-निधनं। इति। ऽयक्षरं। तत्। समं। एव। भवति। तानि। ह। वै। एतानि। द्वाविंशतिः। अक्षराणि।

पदा०-(निधनं, इति, ऽयक्षरं) निधन साम तीन अक्षरों का है (तत्, एव, समं, भवति) और वह समान ही होता है (ह, वै) निश्चय करके (तानि) वह (एतानि) यह (द्वाविंशतिः,अक्षराणि) बाईस २२ अक्षर हैं।

भाष्य-इस श्लोक में " निधन " साम की समता वर्णन कीगई है कि " निधन " पद नि+ध+न इन तीन अक्षरों का समुदाय है और वह समान ही होता है, यह सब मिलकर सम्पूर्ण साम में २२ अक्षर हैं अर्थात् पूर्व खण्ड में जो साम के हिङ्कार, प्रस्ताव, आदि, प्रतिहार, उद्गीथ, उपद्रव और

निधन, यह सात विभाग वर्णन कर आये हैं इन सात पदों में २२ अक्षर हैं, इनमें से उपद्रव का एक अक्षर छोड़दियाजाय तो २१ अक्षर शेष रहजाते हैं और इनको सात विभागों में विभक्त करने से प्रत्येक विभाग में तीन २ अक्षर होने के कारण सब की समता जाननी चाहिये।

सं०-अब शेष एक अक्षर द्वारा उस पर ज्योति की प्राप्ति कथन करते हैं:—

एकवि ँशत्यादित्यमाप्नोत्येकवि ँशो वा इतोऽसावादित्योद्वावि ँशेन परमा-दित्याज्जयति तन्नाकं त-द्विशोकम् ॥ ५ ॥

पद०-एकविंशत्या। आदित्यं। आप्नोति। एकविंशः। वै। इतः। असौ। आदित्यः। द्वाविंशेन। परमं। आदित्यात्। जयति। तत्। नाकं। तत्। विशोकम्।

पदा०-(एकविंशत्या) इक्कीस अक्षरों से (आदित्यं) आदित्य रूप मृत्यु को (आप्नोति) प्राप्त होता है (वै) निश्चय करके (इतः) यहां से (असौ, आदित्यः) यह आदित्य (एकविंशः) इक्कीसवां है (द्वाविंशेन) बाईसवें अक्षर द्वारा (आदित्यात्) आदित्य से (परं) पर ज्योति को (जयति) जय करता है (तत्) वह (नाकं) ज्योति आनन्दमय तथा (तत्) वह (विशोकं) शोकरहित है।

भाष्य—इस श्लोक का भाव यह है कि जिस प्रकार साम के उक्त सात विभाग २१अक्षर के हैं इसीप्रकार आदित्य भी यहां से इक्कीसवां है अर्थात् १२ मास ५ ऋतु* ३ लोक और एक आदित्य यह सब मिलकर एकविंशत्यात्मक आदित्य कहलाता है, और यही आदित्य मृत्यु है, क्योंकि आदित्य ही दिन रात्रि के विभाग से इस जगत् को मारता है, इससे बचने का उपाय उक्त साम सम्बन्धी सात विभागों का ज्ञान है उसी से पुरुष मृत्यु का अतिक्रमण करजाते हैं अर्थात् बाईसवां अक्षर जो शेष रहजाता है उसी के द्वारा पुरुष आदित्य से परज्योति को प्राप्त होता है जो आनन्दमय तथा मृत्यु से रहित है।

सं०—अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

आप्नोतीहादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति । य एतदेवं विद्वानात्मसम्मितमतिमृत्यु सप्तविध ँ सामोपास्तेसामोपास्ते ॥६॥

पद०—आप्नोति। इह। आदित्यस्य। जयं। परः। ह। अस्य। आदित्यजयात्। जयः। भवति। यः। एतत्। एवं। विद्वान्। आत्मसम्मितं। अतिमृत्यु। सप्तविधं। साम। उपास्ते। साम। उपास्ते।

---

* यहां शिशिर ऋतु हेमन्त के अन्तर्गत होने के कारण पांच ऋतुयें गिनी हैं वास्तव में छः हैं।

पदा०-(यः) जो पुरुष (आत्मसम्मितं) आपसमें परस्पर समान (सप्तविधं) सप्तविध (एतत्) इस (साम) साम को (एवं,विद्वान्) उक्त प्रकार से जानता हुआ (उपास्ते) विचारता है वह (अतिमृत्यु) मृत्यु से अतिक्रमण करजाता है (ह) निश्चयकरके (इह) इस लोक में (आदित्यस्य) आदित्य की (जयं, आप्नोति) जय प्राप्त करता है और (आदित्यजयात्) आदित्य की जय से जो (परः,जयः, भवति) परे जय है उसको भी प्राप्त करता है।

भाष्य--"सामोपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता तथा खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, इस श्लोक में उक्त सप्तविध साम के मनन करने वाले को यह फलकथन किया है कि जो पुरुष आपस में परस्पर समान इस सप्तविध साम को जानता हुआ भले प्रकार विचारता है वह आदित्य पर विजय प्राप्त करलेता है और आदित्य के विजय से परे जो विजय है उसको भी प्राप्त करता है अर्थात् वह पुरुष वार २ जन्म मरण में नहीं आता वह आदित्य से परे जो परज्योति परमात्मा है उसको प्राप्त होकर आनन्द भोगता है॥

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब "गायत्र" साम का कथन करते हैं:—

मनो हिङ्कारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणोनिधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

पद०-मनः । हिङ्कारः । वाक् । प्रस्तावः । चक्षुः । उद्गीथः । श्रोत्रं । प्रतिहारः । प्राणः । निधनं । एतत् । गायत्रं । प्राणेषु । प्रोतम् ।

पदा०-(मनः, हिङ्कारः) मन हिङ्कार (वाक्, प्रस्तावः) बाणी प्रस्ताव (चक्षुः, उद्गीथः) चक्षु उद्गीथ (श्रोत्रं, प्रतिहारः) श्रोत्र प्रतिहार (प्राणः, निधनं) प्राण निधन है (एतत्) यह (गायत्रं) गायत्र नामक साम (प्राणेषु) प्राणों में (प्रोतं) ओत प्रोत है ।

भाष्य-प्राण=इन्द्रियों का रक्षक होने के कारण इसका नाम "गायत्र" साम है, जिसप्रकार इन्द्रियों में मन प्रथम है, क्योंकि मन के बिना कोई इन्द्रिय अपने व्यापार को स्वतन्त्रता पूर्वक नहीं करसकती, इसी प्रकार सप्तविध साम में "हिंकार" प्रथम है, इसी के द्वारा यज्ञ सम्बन्धी सब कार्य्य प्रारम्भ होते हैं, और जिसप्रकार मन से विचार कर वाणी द्वारा किसी विषय का प्रस्ताव होता है अर्थात् मन से दूसरे स्थान पर बाणी है इसी प्रकार हिङ्कार से दूसरे स्थान पर प्रस्ताव कथन किया गया है, एवंविध चक्षुः उद्गीथ, श्रोत्र प्रतिहार और प्राण को निधन जानना चाहिये, अधिक क्या उक्त पंचविध साम पंच विध इन्द्रियों में ओतप्रोत है जिसको प्राणों की रक्षार्थ जानना परमावश्यक है ।

सं०-अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते है :—

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद, प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति

महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या महामनाःस्यात्तद्व्रतम् ॥२॥

पद०-सः। यः। एवं। एतत्। गायत्रं। प्राणेषु। प्रोतं। वेद। प्राणी। भवति। सर्वं। आयुः। एति। ज्योक्। जीवति। महान्। प्रजया। पशुभिः। भवति। महान्। कीर्त्या। महामनाः। स्यात्। तत्। व्रतम्।

पदा०-(यः) जो (सः) पुरुष (प्राणेषु, प्रोतं) प्राणों में ओतप्रोत (एतत्, गायत्रं) इस गायत्र साम को (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (प्राणी, भवति) प्राणों वाला होता है (सर्वं, आयुः, एति) सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है (ज्योक्, जीवति) पवित्र जीवन वाला होकर जीता है (प्रजया, पशुभिः, महान्, भवति) सन्तान और पशु आदिकों से वृद्धि को प्राप्त होता है (महान्, कीर्त्या) बड़ी कीर्ति वाला होता है (तत्, व्रतं) उसका यह व्रत है कि वह (महामनाः, स्यात्) उदारचित्त हो।

भाष्य-जो पुरुष प्राणों में ओतप्रोत इस "गायत्र" साम को जानता है वह प्राणों से युक्त होता है अर्थात् उसकी इन्द्रियों में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता और न वह अंग भंग होता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, पवित्र जीवन वाला तथा सन्तान, पशु आदि ऐश्वर्य्य युक्त होता है और बड़ी कीर्ति वाला होता है, उसका यह व्रत है कि वह उदारचित्त हो।

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "रथन्तर" नामक साम का कथन करते हैं :—

अभिमन्थति स हिङ्कारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनँ संँशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ।१।

पद०—अभिमन्थति । सः । हिङ्कारः । धूमः । जायते । सः । प्रस्तावः । ज्वलति । सः । उद्गीथः । अङ्गाराः । भवन्ति । सः । प्रतिहारः । उपशाम्यति । तत् । निधनं । सं । शाम्यति । तत् । निधनं । एतत् । रथन्तरं । अग्नौ । प्रोतम् ।

पदा०—(अभिमन्थति) याज्ञिक लोग अरणि नामक काष्ठ को मथन करके जो अग्नि निकालते हैं (सः, हिङ्कारः) वह हिङ्कार (धूमः, जायते) अग्नि से जो धूम निकलता है (सः, प्रस्तावः) वह प्रस्ताव (ज्वलति) समिधाओं में जो अग्नि प्रज्वलित होती है (सः,उद्गीथः) वह उद्गीथ (अङ्गाराः, भवन्ति) अग्नि से जो चिङ्गारे निकलते हैं (सः, प्रतिहारः) वह प्रतिहार (उपशाम्यति) अग्नि का जो धीरे२ बुझना आरम्भ होता है (तत्, निधनं) वह निधन अथवा (सं, शाम्यति) अग्नि का जो पूर्णरूप से बुझ जाना है (तत्, निधनं) वह निधन है (एतत्) यह (रथन्तरं) रथन्तर नामक साम (अग्नौ) अग्नि में (प्रोतं) ओत प्रोत है ।

भाष्य--इस श्लोक में रथन्तर साम का वर्णन कियागया है कि ऋत्विक् लोग यज्ञार्थ अरणि नामक काष्ठ से जो अग्नि निकालते हैं वह "हिङ्कार" अग्नि से जो धूम उत्पन्न होता है वह "प्रस्ताव" अग्नि का प्रज्वलित होना "उद्गीथ" अग्नि से जो चिङ्गारे निकलते हैं वह "प्रतिहार" और अग्नि का जो धीरे २ शान्त होना आरम्भ होता है वह "निधन" अथवा अग्नि का बिलकुल बुझ जाना "निधन" है, यह रथन्तर नामक साम अग्नि में ओत प्रोत है ।

सं०—अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद, ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या, न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

पद०—सः । यः । एवं । एतत् । रथन्तरं । अग्नौ । प्रोतं । वेद । ब्रह्मवर्चसी । अन्नादः । भवति । सर्वं । आयुः । एति । ज्योक् । जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्या । न । प्रत्यङ् । अग्निं । आचामेत् । न । निष्ठीवेत् । तत् । व्रतम् ॥

पदा०—(सः) वह पुरुष (यः) जो (एतत्) इस (रथन्तरं) रथन्तर साम को (एवं) उक्त प्रकार से (अग्नौ, प्रोतं) अग्नि

में ओत प्रोत (वेद) जानता है वह (ब्रह्मवर्चसी) तेजस्वी और (अन्नादः) ऐश्वर्य्य का भोक्ता (भवति) होता है (सर्वं, आयुः) सम्पूर्ण आयु को (एति) प्राप्त होता है (ज्योक्) संसार में उत्तम जीवन वाला होकर (जीवति) जीवन व्यतीत करता है (प्रजया, पशुभिः) सन्तान और पशुओं से (महान्, भवति) महान् होता है (महान्, कीर्त्या) बड़े यशवाला होता है, (तव, व्रतं) उसका यह व्रत है कि वह (अग्निं, प्रत्यङ्) अग्नि के अभिमुख होकर (आचामेत) आचमन (न) न करे और (न) न (निष्ठीवेत्) थूके ॥

भाष्य—इस श्लोक में रथन्तर साम के जानने वाले को यह फल कथन किया है कि वह तेजस्वी और ऐश्वर्य्य का भोगने वाला होता है सम्पूर्ण आयु को पाता है अर्थात् १०० वर्ष से कम आयु वाला नहीं होता, जैसाकि मनुजी ने भी लिखा है कि 'सदाचारेण पुरुषः शतवर्षाणि जीवति'=आचार सम्पन्न पुरुष १०० वर्ष तक जीता है, और उसका जीवन पवित्र होता है, प्रजा और पशुओं से महान् होता है, यश वाला होता है, ऐसे पुरुष के लिये यह व्रत है कि वह अग्नि के अभिमुख होकर न आचमन करे और न उसमें थूके ॥

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "वामदेव्य" साम का कथन करते हैं:—

उपमन्त्रयते स हिङ्कारो ज्ञपयते स प्रस्तावः

स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्री सह शेते स प्रतिहारः कालंगच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥ १ ॥

पद०—उपमंत्रयते । सः । हिङ्कारः । ज्ञपयते । सः । प्रस्तावः । स्त्रिया । सह । शेते । सः । उद्गीथः । प्रति । स्त्री । सह । शेते । सः । प्रतिहारः । कालं । गच्छति । तत् । निधनं । पारं । गच्छति । तत् । निधनं । एतत् । वामदेव्यं । मिथुने । प्रोतम् ।

पदा०--(उपमंत्रयते) विवाह विषयक जो पुरुष को निमंत्रण दिया जाता है (सः, हिङ्कारः) वह हिङ्कार (ज्ञपयते) विज्ञापन देकर वेद मंत्रों द्वारा जो परस्पर प्रतिज्ञायें कराई जाती हैं (सः, प्रस्तावः) वह प्रस्ताव(स्त्रिया,सह,शेते) स्त्री पुरुष को एकस्थान में जो एकत्रित करना है (सः, उद्गीथः) वह उद्गीथ (प्रति,स्त्री,सह,शेते) जो स्त्री के साथ शयन करना है (सः, प्रतिहारः) वह प्रतिहार (कालं, गच्छति) जो परस्पर प्रेम प्रीति से काल का बिताना है (तत, निधनं) वह निधन अथवा (पारं, गच्छति) उक्त प्रकार से जो आयु के पार को प्राप्त होना है (तत,निधनं) वह निधन है (एतत, वामदेव्यं) यह वामदेव्य साम (मिथुने, प्रोतं) मिथुन में ओतप्रोत है ।

भाष्य--इस श्लोक में "वामदेव्य" साम का कथन किया गया है अर्थात् सद्गृहस्थ बनने के लिये एक उत्तमालङ्कार द्वारा यह वर्णन किया है कि पुरुष को विवाह सम्बन्धी जो निमंत्रण देना है वह हिङ्कार, विज्ञापन देकर वेदमंत्रों द्वारा जो परस्पर

प्रतिज्ञायें कराई जाती हैं कि हम दोनों यावदायुष गृहस्थाश्रम में प्रेम प्रीति से वर्तेंगे वह प्रस्ताव, प्रतिज्ञाओं के पश्चात् जो दोनों का सहवास है वह उद्गीथ, जो अपने घर आकर एकत्रित शयन करना है वह प्रतिहार तथा गृहस्थाश्रम में निवास करते हुए परम-प्रीति से जो काल का व्यतीत करना है वह निधन अथवा दोनों का आनन्द भोगते हुए जो आयु को पूर्ण करना है, या यों कहो कि जो आयु के पार को प्राप्त होना है वह निधन है, यह वामदेव्य साम मिथुन=स्त्री पुरुष रूप जोड़े में ओत प्रोत है ॥

सं०--अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद, मिथुनी भवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमा-युरेति ज्योग् जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवाति महान् कीर्त्या न काञ्चन परिहरेत्तद्व्रतम् ॥२॥

पद०--सः। यः। एवं। एतत्। वामदेव्यं। मिथुने। प्रोतं। वेद। मिथुनी। भवति। मिथुनात्। मिथुनात्। प्रजायते। सर्वं। आयुः। एति। ज्योग्। जीवति। महान्। प्रजया। पशुभिः। भवति। महान्। कीर्त्या। न। काञ्चन। परिहरेत्। तत्। व्रतम्।

पदा०--(सः) वह पुरुष (यः) जो (एतत्) इस (वामदेव्यं) वामदेव्य साम को (एवं) उक्त प्रकार से (मिथुने) स्त्री पुरुष के सम्बन्ध में (प्रोतं) ओत प्रोत (वेद) जानता है वह (मिथुनी, भवति) अमोघवीर्य होता है और (मिथुनात्, मिथुनात्) मिथुन २ से

(प्रजायते) सन्तति वाला होता है (सर्वं, आयुः, एति) सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है (ज्योग्, जीवति) उत्तम जीवन वाला होकर जीता है (प्रजया, पशुभिः, महान्, भवति) प्रजा और पशुओं से महान् होता है (महान्, कीर्त्या) बड़ी कीर्तिवाला होता है, उक्त जोड़ा (काञ्चन) एक दूसरे को (न, परिहरेत्) न छोड़े (तत्, व्रतं) यह उनका व्रत है।

भाष्य–जो पुरुष उक्त वामदेव्य साम को भले प्रकार जानता है अर्थात् विवाह में कीहुई प्रतिज्ञाओं का पूर्णप्रकार से पालन करता है वह दृढ़प्रतिज्ञ तथा बड़ा बलवान् होता है, मिथुन२ से सन्तति वाला होता है, या यों कहो कि उसका वीर्य्य व्यर्थ नहीं जाता, सम्पूर्ण आयु को भोगता है, पवित्र जीवन वाला तथा प्रजा और पशुओं से महान् होता है, ऐसे पुरुष का यह व्रत है कि वह यावदायुष अपनी स्त्री का परित्याग न करे, यहां स्त्री का न छोड़ना उपलक्षणमात्र है जिसका आशय यह है कि पुरुष स्त्री का और स्त्री पुरुष का त्याग न करते हुए दोनों परस्पर मिलकर रहें।

कई एक टीकाकारों ने उक्त श्लोक का यह अर्थ किया है कि समागम के लिये आई हुई किसी स्त्री का त्याग न करे, यह उनका कथन ठीक नहीं, क्योंकि यहां स्त्री पुरुष के सम्बन्ध का वर्णन करके उससे फलप्राप्ति कथन कीगई है कि उनमें से परस्पर कोई त्याग न करे, जो लोग उक्त भाव को उपनिषदों में भरते हैं वह उपनिषदों में भी वाममार्ग का बीज बोते हैं, इसलिये उक्त अर्थ सर्वथा निन्दित है।

और जिनका यह कथन है कि सगाई के लिये आई हुई जैसी कैसी स्त्री क्यों न हो उसका त्याग न करे, यह इसलिये ठीक

नहीं कि जब मनुजी ने धर्मशास्त्र में परस्पर गुणकर्मस्वभाव मिलनेवाली स्त्री से विवाह कथन किया है तो फिर छानबीन क्यों न करे, अवश्य छानबीन करके विवाह होना चाहिये ताकि पीछे स्त्री पुरुष में किसी प्रकार का वैमनस्य नहो, अतएव सिद्ध है कि यह प्रकरण स्त्री पुरुष के संयोग का है इसको किसी घृणित सम्बन्ध में लगाना तथा प्रकृति जीव विषयक लगाना अनर्थ है, इसलिये यही अर्थ ठीक है कि जो जोड़ा परस्पर विज्ञापन से वेदमंत्रों द्वारा प्रतिज्ञायें करके मिला है वह एक दूसरे का त्याग न करके यावदायुष सहायक रहें ॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०--अब "बृहत" नामक साम का कथन करते हैंः—

उद्यन्हिङ्कार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णःप्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद्बृहदादित्ये प्रोतम् ॥१॥

पद०–उद्यन् । हिङ्कारः । उदितः । प्रस्तावः । मध्यन्दिनः । उद्गीथः । अपराह्णः । प्रतिहारः । अस्तं । यत् । निधनं । एतत् । बृहत् । आदित्ये । प्रोतम् ।

पदा०–(उद्यन्) उदय होता हुआ सूर्य्य (हिङ्कारः) हिङ्कार (उदितः, प्रस्तावः) उदित सूर्य्य प्रस्ताव (मध्यन्दिनः)

मध्यान्ह सूर्य्य (उद्गीथः) उद्गीथ (अपराह्णः) अपराह्ण सूर्य्य (प्रतिहारः) प्रतिहार (अस्तं, यत्) अस्त होता हुआ सूर्य्य (निधनं) निधन है (एतत्, बृहत्) यह बृहत् नामा साम है जो (आदित्ये) आदित्य में (प्रोतं) ओतप्रोत है ॥

भाष्य--उदय होता हुआ सूर्य्य "हिङ्कार" साम का, उदित सूर्य्य "प्रस्ताव" साम का, मध्यान्ह सूर्य्य उद्गीथ साम का, अपराह्ण सूर्य्य प्रतिहार साम का और अस्त होता हुआ सूर्य्य निधन साम का अनुष्ठान करता है, जैसाकि अथर्व० ९।८।४ में वर्णन कियागया है कि "तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति संगवः प्रस्तौति"=ब्रह्म की कीर्ति गायन करता हुआ सूर्य्य प्रातः उदय होता हुआ हिङ्कार विधि का अनुष्ठान करता है, इस भाव को छान्दो०२।२।१में वर्णन कर आये हैं, इसलिये यहां विशेष लिखने की आवश्यक्ता नहीं।

सं०-अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद, तेजस्व्यन्नादो भवति, सर्वमायुरेति,ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति,महान् कीर्त्या,तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

पद०--सः। यः। एवं। एतत्। बृहत्। आदित्ये। प्रोतं। वेद। तेजस्वी। अन्नादः। भवति। सर्वं। आयुः। एति। ज्योक्।

जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्या । तपन्तं । न । निन्देत् । तत् । व्रतम् ।

पदा०--(सः) वह पुरुष (यः) जो (आदित्ये, प्रोतं) आदित्य में ओत प्रोत (एतत्) इस (बृहत्) बृहत् साम को (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (तेजस्वी) तेजवाला (अन्नादः) अन्न का भोक्ता होता है (सर्वं,आयुः एति) सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है (ज्योक्, जीवति) उत्तम जीवन वाला होकर जीता है (प्रजया, पशुभिः, महान्, भवति) प्रजा और पशुओं से महान् होता है (महान्, कीर्त्या) बड़ी कीर्तिवाला होता है, (तत्, व्रतं) उसका यह व्रत है कि वह (तपन्तं) जगत् को तपाने वाले सूर्य्य की (न, निन्देत्) निन्दा न करे ।

भाष्य--इस श्लोक में बृहत् नामा साम के ज्ञाता को यह फल वर्णन किया गया है कि वह तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, पवित्र जीवन वाला होता है, प्रजा और पशुओं से युक्त होकर महान् कीर्ति वाला होता है, उसका यह व्रत है कि वह तपते हुए सूर्य्य की निन्दा न करे, जिसका भाव यह है कि ईश्वरीय सृष्टि में प्रत्येक पदार्थ के अभिप्राय का अन्वेषण करना चाहिये निन्दा नहीं ।

इति चतुर्दशः खण्डः समाप्तः

अथ पंचदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब " वैरूप " साम का कथन करते हैं :—

अभ्राणिसंप्लवन्ते स हिङ्कारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपंपर्जन्ये प्रोतम् ॥१॥

पद०—अभ्राणि। सम्प्लवन्ते। सः। हिङ्कारः। मेघः। जायते। सः। प्रस्तावः। वर्षति। सः। उद्गीथः। विद्योतते। स्तनयति। सः। प्रतिहारः। उद्गृह्णाति। तत्। निधनं। एतत्। वैरूपं। पर्जन्ये। प्रोतम्।

पदा०-(अभ्राणि) धुंध (सम्प्लवन्ते) आकाश में जो एकत्रित होती है (सः, हिङ्कारः) वह हिङ्कार (मेघः, जायते) जो आकाश में मेघ बनते हैं (सः, प्रस्तावः) वह प्रस्ताव (वर्षति) जो वर्षता है (सः, उद्गीथः) वह उद्गीथ (विद्योतते, स्तनयति) जो चमकता तथा गर्जता है (सः, प्रतिहारः) वह प्रतिहार (उद्गृह्णाति) जो धीरे २ वर्षा बन्द होती है (तत्, निधनं) वह निधन है (एतत्, वैरूपं) यह वैरूप साम है (पर्जन्ये, प्रोतं) जो मेघ में ओतप्रोत है।

भाष्य—आकाश में जो अभ्र=धुंध होती है वह हिङ्कार, जो आकाश में मेघ बनते हैं वह प्रस्ताव, जो वर्षता है वह उद्गीथ, जो विजुली चमकती तथा मेघ गर्जता है वह प्रतिहार और धीरे २ वर्षा का बन्द होना निधन है, इसका नाम वैरूप साम है जो मेघ में ओतप्रोत है।

प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या ऋतून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

पद०—सः। यः। एवं। एतत्। वैराजं। ऋतुषु। प्रोतं। वेद। विराजति। प्रजया। पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेन। सर्वं। आयुः। एति। ज्योक्। जीवति। महान्। प्रजया। पशुभिः। भवति। महान्। कीर्त्या। ऋतून्। न। निन्देत। तत्। व्रतम्।

पदा०—(सः) वह पुरुष (यः) जो (ऋतुषु, प्रोतं) ऋतुओं में ओत प्रोत (एतत्) इस (वैराजं) वैराज साम को (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (प्रजया, पशुभिः) प्रजा तथा पशुओं से (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (विराजति) विशेषतया शोभित होता है (सर्वं, आयुः, एति) सम्पूर्ण आयु को पाता है (ज्योक्, जीवति) पवित्र जीवन वाला होकर जीता है (प्रजया, पशुभिः, महान्) प्रजा और पशुओं से महान् (भवति) होता है (महान्, कीर्त्या) बड़ी कीर्तिवाला होता है (ऋतून्, न, निन्देत) ऋतुओं की निन्दा न करे (तत्, व्रतम्) यह उसका व्रत है।

इति षोडशःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०--अब "शकरी" साम का कथन करते हैं:—

पृथिवी हिङ्कारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥

पद०-पृथिवी । हिङ्कारः । अन्तरिक्षं । प्रस्तावः । द्यौः । उद्गीथः । दिशः । प्रतिहारः । समुद्रः । निधनं । एताः । शक्वर्यः । लोकषु । प्रोताः ।

पदा०-(पृथिवी,हिङ्कारः)पृथिवी हिङ्कार (अन्तरिक्षं,प्रस्तावः) अन्तरिक्ष प्रस्ताव (द्यौः, उद्गीथः) द्युलोक उद्गीथ (दिशः, प्रतिहारः) दिशायें प्रतिहार और (समुद्रः,निधनं) समुद्र निधन है (एताः, शक्वर्यः) यह शक्वरी साम कहाता है जो (लोकेषु, प्रोताः) पृथिव्यादि लोकों में ओतप्रोत है ।

सं०-अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद, लोकीभवति सर्वमायुरेति,ज्योग् जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या, लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम ॥ २ ॥

पद०-सः। यः। एवं। एताः। शक्वर्यः। लोकषु। प्रोताः। वेद । लोकी । भवति । सर्वं । आयुः । एति । ज्योग् । जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्या । लोकान् । न । निन्देत् । तत् । व्रतम् ।

सं०—अब उक्त साम के जानने वाले को फल कथन करते हैं:—

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद, विरूपाँश्च सुरूपाँश्च पशूनवरुन्धे, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या, वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२॥

पद०—सः। यः। एवं। एतत्। वैरूपं। पर्जन्ये। प्रोतं। वेद। विरूपान्। च सुरूपान्। च। पशून्। अवरुन्धे। सर्वं। आयुः। एति। ज्योक्। जीवति। महान्। प्रजया। पशुभिः। भवति। महान्। कीर्त्या। वर्षन्तं। न। निन्देत्। तत्। व्रतम्।

पदा०—(सः) वह पुरुष (यः) जो (पर्जन्ये, प्रोतं) पर्जन्य में ओत प्रोत (एतत्, वैरूपं) इस वैरूप साम को (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (विरूपान्, च) विविध रूप वाले (च) और (सुरूपान्,) सुरूपवाले (पशून्) पशुओं को (अवरुन्धे) प्राप्त होता है (सर्वं, आयुः, एति) सम्पूर्ण आयु को पाता है (ज्योक्, जीवति) पवित्र जीवन वाला होकर जीता है (प्रजया, पशुभिः, महान्, भवति) प्रजा और पशुओं से महान् होता है (महान्, कीर्त्या) बड़ी कीर्त्ति वाला होता है (वर्षन्तं, न, निन्देत्) वरसते हुए मेघ की निन्दा न करे (तत्, व्रतं) यह उसका व्रत है।

भाष्य—जो पुरुष इस मेघ सम्बन्धी वैरूप साम को उक्त प्रकार से जानता है वह सब प्रकार के विरूप सुरूप वाले पशुओं को प्राप्त होता है, पूर्ण आयु को भोगता है, पवित्र जीवन वाला

होकर जीता है प्रजा और पशुओं से महान् होता है और बड़े यश वाला होता है, उसके लिये यह व्रत है कि बरसते हुए मेघ की निन्दा न करे।

इति पंचदशःखण्डः समाप्तः

अथ षोडशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब "वैराज" नामक साम का कथन करते हैं:—

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथःशरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधन-मेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥१॥

पद०--वसन्तः। हिङ्कारः। ग्रीष्मः। प्रस्तावः। वर्षाः। उद्गीथः। शरत्। प्रतिहारः। हेमन्तः। निधनं। एतत्। वैराजं। ऋतुषु। प्रोतम्।

पदा०-(वसन्तः, हिङ्कारः) वसन्त ऋतु हिङ्कार (ग्रीष्मः, प्रस्तावः) ग्रीष्म ऋतु प्रस्ताव (वर्षाः, उद्गीथः) वर्षा उद्गीथ (शरत्, प्रतिहारः) शरत् प्रतिहार (हेमन्तः, निधनं) हेमन्त ऋतु निधन है (एतत्) यह (वैराजं) वैराज नामक साम (ऋतुषु, प्रोतं) ऋतुओं में ओत प्रोत है॥

सं०--अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद, विराजति

प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या ऋतून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

पद०—सः। यः। एवं। एतत्। वैराजं। ऋतुषु। प्रोतं। वेद। विराजति। प्रजया। पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेन। सर्वं। आयुः। एति। ज्योक्। जीवति। महान्। प्रजया। पशुभिः। भवति। महान्। कीर्त्या। ऋतून्। न। निन्देत। तत्। व्रतम्।

पदा०—(सः) वह पुरुष (यः) जो (ऋतुषु, प्रोतं) ऋतुओं में ओत प्रोत (एतत्) इस (वैराजं) वैराज साम को (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (प्रजया, पशुभिः) प्रजा तथा पशुओं से (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (विराजति) विशेषतया शोभित होता है (सर्वं, आयुः, एति) सम्पूर्ण आयु को पाता है (ज्योक्, जीवति) पवित्र जीवन वाला होकर जीता है (प्रजया, पशुभिः, महान्) प्रजा और पशुओं से महान् (भवति) होता है (महान्, कीर्त्या) बड़ी कीर्तिवाला होता है (ऋतून्, न, निन्देत्) ऋतुओं की निन्दा न करे (तत्, व्रतम्) यह उसका व्रत है।

इति षोडशःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०--अब "शक्करी" साम का कथन करते हैं:—

पृथिवी हिङ्कारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गी-
थो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः
शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥

पद०—पृथिवी । हिङ्कारः । अन्तरिक्षं । प्रस्तावः । द्यौः । उद्गीथः । दिशः । प्रतिहारः । समुद्रः । निधनं । एताः । शक्वर्यः । लोकषु । प्रोताः ।

पदा०--(पृथिवी,हिङ्कारः)पृथिवी हिङ्कार (अन्तरिक्षं,प्रस्तावः) अन्तरिक्ष प्रस्ताव (द्यौः, उद्गीथः) द्युलोक उद्गीथ (दिशः, प्रतिहारः) दिशायें प्रतिहार और (समुद्रः,निधनं) समुद्र निधन है (एताः, शक्वर्यः) यह शक्वरी साम कहाता है जो (लोकेषु, प्रोताः) पृथिव्यादि लोकों में ओतप्रोत है ।

सं०—अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैंः—

स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद,
लोकीभवति सर्वमायुरेति,ज्योग् जी-
वति महान् प्रजया पशुभिर्भवति
महान् कीर्त्या, लोकान्न निन्दे-
त्तद्व्रतम ॥ २ ॥

पद०—सः। यः। एवं। एताः। शक्वर्यः। लोकषु। प्रोताः। वेद । लोकी । भवति । सर्वं । आयुः । एति । ज्योग् । जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्या । लोकान् । न । निन्देत् । तत् । व्रतम् ।

पदा०-(सः) वह पुरुष (यः) जो (लोकेषु,प्रोताः) पृथिव्यादि लोकों में ओतप्रोत (एताः, शक्वर्यः) इस शकरी नामक साम को (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (लोकी, भवति) पृथिव्यादि लोकों का स्वामी होता है (सर्वं, आयुः, एति) पूर्ण आयु को प्राप्त होता है (ज्योक्, जीवति) पवित्र जीवन वाला होकर जीता है (प्रजया, पशुभिः, महान्, भवति) प्रजा और पशुओं से महान् होता है (महान्, कीर्त्या) बड़े यश वाला होता है (लोकान्, न, निन्देत्) लोकों की निन्दा न करे (तत्, व्रतम्) उसका यह व्रत है।

भाष्य--पृथिव्यादि लोकों की विद्या के विज्ञानार्थ उक्त साम का वर्णन कियागया है, जो पुरुष पृथिव्यादि लोकों में ओतप्रोत इस शकरी नामा साम को भले प्रकार जानता है वह पूर्ण आयु को भोगता है पवित्र जीवन वाला होता है,सन्तान,पशु आदिकों से महान् होता है, बड़ी कीर्तिवाला होता है, उसका यह व्रत है कि वह लोकों की निन्दा न करे प्रत्युत उक्त लोकों की विद्या को पूर्णरीति से समझकर ज्ञानवान् हो, ऐसा पुरुष ही लोकों का स्वामी होता है।

इति सप्तदशःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब "रेवती" नामक साम का कथन करते हैं:—

अजा हिङ्कारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गी-

थोऽश्वाः प्रतिहारःपुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥ १ ॥

पद०–अजाः । हिङ्कारः । अवयः। प्रस्तावः। गावः। उद्गीथः। अश्वाः । प्रतिहारः। पुरुषः । निधनं । एताः । रेवत्यः । पशुषु । प्रोताः ।

पदा०–(अजाः) बकरी (हिङ्कारः) हिङ्कार (अवयः, प्रस्तावः) भेड़ें प्रस्ताव (गावः, उद्गीथः) गायें उद्गीथ (अश्वाः, प्रतिहारः) अश्व प्रतिहार और (पुरुषः, निधनं) पुरुष निधन है (एताः, रेवत्यः) यह रेवती नामक साम (पशुषु, प्रोताः) पशुओं में ओतप्रोत है अर्थात् यह पशुविद्या के ज्ञानार्थ है।

सं०–अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद, पशुमान् भवति सर्वमायुरेति,ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या, पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

पद०–सः । यः । एवं । एताः । रेवत्यः । पशुषु । प्रोताः । वेद । पशुमान् । भवति । सर्वं । आयुः । एति । ज्योक् । जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्या । पशून् । न । निन्देत् । तत् । व्रतम् ॥

पदा०-(सः) वह पुरुष (यः) जो (पशुषु, प्रोताः) पशुओं में ओतप्रोत (एताः) इन (रेवत्यः) रेवती नामक साम को (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (पशुमान्, भवति) पशुओं वाला होता है (सर्वं, आयुः, एति) सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है (ज्योक्, जीवति) उत्तम जीवन वाला होकर जीता है (प्रजया, पशुभिः, महान्, भवति) प्रजा और पशुओं से महान्, होता है (महान्, कीर्त्या) बड़ी कीर्ति वाला होता है (पशून्, न, निन्देत्) पशुओं की निन्दा न करे (तत्, व्रत) उसका यह व्रत है ।

इति अष्टादशःखण्डः समाप्तः

अथ एकोनविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब "यज्ञायज्ञिय" नामक साम का कथन करते हैं:—

लोमहिङ्कारस्त्वक्प्रस्तावो माꣳसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जानिधनमेतद्यज्ञायज्ञियमङ्गेषु प्रोतम् ॥१॥

पद०-लोम । हिङ्कारः। त्वक् । प्रस्तावः। मांसं । उद्गीथः । अस्थि । प्रतिहारः । मज्जा । निधनं । एतत् । यज्ञायज्ञियं । अङ्गेषु । प्रोतम् ।

पदा०-(लोम, हिङ्कारः) लोम हिङ्कार (त्वक्, प्रस्तावः) त्वचा प्रस्ताव (मांसं, उद्गीथः) मांस उद्गीथ (अस्थि, प्रतिहारः)

अस्थि प्रतिहार और (मज्जा, निधनं) मज्जा निधन है (एतत्, यज्ञायज्ञियं) यह यज्ञायज्ञीय साम (अङ्गेषु, प्रोतम्) शरीर के अवयवों में ओतप्रोत है।

सं०-अब उक्त साम के ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

सय एवमेतद्यज्ञायज्ञियमङ्गेषुप्रोतं वेद,अ-ङ्गीभवतिनाङ्गेनविहूर्च्छति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या,संवत्सरं मज्जो नाश्नीयात्तद्व्रतं मज्जोनाश्नीयादिति वा ॥ २ ॥

पद०—सः। यः। एवं। एतत्। यज्ञायज्ञीयं। अङ्गेषु। प्रोतं। वेद। अङ्गीभवति। न। अङ्गेन। विहूर्च्छति। सर्वं। आयुः। एति। ज्योक्। जीवति। महान्। प्रजया। पशुभिः। भवति। महान्। कीर्त्या। संवत्सरं। मज्जः। न। अश्नीयात्। तत्। व्रतं। मज्जः। न। अश्नीयात्। इति। वा॥

पदा०—(सः) वह पुरुष (यः) जो (अङ्गेषु,प्रोतं) अवयवों में ओतप्रोत (एतत्) इस (यज्ञायज्ञीयं) यज्ञायज्ञीय साम को (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (अङ्गीभवति) दृढ़ अङ्गों वाला होता है (अङ्गेन, विहूर्च्छति) किसी अङ्ग से अंगभंग (न) नहीं होता (सर्वं, आयुः, एति) सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है (ज्योक्, जीवति) पवित्र जीवन वाला होकर जीता है (प्रजया, पशुभिः, महान्, भवति) प्रजा और पशुओं से महान् होता है (महान्, कीर्त्या) बड़ी कीर्ति वाला

होता है (संवत्सरं, मज्जः, न, अश्नीयात्) कभी वर्ष में भी मांस न खाय (वा) निश्चय करके (मज्जः) मांस (न) नहीं (अश्नीयात्, इति) खाय (तत्, व्रतं) यह उसका व्रत है ॥

भाष्य—लोम हिङ्कार, त्वचा प्रस्ताव, मांस उद्गीथ, अस्थि प्रतिहार और मज्जा निधन है, यह यज्ञायज्ञीय साम शरीरावयव सम्बन्धी है अर्थात् जो पुरुष इस साम को उक्त प्रकार से अवयवों में ओत प्रोत जानता है वह दृढ़ अङ्गोंवाला तथा पूर्ण अङ्गों वाला होता है अंग भंग नहीं होता, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, पवित्र जीवन वाला होता है, सन्ततिरूप प्रजा तथा पशु और कीर्त्ति से महान् होता है, उसका यह व्रत है कि वर्ष में कभी मांस भक्षण न करे, फिर दृढ़ता के लिये दुहराते हैं कि वह कभी भी मांस न खाय ॥

भाव यह है कि इसमें किसी नियत समय के लिये मांस का निषेध नहीं किन्तु सदा के लिये निषेध है, क्योंकि यदि किसी कालविशेष के लिये निषेध होता तो "**संवत्सरं मज्जोनाश्नीयात्**" इतना ही कथन होता पर इससे अनन्तर जो "**मज्जोनाश्नीयात्**" यह कथन किया है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि कभी भी मांस न खाय, वर्ष का व्रत केवल मांस में लोलुप चित्त वाले के लिये कथन किया है वस्तुतः निषेध में तात्पर्य्य है ॥

इति एकोनविंशःखण्डः समाप्तः

अथ विंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "राजन" नामक साम का कथन करते हैं:—

अग्निर्हिङ्कारो वायुः प्रस्ताव आदित्यउद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतन्द्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥ १ ॥

पद०—अग्निः । हिङ्कारः । वायुः । प्रस्तावः । आदित्यः । उद्गीथः । नक्षत्राणि । प्रतिहारः । चन्द्रमाः । निधनं । एतत् । राजनं । देवतासु । प्रोतम् ॥

पदा०—(अग्निः,हिङ्कारः) अग्नि हिङ्कार (वायुः, प्रस्तावः) वायु प्रस्ताव (आदित्यः, उद्गीथः) आदित्य उद्गीथ (नक्षत्राणि, प्रतिहारः) नक्षत्र प्रतिहार और (चन्द्रमाः, निधनं) चन्द्रमा निधन है (एतत्) यह (राजनं) राजन साम (देवतासु) अग्न्यादि देवताओं में (प्रोतम्) ओतप्रोत है अर्थात् यह अग्न्यादि विद्याओं के ज्ञानार्थ है ॥

सं०—अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानाꣳ सलोकताꣳ सार्ष्टिताꣳ सायुज्यं गच्छति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति,महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतं ॥ २ ॥

पद०—सः । यः । एवं एतत् । राजनं । देवतासु । प्रोतं । वेद । एतासाम् । एव । देवतानां । सलोकतां । सार्ष्टितां । सायुज्यं । गच्छति । सर्वं । आयुः । एति । ज्योक् । जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्या । ब्राह्मणान् । न । निन्देत् । तत् । व्रतम् ॥

पदा०—(सः) वह पुरुष (यः) जो (देवतासु, प्रोतं) देवताओं में ओतप्रोत (एतत्, राजनं) इस राजन साम को (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (एतासां, एव, देवानां) इन्हीं देवताओं की (सलोकतां) समीपता (सार्ष्टितां) समानता और (सायुज्यं) उनके प्रयोग विज्ञान को (गच्छति) प्राप्त होता है (सर्वं, आयुः, एति) सम्पूर्ण आयु पाता है (ज्योक्, जीवति) उत्तम जीवन वाला होकर जीता है (प्रजया, पशुभिः, महान्, भवति) प्रजा और पशुओं से महान् होता है (महान्, कीर्त्या) बड़ी कीर्त्ति वाला होता है (ब्राह्मणान्, न, निन्देत्) ब्राह्मणों की निन्दा न करे (तत्, व्रतं) उसका यह व्रत है ॥

भाष्य—उक्त श्लोकों में "राजन" साम का वर्णन तथा उसका फल कथन कियागया है, यह देवता सम्बन्धी साम है, जैसाकि कथनकिया है कि अग्नि, हिङ्कार, वायु प्रस्ताव, आदित्य उद्गीथ, नक्षत्र प्रतिहार और चन्द्रमा निधन हैं, जो तत्त्ववेत्ता पुरुष उक्त देवताओं में ओतप्रोत इस साम को जानता है वह अग्नि, वायु आदि देवताओं की सलोकता=समीपता को प्राप्त होता है अर्थात् उनके भावों को यत्किञ्चित् जानना प्रारम्भ करदेता है, सर्ष्टिता= समीपता को प्राप्त होता है अर्थात् उक्त देवताओं के भावों का साक्षात्कार कर लेता है कि यह इन २ पदार्थों से मिलकर बना

है इसका यह गुण है, इत्यादि, सायुज्यता=उनके प्रयोगविज्ञान को प्राप्त करता है अर्थात् आग्नेय, वायव्य नक्षत्रादि विद्याओं को भलेप्रकार जानकर उनसे उपयोग लेता है,जैसाकि आग्नेयास्त्रादिकों की विद्या प्रसिद्ध है जो आजकल भी यत्किञ्चित् वर्तात्र में आरही है,इन विद्याओं को प्राप्त होता है,पूर्ण आयु को पाता है, पवित्र जीवन वाला होकर जीता है, अपनी सन्ततिरूप प्रजा तथा पशुओं से महान् होता है और बड़ी कीर्त्तिवाला होता है, ब्राह्मण= वेदविद् पुरुषों की निन्दा न करे जो इस विद्या के जानने वाले हैं यही उसका व्रत है ॥

इति विंशतिःखण्डः समाप्तः

अथ एकविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों में ओतप्रोत साम का कथन करते हैं :—

त्रयी विद्या हिङ्कारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निवायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाꣳसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पागन्धर्वाःपितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥ १ ॥

पद०—त्रयी । विद्या । हिङ्कारः । त्रयः । इमे । लोकाः । सः । प्रस्तावः । अग्निः । वायुः । आदित्यः । सः । उद्गीथः । नक्ष-

त्राणि । वयांसि । मरीचयः । सः । प्रतिहारः । सर्पाः । गन्धर्वाः । पितरः । तत् । निधनं । एतत् । साम । सर्वस्मिन् । प्रोतम् ।

पदा०—(त्रयी, विद्या) वेद (हिङ्कारः) हिङ्कार (त्रयः, इमे, लोकाः) जो यह तीनों लोक हैं (सः, प्रस्तावः) वह प्रस्ताव जो (अग्निः, वायुः, आदित्यः) अग्नि, वायु आदित्य हैं (सः, उद्गीथः) वह उद्गीथ (नक्षत्राणि) नक्षत्र (वयांसि) पक्षी (मरीचयः) किरणें (सः, प्रतिहारः) वह प्रतिहार (सर्पाः, गन्धर्वाः, पितरः) सर्प, गन्धर्व और जो पितर हैं (तत्, निधनं) वह निधन हैं (एतत्, साम) यह साम (सर्वस्मिन्, प्रोतम्) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत है ।

भाष्य—कर्म, उपासना तथा ज्ञान यह त्रयीविद्यात्मक जो वेद है वह " हिङ्कार " पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ यह तीनों लोक " प्रस्ताव " अग्नि, वायु, आदित्य यह तीन देवता "उद्गीथ" नक्षत्र, पक्षी तथा किरणें " प्रतिहार " सर्प, गन्धर्व=गानविद्या में कुशल और पितर=माता, पिता आचार्य्यादि " निधन " हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा पुरुष स्वाध्याय करके उक्त साम को प्राप्त होता है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत है ।

सं०—अब उक्त साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन् प्रोतं वेद सर्वꣳह भवति ॥ २ ॥

पद०—सः । यः । एवं । एतत् । साम । सर्वस्मिन् । प्रोतं । वेद । सर्वं । ह । भवति ।

पदा०—(सः) वह पुरुष (यः) जो (सर्वस्मिन्, प्रोतं) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत (एतत्) इस (साम) साम को

(एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (ह) निश्चय करके (सर्वं, भवति) सबका स्वामी होता है ॥

भाष्य-जो पुरुष सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत उक्त साम को जानता है, या यों कहो कि वेद द्वारा जिसको भले प्रकार परमात्मा का साक्षात्कार होगया है वह पुरुष सबका पूज्य होने के कारण इच्छानुसार उसको सब पदार्थ प्राप्त होते हैं, क्योंकि सब लोग उसको अपने स्वामी की दृष्टि से देखते हैं ॥

सं०-अब उक्त साम को सर्वोपरि कथन करते हैं:—

तदेष श्लोको यानि पञ्चधात्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥ ३ ॥

पद०-तत् । एषः । श्लोकः । यानि । पञ्चधा । त्रीणि । तेभ्यः । न । ज्यायः । परं । अन्यत् । अस्ति ।

पदा०-(तत्, एषः, श्लोकः) उस पूर्वोक्त श्लोक में (यानि) जो (पंचधा) पंचविध साम में (त्रीणि) तीन २ त्रिक कथन कियेगये हैं (तेभ्यः) उन त्रिकों से (ज्यायः) बड़ा और (परं) सर्वोत्तम (अन्यत्) अन्य साम (न, अस्ति) नहीं है ॥

भाष्य-जिसमें तीन पदार्थ हों उसको "त्रिक" कहते हैं, प्रथम श्लोक के हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन विभाग में जो तीन २ त्रिक=कर्म, उपासना तथा ज्ञान यह तीन विद्यायें, पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ यह तीन लोक, इत्यादि त्रिक कथन कियेगये हैं इन से बड़ा और उत्कृष्ट अन्य कोई साम न होने से यह सर्वोत्तम है।

सं०—अब उक्त साम के ज्ञाता को फल वर्णन करते हुए उसका व्रत कथन करते हैं :—

यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलि-मस्मै हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत, तद्व्रतं तद्व्रतम् ॥ ४ ॥

पद०—यः । तत् । वेद । सः। वेद । सर्वं । सर्वाः । दिशः । बलिं । अस्मै । हरन्ति । सर्वं । अस्मि । इति । उपासीत । तत् । व्रतम् । तत् । व्रतम् ।

पदा०—(यः) जो पुरुष (तत्, वेद) उक्त साम को जानता है (सः) वह (सर्वं, वेद) सब पदार्थों का ज्ञाता होता है (अस्मै) उसके लिये (सर्वाः, दिशः) सब दिशाओं के पुरुष (बलिं) भेट (हरन्ति) लेकर आते हैं, (सर्वं, अस्मि) मैं सब कुछ करने को समर्थ हूं (इति, उपासीत) ऐसा विचारे (तत्, व्रतम्) यह उसका व्रत है ॥

भाष्य—"तद्व्रतम्" पाठ दोबार उक्त अर्थ की दृढ़ता तथा खण्ड की समाप्ति के लियेआया है, जो उपासक उक्त साम को भले प्रकार जानता है उसको जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है,या यों कहो कि संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसको वह पूर्णरीति से न जानता हो, ऐसे पुरुष के लिये चारों ओर से लोग भेट लेकर आते हैं अर्थात् उसके भोग्य पदार्थ अर्पण करते हैं, ऐसा ही पुरुष विद्वान् कहलाता है, जिसके द्वारा ईश्वर, जीव और जगत् का यथार्थ ज्ञान हो वह "विद्या" और उस विद्या का जानने वाला "विद्वान्" कहलाता है, "मैं सब कुछ कर

सकता हूं" उसमें ऐसा आत्मिक बल होता है और यही उसका व्रत है॥

इति एकत्रिंशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वाविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—पूर्व खण्डों में विविध सामगान तथा उसके फलों का वर्णन करके अब इस खण्ड में सामगान के उपदेष्टाओं के नाम और उनकी प्रकृति कथन करते हैं:—

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणन्त्वेव वर्जयेत् ॥१॥

पद०—विनर्दि। साम्नः। वृणे। पशव्यं। इति। अग्नेः। उद्गीथः। अनिरुक्तः। प्रजापतेः। निरुक्तः। सोमस्य। मृदु। श्लक्ष्णं। वायोः। श्लक्ष्णं। बलवत्। इन्द्रस्य। क्रौञ्चं। बृहस्पतेः। अपध्वान्तं। वरुणस्य। तान्। सर्वान्। एव। उपसेवेत। वारुणं। तु। एव। वर्जयेत्।

पदा०—(पशव्यं) पशुओं के नाद सदृश (विनर्दि) नाना स्वरयुक्त (साम्नः) सामगान को (वृणे) स्वीकार करता हूं (इति, अग्नेः, उद्गीथः) यह उद्गीथ सामगान अग्नि का है (प्रजापतेः) प्रजापति का (अनिरुक्तः) अनिरुक्त (सोमस्य) सोम का (निरुक्तः) निरुक्त (वायोः) वायु का (मृदु) कोमल

और (श्लक्ष्णं) मीठा (इन्द्रस्य) इन्द्र का (श्लक्ष्णं) मृदु और (बलवद्) बलवान् (बृहस्पतेः) बृहस्पति का (क्रौञ्चं) क्रौञ्च समान (वरुणस्य) वरुण का (अपध्वान्तं) ध्वनिरहित है (तान्, सर्वान्, एव) उन सभी गानों को (उपसेवेत) यज्ञ में गावे (वारुणं, तु, एव, वर्जयेत्) केवल वरुण के सामगान को त्याग दे ।

भाष्य—जिस गान में पशुओं के नाद समान स्वर हो उसका नाम " विनर्दि " अथवा जिस गान में विशेष नाद हो उसका नाम " विनर्दि " है, यह विनर्दि पशव्य सामगान अग्नि नामक ऋषि का है अर्थात् इस सामगान का ऋषि" अग्नि "है, अनिरुक्त=अनुपम अर्थात् जो अकथनीय हो, या यों कहो कि जिसका वर्णन करना अति कठिन हो उसको " अनिरुक्त " कहते हैं, इस सामगान के ऋषि"प्रजापति" हैं, निरुक्त= जो स्पष्ट प्रकार से समझ में आवे और जो श्रोत्रों को प्रिय लगे अथवा जिसको श्रवण कर पुरुष गद्गद् हो परमात्मा के यश कीर्तन में ध्यान लगावे उसका नाम " निरुक्त " है, इस सामगान के ऋषि " सोम " हैं, मृदु=मीठा, श्लक्ष्ण=रसयुक्त अर्थात् मीठा जिसके गान से रस चुए उसका नाम " मृदु, श्लक्ष्ण " है, इस साम के ऋषि " वायु " हैं, श्लक्ष्ण=रसीला, बलवत्= बलवान् अर्थात् जो रसीला और जिसके गान से आत्मिक बल प्राप्त हो उसका नाम " श्लक्ष्ण, बलवत् " है, इस सामगान के उपदेष्टा महर्षि " इन्द्र " हैं, क्रौञ्च= कूंज नामक

पक्षी जो आकाश में भ्रमण करता है उसके नाद सदृश जिसका गान हो उसका नाम " क्रौंच " है, इस सामगान के उपदेष्टा महर्षि " बृहस्पति " हैं, और जो अपध्वान्त=ध्वनिरहित अर्थात् जो ध्वनि श्रोत्रों को प्यारी न लगे, जैसेकि फूटे कांस्य पात्र की घां घां होती है तद्वत् ध्वनि करने वाले का नाम " अपध्वान्त " है, इस सामगान के उपदेष्टा महर्षि " वरुण " हैं, इस वारुण सामगान को छोड़कर शेष सब सामगान अर्थात् विनर्दि, अनिरुक्त, निरुक्त, मृदुश्लक्ष्ण, श्लक्ष्ण बलवत् और क्रौञ्च इन सब सामगानों को यज्ञ में गावे ॥

सं०—अब उक्त सामगान का उद्देश्य कथन करते हैं :—

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसाध्यायन्न प्रमत्तः स्तुवीत ॥ २ ॥

पद०—अमृतत्वं । देवेभ्यः । आगायानि । इति । आगायेत् । स्वधां । पितृभ्यः । आशां । मनुष्येभ्यः । तृणोदकं । पशुभ्यः । स्वर्गं । लोकं । यजमानाय । अन्नं । आत्मने । आगायानि । इति । एतानि । मनसा । ध्यायन् । अप्रमत्तः । स्तुवीत ।

पदा०—(देवेभ्यः) देवताओं के लिये (अमृतत्वं) अमृत को (आगायानि इति) गान करूं (पितृभ्यः) पितरों के लिये

(स्वधां) स्वधा को (मनुष्येभ्यः) मनुष्यों के लिये (आशां) आशा को (पशुभ्यः) पशुओं के लिये (तृणोदकं) तृण और जल को (यजमानाय) यजमान के लिये (स्वर्गं, लोकं) परम सुखकारक स्थान को (आत्मने) अपने लिये (अन्नं) अन्न को (आगायानि, इति) गाऊं (आगायेत) इसी प्रकार सब गावें (एतानि) इन सब गानों द्वारा (मनसा) मन से परमात्मा का (ध्यायन्) ध्यान करता हुआ (अप्रमत्तः) सावधान चित्त से (स्तुवीत) परमात्मा की स्तुति करे।

भाष्य—इस श्लोक में सामगान का उद्देश्य कथन किया गया है कि उद्गाता अमुक २ उद्देश्य से सामगान करे अर्थात् देवता=विद्वान् पुरुषों के लिये अमृत को गावें कि हे परमात्मन्, ! सब विद्वान् पुरुष पूर्ण आयु भोगें, पिता पितामह आदि पितरों के लिये यह प्रार्थना करे कि यह लोग उच्चपद को प्राप्त होते रहें ताकि जगत् का कल्याण हो, साधारण मनुष्यों के लिये यह प्रार्थना करे कि हे सर्वरक्षक परमपिता परमात्मन् ! आप ऐसी कृपा करें कि इनकी शुभ आशायें पूर्ण हों, पशुओं के लिये तृण और जल की प्रार्थना करे, यजमान के लिये परमसुखकारक उत्तम स्थान तथा उत्तम अवस्थाविशेष की प्रार्थना करे कि हे सर्वरक्षक पितामह ! मेरा यजमान जिस स्थान वा अवस्था में रहे सदा सुखी रहे, और अपने लिये उस महान् परमात्मा से अन्न वस्त्र की प्रार्थना करे, इत्यादि भावों को लक्ष्य रखकर उद्गाता परमपिता परमात्मा से सब के लिये प्रार्थना करता हुआ यह भी प्रार्थना करे कि हे महाराज ! आप अन्य ऋत्विकों के हृदय में भी ऐसा भाव उत्पन्न करें कि जिसप्रकार मैं इनके हितार्थ सामगान करता हूं इसीप्रकार वह सब भी गावें अर्थात्

अन्य सब ऋत्विक् भी परमात्मा से यही प्रार्थना करें, इसप्रकार मन से उस परमपिता परमात्मा का ध्यान करता हुआ अप्रमत्त चित्त से उसीकी स्तुति करे॥

सं०-अब स्वरादि वर्ण तथा उनके उपदेष्टाओं का कथन करते हैं :—

सर्वेस्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मा-नस्तं यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रँ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिवक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ३ ॥

पद०-सर्वे । स्वराः । इन्द्रस्य । आत्मानः । सर्वे । ऊष्माणः । प्रजापतेः । आत्मानः । सर्वे । स्पर्शाः । मृत्योः । आत्मानः । तं । यदि । स्वरेषु । उपालभेत । इन्द्रं । शरणं । प्रपन्नः । अभूवं । सः । त्वा । प्रतिवक्ष्यति । इति । एनं । ब्रूयात ॥

पदा०-(सर्वे, स्वराः) सम्पूर्ण स्वर (इन्द्रस्य, आत्मानः) इन्द्र की आत्मा हैं (सर्वे) सब (ऊष्माणः) ऊष्मा (प्रजापतेः) प्रजापति की (आत्मानः) आत्मा हैं (सर्वे) सब (स्पर्शाः) स्पर्श (मृत्योः, आत्मानः) महर्षि मृत्यु की आत्मा हैं (यदि) यदि कोई पुरुष (तं) उद्गाता वा अन्य ऋत्विक् के प्रति (स्वरेषु) स्वरों के उच्चारण में (उपालभेत) उपालम्भ देवे तो वह (एनं) इस उपालम्भ का यह (ब्रूयात) उत्तर दें कि मैं (इन्द्रः) इन्द्र की (शरणं) शरण को (प्रपन्नः, अभूवं) प्राप्त

हुआ हूं (सः) वही (त्वा) तुमको (प्रतिवक्ष्यति, इति) उत्तर देवेंगे ।

भाष्य—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ, यह नव "स्वर" वर्ण हैं, इनके उपदेष्टा तथा तत्त्वज्ञाता महर्षि "इन्द्र" हैं, श, ष, स, ह, यह "ऊष्मा" वर्ण हैं, इनके उपदेष्टा महर्षि "प्रजापति" हैं क, ख, ग, घ, ङ । च, छ, ज, झ, ञ । ट, ठ, ड, ढ़, ण । त, थ, द, ध, न । प, फ, ब, भ, म यह सब "स्पर्श" वर्ण हैं, इनके उपदेष्टा तथा तत्त्वज्ञाता महर्षि "मृत्यु" हैं, यदि उद्गाता वा अन्य ऋत्विक् को कोई पुरुष स्वरों के उच्चारण में उपालम्भ देवे अर्थात् यह कथन करे कि हे उद्गाता! तुम स्वरों का उच्चारण यथायोग्य नहीं करते अशुद्ध करते हो, ऐसा करने से तुम दोष के भागी होगे और यजमान को भी अनिष्ट होगा, इस उपालम्भ का उत्तर उद्गाता यह देवे कि मैंने स्वरों का उच्चारण "इन्द्र" से सीखा है वही तुमको उत्तर देवेंगे, आप उनके शिष्य सम्प्रदाय के समीप जावें अर्थात् उनकी शिक्षानुसार पठनपाठन करें तब आपको इनका यथार्थ ज्ञान होगा, यदि आप हठात् निन्दा करेंगे तो अप्रतिष्ठित होंगे, क्योंकि "स्वरों" के तत्त्ववेत्ता महर्षि इन्द्र ही हैं अन्य नहीं सो तुम उन्हीं से इनके उच्चारण की जिज्ञासा करो ।

सं०—अब "ऊष्मा" तथा "स्पर्श" वर्णों की अशुद्ध्यादि विषयक कथन करते हैं:—

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिꣳशरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रू-

यादथ यद्येनᳪस्पर्शेषूपालभेत मृत्युᳪ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिध्यक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ४ ॥

पद०—अथ । यदि । एनं । ऊष्मासु । उपालभेत प्रजापतिं । शरणं । प्रपन्नः । अभूवं । सः । त्वा । प्रति । पेक्ष्यति । इति । एनं । ब्रूयात् । अथ । यदि । एनं । स्पर्शेषु । उपालभेत । मृत्युं । शरणं । प्रपन्नः । अभूवं । सः । त्वा । प्रति । ध्यक्षति । इति । एनं । ब्रूयात् ।

पदा०—(अथ) स्वर वर्णों के अनन्तर (यदि) यदि (एनं) इस उद्गाता ऋत्विक् को (ऊष्मासु) ऊष्मा वर्णों के विषय में कोई (उपालभेत) उपालम्भ दे तो (एनं) इसको ऋत्विक् (ब्रूयात्) कहे कि मैं (प्रजापतिं) प्रजापति की (शरणं) शरण को (प्रपन्नः) प्राप्त (अभूवं) हुआ हूं (सः) वह (त्वा) आपके (प्रति) प्रति (पेक्ष्यति, इति) कथन करेंगे (अथ) अब (यदि) यदि (एनं) इस उद्गाता को (स्पर्शेषु) स्पर्श वर्ण विषयक कोई (उपालभेत) उपालम्भ दे तो (एनं) उसको वह (ब्रूयात्) कथन करे कि मैं (मृत्युं, शरणं, प्रपन्नः, अभूवं) मृत्यु की शरण को प्राप्त हुआ हूं (सः) वह (त्वा) आपके (प्रति) प्रति (ध्यक्षति, इति) कथन करेंगे।

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन कियागया है कि यदि उद्गातादि ऋत्विकों को "ऊष्मा" वर्णों की अशुद्धि विषय में कोई उपालम्भ दे कि आपने अमुक वर्ण अशुद्ध उच्चारण

किया है तो उसको उद्गाता यह उत्तर दे कि मैंने महर्षि प्रजापति की शिक्षानुसार उक्त वर्णों का उच्चारण सीखा है आप उनको प्राप्त हों अर्थात् उनकी शिक्षानुसार पठनपाठन करें तब आपको इन वर्णों का बोध होगा यदि आप उनकी शिक्षानुसार पठनपाठन न करके निन्दा करेंगे तो उक्त महर्षि की शिक्षानुसार पठनपाठन करने वाले तुझको अप्रतिष्ठित कहेंगे, क्योंकि तु उक्त भाव को भलेप्रकार नहीं जानता, इसी प्रकार यदि कोई "स्पर्श" वर्ण विषयक उद्गातादि ऋत्विकों से कथन करे तो वह उसको यही उत्तर देवें कि हमने महर्षि मृत्यु की शिक्षानुसार उक्त वर्णों का उच्चारण सीखा है आप उनको प्राप्त हों अर्थात् उन्हीं की शिक्षानुसार पठनपाठन करें तब आपको बोध होगा, क्योंकि उक्त वर्णों के तत्त्ववेत्ता महर्षि मृत्यु ही हैं अन्य नहीं सो तुम उनसे ही इनके उच्चारण की जिज्ञासा करो।

सं०—अब प्रतिपक्षी का "इन्द्रादि" देवों को प्राप्त होना कथन करते हैंः—

सर्वेस्वराघोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्व ऊष्माणो अग्रस्ता निरस्ता विवृत्ता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शालेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥ ५ ॥

पद०-सर्वे । स्वराः । घोषवन्तः । बलवन्तः । वक्तव्याः । इन्द्रे । बलं । ददानि । इति । सर्वे । ऊष्माणः । अग्रस्ताः । निरस्ताः । विवृत्ताः । वक्तव्याः । प्रजापतेः । आत्मानं । परिददानि । इति । सर्वे । स्पर्शाः । लेशेन । अनभिनिहिताः । वक्तव्याः । मृत्योः । आत्मानं । परिहराणि । इति ॥

पदा०-(सर्वे,स्वराः) सम्पूर्ण स्वर (घोषवन्तः) उच्चनाद वाले तथा (बलवन्तः) बल से (वक्तव्याः) उच्चारण करने योग्य हैं (इन्द्रे, बलं, ददानि, इति) इन्द्र प्रचारित विद्या के रक्षणार्थ अपने बल को प्रदान करूं (सर्वे, ऊष्माणः) सम्पूर्ण ऊष्मा वर्ण (अग्रस्ताः, निरस्ताः) ग्रस्त तथा निरस्तधर्म से रहित (विवृत्ताः, वक्तव्याः) खुले मुख से उच्चारण करने योग्य हैं (प्रजापतेः) प्रजापति को (आत्मानं) अपना आत्मा (परिददानि, इति) भलेप्रकार अर्पण करूं (सर्वे,स्पर्शाः) सम्पूर्ण स्पर्शवर्ण (लेशेन) शनैः २ (अनभिनिहिताः) पृथक् २ (वक्तव्याः) उच्चारण करने योग्य हैं (मृत्योः, आत्मानं, परिहराणि, इति) महर्षि मृत्यु को अपना आत्मा भले प्रकार अर्पण करूं ।

भाष्य-सम्पूर्ण स्वर जिनको पीछे वर्णन करआये हैं वह बलपूर्वक उच्चस्वर से उच्चारण योग्य हैं, क्योंकि व्यंजन स्वर की सहायता से बोले जाते हैं, इस कारण अन्य को बल देने से वह विशेष बलवान् हैं,सो उपरोक्त प्रतिपक्षी महर्षि इन्द्र प्रचारित स्वरों के गुण ज्ञान से मोहित होकर परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन् ! आप ऐसी कृपा करें कि इन्द्र प्रचारित विद्या के रक्षणार्थ ही अपने सम्पूर्ण बल को प्रदान करूं, एवं सम्पूर्ण ऊष्म वर्ण जो ग्रस्त=पकड़े हुए निरस्त=फेंके हुए धर्म से रहित खुले हुए मुख से शुद्ध उच्चारण करने योग्य हैं, सो प्रतिपक्षी इन

ऊष्माक्षरों के गुण ज्ञान से मोहित होकर परमात्मा से प्रर्थना करता है कि हे परमापिता ! आप मेरे में ऐसी शक्ति प्रदान करें कि मैं इनके उपदेष्टा महर्षि प्रजापति को अपना आत्मा अर्पण करूं अर्थात् प्रजापति प्रचारित विद्या के रक्षणार्थ अपने सम्पूर्ण बल को प्रदान करूं, इसी प्रकार सम्पूर्ण स्पर्श वर्ण जो शनैः २ पृथक् २ उच्चारण योग्य हैं, सो प्रतिपक्षी महर्षि मृत्यु से जो इनके उपदेष्टा हैं इनके गुणों की शिक्षा ग्रहण करके परमात्मा से प्रर्थना करता है कि हे परमात्मन् ! आप मेरे आत्मा में ऐसा बल प्रदान करें कि मैं उक्त महर्षि प्रचारित विद्या के रक्षण में ही अपना सर्वस्व अर्पण करूं ॥

इति द्वाविंशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब धर्म के मुख्यस्कन्ध वर्णन करते हुए ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को मुक्ति की प्राप्ति कथन करते हैं :—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनंदानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवान्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥ १ ॥

पद०—त्रयः। धर्मस्कन्धाः। यज्ञः। अध्ययनं। दानं। इति। प्रथमः। तपः। एव। द्वितीयः। ब्रह्मचारी। आचार्य्यकुलवासी। तृतीयः। अत्यन्तं। आत्मानं। आचार्य्यकुले। अवसादयन्। सर्वे। एते। पुण्यलोकाः। भवन्ति। ब्रह्मसंस्थः। अमृतत्वं। एति।

पदा०—(धर्मस्कन्धाः) धर्म के स्कन्ध (त्रयः) तीन हैं, जिनमें से (यज्ञः, अध्ययनं, दानं) यज्ञ, अध्ययन और दान यह तीनों मिलकर (इति, प्रथमः) प्रथम स्कन्ध (तपः, एव) तप ही (द्वितीयः) दूसरा स्कन्ध है (आत्मानं) अपने आपको (अत्यन्तं) अतिशय (अवसादयनं) क्षीण करता हुआ (आचार्य्यकुलवासी) आचार्य्यकुलवासी (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (आचार्य्यकुले) आचार्य्यकुल में जो निवास करता है वही (तृतीयः) तीसरा स्कन्ध है (एते) यह (सर्वे) सब आश्रमी (पुण्यलोकाः) पुण्यलोक वाले (भवन्ति) होते हैं, और जो इनमें से (ब्रह्मसंस्थः) ब्रह्मनिष्ठ होता है वह (अमृतत्वं) मुक्ति को (एति) प्राप्त होता है ॥

भाष्य—महर्षियों ने धर्म को मुख्य तीन भागों में विभक्त किया है जिनमें यज्ञ, अध्ययन और दान करना प्रथम स्कन्ध तथा केवल तप करना ही द्वितीय स्कन्ध और ब्रह्मचारी बनकर यमनियमादिकों द्वारा तपश्चरण करते हुए आचार्य्यकुल में निवास करना धर्म का तीसरा स्कन्ध है, स्कन्ध तथा भाग यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, यह सब आश्रमी पुण्यलोक वाले अर्थात् धार्मिक होते हैं परन्तु इनमें जो ब्रह्मनिष्ठ=परमपरायण होता है वही मुक्ति को प्राप्त होता है अन्य नहीं।

सं०—अब लोकलोकान्तरों तथा वेदों की उत्पत्ति कथन करते हैं:—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्ते-भ्यस्त्रयीविद्या सम्प्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि सम्प्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ॥ २ ॥

पद०—प्रजापतिः। लोकान्। अभ्यतपत्। तेभ्यः। अभितप्तेभ्यः। त्रयीविद्या। सम्प्रास्रवत्। तां। अभ्यतपत्। तस्याः। अभितप्तायाः। एतानि। अक्षराणि। सम्प्रास्रवन्तः। भूः। भुवः। स्वः। इति।

पदा०—(प्रजापतिः) परमात्मा ने (लोकान्) सम्पूर्ण लोकों को (अभ्यतपत्) प्रकाशित किया (तेभ्यः) उनके (अभितप्तेभ्यः) प्रकाशित होने के अनन्तर (त्रयीविद्या) वेद (संप्रास्रवत्) आविर्भूत हुए (तां) उनको (अभ्यतपत्) ऋषियों द्वारा प्रकाशित किया (तस्याः, अभितप्तायाः) उस वेद के प्रकाशित होने के अनन्तर (एतानि) यह (अक्षराणि) अक्षर (भूः, भुवः, स्वः, इति) भूः, भुवः, स्वः (सम्प्रास्रवन्तः) प्रकट हुए।

भाष्य—प्रजापति परमात्मा ने प्रथम सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों को प्रकाशित किया इसके अनन्तर अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा द्वारा त्रयीविद्या कर्म उपासना तथा ज्ञानरूप वेद उत्पन्न हुए, वेदों के प्रकाशित होने के अनन्तर भूः, भुवः स्वः यह तीन व्याहृति प्रकट हुईं जिनका अर्थ यह है कि भूः=प्राण, भुवः=

दुःख विनाशक, स्वः=सुखस्वरूप तथा अपने उपसकों को सुख की प्राप्ति कराने वाला इत्यादि गुणविशिष्ट परमात्मा ने सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों को प्रकाशित किया।

सं०—अब परमात्मा की सर्वव्यापकता कथन करते हैं :—

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओङ्कार सम्प्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णोङ्कार एवेदꣳसर्वमोङ्कार एवेदꣳसर्वम्॥३॥

पद०—तानि। अभ्यतपत्। तेभ्यः। अभितप्तेभ्यः। ओङ्कारः। सम्प्रास्रवत्। तत्। यथा। शङ्कुना। सर्वाणि। पर्णानि। सन्तृण्णानि। एवं। ओङ्कारेण। सर्वा। वाक्। सन्तृण्णा। ओङ्कारः। एव। इदं। सर्वं। ओङ्कारः। एव। इदं। सर्वम्।

पदा०—(तानि) उक्त व्याहृतियों को (अभ्यतपत्) प्रजापति परमात्मा ने प्रकाशित किया (तेभ्यः) उनके (अभितप्तेभ्यः) प्रकाशित होने के अनन्तर (ओङ्कारः) ब्रह्म (सम्प्रास्रवत्) स्वयं प्रकाशित हुआ (तत्) इस कारण (यथा) जैसे (शङ्कुना) नाल से (सर्वाणि) सब (पर्णानि) पत्र (सन्तृण्णानि) छिदे हुए होते हैं (एवं) इसी प्रकार (ओङ्कारेण) परमात्मा से (सर्वा) सब (वाक्) वाणियें (सन्तृण्णा) छिदी हुई हैं (ओङ्कारः) परमात्मा (एव) ही (इदं, सर्वं) इन सब में व्याप्त है।

भाष्य–" ओङ्कार एवेदंसर्वम् " पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, ब्रह्म ने सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों को प्रकाशित करने के अनन्तर तीनं व्याहृतियों को प्रकाशित किया और व्याहृतियों के प्रकाशानन्तर ब्रह्म प्रकाशित हुआ अर्थात् ब्रह्मका अर्थ ज्ञात हुआ, सो जिसप्रकार पर्णनाल से सम्पूर्ण पत्र छिदे हुए होते हैं वा जिसप्रकार रथ के पहिये में आरे लगे हुए होते हैं इसीप्रकार ओङ्कार में सम्पूर्ण बाणियें व्याप्त हैं, या यों कहो कि ओंङ्कार ही इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होकर सबको धारण कररहा है।

इति त्रयोविंशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्विंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब तीन देवों के तीन सवन कथन करते हैं:—

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनꣳ रुद्राणांमाध्यन्दिनꣳसवनमादित्या-नाञ्च विश्वेषाञ्च देवानां तृतीय सवनम् ॥ १ ॥

पद०–ब्रह्मवादिनः। वदन्ति। यत्। वसूनां। प्रातः। सवनं। रुद्राणां। माध्यन्दिनं। सवनं। आदित्यानां। च। विश्वेषां। च। देवानां। तृतीय। सवनम्।

पदा०-(ब्रह्मवादिनः) ब्रह्मवादी (वदन्ति) कथन करते हैं कि (यत्) जो (प्रातः,सवनं) प्रातः सवन है वह (वसूनां) वसुओं का (माध्यन्दिनं, सवनं) जो माध्यन्दिन सवन है वह (रुद्राणां) रुद्रों का (च) और जो (तृतीय, सवनं) तीसरा सवन है वह (आदित्यानां) सूर्य्यादिकों (च) और (विश्वेषां, देवानां) सम्पूर्ण देवों के हितार्थ होता है।

भाष्य-"तिस्र एव देवता"= वसु, रुद्र और आदित्य यह तीन ही देवता हैं, जिनके सवन इस प्रकार हैं कि वसुओं का प्रातः सवन, रुद्रों का माध्यन्दिन=दुपहर सवन और आदित्या-दि अन्य सब देवों का तृतीय=सायंकाल सवन है अर्थात् "वासयन्ति भूतानि इति वसवः"=भूतों के निवास स्थान का नाम "वसु" और वह अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्त-रिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र यह आठ वसु हैं, इनका प्रातःसवन तथा गायत्री छन्द है, अन्तरिक्षस्थ वायु मेघ तथा विद्युदादि को "रुद्र" कहते हैं, इनका मध्यन्दिन सवन और त्रिष्टुपछन्द है और आदित्य तथा विश्वेदेव का सायं-सवन और जगती छन्द है, इस प्रकार क्रमशः लोकों का ज्ञान प्राप्त करता हुआ यजमान यज्ञ करे।

सं०-अब अज्ञानी यजमान के लिये यज्ञ का निषेध करते हैंः-

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ वि-द्वान् कुर्यात् ॥ २॥

पद०—क । तर्हि । यजमानस्य । लोकः । इति । सः । यः । तं । न । विद्यात् । कथं । कुर्यात् । अथ । विद्वान् । कुर्यात् ।

पदा०—(यजमानस्य) यजमान का (लोकः, इति) लोक (क) कहां है (यः) जो (सः) वह (तं) उसको (न, विद्यात्) नहीं जानता (तर्हि) तो (कथं, कुर्यात्) कैसे यज्ञ करे (अथ) यदि (विद्वान्, कुर्यात्) जानता है तो यज्ञ करे ।

भाष्य—इस श्लोक में ज्ञानपूर्वक कर्मों का विधान किया है कि यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले यजमान को जबतक यह ज्ञात न हो कि इस कर्म के करने से मुझको किस अवस्था की प्राप्ति होगी अथवा इस कर्म के करने से क्या फल होगा तबतक वह कर्म करने में प्रवृत्त न हो और जब भले प्रकार ज्ञान होजाय कि अमुक कर्म का यह फल होता है तथा इस कर्म का करने वाला अमुक अवस्था को प्राप्त होता है तब वह कर्म करने में प्रवृत्त हो ।

सं०—अब सुबोध यजमान के लिये प्रातः सवन की विधि कथन करते हैं:—

पुराप्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवꣳसामाभिगायति ॥३॥

पद०—पुरा । प्रातरनुवाकस्य । उपाकरणात् । जघनेन । गार्हपत्यस्य उदङ्मुखः । उपविश्य । सः । वासवं । साम । अभिगायति ।

पदा०—(प्रातरनुवाकस्य) प्रातरनुवाक के (उपाकरणात्) प्रारम्भ करने से (पुरा) पूर्व (गार्हपत्यस्य) गार्हपत्याग्नि के (जघनेन) पीछे (उदङ्मुखः) उत्तराभिमुख (उपविश्य) बैठ कर (सः) वह यजमान (वासवं) वासव नामक (साम) साम का (अभिगायति) गान करे ।

भाष्य—प्रातःकाल में जिसके द्वारा परमात्मविभूति की गान से प्रशंसा कीजाय उसका नाम " **प्रातरनुवाक** " है, स्तोत्र, स्तव, स्तोम तथा प्रातरनुवाक यह सब पर्य्याय शब्द हैं, जिस कुण्ड में गार्हपत्याग्नि स्थापित रहती है उसके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर यजमान " वासव " नामा साम द्वारा परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करे कि हे परमात्मन् ! आप मुझे इस संसार में अभ्युदय प्राप्त करावें अर्थात् सब प्रकार का ऐश्वर्य्य प्रदान करें, मेरा शरीर तथा मेरी सन्तति नीरोग रहे, सब ऋतुयें, जल वायु आदि मेरे अनुकूल हों और मैं सब प्रकार से ऐश्वर्य्य का भोगने वाला होऊं, पृथिवी और पृथिवी के आश्रित पदार्थों का नाम "**वसु**" और वसुओं के स्वामी परमात्मा का नाम "**वासव**" है, सो उक्त सामगान द्वारा यजमान परमात्मा से प्रार्थना करे कि पृथिवीस्थ सब पदार्थ मुझको प्राप्त हों, यही इस श्लोक का आशय है ॥

सं०—अब " वासव " साम का कथन करते हैं :—

लो३कद्वारमपावा३र्ण ३३ पश्येम त्वावयं
रा ३३३३३ हुं ३ आ ३३ जा ३
यो ३ आ ३१११इति ॥४॥

पद०—लोकद्वारं। अपावार्णू। पश्येम। त्वा। वयं। राज्याय। इति।

पदा०—(लोकद्वारं) इस लोक के द्वार को (अपावार्णू) खोलदें (वयं) हम लोग (त्वा) आपको (राज्याय, इति) ऐश्वर्य्य के अर्थ (पश्येम) देखें।

भाष्य—"वासव" सामगान द्वारा यजमान परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे परमपिता परमात्मन् ! आप अपनी असीमकृपा तथा दया से अभ्युदय की प्राप्ति के लिये इसलोक के द्वार को खोलदें अर्थात् सब प्रकार का ऐश्वर्य्य हमको प्राप्त करायें,इसी कारण हम लोग यजन करते हैं, आपके अनुग्रह के बिना संसार का कोई पदार्थ हमको उपलब्ध नहीं होसक्ता, आप आनन्दमय हैं हमें भी आनन्दित कीजिये कि हम लोग आपके समीप आने के लिये योग्यता प्राप्त करें, यह आपसे बारम्बार विनयपूर्वक प्रार्थना है॥

सं०—अब प्रार्थना के पश्चात् यजमान हवन करता है :—

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोक-क्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥८॥

पद०—अथ। जुहोति। नमः। अग्नये। पृथिवीक्षिते। लोकक्षिते। लोकं। मे। यजमानाय। विन्द। एषः। वै। यजमानस्य। लोकः। एतास्मि।

पदा०—(अथ) अब यजमान (जुहोति) हवन करता है (पृथिवीक्षिते) हे पृथिवीपते तथा (लोकक्षिते) अन्य लोकों के स्वामी (अग्नये) प्रकाशस्वरूप आपको मेरा (नमः) नमस्कार हो (मे) मुझ (यजमानाय) यजमान के लिये (लोकं) उत्तम अवस्था (विन्द) प्राप्त कीजिये (वै) निश्चयकरके (एषः) यही (यजमानस्य) यजमान का (लोकः) लोक होगा (एतास्मि) उसी को मैं प्राप्त होऊंगा ।

भाष्य—प्रार्थना के पश्चात् यजमान गार्हपत्याग्नि में हवन करता है कि हे लोकलोकान्तरों के स्वामी अथवा हे सर्वव्यापक प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आपको मेरा नमस्कार हो, आप अपनी परम कृपा से मुझ यजमान को उत्तम अवस्था प्राप्त करायें, हे परमात्मन्! जिस अवस्था में आप रखेंगे उसी अवस्था को मैं प्राप्त होऊंगा, मैं सर्वथा आपके अधीन हूं आप मेरे रक्षक स्वामी हैं सो आप कृपा करके मुझको उत्तम स्थान प्रदान करें ॥

सं०—अब हवन के पश्चात् यजमान की प्रार्थना कथन करते हैं :—

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽ-
पजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति
तस्मै वसवः प्रातः सवनꣳ
संप्रयच्छन्ति ॥ ६ ॥

पद०—अत्र । यजमानः । परस्तात् । आयुषः । स्वाहा ।

अपजहि। परिघं। इति। उक्त्वा। उत्तिष्ठति। तस्मै। वसवः। प्रातःसवनं। संप्रयच्छन्ति।

पदा०—(स्वाहा) हे परमात्मन् ! आप आशीर्वाद दें कि मैं (यजमानः) यजमान (आयुषः) इस जीवन के (परस्तात्) पश्चात् (अत्र) इसी अवस्था में रहूं, हे भगवन् (परिघं) अविद्या को (अपजहि) दूर करो (इति, उक्त्वा) ऐसा कथन करके (उत्तिष्ठति) वहां से उठजाय (वसवः) परमात्मा (प्रातः सवनं) प्रातःकालिक यज्ञ का फल (तस्मै) उस यजमान को (संप्रयच्छन्ति) देते हैं।

भाष्य—प्रातःसवन का हवन करने के पश्चात् यजमान परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन् ! आप ऐसी कृपाकरें कि मरण के अनन्तर भी मुझको यही मनुष्य योनि प्राप्त हो, हे परमपिता परमात्मन् ! आनन्द की निवारक अविद्या को मुझ से सदा के लिये पृथक् कीजिये ताकि मैं सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करसकूं, इस प्रकार प्रार्थना करके यजमान वहां से उठजाय, ऐसे अनुष्ठान शील यजमान को परमात्मा प्रातःकालिक यज्ञ का फल देते हैं॥

सं०—अब माध्यन्दिन सवन की विधि कथन करते हैं :—

**पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणा-
ज्जघनेनाग्नीध्रीयस्योदङ्मुख
उपविश्य स रौद्र ँ सामा-
भिगायति ॥ ७ ॥**

पद०—पुरा । माध्यन्दिनस्य । सवनस्य । उपाकरणात् । जघनेन । आग्नीध्रीयस्य । उदङ्मुखः । उपविश्य । सः । रौद्रं । साम । अभिगायति ।

पदा०—(सः)वह यजमान(माध्यन्दिनस्य,सवनस्य,उपाकरणात्) माध्यन्दिन सवन के प्रारम्भ से (पुरा) पूर्व (आग्नीध्रीयस्य) आग्नीध्रीय अग्नि के (जघनेन) पीछे (उदङ्मुखः) उत्तराभिमुख (उपविश्य) बैठकर (रौद्रं) रौद्र (साम) साम को (अभिगायति) भले प्रकार विचारे ।

भाष्य–इस श्लोक में माध्यन्दिन सवन की विधि कथन करते हुए यह वर्णन किया है कि यजमान माध्यन्दिन सवन के प्रारम्भ से पूर्व आग्नीध्रीय जिसको दक्षिणा भी कहते हैं उसके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर " रौद्र " नामक साम का विचार करे ।

सं०–अब " रौद्र " नामक साम का कथन करते हैं :—

लो३कद्वारमपावा३र्णू३३पश्येम त्वा वयं वैरा ३३३३३हुं ३आ३३ज्या ३यो३आ३२१११इति ॥८॥

पद०–लोकद्वारं । अपावार्णू । पश्येम । त्वा । वयं । वैराज्याय । इति ।

पदा०–(लोकद्वारं) इस सुखलोक के द्वार को (अपावार्णू) खोलदें (वयं) हम लोग (त्वा) आपको (वैराज्याय, इति) ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (पश्येम) देखें ।

भाष्य–हे परमपिता परमात्मन् ! आप कृपाकरके इस लोक के ऐश्वर्य रूप द्वार को खोलदें अर्थात् ऐसी कृपा करें कि

हम लोग आपकी महती विभूति का अवलोकन करते हुए ऐश्वर्य्यसम्पन्न तथा ऐश्वर्य्य के भोगने वाले हों, यह आपसे हमारी विनयपूर्वक प्रार्थना है।

सं०-अब यजमान का हवन करना कथन करते हैं :—

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि॥९॥

पद०-अथ। जुहोति। नमः। वायवे। अन्तरिक्षक्षिते। लोकक्षिते। लोकं। मे। यजमानाय। विन्द। एषः। वै। यजमानस्य। लोकः। एतास्मि।

पदा०-(अथ) अब यजमान (जुहोति) हवन करता है (अन्तरिक्षक्षिते) अन्तरिक्ष में व्यापक (लोकक्षिते) अन्य लोकलोकान्तरों में व्यापक (वायवे) प्राणस्वरूप ब्रह्म को (नमः) नमस्कार हो (मे) मुझ (यजमानाय) यजमान के लिये (लोकं) इस लोक का ऐश्वर्य्य (विन्द) प्राप्त करायें (वै) निश्चयकरके (एषः) यह (लोकः) लोक (यजमानस्य) मुझ यजमान का हो (एतास्मि) यह मुझको प्रदान करें।

भाष्य-परमात्मा की प्रार्थना के अनन्तर उक्त मंत्र द्वारा यजमान हवन करता है कि हे जगत्पिता ! हे सब लोकलोकान्तरों में व्यापक परमात्मन् ! हे प्राणदाता और सर्वरक्षक दयामय ! आपको नमस्कार हो, आप ऐसी कृपा करें कि इस लोक का ऐश्वर्य्य मुझको प्राप्त हो और मैं न्याय-

पूर्वक इस ऐश्वर्य्य का भोक्ता होऊं, यह मेरी आप से प्रार्थना है ॥

सं०-अब हवन के अनन्तर यजमान की प्रार्थना कथन करते हैं:—

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनꣳ सवनꣳ सम्प्रयच्छन्ति ॥ १० ॥

पद०-अत्र । यजमानः । परस्तात् । आयुषः । स्वाहा । अपजहि । परिघं । इति । उक्त्वा । उत्तिष्ठति । तस्मै । रुद्राः । माध्यन्दिनं । सवनं । सम्प्रयच्छन्ति ।

पदा०-(स्वाहा) हे परमात्मन् ! आप अशीर्वाद दें कि मैं (यजमानः) यजमान (आयुषः,परस्तात्) इस जीवन के पश्चात् (अत्र) इसी अवस्था में रहूं (परिघं) इस अविद्यारूप अर्गल को (अपजहि) मुझ से दूरकरें (इति) इस प्रकार (उक्त्वा) प्रार्थना करके (उत्तिष्ठति) वहां से उठजाय (तस्मै) उस यजमान को (रुद्राः) परमात्मा (माध्यन्दिनं, सवनं)माध्यन्दिन सवन का फल (सम्प्रयच्छन्ति) देते हैं ।

भाष्य-हवनानन्तर यजमान यह प्रार्थना करे कि हे जगत्स्रष्टा हे जगत्पालक परमात्मन् !आप ऐसी कृपा करें कि मैं इस जीवन के पश्चात् भी उत्तम अवस्था में वर्त्तमान् रहूं अर्थात् मुझको मनुष्य योनि प्राप्त हो,हे परमपिता ! इस अविद्यारूप अर्गल को मुझ

से दूर करें ताकि श्रिया ही में मेरा वास हो, इत्यादि, इस प्रकार प्रार्थना करके यजमान से उठजाय, ऐसे कर्मकाण्डी यजमान को परमात्मा माध्यन्दिन सवन का फल प्रदान करते हैं ॥

सं०—अब तृतीय सवन की विधि कथन करते हैं:—

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाऽऽहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यꣳस वैश्वदेवꣳ सामाभिगायति ॥ ११ ॥

पद०—पुरा । तृतीयसवनस्य । उपाकरणात् । जघनेन । आहवनीयस्य । उदङ्मुखः । उपविश्य । सः । आदित्यं । सः । वैश्वदेवं । साम । अभिगायति ।

पदा०—(सः) वह यजमान (तृतीयसवनस्य) तीसरे सवन के (उपाकरणात्) प्रारम्भ से (पुरा) पूर्व (आहवनीयस्य) आहवनीयाग्नि के (जघनेन) पीछे (उदङ्मुखः) उत्तराभिमुख (उपविश्य) बैठकर (आदित्यं) आदित्य को और (वैश्वदेवं) वैश्वदेव (साम) साम को (अभिगायति) विचारे ।

भाष्य—प्रातःसवन तथा माध्यन्दिन सवन का वर्णन करने के अनन्तर इस श्लोक में तृतीयसवन का कथन किया है कि यजमान तृतीयसवन के आरम्भ से पूर्व आहवनीयाग्नि के पीछे अर्थात् जहां उक्त अग्नि स्थापित है उसके पृष्ठ भाग में उत्तराभिमुख बैठकर "आदित्य" और "वैश्वदेव" साम को भले प्रकार मन से विचारे ॥

सं०—अब "आदित्य" साम का कथन करते हैं :—

लो३कद्वारमपावा३र्णू ३३ पश्येमत्वा वयꣳस्वारा ३३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३आ ३२१११ इति ॥१२॥

पद०—लोकद्वारं। अपावार्णू। पश्येम। त्वा। वयं। स्वाराज्याय। इति।

पदा०—(लोकद्वारं) इस लोक के ऐश्वर्यरूप द्वार को (अपावार्णू) खोलदें (वयं) हमलोग (त्वा) आपको (स्वाराज्याय, इति) ऐश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये (पश्येम) देखें॥

सं०—अब "वैश्वदेव" साम का कथन करते हैं :—

आदित्यमथ वैश्वदेवं लो३कद्वारमपावा३र्णू ३३पश्येम त्वा वयꣳसाम्रा ३३३३३ हुं ३३उया ३यो ३आ ३२१११इति॥१३॥

पद०—आदित्यं। अथ। वैश्वदेवं। लोकद्वारं। अपावार्णू। पश्येम। त्वा। वयं। साम्राज्याय। इति।

पदा०—(अथ) और (आदित्यं) हे सर्वत्रदीप्तिमान (वैश्वदेवं) हे विश्व के देव (लोकद्वारं) इस ऐश्वर्यरूप लोक के द्वार को (अपावार्णू) खोलदें ताकि (वयं) हम लोग (त्वा) आपको (साम्राज्याय, इति) ऐश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये (पश्येम) देखें।

सं०—अब यजमान का हवन करना कथन करते हैं :—

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत ॥ १४ ॥

पद०—अथ। जुहोति। नमः। आदित्येभ्यः। च। विश्वेभ्यः। च। देवेभ्यः। दिविक्षिद्भ्यः। लोकक्षिद्भ्यः। लोकं। मे। यजमानाय। विन्दत।

पदा०—(अथ) प्रार्थनानन्तर (जुहोति) यजमान हवन करता है कि यह हुतद्रव्य (आदित्येभ्यः) आदित्यस्थ जीवों को (विश्वेभ्यः, देवेभ्यः) सम्पूर्ण विश्व के देवों को (दिविक्षिद्भ्यः) द्युलोकस्थ जीवों को (च) और (लोकक्षिद्भ्यः) अन्य लोक निवासियों को (नमः) प्राप्त हों (च) और (मे) मुझ (यजमानाय) यजमान के लिये (लोकं) इस लोक को (विन्दत) प्राप्त करायें।

सं०—अब हवनानन्तर यजमान की प्रार्थना कथन करते हैं:-

एष वै यजमानस्य लोकं एताऽस्म्यत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥ १५ ॥

पद०—एषः। वै। यजमानस्य। लोकः। एतास्मि। अत्र। यजमानः। परस्तात्। आयुषः। स्वाहा। अपहत। परिघं। इति। उक्त्वा। उत्तिष्ठति।

पदा०—(स्वाहा) हे परम पिता परमात्मन्! आप आशीर्वाद दें कि (यजमानस्य) मुझ यजमान को (एषः) यह (लोकः) लोक (एतास्मि)

प्राप्त हो (वै) निश्चयकरके (यजमानः) मैं यजमान (आयुषः) इस आयु के (परस्तात्) पीछे (अत्र) इसी अवस्था में रहूं (परिघं) अविद्यारूप अर्गल को मुझसे (अपहत) दूर कीजिये (इति) यह (उक्त्वा) प्रार्थना कर यजमान वहां से (उत्तिष्ठति) उठजाय।

भाष्य—हे परमपिता परमात्मन् ! आप कृपाकरके ऐसा आशीर्वाद दें कि मुझ यजमान की यह अवस्था उत्तम रीति से पूर्ण हो और मैं इस आयु के पीछे अर्थात् मरणानन्तर भी इसी अवस्था में रहकर आपका यश कीर्त्तन करता रहूं, हे परमेश्वर आपही का सर्वत्र आधिपत्य है आपही सब कर्म फलों के दाता और विद्या के प्रदान करनेवाले हैं, सो हे पिता ! ऐसी कृपाकरें कि यह अविद्यारूप अर्गल मुझ से दूर हो और मैं विद्या के मार्ग पर चलता हुआ आपकी आज्ञा का पालन करूं, इस प्रकार प्रार्थना कर यजमान वहां से उठजाय॥

सं०—अब उक्त सवन का फल कथन करते हैं:—

तस्मा आदित्याश्चविश्वे च देवास्तृतीय सवनँ सम्प्रयच्छन्तेष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद॥१६॥

पद०—तस्मै। आदित्याः। च। विश्वे। च। देवाः। तृतीयसवनं। सम्प्रयच्छन्ति। एषः। ह। वै। यज्ञस्य। मात्रां। वेद। यः। एवं। वेद। यः। एवं। वेद।

पदा०—(तस्मै) उस यजमान को (आदित्याः) आदित्य (च) और (विश्वे, देवाः) सम्पूर्ण विद्वान् (तृतीयसवनं) तृतीय

सवन का फल (सम्प्रयच्छन्ति) देते हैं (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध है कि (एषः) यह यजमान (यज्ञस्य) यज्ञ के (मात्रां) तत्त्व को (वेद) जानता है (यः) जो (एवं) इस प्रकार (वेद) जानता है ॥

भाष्य—"यँ एवं वेद" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता तथा प्रपाठक की समाप्ति के लिये आया है, तृतीयसवन के अनुष्ठाता यजमान को आदित्य और सम्पूर्ण विद्वान् उक्त कर्म का फल देते हैं अर्थात् आदित्यस्थ पदार्थों में व्यापक तथा उनका स्वामी प्रकाशस्वरूप परमात्मा और सम्पूर्ण विद्वान् उसको आशीर्वाद देते हैं कि तेरा कल्याण हो, तेरी मनोकामना पूर्ण हो, ऐसा ही यजमान निश्चय करके तत्त्व का ज्ञाता होता है और उसी को इस जन्म में उच्च अवस्था प्राप्त होती है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे छान्दोग्योपनिषदार्य्यभाष्ये द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः

ओ३म्

अथ तृतीयः प्रपाठकः प्रारभ्यते

सं०—अब रूपकालङ्कार द्वारा परमात्मा का महत्त्व वर्णन करते हुए उसकी प्राप्ति कथन करते हैं:—

असौ वा आदित्यो देवमधु, तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवँशोऽन्तरिक्ष-मपूपो मरीचयः पुत्राः ॥ १ ॥

पद०—असौ । वै । आदित्यः । देवमधु । तस्य । द्यौः । एव । तिरश्चीनवंशः । अन्तरिक्षं । अपूपः । मरीचयः । पुत्राः ॥

पदा०—(वै) निश्चयकरके (असौ) यह (आदित्यः) प्रकाशस्वरूप परमात्मा (देवमधु) विद्वानों के लिये अमृत है (तस्य) उसका (द्यौः,एव) द्युलोक ही (तिरश्चीनवंशः) तिरछा वांस है (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (अपूपः) मधुमक्षिकाओं का छत्ता और (मरीचयः) नाना प्रकार की ज्योतिवाले नक्षत्र उस छत्ते के (पुत्राः) पुत्रस्थानीय हैं ॥

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्य ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ॥ २ ॥

पद०—तस्य । ये । प्राञ्चः । रश्मयः । ताः । एव । अस्य । प्राच्यः । मधुनाड्यः । ऋचः । एव । मधुकृतः । ऋग्वेदः । एष । पुष्पं । ताः । अमृताः । आपः । ताः । वै । एताः । ऋचः ।

पदा०—(तस्य) उस ब्रह्मरूप मधु के (ये) जो (प्राञ्चः, रश्मयः) पूर्व की किरणें हैं (ताः, एव) वही (अस्य) इस मधु की (प्राच्यः) पूर्वदिक्स्थ (मधुनाड्यः) मधुनालियें हैं (ऋचः, एव) ऋचायें ही (मधुकृतः) मधु के बनानेवाली मक्खियां हैं (ऋग्वेदः, एव) ऋग्वेद ही (पुष्पं) पुष्प है (ताः) वह पुष्प (अमृताः) अमृतरूप (आपः) जल है (वै) निश्चयकरके (ताः, एताः, ऋचः) उन ऋचाओं ने, इसका आगे के श्लोक से सम्बन्ध है ॥

एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ ३ ॥

पद०—एतं । ऋग्वेदं । अभ्यतपन् । तस्य । अभितप्तस्य । यशः । तेजः । इन्द्रियं । वीर्य्यं । अन्नाद्यं । रसः। अजायत ।

पदा०—(एतं) इस (ऋग्वेदं) ऋग्वेदरूप पुष्प को जब (अभ्यतपन्) तपाया तब (तस्य) उस (अभितप्तस्य) अभितप्त पुष्प से (यशः) यश (तेजः) तेज (इन्द्रियं) इन्द्रिय (वीर्य्यं) वीर्य्य (अन्नाद्यं) खाद्य पदार्थ (रसः) रस (अजायत) उत्पन्न हुए ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳरूपम् ॥ ४ ॥

पद०—तत् । व्यक्षरत् । तत् । आदित्यं । अभितः । अश्रयत् । तत् । वै । एतत् । यत् । एतत् । आदित्यस्य । रोहितं । रूपम् ।

पदा०—(तत्) उन यशादिकों को (व्यक्षरत्) विशेष रूप से (आदित्यं) ब्रह्म (अभितः) चारो ओर से (अश्रयत्) आश्रय किये हुए हैं (वै) निश्चय करके (तत्) वही (एतत्) यह (तत्, आदित्यस्य) उस परमात्मा का (रूपं) महत्व है (यत्) जो (एतत्, रोहितं) यह स्पष्टरूप से भासित होरहा है ।

भाष्य—इस खण्ड के उक्त चारो श्लोकों में रूपकालङ्कार द्वारा परमात्मा का महत्व वर्णन करते हुए यह कथन किया है कि वह परमपूज्य परमात्मा विद्वानों के लिये अमृत है अर्थात् विद्वान् पुरुष ही उसके समीप जाकर अमृत पान करते हैं अन्य नहीं, जैसाकि "तद्दूरे तद्वन्तिके" यजु० ४० । ५ में वर्णन किया है कि वह विद्वानों के अति निकट और मूर्खों से अतिदूर है, "आसमन्ताद्द्योतते प्रकाशते इति आदित्यः"=जो चारो ओर से प्रकाश करे उसका नाम "आदित्य" है अथवा "आसमन्तात् स्तुत्यः पूज्येति आदित्यः"=जो सब ओर से स्तुति करके पूजा जाता है उसका नाम "आदित्य" है, सो यह गुण परम पिता परमात्मा में ही घटते हैं किसी जड़ पदार्थ में नहीं, इत्यादि गुणयुक्त जो परमात्मा है उसको इस श्लोक में देवमधु वर्णन किया गया है "मदयते तर्पयति य तन्मधुः"=जो मधुवत् आनन्द का देनेवाला हो उसका नाम "मधु" है, सो यहां

परमात्मा को मधुवर्णन करते हुए अलङ्कार द्वारा यह कथन किया है कि द्यु लोक ही तिरछा वांस है, अन्तरिक्ष मधुमक्षिकाओं का छत्ता और उसमें नाना प्रकार की ज्योति वाले नक्षत्र पुत्रस्थानीय हैं ।

और जो उस सर्वत्र व्यापक परमात्मा के पूर्वदिक् की ओर किरण समान ज्ञान है वही इस मधु की प्राचीदिक्स्थ मधुनालियें हैं जिनके द्वारा प्राची दिशा में ज्ञान विस्तृत होता है, ऋतुयें मधु को बनाने वाली मक्खियां तथा ऋग्वेद पुष्प है और वह पुष्प अमृत रूप जल है अर्थात् ऋचाओं में मधुरूप अमृत वास करता है जिसको पानकर मनुष्य अमृत होजाता है और ऋग्वेद को पुष्पस्थानीय इस कारण वर्णन किया है कि जिस प्रकार पुष्पों से रस लेकर मक्षिकायें मधु बनाती हैं इसी प्रकार ऋग्वेदरूप पुष्पों से ज्ञानरूप रस ऋचायें लेती हैं और ऋचाओं से मनुष्य ग्रहणकर तृप्त होता है, उन ऋचाओं ने इस ऋग्वेदरूप पुष्प को जब तपाया, यायों कहो कि उनसे ज्ञान मन्थन किया तब उस ज्ञान से यश, तेज, इन्द्रिय, पराक्रम, खाद्यपदार्थ और रस उत्पन्न हुए, जिसका भाव यह है कि जब पुरुष उस अमृतरूप मधु का पान करता है तब वह यशस्वी, तेजस्वी, प्राणों वाला, पराक्रमी, भोक्ता, अन्नवान्, अन्नाद और रस रूप अमृत का पान करनेवाला होता है और उक्त यश, तेजादिकों को परमात्मा सब ओर से व्याप्त किये हुए है अर्थात् यह सब परमपिता परमात्मा के आश्रित हैं जिसपर उसकी महति कृपा होती है उसी को उक्त पदार्थ प्राप्त होते हैं, या यों कहो कि जो पुरुष उस परमपिता परमेश्वर की आज्ञा पालन करते हैं उन्हीं को उक्त पदार्थ प्राप्त होते हैं अन्य को नहीं, और यही परमात्मा का महत्व है कि वह कर्मानुसार न्यायपूर्वक फल देता है, उसकी

आज्ञा का पालन करना ही अमृत की प्राप्ति और उससे विमुख होना ही मृत्यु है, अतएव मनुष्यमात्र का कर्तव्य है कि वह परम पिता परमात्मा की आज्ञा का पालन करता हुआ उसके निकट जाकर मधुरूप अमृत को पानकर मुक्ति को प्राप्त हो ॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब यजुर्वेद के मननशील को फल कथन करते हैं:—

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूꣳष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

पद०—अथ । ये । अस्य । दक्षिणाः । रश्मयः । ताः । एव । अस्य । दक्षिणाः । मधुनाड्यः । यजूंषि । एव । मधुकृतः । यजुर्वेदः । एव । पुष्पं । ताः । अमृताः । आपः ।

पदा०—(अथ) और (अस्य) इस ब्रह्म के (ये) जो (दक्षिणाः) दक्षिण दिशा में (रश्मयः) रश्मिरूप तेज है (ताः, एव) वही (अस्य) इस ब्रह्मरूप मधु की (दक्षिणाः, मधुनाड्यः) दक्षिण दिशा वाली मधुनाड़ियें हैं (यजूंषि, एव) यजुर्वेद की ऋचा ही (मधुकृतः) मधु बनाने वाली मक्खियां तथा (यजुर्वेदः, एव) यजुर्वेद ही (पुष्पं) फूल है और (ताः, अमृताः, आपः) वह फूल अमृतरूप जल है ।

तानि वा एतानि यजूꣳष्येतं यजुर्वेद-मभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यश-स्तेज इन्द्रियं वीर्य्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ २ ॥

पद०—तानि । वै । एतानि । यजूंषि । एतं । यजुर्वेदं । अभ्यतपन् । तस्य । अभितप्तस्य । यशः । तेजः । इन्द्रियं । वीर्य्यं । अन्नाद्यं । रसः । अजायत ।

पदा०—(वै) निश्चयकरके (तानि, एतानि) वह यह (यजूंषि) मधुमक्खियां (एतं) इस (यजुर्वेदं) यजुर्वेद रूप पुष्प को (अभ्यतपन्) मथन करती हैं (तस्य) उन (अभितप्तस्य) मथन किये हुए पुष्पों से (यशः, तेजः) यश, तेज (इन्द्रियं) इन्द्रिय (वीर्य्यं) पराक्रम (अन्नाद्यं) भोग्य पदार्थ (रसः) रस (अजायत) उत्पन्न होते हैं ।

भाष्य—प्रथम खण्ड में रूपकालङ्कार से प्राची दिक्स्थ मधुनालियों द्वारा ऋग्वेद रूप पुष्पों का मधुरूप अमृत तथा उस के पान का फल वर्णन करके इस द्वितीय खण्ड में यह कथन किया है कि आदित्य रूप ब्रह्म की जो दक्षिण दिशावाली मधुरूप नालियें हैं उन नालियों में रस प्रवाहण करने वाली यजुर्वेद की ऋचायें हैं, यजुर्वेद पुष्परूप है और वह पुष्प जलरूप अमृत है, यजुर्वेद के ज्ञाता ही मक्षिकारूप भ्रमर हैं जो उक्त ऋचाओं से ज्ञानरूप रस पान करते हैं, इस प्रकार यजुः मथन करके जो ज्ञानरूप पान करते हैं वह यशस्वी, तेजस्वी,

प्राणों वाले, पराक्रमी, अन्नवान् तथा अन्न के भोक्ता और रस रूप अमृत के पान करने वाले होते हैं।

सं०—अब परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हैं:—

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लꣳरूपम् ॥३॥

पद०—तत् । व्यक्षरत् । तत् । आदित्यं । अभितः । अश्रयत् । तत् । वै । एतत् । तत् । एतत् । आदित्यस्य । शुक्लं । रूपम् ।

पदा०—(तत्) वह यशादि (व्यक्षरत्) सर्वत्र फैलजाते हैं (तत्) वह (आदित्यं) ब्रह्म के ही (अभितः, अश्रयत्) सब ओर से आश्रित रहते हैं (वै) निश्चय करके (तत्) वही (एतत्) यह (आदित्यस्य) प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का (रूपं) महत्व है और (तत्, एतत्) वह यह महत्व (शुक्लं) शुभ्रदीप्ति वाला है।

भाष्य—उस मधुपान करने वाले जिज्ञासु को जो यश, तेज, पराक्रमादि मिलते हैं वह सर्वत्र फैलजाते हैं अर्थात् उसकी चारो ओर से रक्षा करते हैं पर वास्तव में उक्त यशादि परमात्मा के ही आश्रित रहते हैं, जिस पर उनकी परमकृपा होती है उस को उक्त पदार्थ मिलते हैं, या यों कहो कि जो पुरुष परमात्मा की आज्ञा का पालन करते हैं अर्थात् वेद में कथन किये नियमानुसार श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं उन्हीं को यश आदि की प्राप्ति होती है, ऐसे पुरुष ही संसार में अमर रहते और सूर्य्य के समान चमकते है, यही परमात्मा का महत्व है जो शुभ्रदीप्ति वाला चहुंदिक् भासमान होरहा है।

इति द्वितीयःखण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब सामवेद के मनन करने वाले जिज्ञासु को फल कथन करते हैंः—

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

पद०—अथ। ये। अस्य। प्रत्यञ्चः। रश्मयः। ताः। एव। अस्य। प्रतीच्यः। मधुनाड्यः। सामानि। एव। मधुकृतः। सामवेदः। एव। पुष्पं। ताः। अमृताः। आपः।

पदा०—(अथ) और (अस्य) इस ब्रह्म के (ये) जो (प्रत्यञ्चः) पश्चिम दिक्स्थ (रश्मयः) रश्मिरूप नालियें हैं (ताः, एव, अस्य) वही इस ब्रह्मरूप मधु की (प्रतीच्यः, मधुनाड्यः) पश्चिमदिशस्थ मधुनालियें हैं (सामानि, एव) सामवेद की ऋचा ही (मधुकृतः) मधुरूप मक्खियां हैं (सामवेदः, एव, पुष्पं) सामवेद ही पुष्प है (ताः, अमृताः, आपः) वही अमृतरूप जल है।

तानि वा एतानि सामान्येतꣳसामवेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ २ ॥

पद०—तानि । वै । एतानि । सामानि । एतं । सामवेदं । अभ्यतपन् । तस्य । अभितप्तस्य । यशः । तेजः । इन्द्रियं । वीर्य्यं । अन्नाद्यं । रसः । अजायत ।

पदा०—(वै) निश्चयकरके (तानि, एतानि) वह यह (सामानि) सामवेद की ऋचारूप मक्खियां (एतं) इस (साम-वेदं) सामवेदरूप पुष्प का (अभ्यतपन्) मथन करती हैं (तस्य) उसके (अभितप्तस्य) मथन से (यशः, तेजः, इन्द्रियं, वीर्य्यं, अन्नाद्यं) यश, तेज, प्राण, पराक्रम, अन्नाद्य और (रसः) मधुरूप अमृत (अजायत) उत्पन्न होते हैं ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वाएत-द्यदेतदादित्यस्य कृष्णꣳरूपम् ॥३॥

पद०—तत् । व्यक्षरत् । तत् । आदित्यं । अभितः । अश्रयत् । तत् । वै । एतत् । यत् । एतत् । आदित्यस्य । कृष्णं । रूपम् ।

पदा०—(तत्) वह यशादि (व्यक्षरत्) सर्वत्र फैले हुए (तत्) वह सब (आदित्यं) आदित्यरूप ब्रह्म के ही (अभितः) चारो ओर (अश्रयत्) आश्रित हैं (वै) निश्चय करके (तत्) वही (एतत्) यह (आदित्यं) ब्रह्म का (रूपं) महत्व है (यत्, एतत्) जो यह (कृष्णं) कृष्णदीप्ति वाला सर्वत्र भासमान है ॥

भाष्य—उस ब्रह्मरूप मधु की जो सामऋचारूप पश्चिमदिशस्थ नालियें हैं अर्थात् पश्चिमदिशा में जो उसका ज्ञान विस्तृत होरहा है वही ऋचारूप मधुमक्षिका हैं, सामवेद पुष्प है, और वही पुष्प अमृतरूप जल है जिसको जिज्ञासु पान करते ही

अमृत होजाता है अर्थात् जब ऋचारूप मक्खियां सामवेदरूप पुष्प का मथन करती हैं तब उसके मथन करने से उक्त अमृतरूप जल निकलता है जिसको ऋचायें ग्रहण करती हैं और ऋचाओं से जिज्ञासु ज्ञानरूप रस पान करके यशस्वी, तेजस्वी आदि गुण सम्पन्न होते हैं, पर स्मरण रहे कि उक्त यशादि ब्रह्म के ही आश्रित रहते हैं और परमपिता परमात्मा की जिन पर महति कृपा होती है उन्हींको उक्त पदार्थ उपलब्ध होते हैं अन्य को नहीं, और यही परमात्मा का महत्व है जो चहुंदिक् भासमान होरहा है, या यों कहो कि सामवेद के मननशील पुरुष को उक्त पदार्थ उपलब्ध होते हैं, अतएव सबका कर्तव्य है कि वेदरूप ज्ञान को बड़े प्रयत्न से उपलब्ध करें ताकि परमात्मा की प्रसन्नता से हमको उत्तम २ पदार्थ प्राप्त हों ॥

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब अथर्ववेद के मनन करने वाले जिज्ञासु को फल कथन करते हैं :—

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

पद०—अथ । ये । अस्य । उदञ्चः । रश्मयः । ताः । एव । अस्य । उदीच्यः । मधुनाड्यः । अथर्वाङ्गिरसः । एव । मधुकृतः । इतिहासपुराणं । । पुष्पं । ताः । अमृताः । आपः ।

पदा०—(अथ) और (ये) जो (अस्य) इस ब्रह्म के (उदञ्चः) उत्तर दिशा में (रश्मयः) रश्मिरूप नालियें हैं (ताः, एव) वह ही (अस्य) इस ब्रह्मरूप मधु की (उदीच्यः, मधुनाड्यः) उत्तरदिशस्थ मधु की नालियें हैं (अथर्वाङ्गिरसः, एव) अथर्ववेद ही (मधुकृतः) मधु की मक्खियें हैं (इतिहासपुराणं) इतिहास और पुराण ही (पुष्पं) पुष्प हैं (ताः, अमृताः, आपः) वही अमृतरूप जल है ॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत॥२॥

पद०—ते । वै । एते । अथर्वाङ्गिरसः । एतत् । इतिहासपुराणं । अभ्यतपन् । तस्य । अभितप्तस्य । यशः । तेजः । इन्द्रियं । वीर्यं । अन्नाद्यं । रसः । अजायत

पदा०—(वै) निश्चयकरके जो जिज्ञासु (ते, एते) वह यह (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्ववेद की ऋचाओं और (एतत्) इस (इतिहासपुराणं) इतिहास तथा पुराण का (अभ्यतपन्) मन्थन करता है (तस्य) उसके (अभितप्तस्य) मन्थन करने से (यशः) यश (तेजः) तेज (इन्द्रियं) प्राण (वीर्यं) पराक्रम (अन्नाद्यं) भोग्यशक्ति (रसः) मधुरूप अमृत (अजायत) उत्पन्न होते हैं ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्ण ँ रूपम्॥३॥

पद०—तत्। व्यक्षरत् । तत्।आदित्यं। अभितः। अश्रयत्। तत्। वै। एतत्। यत्। एतत्। आदित्यस्य । परं। रूपं। रूपम्।

पदा०—(तत्) वह यशादि (व्यक्षरत्) सर्वत्र फैले हुए (आदित्यं) प्रकाशस्वरूप ब्रह्म के ही (अभितः) सब ओर से (अश्रयत्) आश्रित हैं (वै) निश्चय करके (तत्) वह (एतत्) यह (आदित्यस्य) ब्रह्म की (रूपं) महिमा है (यत्) जो (एतत्) यह (परं) अत्यन्त (कृष्णं, रूपं) कृष्ण रूप है।

भाष्य—इस खण्ड के श्लोकों का भी वही भाव है जो पूर्व के खण्डों में वर्णन कियागया है अर्थात् अथर्ववेद के मन्थन करने वाले जिज्ञासु को यश, तेज, प्राणादि प्राप्त होते हैं और ऐसा ही पुरुष मधुरूप अमृत का अधिकारी होता है।

भाव यह है कि जो पुरुष अंग और उपाङ्गों सहित एक२ वेद का भी श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करता है उसका जीवन पवित्र होजाता है और उसीको अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, अतएव सब जिज्ञासुओं को उचित है कि ब्रह्मचर्य्य पूर्वक वेद का ही पठन पाठन करें जो अमृत पद को प्राप्त कराने वाला है॥

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

अथ पंचमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब वैदिक शिक्षाओं के मनन करने वाले जिज्ञासु को फल कथन करते हैं :—

अथ येऽस्योर्ध्वारश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवाऽऽदेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥१॥

पद०—अथ। ये। अस्य। ऊर्ध्वाः। रश्मयः। ताः। एव। अस्य। ऊर्ध्वाः। मधुनाड्यः। गुह्याः। एव। आदेशाः। मधुकृतः। ब्रह्म। एव। पुष्पं। ताः। अमृताः। आपः।

पदा०—(अथ) और (अस्य) इस ब्रह्म के (ये) जो (ऊर्ध्वाः) उपरिस्थ (रश्मयः) रश्मिरूप नालियें हैं (ताः, एव) वही (अस्य) इस ब्रह्मरूप मधु की (ऊर्ध्वा, मधुनाड्यः) ऊर्ध्वगामिनी मधुनालियें हैं (गुह्याः), गुह्य (आदेशाः) वैदिकशिक्षायें (एव) ही (मधुकृतः) मधुरूप मक्खियां हैं (ब्रह्म, एव) वेद ही (पुष्पं) पुष्प हैं (ताः, अमृताः, आपः) वही अमृतरूप जल है।

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत ॥२॥

पद०—ते। वै। एते। गुह्याः। आदेशाः। एतत्। ब्रह्म। अभ्यतपन्। तस्य। अभितप्तस्य। यशः। तेजः। इन्द्रियं। वीर्य्यं। अन्नाद्यं। रसः। अजायत।

पदा०-(वै) निश्चय करके (ते) वह जो (एते) यह (गुह्याः, आदेशाः) गूढ़ वैदिकशिक्षा के लिये (एतत्) इस (ब्रह्म) वेद को (अभ्यतपन्) मन्थन करते हैं (तस्य) उस (अभितप्तस्य) मन्थन करनेवालों को (यशः) यश (तेजः) तेज (इन्द्रियं) प्राण (वीर्य्यं) पराक्रम(अन्नाद्यं)भोग्यपदार्थ और (रसः) मधुरूप अमृत(अजायत) उत्पन्न होता है ।

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्यमध्ये क्षोभत इव॥३॥

पद०-तत् । व्यक्षरत् । तत् । आदित्यं । अभितः । अश्रयत् । तत् । वै । एतत् । यत् । एतत् । आदित्यस्य । मध्ये । क्षोभते । इव ।

पदा०-(तत्) वह यशादि (व्यक्षरत्) सब ओर फैले हुए (आदित्यं) ब्रह्म के (अभितः) चारो ओर से (अश्रयत्) आश्रित हैं (वै) निश्चयकरके (तत्) वही (एतत्) यह (आदित्यस्य) ब्रह्म का (रूपं) महत्त्व है (यत, एतत्) जो यह (मध्ये) बीच में (क्षोभते, इव) शोभायमान होरहा है ।

ते वा एते रसनाꣳ रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥ ४ ॥

पद०-ते । वै । एते । रसानां । रसाः । वेदाः । हि । रसाः । तेषां । एते । रसाः । तानि । वै । एतानि । अमृतानां । अमृतानि । वेदाः । हि । अमृताः । तेषां । एतानि । अमृतानि ॥

पदा०-(वै) निश्चय करके (ते) वह (एते) यह यज्ञादि (रसानां) रसों के (रसाः) रस हैं (हि) क्योंकि (वेदाः, रसाः) वेदरूप रस अमृत है (तेषां) उन वेदों के (एते) यह (रसाः) रस हैं (वै) निश्चयकरके (तानि) वह यज्ञादि (अमृतानां) अमृतों के (अमृतानि) अमृत हैं (हि) क्योंकि (वेदाः) वेद(अमृताः) अमृत हैं (तेषां) उन वेदों के (एतानि, अमृतानि) यह अमृत हैं ॥

भाष्य-इन पांच खण्डों में मधुविद्या का वर्णन किया गया है अर्थात् रूपकालङ्कार द्वारा वर्णन किया है कि ब्रह्म ही मधु है और उसके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊपर, नीचे सब ओर मधु की नालियें बह रही हैं, चारो वेदों की ऋचायें मधुमक्षिका रूप हैं जिनसे जिज्ञासु मधु पान कर अमृत होते हैं, क्योंकि यह मधु अमृतरूप है, और अमृत नाम मोक्ष का है अतः यह मोक्ष-स्वरूप परमानन्दरूप धाम निखिलदुःखरहित है, इसी कारण इस अन्तिम श्लोक में वर्णन किया है कि यह यज्ञादि अमृतों के अमृत हैं, क्योंकि वेद अमृत हैं और यह वेदों के रस होने के कारण अमृतों के भी अमृत हैं और यह अमृतों के अमृत उसी जिज्ञासु पुरुष को प्राप्त होते हैं जो अमृतरूप ब्रह्म का विचार करता हुआ उस परमपिता परमात्मा की शरण में जाता है अन्य को नहीं ॥

इति पचमःखण्डः समाप्तः

अथ षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "वसु" संज्ञक ब्रह्मचारी की गति कथन करते हैं:-

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना-मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्ये-तदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

पद०—तत् । यत् । प्रथमं । अमृतं । तत् । वसवः । उपजीवन्ति । अग्निना । मुखेन । न । वै । देवाः । अश्नन्ति । न । पिबन्ति । एतत् । एव । अमृतं । दृष्ट्वा । तृप्यन्ति ।

पदा०—(तत्) उन अमृतों में (यत्) जो (प्रथमं) प्रथम (अमृतं) अमृतस्वरूप ब्रह्म है (तत्) उसको प्राप्त होकर (अग्निना, मुखेन) देदीप्यमान मुख से (वसवः) ब्रह्मचारी (उपजीवन्ति) सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं (वै) निश्चय करके (देवाः) दिव्यगुण सम्पन्न (न, अश्नन्ति) न खाते हैं (न, पिबन्ति) न पीते हैं (एव) निश्चय करके (एतत्) इस (अमृतं) अमृत को (दृष्ट्वा) साक्षात् कर (तृप्यन्ति) तृप्त रहते हैं।

भाष्य—जो ब्रह्मचारी २८ वर्ष पर्य्यन्त आचार्य्यकुल में वास करते हुए अंग और उपाङ्गों सहित वेदों का अध्ययन कर समावर्त्तन करते हैं उनकी "वसु" संज्ञा होती है, यह वसुसंज्ञक ब्रह्मचारी जिनके चेहरे अग्नि के समान देदीप्यमान होरहे हैं उनका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है, यायों कहो कि ऐसे ब्रह्मचारी

ही उस अमृतरूप मधु के अधिकारी होते हैं जिसका पीछे के खण्डों में वर्णन कर आये हैं, ऐसे ब्रह्मचारी जिन्होंने नियमपूर्वक वेदों का अध्ययन किया है वह उस अमृतरूप मधु को पाकर तृप्त रहते हैं केवल शरीर यात्रा के लिये उनका खान पान होता है किसी अन्य भाव से नहीं ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्मा-द्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

पद०-ते । एतत् । एव । रूपं । अभिसंविशन्ति । एतस्मात् । रूपात् । उद्यन्ति ।

पदा०-(ते) वह ब्रह्मचारी (एतत्,एव) इस ही (रूपं) ब्रह्म को (अभिसंविशन्ति) सब ओर से अनुभव करते हुए (एतस्मात्, रूपात्) इसी ब्रह्मोपासना के कारण (उद्यन्ति) सर्वत्र उदय होते हैं।

भाष्य-वह "वसु" संज्ञक ब्रह्मचारी सब ओर से ब्रह्म को प्राप्त करके तृप्त होते हैं फिर उनको अपना कोई कर्तव्य दृष्टिगत नहीं होता वह परमात्मा के अपहतपाप्मादि गुणों को धारण कर आनन्दमय होजाते हैं और सर्वत्र=सब लोकलोकान्तरों में कामचारी होते हैं ॥

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैकोभूत्वा-ग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्ये-तस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

पद०—सः । यः । एतत् । एवं । अमृतं । वेद । वसूनां । एव । एकः । भूत्वा । अग्निना । एव । मुखेन । एतत् । एव । अमृतं । दृष्ट्वा । तृप्यति । सः । एतत् । एव । रूपं । अभिसंविशति । एतस्मात् । रूपात् । उदेति ॥

पदा०—(सः) वह पुरुष (यः) जो (एव) निश्चय करके (एतत, अमृतं) इस अमृत को (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है (सः) वह (वसूनां) वसुओं में (एकः) एक (भूत्वा) होकर (अग्निना, मुखेन) देदीप्यमान मुख से (एव) निश्चय करके (एतत, एव, अमृतं) इसी अमृत को (दृष्ट्वा) अनुभव करता हुआ (तृप्यति) तृप्त होकर (एतत, एव, रूपं) इसी महत्व को (अभिसंविशति) चारो ओर अनुभव करता है और (एतस्मात, रूपात्) इसी अमृत के प्रभाव से (उदेति) सर्वत्र उदय होता है।

सं०—अब उक्त जिज्ञासु के लिये फल कथन करते हैं:—

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

पद०—सः । यावत् । आदित्यः । पुरस्तात् । उदेता । पश्चात् । अस्तं । एता । वसूनां । एव । तावत् । आधिपत्यं । स्वाराज्यं । पर्य्येता ।

पदा०—(आदित्यः) सूर्य्य (यावत्) जब तक (पुरस्तात्) पूर्वदिशा में (उदेता) उदत होता रहेगा (पश्चात्) पश्चिम दिशा में (अस्तं, एता) अस्त होता रहेगा (तावत्) तबतक (वसूनां, एव) वसुओं के ही मध्य (स्वाराज्यं) सुखरूपराज्य

के (आधिपत्यं) अधिकार को पाकर (सः) वह जिज्ञासु (पर्य्येता) सब ओर विचरता रहेगा।

भाष्य—जो जिज्ञासु निश्चयरूप से इस अमृतरूप मधु को जानता है वह सब वसुओं के मध्य देदीप्यमान होकर इसी अमृत रूप मधु को अनुभव करता हुआ आनन्दित=परमसुख को प्राप्त होता है, यायों कहो कि उस आनन्द का चारो ओर से अनुभव करता है और इसी अमृत के प्रभाव से सर्वत्र उदय=प्रकाशित होता है अर्थात् सब वसुओं में प्रतिष्ठा पाता है, अधिक क्या जब तक सूर्य्य और चांद रहेंगे तबतक वह वसुओं के ही मध्य स्वतन्त्रता पूर्वक विचरता रहेगा, अतएव सिद्ध है कि जो पुरुष इस संसार में आनन्द को उपलब्ध करना चाहे वह ब्रह्मचर्य्यपूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेदों का अध्ययन करे, वेदवेत्ता पुरुष ही संसार के दुःखों से छूट कर अमृत पद को प्राप्त होता, वही सूर्य्य की भांति सर्वत्र चमकता और स्वेच्छाचारी होकर सर्वत्र विचरता है॥

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "रुद्र" संज्ञक ब्रह्मचारी की गति कथन करते हैं:—

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेणमुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥

पद०—अथ। यत्। द्वितीयं। अमृतं। तत्। रुद्राः। उपजीवन्ति। इन्द्रेण। मुखेन। न। वै। देवाः। अश्नन्ति। न। पिबन्ति। एतत्। एव। अमृतं। दृष्ट्वा। तृप्यन्ति।

पदा०—(अथ) अब (यत्) जो (द्वितीयं, अमृतं) द्वितीय अमृत ब्रह्म है (तत्) उसको पाकर (इन्द्रेण, मुखेन) प्रकाशित मुख से (रुद्राः) रुद्राख्य ब्रह्मचारी (उपजीवन्ति) सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं (वै) निश्चय करके (देवाः) वह विद्वान् (न, अश्नन्ति) न खाते और (न, पिबन्ति) न पीते हैं (एतत्, एव, अमृतं) इसी अमृत को (दृष्ट्वा) साक्षात्कार करके (तृप्यन्ति) तृप्त रहते हैं।

भाष्य—इस खण्ड में द्वितीय अमृत कथन कियागया है कि जो ब्रह्मचारी यजुर्वेद द्वारा उस परमात्मा को प्राप्त करते हैं अर्थात् आचार्य्यकुल में वास करते हुए साङ्गोपाङ्ग यजुर्वेद का अध्ययन करते हैं वह प्रकाशित मुख से सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए परमात्मा को साक्षात्कार कर तृप्त रहते हैं, और वह ऐश्वर्य्यवान् होने के कारण " इन्द्रमुख " कहलाते हैं ॥

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्मा-द्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

पद०—ते । एतत् । एव । रूपं । अभिसंविशन्ति । एतस्मात् । रूपात् । उद्यन्ति ।

पदा०—(ते) वह रुद्रसंज्ञक ब्रह्मचारी (एतत्, एव) इस ही (रूपं) ब्रह्म को (अभिसंविशन्ति) सब ओर से अनुभव करते हैं (एतस्मात्, रूपात्) और इसी उपासना के कारण (उद्यन्ति) सर्वत्र प्रकाशित होते हैं ॥

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति । स एतदेवरूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

पद०—सः । यः । एतत् । एवं । अमृतं । वेद । रुद्राणां । एव । एकः । भूत्वा । इन्द्रेण । एव । मुखेन । एतत् । एव । अमृतं । दृष्ट्वा । तृप्यन्ति । सः । एतत् । एव । रूपं । अभिसंविशति । एतस्मात् । रूपात् । उदेति ।

पदा०—(सः) वह पुरुष (यः) जो (एवं) उक्त प्रकार से (एतत्) इस (अमृतं) अमृत को (वेद) जानता है वह (रुद्राणां, एव) रुद्रों में ही (एकः) एक (भूत्वा) होकर (एव) निश्चयकरके (इन्द्रेण, मुखेन) दीप्तिवाले मुख से प्रकाशित हो (एतत्, एव, अमृतं) इसी अमृत को (दृष्ट्वा) अनुभव करके (तृप्यति) तृप्त रहता है (सः) वह (एतत्, एव, रूपं) इसी महत्व को (अभिसंविशति) चारो ओर अनुभव करता हुआ (एतस्मात्, रूपात्) इसी ज्ञान के प्रभाव से (उदेति) प्रकाशित होता है ।

भाष्य—वह ४४ वर्ष के रुद्र संज्ञक ब्रह्मचारी जिन्होंने यजुर्वेद द्वारा ज्ञान सम्पादन किया है वह ब्रह्म ही को सब ओर से अनुभव करते और इसी उपासना के कारण सर्वत्र प्रकाशित होकर मुक्ति के सुख का आनन्द लेते हैं।

जो पुरुष उक्त प्रकार से इस अमृतरूप मधु को यजुर्वेद द्वारा

जानता है वह रुद्रों में ही एक होता है उसका मुख बड़ी दीप्ति वाला होता है और वह इसी अमृत को पाकर तृप्त रहता है वह परमात्म महत्व को ही चारो ओर अनुभव करता हुआ सब प्रकार से संतुष्ट रहता है और इसी ज्ञान के प्रभाव से वह संसार में उदय होता है।

सं०—अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:-

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्त-मेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेवतावदाधिपत्यँ स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

पद०—सः । यावत् । आदित्यः। पुरस्तात् । उदेता । पश्चात् । अस्तं । एता । द्विस्तावत् । दक्षिणतः । उदेता । उत्तरतः । अस्तं । एता । रुद्राणां । एव । तावत् । आधिपत्यं । स्वाराज्यं । पर्य्येता ।

पदा०—(यावत्) जितने काल (आदित्यः) सूर्य्य (पुरस्तात्) पूर्व दिशा में (उदेता) उदित होता रहेगा (पश्चात्) पश्चिम दिशा में (अस्तं, एता) अस्त होता रहेगा (द्विस्तावत्) उससे द्विगुण काल (दक्षिणतः, उदेता) दक्षिण दिशा में उदत होता रहेगा (उत्तरतः, अस्तं, एता) उत्तर दिशा में अस्त होता रहेगा (तावत्) उतने काल (सः) वह जिज्ञासु (रुद्राणां, एव) रुद्रों के बीच में ही (स्वाराज्यं) सुखमय (आधिपत्यं) अधिकार प्राप्त कर (पर्य्येता) स्वेच्छाचारी हो विचरता रहेगा।

भाष्य—इस श्लोक में रुद्ररूप ब्रह्मचारी के पद को प्राप्त जिज्ञासु के लिये यह फल कथन किया है कि जबतक पूर्व दिशा में सूर्य्य उदय होता रहेगा तथा पश्चिम दिशा में अस्त होता रहेगा और उसके द्विगुणकाल पर्य्यन्त दक्षिण दिशा में उदय होता रहेगा तथा उत्तर दिशा में अस्त होता रहेगा उतने काल पर्य्यन्त वह जिज्ञासु रुद्रों के मध्य सुखमय आधिपत्य प्राप्त कर स्वेच्छाचारी हो विचरता रहेगा ॥

यहां पर जो सूर्य्य का दक्षिण दिशा में उदय और उत्तर दिशा में अस्त होना कथन किया है वह सापेक्ष है अर्थात् अपनी२ अपेक्षा से सूर्य्य का उदय अस्त माना जाता है वास्तव में न सूर्य्य उदय होता और न अस्त होता है, इसलिये उक्त कथन में कोई दोष नहीं।

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "आदित्य" संज्ञक ब्रह्मचारी की गति कथन करते हैं :—

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

पद०—अथ। यत्। तृतीयं। अमृतं। तत्। आदित्याः। उपजीवन्ति। वरुणेन। मुखेन। न। वै। देवाः। अश्नन्ति। न। पिबन्ति। एतत। एव। अमृतं। दृष्ट्वा। तृप्यन्ति।

पदा०-(अथ) अब (यत्) जो (तृतीयं, अमृतं) तीसरा अमृत ब्रह्म है (यत्) उसको पाकर (आदित्याः) आदित्य संज्ञक ब्रह्मचारी (वरुणेन, मुखेन) वरुणरूप मुख से (उपजीवन्ति) ब्रह्म के समीप आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं (देवाः) वह विद्वान् (वै) निश्चयकरके (न, अश्नन्ति) न खाते (न, पिबन्ति) न पीते हैं (एतद्, एव) इसी (अमृतं) अमृत को (दृष्ट्वा) साक्षात्कार कर (तृप्यन्ति) तृप्त रहते हैं।

भाष्य—इस श्लोक में आदित्य संज्ञक ब्रह्मचारी "जिसने ४८ वर्ष पर्य्यन्त साङ्गोपाङ्ग सामवेद का अध्ययन किया है" उसका महत्त्व वर्णन किया गया है कि सामवेद प्रतिपादित जो ब्रह्म उसको पाकर उक्त ब्रह्मचारी जिसके मुख की कान्ति परम शोभायमान् है वह ब्रह्म की समीपता का अनुभव करता हुआ आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करता है, देवा=वह आदित्य संज्ञक ब्रह्मचारी न खाता है न पीता है किन्तु इसी अमृत पद रूप ब्रह्म को प्राप्त होकर तृप्त रहता है।

जो उक्त ब्रह्मचारियों के विषय में खान पान का निषेध करके ज्ञानमात्र से तृप्ति कथन की है वह इस अभिप्राय से है कि वह ब्रह्मचारी अन्य लोगों के समान खान पान में रत नहीं रहते किन्तु एकमात्र ब्रह्मामृत से ही तृप्त रहते हैं, वह खान पान केवल जीवन यात्रा के लिये करते हैं।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्
रूपादुद्यन्ति ॥ २॥

पद०—ते। एतत्। एव। रूपं। अभिसंविशन्ति। एतस्मात्। रूपात्। उद्यन्ति।

पदा०—(ते) वह आदित्य संज्ञक ब्रह्मचारी (एतत्,एव) इसी (रूपं) ब्रह्म को (अभिसंविशन्ति) सब ओर अनुभव करते और (एतस्मात्, रूपात्) उसी की उपासना के प्रभाव से (उद्यन्ति) सर्वत्र उदय होते हैं अर्थात् उनका यश सर्वत्र फैल जाता है।

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वावरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतंदृष्ट्वा तृप्यति।स एतदेवरूपमभिसंविशत्ये-तस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

पद०—सः। यः। एतत्। एवं। अमृतं। वेद। आदित्यानां। एव। एकः भूत्वा। वरुणेन। एव। मुखेन। एतत्। एव। अमृतं। दृष्ट्वा। तृप्यति। सः। एतत्। एव। रूपं। अभिसं-विशति। एतस्मात्। रूपात्। उदेति।

पदा०—(सः) वह पुरुष (यः) जो (एवं) उक्त प्रकार से (एतत्) इस (अमृतं) अमृतरूप ब्रह्म को (वेद) जानता है वह (आदित्यानां, एव) आदित्यों में ही (एकः) एक (भूत्वा) होकर (एव) निश्चय करके (वरुणेन, मुखेन) उत्तम छवि वाले मुख से (एतत्, एव, अमृतं, दृष्ट्वा) इसी अमृतरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करके (तृप्यति) तृप्त रहता है (सः) वह पुरुष (एतत्, एव, रूपं) इसी ब्रह्म को (अभिसंविशति) सब ओर

से प्राप्त होकर (एतस्माद्, रूपाद्) इसी ब्रह्म की कृपा से (उदेति) सर्वत्र कामचारी होता है ।

भाष्य—इस श्लोक में जिज्ञासु के लिये यह कथन किया गया है कि जो जिज्ञासु उक्त प्रकार से सामवेदविषयक इस अमृतरूप ब्रह्म को जानता है वह उन्हीं आदित्यों में एक होकर उस अमृतरूप ब्रह्म को साक्षात्कार करके तृप्त होजाता है और वह सर्वत्र उसी परमात्मा को देखता है अर्थात् एकमात्र वही परमात्मा उसके लिये लक्ष्य होता है और उसी की उपासना के प्रभाव से सर्वत्र स्वेच्छाचारी होकर विचरता है ॥

सं०—अब उक्त जिज्ञासु के लिये फल कथन करते हैं:—

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्त-मेता द्विस्तावत्पश्चादुदेतापुरस्तादस्तमे-ताऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

पद०—सः । यावद् । आदित्यः । दक्षिणतः । उदेता । उत्तरतः । अस्तं । एता । द्विस्तावद् । पश्चाद् । उदेता । पुरस्ताद् । अस्तं । एता । आदित्यानां । एव । तावत् । आधिपत्यं । स्वाराज्यं । पर्य्येता ।

पदा०—(यावत्) जबतक (आदित्यः) सूर्य्य (दक्षिणतः) दक्षिण दिशा में (उदेता) उदय होता रहेगा (उत्तरतः, अस्तं, एता) उत्तर दिशा में अस्त होता रहेगा (द्विस्तावद्) उससे द्विगुण काल (पश्चाद्,उदेता) पश्चिम दिशा में उदित तथा

(पुरस्तात्, अस्तं, एता) पूर्व में अस्त होता रहेगा (तावत्) तबतक (सः) वह पुरुष (आदित्यानां, एव) आदित्यों के मध्य (स्वाराज्यं) सुखपूर्वक (आधिपत्यं) अधिकार प्राप्त कर (पर्य्येता) स्वेच्छाचारी हो विचरता रहेगा।

भाष्य—इस श्लोक में सामवेद के मनन करने वाले पुरुष को यह फल वर्णन किया है कि जबतक सूर्य्य दक्षिण से उदय तथा उत्तर में अस्त होता रहेगा उससे द्विगुण काल पश्चिम में उदय और पूर्व में अस्त होता रहेगा तबतक वह जिज्ञासु आदित्यों के मध्य सुखपूर्वक स्वेच्छाचारी होकर विचरता रहेगा अर्थात् ऐसा ऊर्ध्वरेत ब्रह्मचारी जिसने ४८ वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्यपूर्वक वेदों का अध्ययन किया है उसका यश संसार में चिरकालस्थायी होता है॥

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "मरुत्" पद प्राप्त ब्रह्मचारी की गति कथन करते हैं:—

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥

पद०—अथ। यत्। चतुर्थं। अमृतं। तत्। मरुतः। उप-

जीवन्ति । सोमेन । मुखेन । न । वै । देवाः । अश्नन्ति । न । पिबन्ति । एतद् । एव । अमृतं । दृष्ट्वा । तृप्यन्ति ।

पदा०—(अथ) अब (यत्) जो (चतुर्थं, अमृतं) चतुर्थ अमृत है (तत्) उस ब्रह्म से (मरुतः) मरुत पद को पाकर (सोमेन, मुखेन) चन्द्रसदृश मुख से ब्रह्म के समीप (उपजीवन्ति) आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं (देवाः) वह विद्वान् (वै) निश्चयकरके (न, अश्नन्ति) न खाते (न, पिबन्ति) न पीते हैं (एतत्, एव, अमृतं) इसी अमृतपद ब्रह्म को (दृष्ट्वा) साक्षात्कार करके (तृप्यन्ति) तृप्त रहते हैं ।

भाष्य—इस श्लोक में चतुर्थ अमृत पद का वर्णन किया है अर्थात् "मरुत्" संज्ञक ब्रह्मचारी जिसने ४८ वर्ष से ऊपर ब्रह्मचर्य्यरूप तप करते हुए साङ्गोपाङ्ग चतुर्थ अथर्ववेद का अध्ययन किया है उसका महत्व यहां इस प्रकार वर्णन किया है कि ऐसे ब्रह्मचारी चन्द्रसदृश मुख से शोभायमान होते हुए ब्रह्म के समीप परमानन्द लेते हुए उत्तम प्रकार से अपना जीवन व्यतीत करते हैं, यह ब्रह्मचारी मरुत् नाम से पुकारे जाते हैं,न वह वहां कुछ खाते और न पीते हैं, वह इसी अमृतस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करके तृप्त रहते हैं ॥

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्मा-द्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

पद०—ते । एतत् । एव । रूपं । अभिसंविशन्ति । एतस्मात् । रूपात् । उद्यन्ति ।

पदा०-(ते) वह मरुत संज्ञक ब्रह्मचारी (एतत, एव) इस ही

(रूपं) ब्रह्म को (अभिसंविशन्ति) चारो ओर अनुभव करते हैं और (एतस्मात्, रूपात्) इसी ब्रह्म की कृपा से (उद्यन्ति) सर्वत्र कामचारी होते हैं।

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैवमुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा-तृप्यति स एतदेवरूपमभिसंविशत्ये तस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

पद०—सः। यः। एतत्। एवं। अमृतं। वेद। मरुतां। एव। एकः। भूत्वा। सोमेन। एव। मुखेन। एतत्। एव। अमृतं। दृष्ट्वा। तृप्यति। सः। एतत्। एव। रूपं। अभिसं-विशति। एतस्मात्। रूपात्। उदेति।

पदा०—(सः) वह पुरुष (यः) जो (एवं) उक्त प्रकार से (एतत्) इस (अमृतं) अमृतरूप ब्रह्म को (वेद) जानते हैं वह (मरुतां, एव) मरुतों में ही (एकः) एक (भूत्वा) होकर (सोमेन,एव, मुखेन) कान्ति वाले मुख से शोभायमान (एतत,एव) इसी (अमृतं) अमृतरूप ब्रह्म को (दृष्ट्वा) साक्षात्कार करके (तृप्यति) तृप्त रहते हैं और (सः) वह पुरुष (एतत, एव, रूपं) इस ही ब्रह्म को (अभि-संविशति) चारो ओर से अनुभव करते हुए (एतस्मात, रूपात्) इसी रूप से (उदेति) उदय होते हैं।

सं०—अब उक्त पुरुष के लिये फल कथन करते हैं :—

स यावदादित्यः यश्चादुदेता पुरस्तादस्त-मेताद्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽ

स्तमेता मरुतामेवतावदाधिपत्यँ स्याराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

पद०—सः । यावत् । आदित्यः । पश्चात् । उदेता । पुरस्तात् । अस्तं । एता । द्विस्तावत् । उत्तरतः । उदेता । दक्षिणतः । अस्तं । एता । मरुतां । एव । तावत् । आधिपत्यं । स्वाराज्यं । पर्य्येता ।

पदा०—(यावत्) जब तक (आदित्यः) सूर्य्य (पश्चात्) पश्चिम दिशा में (उदेता) उदय (पुरस्तात्, अस्तं, एता) पूर्व दिशा में अस्त होता रहेगा (द्विस्तावत्) उससे द्विगुण काल (उत्तरतः, उदेता) उत्तर दिशा में उदित और (दक्षिणतः, अस्तं, एता) दक्षिण दिशा में अस्त होता रहेगा (तावत्) तब तक (सः) वह पुरुष (मरुतां, एव) मरुतों के मध्य में ही (स्वाराज्यं) सुखमय राज्यरूप (आधिपत्यं) अधिकार प्राप्त कर (पर्य्येता) स्वेच्छाचारी हो विचारता रहेगा ।

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "साध्य" पद प्राप्त ब्रह्मचारी की गति कथन करते हैं :-

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणामुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥१॥

पद०–अथ । यत् । पञ्चमं । अमृतं । तत् । साध्याः । उपजीवन्ति । ब्रह्मणा । मुखेन । न । वै । देवाः । अश्नन्ति । न । पिबन्ति । एतत् । एव । अमृतं । दृष्ट्वा । तृप्यन्ति ॥

पदा०–(अथ) अब (यत्) जो (पञ्चमं) पञ्चम (अमृतं) अमृत है ((तत्) उसको पाकर (ब्रह्मणा, मुखेन) ब्रह्मतेज वाले मुख से (साध्याः) साध्य पद प्राप्त ब्रह्मचारी (उपजीवन्ति) ब्रह्म के समीप निवास करते हुए (वै) निश्चय करके (देवाः) दिव्य गुण सम्पन्न ब्रह्मचारी (न, अश्नन्ति) न खाते (न, पिबन्ति) न पीते किन्तु (एतत, एव, अमृतं, दृष्ट्वा) इसी अमृत ब्रह्म का साक्षात्कार करके (तृप्यन्ति) तृप्त रहते हैं ।

भाष्य–इस श्लोक में "साध्य" पद प्राप्त ब्रह्मचारी का कथन किया गया है अर्थात चारो वेदों की शिक्षाओं से जो शिक्षित ब्रह्मचारी उसी को यहां पंचम अमृत पद का अधिकारी विधान किया है, ऐसे ब्रह्मचारी ब्रह्मतेज वाले मुख से " साध्य " पदवी प्राप्त कर परमात्मा के समीप जीवन व्यतीत करते हैं और उस अवस्था में न वह खाते न पीते किन्तु इसी अमृत पद ब्रह्म का साक्षात्कार कर तृप्त रहते हैं ।

भाव यह है उक्त चारो वेद मुख्यतया ब्रह्मविचार में ही प्रवृत्त हैं, वेद प्रतिपादक और ब्रह्म प्रतिपाद्य है, एक २ वेद से विज्ञात ब्रह्म एक २ अमृत कहलाता है अर्थात ऋग्वेद प्रतिपादित ब्रह्म प्रथम अमृत, यजुर्वेद प्रतिपादित ब्रह्म द्वितीय अमृत, इसी प्रकार साम और अथर्व प्रतिपादित ब्रह्म तृतीय और चतुर्थ अमृत जानना चाहिये और चारो वेदों द्वारा प्रतिपादित जो ब्रह्म वह पांचवां अमृत कहलाता है और उसी का इस खण्ड में वर्णन किया गया है, जो ब्रह्मचारी साङ्गोपाङ्ग

वेदों का अध्ययन करते हैं वह "साध्य" पदवी वाले कहलाते हैं, ऐसे ब्रह्मचारी ब्रह्मतेज से युक्त होकर परमात्मा के समीप सुशोभित होते हैं।

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपा दुद्यन्ति ॥ २ ॥

पद०-ते। एतत्। एव। रूपं। अभिसंविशन्ति। एतस्मात्। रूपात्। उद्यन्ति।

पदा०-(ते) वह साध्य पदवी युक्त ब्रह्मचारी (एतत्,एव रूपं) इसी अमृतरूप ब्रह्म को (अभिसंविशन्ति) चारो ओर अनुभव करते हुए (एतस्मात्,रूपात्) इसी ज्ञान के प्रभाव से (उद्यन्ति) सर्वत्र उदय होते हैं।

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्ये- तस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

पद०-सः। यः। एतत्। एवं। अमृतं। वेद। साध्यानां। एव। एकः। भूत्वा। ब्रह्मणा। एव। मुखेन। एतत्। एव। अमृतं। दृष्ट्वा। तृप्यति। सः। एतत्। एव। रूपं। अभिसंविशति। एतस्मात्। रूपात्। उदेति।

पदा०-(सः) वह जिज्ञासु यः) जो(एवं उक्त प्रकार से (एतत्) इस (अमृतं) अमृत रूपवेद को (वेद) जानता है वह(साध्यानां,एव)साध्यों में ही,(एकः) एक (भूत्वा) होकर(एव) निश्चय करके (ब्रह्मणा,मुखेन)

ब्रह्मरूप सुख से (एतत्, एव अमृतं, दृष्ट्वा) इसी अमृतरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करके (तृप्यति) तृप्त रहते हैं (सः) वह पुरुष (एतत्, एव, रूपं) इसी ब्रह्म को (अभिसंविशति) चारो ओर से भले प्रकार प्राप्त कर (एतस्मात्, रूपात्, उदेति) इसी ज्ञान के प्रभाव से सर्वत्र उदय होते हैं ॥

सं०—अब उक्त जिज्ञासु के लिये फल कथन करते हैं:—

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेताद्विस्तावदूर्ध्वमुदेताऽर्वागस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

पद०—सः । यावत् । आदित्यः । उत्तरतः । उदेता । दक्षिणतः । अस्तं । एता । द्विस्तावत् । ऊर्ध्वं । उदेता । अर्वाक् । अस्तं । एता । साध्यानां । एव । तावत् । आधिपत्यं । स्वाराज्यं । पर्य्येता ।

पदा०—(यावत्, आदित्यः, उत्तरतः, उदेता) जबतक सूर्य्य उत्तर दिशा में उदय (दक्षिणतः, अस्तं, एता) दक्षिण दिशा में अस्त होता रहेगा (द्विस्तावत्) उससे द्विगुण काल (ऊर्ध्वं, उदेता) ऊर्ध्वदेश में उदित और (अर्वाक्, अस्तं, एता) अधःस्थित देश में अस्त होता रहेगा (तावत्) तबतक (सः) वह पुरुष (साध्यानां, एव) साध्यों के मध्य में ही (स्वाराज्यं) सुखमय (आधिपत्यं) अधिकार प्राप्त कर (पर्य्येता) स्वेच्छाचारी होकर विचरता रहेगा ॥

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब पञ्चम अमृत से ऊर्ध्वगति कथन करते हैं:—

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतै-कल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः ॥ १ ॥

पद०—अथ । ततः । ऊर्ध्वः । उदेत्य । न । एव । उदेता । न । अस्तं । एता । एकलः । एव । मध्ये । स्थाता । तत् । एषः । श्लोकः ।

पदा०—(अथ) इसके अनन्तर (ततः) पंचम अमृत से (ऊर्ध्वः) ऊपर (उदेत्य) उदय होकर (न, एव, उदेता) फिर न तो उदय होता और (न) नाहीं (अस्तं, एता) अस्त होता किन्तु (सकलः, एव) एक ब्रह्म के मध्य में ही (स्थाता) स्थित होता है (तत्) उस विषय में (एषः, श्लोकः) यह श्लोक है ।

भाष्य—उपरोक्त श्लोकों में यह वर्णन कियागया है कि ऋग्वेद का जानने वाला ब्रह्मचारी जितने काल तक अमृत को भोगता है, उससे द्विगुण काल पर्य्यन्त यजुर्वेद का ज्ञाता, उस से द्विगुण काल पर्य्यन्त सामवेद का ज्ञाता, उससे द्विगुण काल तक अथर्ववेद का ज्ञाता और उससे द्विगुण काल पर्य्यन्त साध्य पदवी प्राप्त ब्रह्मचारी जिन्होंने सब अङ्गोपाङ्ग सहित वेदों का अध्ययन करके उनके आदेशानुसार अनुष्ठान किया है वह अमृत को प्राप्त होकर फिर उदय, अस्त=जन्म, मरण को प्राप्त होते हैं परन्तु जिसने परब्रह्मरूप तत्व का साक्षा-त्कार किया है वह कृतकृत्य होकर कल्प पर्य्यन्त ब्रह्म में

स्थिर रहता है, इसीलिये कथन किया है कि वह फिर नहीं आता ऐसा पुरुष बहुकाल तक ब्रह्म के साथ आनन्द भोगता हुआ करप के अन्त में फिर लौटता है, उक्त विषय में यह निम्नलिखित श्लोक है ॥

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन । देवास्तेनाहꣳ सत्येन मा विरोधिषि ब्रह्मणेति ॥ २ ॥

पद०—न । वै । तत्र । न । निम्लोच । न । उदियाय । कदाचन । देवाः । तेन । अहं । सत्येन । मा । विरोधिषि । ब्रह्मणा । इति ।

पदा०—(तत्र) उस अवस्था में (वै) निश्चयकरके दुःखादि क्लेश (न) नहीं होते, और वहां पर सूर्य्य (न, निम्लोच) न अस्त होता (न) न (कदाचन) कभी (उदियाय) उदय होता है (देवाः) हे विद्वानो (तेन, सत्येन) उस सत्यस्वरूप (ब्रह्मणा, इति) ब्रह्म से (अहं) मैं (मा, विरोधिषि) विरोध न करूं ।

भाष्य—उस अवस्था में जीव दुःखादि क्लेशों के अभाव द्वारा सुखस्वरूप ब्रह्म के साथ मिलकर आनन्द भोगता है, वहां पर न सूर्य्य उदय होता और न अस्त होता किन्तु सदा एक रस रहता है, मुक्त पुरुष जो मुक्ति से लौटकर आया है उसका कथन है कि हे विद्वानों=वेदों के ज्ञाता पुरुषो ! उस सत्यस्वरूप= त्रिकालाबाध्य ब्रह्म से हम लोग कभी विरोध न करें किन्तु उस की आज्ञा का पालन करते हुए उसकी समीपता को प्राप्त होकर आनन्द भोगें ।

इस स्थल में स्वा० शङ्कराचार्य्य का भी मुक्ति से लौटना माने बिना निर्वाह नहीं, वह लिखते हैं कि "अतोऽहंब्रह्मलोकादागतः"=जिस कारण मैं ब्रह्मलोक से आया हूं, इत्यादि इस विषय को आगे विस्तारपूर्वक स्फुट करेंगे।

सं०—अब ब्रह्म के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥ ३ ॥

पद०—न। ह। वै। अस्मै। उदेति। न। निम्लोचाति। सकृत्। दिवा। ह। एव। अस्मै। भवति। यः। एतां। एवं। ब्रह्मोपनिषदं। वेद।

पदा०—(यः) जो पुरुष (एतां) इस (ब्रह्मोपनिषदं) ब्रह्मज्ञानप्रद उपनिषद् को (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है (अस्मै) उसके लिये (वै) निश्चयकरके (न, ह) न तो सूर्य्य (उदेति) उदय होता और (न, निम्लोचाति) न अस्त होता (अस्मै) उसके प्रति (ह) निश्चयकरके (सकृत्) सर्वदा (दिवा, एव) दिन ही (भवति) होता है।

भाष्य—जो पुरुष इस ब्रह्मज्ञानप्रद उपनिषद् को उक्त प्रकार से जानता है उसके लिये न तो सूर्य्य उदय होता और न कभी अस्त होता है अर्थात् उसके हृदय में ज्ञानरूपप्रकाश होने से सदा दिन ही रहता है, अन्धकार=अज्ञान का लेशमात्र भी नहीं रहता, ऐसा पुरुष ही परमात्मा का प्यारा होता और वह उनकी गोद में बैठकर विश्राम लेता है॥

सं०—अब उक्त विषय में इतिहास वर्णन करते हैं :—

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्धैतदुद्दालकायाऽऽरुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥ ४ ॥

पद०—तत् । ह । एतत् । ब्रह्मा । प्रजापतये । उवाच । प्रजापतिः । मनवे । मनुः । प्रजाभ्यः । तत् । ह । एतत् । उद्दालकाय । आरुणये । ज्येष्ठाय । पुत्राय । पिता । ब्रह्म । प्रोवाच ।

पदा०—(ह) प्रसिद्ध है कि (ब्रह्मा) ब्रह्मा नामक ऋषि ने (तत्, एतत्) इस विज्ञान का (प्रजापतये) प्रजापति ऋषि को (उवाच) उपदेश किया (प्रजापतिः) प्रजापति ने (मनवे) मनु को (मनुः, प्रजाभ्यः) मनु ने प्रजाओं को उपदेश किया और (ह) प्रसिद्ध है कि (तत्, एतत्) इसी विज्ञान का (पिता) उद्दालक के पिता ने (आरुणये, ज्येष्ठाय, पुत्राय) आरुणि उद्दालक नामक अपने ज्येष्ठ पुत्र को (ब्रह्म, प्रोवाच) ब्रह्म का उपदेश किया ।

इदं वावतज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्राणाय्याय वाऽन्तेवासिने ॥ ५ ॥

पद०—इदं । वाव । तत् । ज्येष्ठा । । पुत्राय । पिता । ब्रह्म । प्रब्रूयात् । प्राणाय्याय । वा । अन्तेवासिने ।

पदा०-(वाव) निश्चयकरके (पिता) पिता (ज्येष्ठाय, पुत्राय) अपने ज्येष्ठ पुत्र से (वा) अथवा (प्राणाय्याय) प्राण समान (अन्तेवासिने) शिष्य से (तत्, इदं) उस इस (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान का (प्रब्रूयात्) उपदेश करे।

भाष्य-इस ब्रह्मज्ञान के उपदेष्टाओं का इतिहास इस प्रकार है कि ब्रह्मा ने प्रजापति जिसका दूसरा नाम कश्यप है उसको उपदेश किया, कश्यप ने मनु को और मनु ने अन्य सब प्रजाओं को उपदेश किया, और अरुण ने अपने ज्येष्ठपुत्र उद्दालक को ब्रह्म का उपदेश किया, और इसी प्रकार सब पिता वा आचार्य्यों को उचित है कि वह अपने ज्येष्ठपुत्र तथा परमप्रिय शिष्य के प्रति इस ब्रह्मज्ञान का उपदेश करते रहें ताकि गुरुशिष्य परम्परा द्वारा इस विज्ञान का प्रचार हो और पुरुष परमात्मप्रिय होकर दुःखों से छूट परमानन्द भोगें।

सं०—अब ब्रह्मज्ञानोपदेष्टा आचार्य्य का नियम कथन करते हैं:—

नान्यस्मै कस्मैचन, यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततोभूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥६॥

पद०-न। अन्यस्मै। कस्मैचन। यद्यपि। अस्मै। इमाम्। अद्भिः। परिगृहीतां। धनस्य। पूर्णां। दद्यात्। एतत्। एव। ततः। भूयः। इति। एतत्। एव। ततः। भूयः। इति।

पदा०-(यद्यपि) यद्यपि चाहे (अद्भिः) समुद्र से (परिगृहीतां) परिगृहीत (धनस्य, पूर्णां) धनों से पूर्ण (इमां)

इस पृथिवी को (अस्मै) उक्त आचार्य्य को (दद्यात्) देवे तो भी (अन्यस्मै, कस्मैचन) अन्य किसी को (न, ब्रूयात्) ब्रह्म का उपदेश न करे, क्योंकि (ततः) उस पृथिवी से (एतत्, एव, भूयः, इति) यही बड़ा है।

भाष्य—"एतदेवततोभूय इति" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, इस श्लोक में यह कथन किया गया है कि ब्रह्मज्ञानोपदेष्टा अधिकारी प्रति ब्रह्म का उपदेश करे अनधिकारी को कदापि ब्रह्म का उपदेश न करे अर्थात् साधन सम्पन्न पुरुष जिसने यमनियमादिकों द्वारा तपश्चरण करके अपने अन्तःकरण को निर्मल बनालिया है वही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है उसको आचार्य्य प्राणों से प्रिय मानता हुआ उपदेश करे और इससे भिन्न पुरुष जिसने अपने आपको अधिकारी नहीं बनाया वह चाहे धनों से पूर्ण समुद्रपर्य्यन्त इस पृथिवी का दान आचार्य्य को देवे तो भी उसको ब्रह्म का उपदेश न करे, क्योंकि उस पृथिवी के दान से ब्रह्मविद्या का दान अधिकतर है॥

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशः खण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "गायत्री" का महत्व वर्णन करते हुए इसी द्वारा ब्रह्म की उपासना कथन करते हैं:—

गायत्री वा इद॑ꣳसर्वं भूतं यदिदं किञ्च। वाग्वै गायत्री वाग्वा इद॑ꣳसर्वं भूतम्,

गायति च त्रायते च ॥ १ ॥

पद०-गायत्री । वै । इदं । सर्व । भूतं । यत् । इदं । किंच । वाक् । वै । गायत्री । वाक् । वै । इदं । सर्वं । भूतं । गायति । च । त्रायते । च ।

पदा०-(वै) निश्चय करके (गायत्री) गायत्री (इदं, सर्वं, भूतं) यह सब भूत हैं (यत्, इदं, किंच) यह जो कुछ है सब गायत्री है (वाक्, वै) वाणी ही (गायत्री) गायत्री है, क्योंकि (वाक्, वै) वाणी ही (इदं, सर्वं, भूतं) इन सब भूतों को (गायति, च) गाती (च) और (त्रायेत) रक्षा करती है ।

भाष्य-चारो वेदों में जो छन्द हैं उनमें गायत्री छन्द की प्रधानता है, क्योंकि इसी छन्द से वेदों में ब्रह्म की अधिकता से स्तुति कीगई है, इसी कारण ब्रह्मसाधनों में प्रधान होने के कारण गायत्री छन्द का इस श्लोक में महात्म्य वर्णन किया गया है कि गायत्री ही सब भूत हैं, यह सब कुछ स्थावर जंगम जगत् है सब गायत्री है, क्योंकि इसी के ज्ञान से बुद्धि की वृद्धि होकर सब पदार्थों का बोध होता है, पदार्थों के बोध से प्रकृति का बोध और उससे ब्रह्म का बोध होता है, गायत्री ही वाणी है, क्योंकि वाणी ही इन सब भूतों को गाती और परमात्मा की प्रार्थना द्वारा रक्षा करती है ।

भाव यह है कि "गायन्तं त्रायते इति गायत्री"= जो अध्ययन कर्त्ता की रक्षा करे उसका नाम "गायत्री" है,

इस छन्द की विशेषता इस अभिप्राय से भी वर्णन कीगई है कि जिसप्रकार ईश्वरोपासक की यह गायत्री छन्द रक्षा करता है इस प्रकार अन्य छन्द नहीं करते, क्योंकि इस मंत्र में परमात्मा से एकमात्र बुद्धि की प्रार्थना कीगई है कि हे परमपिता परमात्मन् ! आप हमारी बुद्धि को पवित्र करें और उत्तम कामों में प्रेरें, बुद्धि ही मनुष्य का सर्वोपरि धन और यही सर्वोपरि रक्षक है, इसी की पवित्रता से पुरुष अमृत पद को प्राप्त होता है जो उच्च से उच्च पद है, इसी भाव को एक नीतिवाक्य में इस प्रकार वर्णन किया है कि "बुद्धिर्यस्यबलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्"=जिसके पास बुद्धि है उसी के पास बल है निर्बुद्धि संसार में बलहीन होकर मरे हुए के समान जीता है, इसप्रकार गायत्री मंत्र सर्वोपरि बुद्धि विषयक प्रार्थना का अभिधायक होने से सब पदार्थों का आत्मभूत है, और बाणी को गायत्री इस अभिप्राय से कथन किया है कि जिसप्रकार सुप्रयुक्त वाक् वक्ता की रक्षा करती है इसी प्रकार गायत्री छन्द वक्ता का रक्षक होता है, इसलिये मनुष्यमात्र को उचित है कि अपनी रक्षार्थ गायत्री छन्द द्वारा परमात्मा का सदा स्तवन करते हुए उसकी शरण को प्राप्त हों।

सं०-अब गायत्री और पृथिवी की समता कथन करते हैं:-

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याᳬ हीदᳬ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥ २ ॥

पद०—या । वै । सा । गायत्री । इयं । वाव । सा । या । इयं । पृथिवी । अस्यां । हि । इदं । सर्वं । भूतं । प्रतिष्ठितं । एतां । एव । न । अतिशीयते ।

पदा०—(वै) निश्चय करके (या) जो (सा) वह (गायत्री) गायत्री है (सा) वह (वाव) निश्चयकरके (इयं) यही है (या, इयं, पृथिवी) जो यह पृथिवी है (हि) क्योंकि (अस्यां) इसी पृथिवी पर (इदं, सर्वं, भूतं) यह सब भूत (प्रतिष्ठितं) प्रतिष्ठित हैं (एव) निश्चयकरके (एतां) इस पृथिवी को (न, अतिशीयते) कोई अतिक्रमण नहीं करसकता ।

भाष्य—इस श्लोक में गायत्री को पृथिवी सदृश इसलिये कथन किया है कि जिसप्रकार सब पदार्थों की प्रतिष्ठा=ठहरने का आश्रय पृथिवी है इसी प्रकार गायत्री भी सब छन्दों की प्रतिष्ठा है, क्योंकि प्रायः सभी छन्द गायत्री छन्द के अधीन हैं और मनुष्य भी इसी को आश्रय बनाकर जगत् में प्रतिष्ठित होते और अन्त में इसी के द्वारा ब्रह्म में प्रतिष्ठित होते हैं, अतएव दोनों समान हैं ॥

सं०—अब पृथिवी और शरीर की समता कथन करते हैं:—

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ३ ॥

पद०—या । वै । सा । पृथिवी । इयं । वाव । सा । यत् । इदं । अस्मिन् । पुरुषे । शरीरं । अस्मिन् । हि । इमे । प्राणाः । प्रतिष्ठिताः । एतत् । एव । न । अतिशीयन्ते ।

पदा०-(वै) निश्चयकरके (या) जो (सा) वह (पृथिवी) पृथिवी है (सा, इयं, वाव) सो वह यही है (यत्) जो (अस्मिन्, पुरुषे) इस पुरुष में (इदं, शरीरं) यह शरीर है (हि) क्योंकि (अस्मिन्) इस शरीर में जो (इमे, प्राणाः) यह प्राण (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठित हैं (एव) निश्चयकरके (एतत्) इस शरीरगत प्राण (न, अतिशीयन्ते) अतिक्रमण नहीं कर सकते।

सं०-अब शरीर और हृदय की समता कथन करते हैं:-

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे हृदयमस्मिन्हीमेप्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ४ ॥

पद०-यत्। वै। तत्। पुरुषे। शरीरं। इदं। वाव। तत्। यत्। इदं। अस्मिन्। अन्तःपुरुषे। हृदयं। अस्मिन्। हि। इमे। प्राणाः। प्रतिष्ठिताः। एतत्। एव। न। अतिशीयन्ते।

पदा०-(पुरुषे) पुरुष का (वै) निश्चय करके (यत्, शरीरं) जो शरीर है (तत्) वह (इदं,वाव) यही है (यत्) जो (अस्मिन्) इस (अन्तः, पुरुषे) अन्तःपुरुष में (इदं) यह (हृदयं) हृदय है (हि) क्योंकि (अस्मिन्) इसी में (इमे, प्राणाः) यह

प्राण (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठित हैं (एव) निश्चय (एतत्) इस हृदय को (न, अतिशीयन्ते) प्राण छोड़कर नहीं रहसक्ते।

भाष्य—पुरुष का जो यह शरीर है वह यही है जो इस अन्तःकरण में हृदय है, क्योंकि इसमें प्राण प्रतिष्ठित हैं, इसको प्राण त्याग नहीं सक्ते, इसीप्रकार शरीरवत् गायत्री हृदयरूपा होने से दोनों समान हैं ॥

सं०—अब गायत्री को ब्रह्मबोधक कथन करते हैंः—

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ॥ ५ ॥

पद०—सा । एषा । चतुष्पदा । षड्विधा । गायत्री । तत् । एतत् । ऋचा । अभ्यनूक्तम् ।

पदा०—(सा, एषा) वह यह (चतुष्पदा) चार पादों वाली (गायत्री) गायत्री (षड्विधा) छःप्रकार की है (तत्, एतत्) वह यह विषय (ऋचा) मंत्र द्वारा (अभ्यनूक्तम्) भले प्रकार प्रकट है ।

भाष्य—गायत्री में २४ अक्षर होते हैं और छः २ अक्षरों का एक पाद होता है, सो चार पाद वाली गायत्री वाणी, भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय और प्राण, इस भेद से छः प्रकार की है जैसाकि पीछे इनकी समता वर्णन कर आये हैं, इसी के द्वारा प्रकाशित होने से गायत्री के अनुगत ब्रह्म है, क्योंकि वेदमंत्रों के बिना ब्रह्म का ज्ञान नहीं होसकता, इस कारण ऋषियों ने वेदमंत्रों

को ब्रह्मप्राप्ति का द्वार माना है और गायत्री मंत्र सम्यग् प्रकार से ब्रह्म का प्रकाश करने के कारण अतिश्रेष्ठ है, अतएव गायत्री को ब्रह्मबोधक मानना समीचीन है ॥

सं०-अब गायत्रीप्रदर्शित परमात्मा का महत्व वर्णन करते हैं:—

एतावानस्य महिमा ततो ज्याया७ँश्च पूरुषः । पादोऽस्यसर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥ ६ ॥

पद०-एतावान् । अस्य । महिमा । ततः । ज्यायान् । च । पूरुषः । पादः । अस्य । सर्वा । भूतानि । त्रिपाद् । अस्य । अमृतं । दिवि । इति ।

पदा०-(अस्य) इस ब्रह्म का (महिमा) महत्व (एतावान्) उतना है जितना यह संसार है (च) और (ततः) उससे (पूरुषः) पुरुष (ज्यायान्) बड़ा है (सर्वा, भूतानि) सबभूत (अस्य) इस ब्रह्म का (पादः) एकपादस्थानीय और (अस्य) इसके (त्रिपाद्) तीनपाद (दिवि) द्युलोक में (अमृतं, इति) अमृत हैं ।

भाष्य-गायत्री प्रतिपाद्य ब्रह्म का महत्व इतना है कि यह सम्पूर्ण संसार उसके एकदेश में हैं और वह सर्वत्र परिपूर्ण है अर्थात् सम्पूर्ण भूतजात उसके एकपादस्थानीय और तीनपाद अमृत=अविनाशी स्वरूप हैं ।

सं०-अब ब्रह्म की पुरुष के बाहर व्यापकता कथन करते हैं:-

यद्वैतद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा

पुरुषादाकाशो यो वै स वहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥ ७ ॥

पद०-यत् । वै । तत् । ब्रह्म । इति । इदं । वाव । तत् । यः । अयं । वहिर्धा । पुरुषात् । आकाशः । यः । वै । सः । बहिर्धा । पुरुषात् । आकाशः ।

पदा०-(वै) निश्चयकरके (यत्) जो पूर्व मंत्र में वर्णन कियागया है (तत्, ब्रह्म, इति) वही ब्रह्म है (इदं, वाव) यही (तत्) वह है (यः) जो (अयं) यह (पुरुषात्) पुरुष से (वहिर्धा) वाहर (आकाशः) प्रकाशित है और (यः) जो (वै) निश्चयकरके (सः) वह (पुरुषात्, वहिर्धा, आकाशः) पुरुष से बाहर प्रकाशवान् है ।

सं०-अब ब्रह्म की पुरुष के भीतर व्यापकता कथन करते हैं:—

अयं वाव स योऽयमन्तःपुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तःपुरुष आकाशः॥८॥

पद०-अयं । वाव । सः । यः । अयं । अन्तःपुरुषे । आकाशः । यः । वै । सः । अन्तःपुरुषे । आकाशः ।

पदा०-(अयं, वाव,सः) यही वह है (यः) जो (अयं) यह (अन्तःपुरुषे) शरीर के भीतर (आकाशः) प्रकाशवान् है (यः, वै, सः) निश्चयकरके जो वह (अन्तःपुरुषे) शरीर के आभ्यन्तर (आकाशः) प्रकाशवान् है ।

सं०-अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः

तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णामप्रवर्तिनीᳪ श्रियं लभते य एवं वेद ॥ ९ ॥

पद०—अयं । वाव । सः । यः । अयं । अन्तर्हृदये । आकाशः । तत् । एतत् । पूर्णं । अप्रवर्ति । पूर्णां । अप्रवर्तिनीं । श्रियं । लभते । यः । एवं । वेद ।

पदा०—(अयं, वाव, सः) यही वह ब्रह्म है (यः, अयं) जो यह (अन्तर्हृदये) हृदय के भीतर (आकाशः) प्रकाशवान् है (तत्, एतत्) वह यह हृदयाकाशस्थ ब्रह्म (पूर्णं) सर्वत्र परिपूर्ण (अप्रवर्ति) परिवर्तन रहित है (यः, एवं, वेद) जो उक्त प्रकार से जानता है वह पूर्ण ब्रह्म को (लभते) प्राप्त होता है और (अप्रवर्तिनी) सदास्थिर रहने वाली (पूर्णां) पूर्ण (श्रियं) सम्पत्ति को प्राप्त होता है ।

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब प्राणरूप इन्द्रियों की उपासना का वर्णन करते हुए उसका फल कथन करते हैं :—

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत ।

तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

पद०-तस्य । ह । वै । एतस्य । हृदयस्य । पञ्च । देवसुषयः । सः । यः । अस्य । प्राङ् । सुषिः । सः । प्राणः । तत् । चक्षुः । सः । आदित्यः । तत् । एतत् । तेजः । अन्नाद्यं । इति । उपासीत । तेजस्वी । अन्नादः । भवति । यः । एवं । वेद ।

पदा०-(वै) निश्चयकरके (तस्य) उस (हृदयस्य) हृदय के (पञ्च) पांच (देवसुषयः) इन्द्रियरूप द्वार हैं (ह) निश्चयकरके (अस्य) इस हृदय का (सः, यः) वह जो (प्राङ्) पूर्व का (सुषिः) द्वार है (सः, प्राणः) वह प्राण (तत्, चक्षुः) वह चक्षु (सः, आदित्यः) वही आदित्य कहाता है (तत्, एतत्) उस इस द्वार को (तेजः) तेज तथा (अन्नाद्यं, इति) अन्नभोक्तृत्वरूप से (उपासीत) विचारे (यः) जो (एतस्य) इसको (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (तेजस्वी, अन्नादः, भवति) तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है ।

भाष्य-इस श्लोक में हृदय के चक्षुः,श्रोत्र, वाक् , मन और ओज यह पांच द्वार कथन किये हैं, हृदय का जो पूर्वस्थ द्वार है वह चक्षु और उसीको आदित्य कहते हैं, जैसाकि ऐतरेयोनिषद् २ । ४ में वर्णन किया है कि "**अग्निर्वाग्भूत्वामुखं प्राविशद्वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वा०**"=अग्नि वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हुई, वायु

प्राणरूप होकर नासिकाओं में प्रविष्ट हुई और आदित्य चक्षुरूप होकर आंखों में प्रविष्ट हुआ, इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि आदित्य चक्षु में प्रतिष्ठित है,इस आदित्यरूप द्वार को तेज तथा अन्नभोक्तृत्वरूप से विचारे अर्थात् अपने चक्षुगत तेज को सदा स्थिर रखने के लिये यत्नवान् हो, या यों कहो कि कोई ऐसी कुचेष्टा न करे जिससे उसका अक्षिगत तेज नष्ट होजाय, जो अक्षिविहीन पुरुष है उसका अन्नभोक्तृत्व भी नष्ट होजाता है, क्योंकि वह भ्रमणादि क्रिया करने में सर्वथा असमर्थ होता है, इसलिये चक्षु की यत्न से रक्षा करे, जो पुरुष उक्त भाव को इस प्रकार जानते हैं वह तेजस्वी और अन्न के भोक्ता होते हैं॥

सं०—अब व्यानरूप श्रोत्र इन्द्रिय की उपासना कथन करते,हैं:—

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रँ स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत, श्रीमान् यशस्वी भवति य एवं वेद ॥ २ ॥

पद०—अथ। यः। अस्य। दक्षिणः। सुषिः। सः। व्यानः। तत्। श्रोत्रं। सः। चन्द्रमाः। तत्। एतत्। श्रीः। च। यशः। च। इति। उपासीत। श्रीमान्। यशस्वी। भवति। यः। एवं। वेद।

पदा०—(अथ) अब (अस्य) इस हृदय का (यः) जो (दक्षिणः) दक्षिण (सुषिः) द्वार है (सः, व्यानः) वह व्यान है (तत्, श्रोत्रं) वह श्रोत्र है (सः, चन्द्रमाः) उसको चन्द्रमा भी कहते हैं (तत्, एतत्) उस इस इन्द्रिय को (श्रीः) शोभा (च)

और (यशः) कीर्त्तिमान् (उपासीत) विज्ञान द्वारा विचारे (यः) जो पुरुष (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (श्रीमान्,यशस्वी,भवति,इति) श्रीमान् और यशस्वी होता है॥

सं०—अब अपानरूप बाणी की उपासना कथन करते हैं:—

अथ योऽस्य प्रत्यङ्सुषिः सोऽपानः सावाक् सोऽग्निस्तदेतद् ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत,ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति यः एवं वेद ॥ ३ ॥

पद०—अथ। यः। अस्य। प्रत्यङ्। सुषिः। सः।अपानः। सा। वाक्। सः। अग्निः। तत्। एतत्। ब्रह्मवर्चसं। अन्नाद्यं। इति। उपासीत। ब्रह्मवर्चसी। अन्नादः। भवति। यः। एवं। वेद।

पदा०—(अथ) अब (अस्य) इस हृदय का (यः) जो (प्रत्यङ्) पश्चिम दिशास्थ (सुषिः) द्वार है (सः, अपानः) वह अपान है (सा, वाक्) वही बाणी है (सः, अग्नि) उसी को अग्नि कहते हैं (तत्,एतत्) उस इस इन्द्रिय को (ब्रह्मवर्चसं) ब्रह्म तेज की साधक (अन्नाद्यं,इति) अन्नभोक्तृत्वरूप मान कर (उपासीत) उपासना करे (यः) जो (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (ब्रह्मवर्चसी, अन्नादः) ब्रह्मवर्चसी और आरोग्य होता है।

सं०—अब समानरूप मन की उपासना कथन करते हैं:—

अथ योऽस्योदङ् सुषि स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चे-

त्युपासीत,कीर्त्तिमान् व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

पद०-अथ । यः । अस्य । उदङ् । सुषिः । सः । समानः । तत् । मनः । सः । पर्जन्यः । तत् । एतत् । कीर्त्तिः । च । व्युष्टिः । च । इति । उपासीत । कीर्त्तिमान् । व्युष्टिमान् । भवति । यः । एवं । वेद ।

पदा०—(अथ) अब (अस्य) इस हृदय का (यः) जो (उदङ्) ऊर्ध्वगमनशील (सुषिः) द्वार है (सः, समानः) वह समान है (तत्, मनः) वह मन है (सः, पर्जन्यः) उसी को पर्जन्य भी कहते हैं (तत्, एतत्) उस इस मन को (कीर्त्तिः, च) कीर्त्ति (च) और (व्युष्टिः,इति) विशेष कान्तिमान् मानकर (उपासीत) उपासना करे (यः) जो (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (कीर्त्तिमान्) कीर्त्ति वाला (व्युष्टिमान्) विशेष कान्तिमान् (भवति) होता है ॥

सं०-अब उदानरूप ओज की उपासना कथन करते हैं:—

अथ योऽस्योर्ध्वःसुषिःस उदानःस वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौ-जस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद॥ ५ ॥

पद०-अथ । यः । अस्य । ऊर्ध्वः । सुषिः । सः । उदानः । सः । वायुः । सः । आकाशः । तत् । एतत् । ओजः । च । महः । च । इति । उपासीत । ओजस्वी । महस्वान् । भवति । यः । एवं । वेद ।

पदा०-(अथ) अब (अस्य) इस हृदय का (यः) जो (उदङ्) ऊर्ध्वगमनशील (सुषिः) द्वार है (सः) वह (उदानः) उदान है (सः,वायुः) वही वायु (सः,आकाशः) वही आकाश कहलाता है (तत्, एतत्) उस इस (ओजः) बल को (महः, इति) महान् तेज मानकर (उपासीत) विचारे (यः) जो (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (ओजस्वी, महस्वान्, भवति,इति) ओजस्वी और तेजस्वी होता है।

सं०-अब उक्त पांचो द्वारों के ज्ञान का फल कथन करते हैं:-

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गलोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद ॥ ६ ॥

पद०-ते । वै । एते । पञ्च । ब्रह्मपुरुषाः । स्वर्गस्य । लोकस्य । द्वारपाः । सः । यः । एतान् । एवं । पञ्च । ब्रह्मपुरुषान् । स्वर्गस्य । लोकस्य । द्वारपान् । वेद । अस्य । कुले । वीरः । जायते । प्रतिपद्यते । स्वर्गं । लोकं । यः । एतान् । एवं । पञ्च । ब्रह्मपुरुषान् । स्वर्गस्य । लोकस्य । द्वारपान् । वेद ।

पदा०-(वै) निश्चयकरके (ते) वह (एते) यह (पञ्च, ब्रह्मपुरुषाः) उक्त पांचो ब्रह्मपुरुष (स्वर्गस्य, लोकस्य,

द्वारपाः) उत्तम अवस्था को प्राप्त कराने वाले हैं (सः) वह पुरुष (यः) जो (एतान्, पञ्च, ब्रह्मपुरुषान्) इन पांचो ब्रह्मपुरुषों को (एवं) उक्त प्रकार से (स्वर्गस्य, लोकस्य, द्वारपान्) स्वर्गलोक को प्राप्त कराने वाले (वेद) जानता है (अस्य, कुले) उसके कुल में (वीरः, जायते) वीरपुरुष उत्पन्न होते हैं और वह (स्वर्ग,लोकं) उत्तम अवस्था को (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है (यः, एतान्, पञ्च, ब्रह्मपुरुषान्) जो इन पञ्च ब्रह्मपुरुषों को (एवं) उक्त प्रकार से (स्वर्गस्य, लोकस्य) स्वर्गलोक के (द्वारपान्) प्राप्त कराने वाले (वेद) जानता है।

सं०—अब आत्मविज्ञान कथन करते हैं :—

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतःपृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः ॥ ७ ॥

पद०—अथ । यत् । अतः । परः। दिवः । ज्योतिः । दीप्यते । विश्वतः । पृष्ठेषु । सर्वतः । पृष्ठेषु । अनुत्तमेषु । उत्तमेषु । लोकेषु । इदं । वाव । तत् । यत् । इदं । अस्मिन् । अन्तःपुरुषे । ज्योतिः । तस्य । एषा । दृष्टिः ।

पदा०—(अथ) अब यह कथन करते हैं कि (अतः) इस (दिवः) द्युलोक से (परः) परे (यतः) जो (ज्योतिः) परमात्मरूप ज्योति (दीप्यते) देदीप्यमान होरही है

(वाव) निश्चयकरके (इदं, तत्) यह वह (अस्मिन्, अन्तः-पुरुषे) इस पुरुष के अन्तर में (इदं, ज्योतिः) यह ज्योति है (यत्) जो (विश्वतः,पृष्ठेषु) सब के ऊपर है (अनुत्तमेषु,उत्तमेषु, लोकेषु) अनुत्तम और उत्तम लोकलोकान्तरों में (इदं) यही ज्योति व्याप्त है (तस्य, एषा, दृष्टिः) उसी ज्योति का यह चमत्कार है ।

भाष्य—इस श्लोक में उस परमात्मतत्त्व ब्रह्म को सर्वव्यापक सिद्ध किया है कि इस द्युलोक से परे जो ज्योति देदीप्यमान् होरही है वह इस सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर सब के ऊपर है और अन्य लोकलोकान्तरों में भी यही ज्योति व्याप्त है अर्थात् जहां २ ईश्वरीय सृष्टि है वहां २ यही ज्योति व्याप्त होरही है और यह जितना दृश्यमान् जगत् है वह सब इसी ज्योति का चमत्कार है ॥

सं०—अब जीवात्मा को उक्त ज्योतिः का ज्ञान कथन करते हुए उसका फल वर्णन करते हैं ;—

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे सꣲस्पर्शेनोष्णि-मानं विजानाति । तस्यैषा श्रुतिर्यत्रै-तत्कर्णावपि गृह्यनिनदमिव नदथुरि-वाग्नेरिवज्वलत उपशृणोति , तदेतद् दृष्टञ्च श्रुतञ्चेत्युपासीत । चक्षुष्यः श्रुतोभवति य एवं वेद य एवं वेद ॥८॥

पद०—यत्र। एतत्। अस्मिन्। शरीरे। संस्पर्शेन। उष्णिमानं। विजानाति। तस्य। एषा। श्रुतिः। यत्र। एतत्। कर्णौ। अपि। गृह्य। निनदं। इव। नदथुः। इव। अग्नेः। इव। ज्वलतः। उपशृणोति। तत्। एतत्। दृष्टं। च। श्रुतं। च। इति। उपासीत। चक्षुष्यः। श्रुतः। भवति। यः एवं। वेद। यः। एवं। वेद॥

पदा०—(यत्र) जिस काल में (अस्मिन्, शरीरे) इस शरीर के मध्य (संस्पर्शेन) स्पर्श द्वारा (उष्णिमानं) गरमी को (विजानाति) अनुभव करता है (एतत्) यही उसका दर्शन और (तस्य, एषा, श्रुतिः) उसका यह श्रवण है कि (यत्र) जिस काल में (कर्णौ) श्रोत्रों को (अपि, गृह्य) भलेप्रकार ढांपकर (एतत्) इस (निनदं, इव) रथादि शब्द सदृश शब्द (ज्वलतः, अग्नेः, इव) जलती हुई अग्नि के समान शब्द और (नदथुः, इव) वृषभादिकों के तद्वत् शब्द (उपशृणोति) सुनता है (तत्, एतत्) उस इस ज्योति को (दृष्टं, च) देखा गया (श्रुतं, च) सुना गया (इति) इस प्रकार (उपासीत) विचारे (यः, एवं, वेद) जो परमात्मा को उक्त प्रकार से जानता है वह (चक्षुष्यः) दर्शनीय और (श्रुतः) सर्वत्र विख्यात (भवति) होता है।

भाष्य—"य एवं वेद" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, इस शरीर के मध्य जिसकाल में जीवात्मा स्पर्श द्वारा गरमी को अनुभव करता है यही उसका "स्पर्श"

और जिसकाल में अंगुली आदि से श्रोत्रों को भले प्रकार ढांपकर जलती हुई अग्नि, रथादि सदृशशब्द तथा वृषभादिकों के शब्द सदृश शब्द सुनता है यही उसका "श्रवण" है, जो पुरुष परमात्मा के दर्शन, स्पर्शन तथा श्रवणादि को विचारता हुआ उसका भले प्रकार अनुभव करता है वह दर्शनीय और सर्वत्र प्रख्यात होता है ॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब इस खण्ड में शमविधिद्वारा परमात्मा की उपासना कथन करते हैं:—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो, यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति, स क्रतुं कुर्वीत ॥ १ ॥

पद०-सर्वं । खलु । इदं । ब्रह्म । तज्जलान् । इति । शान्तः । उपासीत । अथ । खलु । क्रतुमयः । पुरुषः । यथाक्रतुः । अस्मिन् । लोके । पुरुषः । भवति । तथा । इतः । प्रेत्य । भवति । सः । क्रतुं । कुर्वीत ।

पदा०-(खलु) निश्चय करके (इदं, सर्वं) यह सब (ब्रह्म) ब्रह्म है (तज्जलान्, इति) उससे उत्पत्ति, स्थिति तथा लय वाले सब पदार्थों को ब्रह्मस्थ समझता हुआ (शान्तः) शान्त होकर (उपासीत) उपासना करे (खलु) निश्चय करके (अथ) और (क्रतुमयः, पुरुषः) यह जीवात्मा यज्ञरूप है (यथाक्रतुः) यज्ञ के अनुकूल ही (अस्मिन्, लोके) इस लोक में (पुरुषः, भवति) पुरुष होता है (तथा) इसीप्रकार (इतः) इस लोक से (प्रेत्य) मरकर (भवति) होता है (सः, क्रतुं, कुर्वीत) उसको चाहिये कि वह यज्ञ करे।

भाष्य-पुरुष को उचित है कि जब वह ब्रह्मोपासन करे तब इस भाव को दृष्टिगत रखे कि उसी ब्रह्म से यह सब पदार्थ उत्पन्न होते, उसी में चेष्टा करते और उसी में लय होते हैं, इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण ब्रह्म को समझकर उपासना करे, इस उपासना में ब्रह्म को सब का कारण कथन कियागया है और उसके कार्य्यों को लयकाल में उससे भिन्न नहीं कथन कियागया किन्तु अभेदोपासन[1] के लिये ब्रह्मरूप ही कथन किया है, इस भाव से सब पदार्थों को ब्रह्म कहा है, यहां वस्तुमात्र को ब्रह्म कथन करना ब्रह्माकारवृत्ति के अभिप्राय से है और इसी को अभेदोपासना कहते हैं।

भाव यह है कि उपासना काल में जिज्ञासु को उचित है कि वह ब्रह्म से भिन्न कोई दृष्टि न करे, क्योंकि एकमात्र ब्रह्माकार वृत्ति से जब जीव उपासना करता है तो उसका चित्त इतस्ततः न जाकर एकमात्र ब्रह्म ही में स्थित रहता है, इस अभिप्राय से यहां शमविधिरूप से उपासना कथन की है, मन को एकमात्र परमात्मपरायण करने का नाम " शमविधि " है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत तीनों कालों में ब्रह्म से भिन्न नहीं, इसलिये यह सब कुछ ब्रह्म है, इस भाव को इनकी परिभाषा में "मुख्यसमानाधिकरण" कहते हैं अर्थात् यह सब पदार्थ अपने २ आकार से ब्रह्मरूप ही हैं उससे भिन्न नहीं, जब इनसे यह प्रश्न कियाजाता है कि यदि सब कुछ ब्रह्म ही है तो वह उत्पत्ति, स्थिति तथा नाशवाला होने से विकारी हुआ? इसका उत्तर यह देते हैं कि यह जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है अर्थात् ब्रह्म ही जगत् रूप से प्रतीत होरहा है, इसलिये वह विकारी नहीं? इनका यह उत्तर इसलिये ठीक नहीं कि यदि ब्रह्म विकारी न होता तो जीव को ऐसा मिथ्याज्ञान क्यों होता, क्योंकि इनके मत में जीव भी तो ब्रह्म ही है, इसलिये विवर्त्तवाद मानकर भी विकारी होने का दोष नहीं मिटसक्ता।

वास्तव में बात यह है कि यह वाक्य जगत् को ब्रह्मविवर्त्त अथवा ब्रह्मपरिणाम कथन नहीं करता किन्तु रागद्वेष से रहित होने के लिये शमविधि द्वारा उपासना कथन करता है इसी अभिप्राय से "शान्तः, उपासीत" कथन किया है॥

सं०—अब परमात्मा को "मनोमय" आदि गुणों द्वारा कथन करते हैं:—

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥ २ ॥

पद०-मनोमयः । प्राणशरीरः । भारूपः । सत्यसङ्कल्पः । आकाशात्मा । सर्वकर्मा । सर्वकामः । सर्वगन्धः । सर्वरसः । सर्वं । इदं । अभ्यात्तः । अवाकी । अनादरः ।

पदा०-(मनोमयः) वह परमात्मा ज्ञानस्वरूप (प्राणशरीरः) ब्रह्माण्डरूप शरीरवाला (सत्यसङ्कल्पः) सत्यसङ्कल्प (आकाशात्मा) आकाशवत् परिपूर्ण (सर्वकर्मा) सर्वशक्तिमान् (सर्वकामः) पर्याप्तकाम (सर्वगन्धः) सब गंधवाले पदार्थों को गन्ध देने वाला (सर्वरसः) सब रसों को उत्पन्न करने वाला (सर्वं, इदं, अभ्यात्तः) इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त (अवाकी) वाणी से रहित और (अनादरः) पक्षपात शून्य है ।

भाष्य-मननशील होने से परमात्मा का नाम "**मन**" है, सत्वादि तीनो गुणों से चेष्टा करने वाला यह सब जगत् उसका शरीरभूत है, वह परमात्मा प्रकाशस्वरूप, सत्यसङ्कल्प तथा आकाशवत् सर्वत्र परिपूर्ण है और जगत् के सब रचना आदि कर्म उसी से होते हैं इसलिये वह "**सर्वकर्मा**" पर्य्याप्त काम होने से "**सर्वकाम**" सब गन्धियों का रचयिता होने से "**सर्वगन्ध**" और सब रसों का निर्माता होने से उसको "**सर्वरस**" कहा गया है ।

मायावादी सर्वकर्मा, सर्वगन्ध, सर्वरस के यह अर्थ करते हैं कि वही परमात्मा सर्वरूप है, इसलिये उसको सब कुछ कह-सक्ते हैं, यदि उक्त शब्दों का यह भाव होता तो उसको "**आकाशात्मा**" कदापि न कहाजाता, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह सब उस परमात्मा के गुण कथन कियेगये हैं वह सर्वरूप नहीं ।

सं०–अब उक्त परमात्मा की सूक्ष्मता कथन करते हैं:—

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा। एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ ३ ॥

पद०–एषः। मे। आत्मा। अन्तर्हृदये। अणीयान्। व्रीहेः। वा। यवात्। वा। सर्षपात्। वा। श्यामाकात्। वा। श्यामाकतण्डुलात्। वा। एषः। मे। आत्मा। अन्तर्हृदये। ज्यायान्। पृथिव्याः। ज्यायान्। अन्तरिक्षात्। ज्यायान्। दिवः। ज्यायान्। एभ्यः। लोकेभ्यः।

पदा०–(एषः) उक्त गुणों वाला (आत्मा) परमात्मा (मे) मेरे (अन्तर्हृदये) हृदय के मध्य में (अणीयान्) अति सूक्ष्म है (व्रीहेः) धानों से (वा) और (यवात्) यवों से (वा) और (सर्षपात्) सरसों से (वा) और (श्यामाकतण्डुलात्) चावलों से भी अतिसूक्ष्म है (एषः) यह (आत्मा) परमात्मा (मे) मेरे (अन्तर्हृदये) हृदय के मध्य (ज्यायान्, पृथिव्याः) पृथिवी से (ज्यायान्, अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (ज्यायान्, दिवः) द्युलोक से और अन्य (ज्यायान्, एभ्यः, लोकेभ्यः) सब लोकों से बड़ा है।

भाष्य–परमात्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म होने के कारण सरसों से भी सूक्ष्म और सर्वव्यापक होने के अभिप्राय से पृथिवी

आदिकों से भी बड़ा कथन किया गया है, इसलिये परस्पर विरोध नहीं।

सं०–अब उक्त परमात्मा के "सर्वकर्मा" आदि गुण वर्णन करते हुए उसकी प्राप्ति कथन करते हैं:—

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वरसः सर्वगन्धः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माऽऽह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥

पद०–सर्वकर्मा । सर्वकामः । सर्वरसः । सर्वगन्धः । सर्वं । इदं । अभ्यात्तः । अवाकी । अनादरः । एषः । मे । आत्मा । अन्तर्हृदये । एतत् । ब्रह्म । एतं । इतः । प्रेत्य । अभिसम्भवितास्मि । इति । यस्य । स्यात् । अद्धा । न । विचिकित्सा । अस्ति । इति । ह । स्म । आह । शाण्डिल्यः । शाण्डिल्यः ।

पदा०–(सर्वकर्मा) सर्वकर्मों वाला (सर्वकामः) सबकामनाओं वाला (सर्वगन्धः) सब गन्धों वाला (सर्वरसः) सब रसों वाला (सर्वं, इदं, अभ्यात्तः) यह सब जगत उससे व्याप्त है (अवाकी) वाणीरहित (अनादरः) पक्षपात शून्य (एषः) यह (आत्मा) परमात्मा (मे) मेरे (अन्तर्हृदये) हृदय के अन्दर है (एतत्, ब्रह्म) यही ब्रह्म है (एतं) इसी

(इतः) यहां से (प्रेत्य) मरकर (अभिसम्भवितास्मि) प्राप्त होऊं (इति) यह मेरी प्रार्थना है (यस्य, स्यात्, श्रद्धा) जिसका ऐसा विश्वास हो और (न, विचिकित्सा, अस्ति) जिसको कोई सन्देह न हो वह उसको प्राप्त होता है (शाण्डिल्यः) शाण्डिल्य ऋषि ने (इति, ह, स्म, आह) यह कथन किया है ।

भाष्य–" शाण्डिल्य " पद दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, शाण्डिल्य ऋषि ने इस श्लोक में यह प्रार्थना की है कि जो परमात्मा सम्पूर्ण संसार का कर्त्ता जीव के हृदय में विराजमान है वही ब्रह्म है उसको मैं मुक्ति अवस्था में प्राप्त होऊं, यही मेरी प्रार्थना है ॥

इति चतुर्दशःखण्डःसमाप्तः

अथ पञ्चदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब परमात्मा का अन्य प्रकार से महत्व वर्णन करते हैं:—

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशोह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं विलᳬ स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्व मिदᳬ श्रितम् ॥ १ ॥

पद०–अन्तरिक्षोदरः । कोशः । भूमिबुध्नः । न । जीर्यति ।

दिशः । हि । अस्य । स्रक्तयः । द्यौः । अस्य । उत्तरं । विलं । सः । एषः । कोशः । वसुधानः । तस्मिन् । विश्वं । इदं । श्रितम् ।

पदा०-(अन्तरिक्षोदरः) अन्तरिक्ष उदर समान (भूमिबुध्नः) भूमि पादस्थानीय (हि) निश्चयकरके (अस्य) इसके (दिशः) दिशायें (स्रक्तयः) कोणे हैं (अस्य) इसका (द्यौः) द्युलोक (उत्तरं) उच्चतर (बिलं) मुख है, ऐसा जो परमात्मरूप (कोशः) कोश (न, जीर्यति) कभी जीर्ण नहीं होता (सः, एषः, कोशः) वह यह कोश (वसुधानः) धनों से पूर्ण है (तस्मिन्) उस कोश के (इदं, विश्वं) यह सम्पूर्ण विश्व (श्रितं) आश्रित है ॥

भाष्य-इस श्लोक में परमात्मरूप कोश का वर्णन किया गया है कि वह कोश कैसा है ? आकाश जिसका उदर समान पृथिवी पाद समान, दिशायें जिसके कोणे हैं, द्युलोक जिसका खुला हुआ मुख है, इत्यादि ऐसा जो परमात्मरूप कोश है वह कभी जीर्ण नहीं होता अर्थात् सदा एकरस रहता है सम्पूर्ण संसार का धन उस कोश के आश्रित है, जो पुरुष उस परमपिता परमात्मा की आज्ञापालन करते हैं वह स्मृद्धि को प्राप्त होते हैं और जो उससे विमुख हैं वह उस कोश से सदा ही वञ्चित रहते हैं ॥

सं०-अब परमात्मपरायण पुरुष के लिये दुःखाभाव कथन करते हैं:-

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूतानामोदीची । तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं

वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदꣳरोदिति। सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मापुत्र रोदꣳरुदम् ॥ २ ॥

पद०-तस्य । प्राची । दिक् । जुहूः । नाम । सहमाना । नाम । दक्षिणा । राज्ञी । नाम । प्रतीची । सुभूता । नाम । उदीची । तासां । वायुः । वत्सः । सः । यः । एतं । एवं । वायुं । दिशां । वत्सं । वेद । न । पुत्ररोदं । रोदिति । सः । अहं । एतं । एवं । वायुं । दिशां । वत्सं । वेद । मा । पुत्ररोदं । रुदम् ।

पदा०-(तस्य) उस कोश की (प्राची, दिक्) पूर्वदिशा (जुहूः, नाम) जुहू नाम वाली है, क्योंकि कर्मकाण्डी लोग इसी दशा में प्रातर्होम करते हैं (दक्षिणा) दक्षिण दिशा (सहमाना, नाम) सहमान नाम वाली है, क्योंकि पापी पुरुष पापकर्मरूपफल को इसी दिशा में सहते हैं (प्रतीची) पश्चिम दिशा (राज्ञी, नाम) राज्ञी नाम वाली है और (उदीची) उत्तर दिशा (सुभूता, नाम) सुभूता नाम वाली है (तासां) उन दिशाओं का (वायुः) वायु (वत्सः) वत्स है (सः) वह पुरुष (यः) जो (दिशां, वत्सं) दिशाओं के वत्स (एतं, वायुं) इस वायु को (एवं) उक्त प्रकार से जानता है वह (पुत्ररोदं) पुत्र के लिये रुदन (न, रोदिति) नहीं रोता है, ऋषि कहते हैं कि (अहं) मैंने (सः) वह (दिशां) दिशाओं के (वत्सं) वत्स (एतं, वायुं) इस वायु को (वेद) जाना है और जो उक्त प्रकार से जानते हैं वह (पुत्ररोदं) पुत्र के लिये रुदन (मा, रुदम्) नहीं करते ।

भाष्य– इस श्लोक में यह वर्णन कियागया है कि जो पुरुष दिशाओं के ज्ञानपूर्वक वायु के गुणों को जानता है अर्थात् जो प्राण, अपान, समानादि वायुओं के निरोधपूर्वक प्राणायाम की विधि का पूर्ण प्रकार से ज्ञाता है वह बड़ा बलवान्, तेजस्वी और पूर्ण वायु का भोगने वाला होता है, और ऐसे पुरुष की सन्तान चिरकाल तक जीवित रहती है अर्थात् पूर्ण आयु को प्राप्त होती है उसके सन्मुख मृत्यु को प्राप्त होकर रुलाने वाली नहीं होती, कोई ऋषि कहते हैं कि मुझे वायु सम्बन्धी गुणों को भलेप्रकार जानकर अनुष्ठान करने से ऐसा ही लाभ हुआ अन्य भी जो वायु के गुणों को जानेंगे उनको ऐसा ही लाभ होगा अर्थात् वह और उनकी सन्तति पूर्ण आयु को प्राप्त होंगे, और वायु को दिशाओं का वत्स इसलिये कथन किया गया है कि जिसप्रकार वत्स अपनी माता के गोद में आश्रय लेता है एवं वायु भी दिशाओं का आश्रय लेकर स्वच्छन्द होकर विचारता है।

सं०–अब उस अक्षय कोश की प्राप्ति के साधन कथन करते हैं:—

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना॥ ३॥

पद०–अरिष्टं। कोशं। प्रपद्ये। अमुना। अमुना। अमुना। प्राणं। प्रपद्ये। अमुना। अमुना। अमुना। भूः। प्रपद्ये। अमुना।

अमुना । अमुना । भुवः । प्रपद्ये । अमुना । अमुना । अमुना । स्वः । प्रपद्ये । अमुना । अमुना । अमुना ।

पदा०-(अमुना, अमुना, अमुना) मैं पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रादि साधनों से (अरिष्टं, कोशं, प्रपद्ये) अक्षय कोश को प्राप्त होऊं (अमुना, अमुना, अमुना,) मैं पुत्रादिकों से (प्राणं, प्रपद्ये) प्राण, को प्राप्त होऊं (अमुना, अमुना, अमुना,) मैं पुत्रादि साधनों से (भूः, प्रपद्ये) "भूः" को प्राप्त होऊं (अमुना, अमुना, अमुना) मैं पुत्रादि साधनों से (भुवः, प्रपद्ये) "भुवः" को प्राप्त होऊं (अमुना, अमुना, अमुना) मैं पुत्रादि साधनों से (स्वः, प्रपद्ये) "स्वः" को प्राप्त होऊं ।

सं०-अब प्राणादि उक्त चारो पदों के अर्थ कथन करते हैं:—

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किञ्च तमेव तत्प्रापत्सि ॥४॥

पद०-सः । यत् । अवोचं । प्राणं । प्रपद्ये । इति । प्राणः । वै । इदं । सर्वं । भूतं । यत् । इदं । किंच । तं । एव । तत् । प्रापत्सि ।

पदा०-(प्राणं, प्रपद्ये) प्राण को प्राप्त होता है (इति) यह (यत्) जो पूर्व में (अवोचं) कथन किया था (सः) वह यह था (इदं, सर्वं, भूतं) यह सब प्राणी (यत्, इदं, किंच) जो कुछ यह दृष्टिगत होता है (प्राणः, वै) वह सब प्राण ही है (तं, एव)उसी को (प्रापत्सि) प्राप्त होऊं (तत्) यह प्राण का अर्थ जानना चाहिये ।

सं०-अब "भूः" का अर्थ कथन करते हैं:—

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्ये इत्येव तदवोचम् ॥ ५ ॥

पद०—अथ । यत् । अवोचं । भूः। प्रपद्ये । इति । पृथिवीं । प्रपद्ये । अन्तरिक्षं । प्रपद्ये । दिवं । प्रपद्ये । इति । एव । तत् । अवोचम् ।

पदा०—(अथ) प्राण के अनन्तर (भूः, प्रपद्ये) भूः को प्राप्त होऊं (इति) ऐसा (यत्, अवोचं) कथन किया था (पृथिवीं, प्रपद्ये) पृथिवी को प्राप्त होऊं (अन्तरिक्षं, प्रपद्ये) अन्तरिक्ष को प्राप्त होऊं (दिवं, प्रपद्ये) द्युलोक को प्राप्त होऊं (इति, एवं, तत्, अवोचं) यह "भूः" का अर्थ समझना चाहिये ।

सं०—अब "भुवः" का अर्थ कथन करते हैं:—

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुंप्रपद्यआदित्यंप्रपद्यइत्येवतदवोचम्॥६॥

पद०—अथ । यत् । अवोचं । भुवः । प्रपद्ये । इति । अग्निं । प्रपद्ये । वायुं । प्रपद्ये । आदित्यं । प्रपद्ये । इति । एव । तत् । अवोचम् ।

पदा०—(अथ) "भूः" के अनन्तर (भुवः, प्रपद्ये) "भुवः" को प्राप्त होऊं (इति) यह (यत्, अवोचं) जो कथन किया था उसका अर्थ यह है कि (अग्निं, प्रपद्ये) अग्नि को प्राप्त होऊं (वायुं, प्रपद्ये) वायु को प्राप्त होऊं

(आदित्यं, प्रपद्ये) आदित्य को प्राप्त होऊं (इति, एव, तत्, अवोचम्) यह "भुवः" का अर्थ जानना चाहिये।

सं०—अब "स्वः" का अर्थ कथन करते हैं:—

अथ यदवोचꣳस्वःप्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम् ॥ ७ ॥

पद०—अथ। यत्। अवोचं। स्वः। प्रपद्ये। इति। ऋग्वेदं। प्रपद्ये। यजुर्वेदं। प्रपद्ये। सामवेदं। प्रपद्ये। इति। एव। तत्। अवोचं। तत्। अवोचम्॥

पदा०—(अथ) अब (स्वः, प्रपद्ये) "स्वः" को प्राप्त होऊं (इति) यह (यत्) जो (अवोचं) कथन किया था उसका अर्थ यह है कि (ऋग्वेदं, प्रपद्ये) ऋग्वेद को प्राप्त होऊं (यजुर्वेदं,प्रपद्ये) यजुर्वेद को प्राप्त होऊं (सामवेदं,प्रपद्ये) सामवेद को प्राप्त होऊं (इति, एव, तत्, अवोचम्) यह "स्वः" का अर्थ जानना चाहिये।

भाष्य—"तदवोचम्" पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, इस खण्ड में परमात्मा को "कोश" इस अभिप्राय से वर्णन किया है कि वही इस चराचर ब्रह्माण्ड के पदार्थों का कोशवत् आच्छादक है तथा उसी के आश्रित यह सम्पूर्ण विश्व है और उस परमात्मा को प्राणरूप इस अभिप्राय से कथन किया है कि वह सब को प्राणनशक्ति देनेवाला है, उसकी कृपा से मैं पृथिवी, अन्तरिक्षादि सब लोकों में मुक्ति अवस्था को प्राप्त होकर भ्रमण करूं तथा इस लोक में

ऋग्, यजु, साम=कर्म, उपासना तथा ज्ञान इस काण्ड त्रयात्मक वेद का ज्ञाता बनूं, तीन वेदों का नाम यहां तीन प्रकार की विद्या के अभिप्राय से आया है, इसलिये वेदों के तीन होने की आशङ्का यहां नहीं करनी चाहिये, क्योंकि इसी प्रपाठक के प्रथम खण्ड में चारो वेदों का नाम स्पष्ट रीति से आया है अन्य सब अर्थ स्पष्ट हैं।

इति पञ्चदशःखण्डः समाप्तः

अथ षोडशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब प्रथम, मध्यम तथा उत्तम तीनों प्रकार के ब्रह्मचर्य को यज्ञरूप कथन करते हुए प्रथम प्रातःसवन का वर्णन करते हैं:—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विꣳशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

पद०—पुरुषः। वाव। यज्ञः। तस्य। यानि। चतुर्विंशतिः। वर्षाणि। तत्। प्रातः। सवनं। चतुर्विंशत्यक्षरा। गायत्री। गायत्रं। प्रातः। सवनं। तत्। अस्य। वसवः। अन्वायत्ताः। प्राणाः। वाव। वसवः। एते। हि। इदं। सर्वं। वासयन्ति।

पदा०-(वाव) निश्चय करके (पुरुषः) पुरुष (यज्ञः) यज्ञ है (तस्य) उस यज्ञ के (यानि) जो (चतुर्विंशति, वर्षाणि) चौबीस वर्ष हैं (तत्, प्रातः, सवनं) वह इस यज्ञ का प्रातःसवन है (चतुर्विंशत्यक्षरा, गायत्री) चौबीस अक्षरों वाली जो गायत्री है (गायत्रं, प्रातः, सवनं) वह गायत्र नामक प्रातःसवन है (तत्, अस्य, वसवः) उस इस ब्रह्मचारी के वसु (अन्वायत्ताः) अधीन होते हैं (वाव) निश्चयकरके (प्राणाः, वसवः) प्राण ही वसु हैं क्योंकि (एते, हि, इदं, सर्वं, वासयन्ति) यह ही सब इन्द्रिय संघात को वसाते हैं।

भाष्य-इस खण्ड में ब्रह्मचर्य्य के तीन भेद वर्णन किये गये हैं, प्रथम ब्रह्मचर्य्य चौवीस वर्ष का होता है, क्योंकि उसमें गुरु से गायत्री मंत्र लिया जाता है और वह चौवीस अक्षरों का होने से इस ब्रह्मचर्य्य को चौवीस वर्ष का नियत कियागया है, इस ब्रह्मचर्य्य का फल यह है कि वसु=सब इन्द्रियों को निवास देनेवाले प्राण इस ब्रह्मचारी के अधीन होते हैं और प्राणों को वसु इस अभिप्राय से कथन कियागया है कि जबतक प्राण शरीर में रहते हैं तभीतक इन्द्रिय स्थिर रहते हैं और जब शरीर से प्राण पृथक् होजाते हैं तो इन्द्रिय भी छोड़जाते और उनके गोलक रहजाते हैं, अतएव प्राणों का नाम वसु है, और इस ब्रह्मचारी की वसु संज्ञा इसलिये है कि वह भी प्राणों के समान इन्द्रियों का स्वामी होकर उनको स्वाधीन रखता है।

सं०-अब उक्त ब्रह्मचारी की दृढ़ता कथन करते हैं:—

तञ्चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं मा-

ध्यन्दिनꣳसवनमनुसन्तनुतेति माऽहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ २ ॥

पद०-तं । चेत् । एतस्मिन् । वयसि । किञ्चत् । उपतपेत् । सः । ब्रूयात् । प्राणाः । वसवः । इदं । मे । प्रातःसवनं । माध्यन्दिनं । सवनं । अनुसन्तनुत । इति । मा । अहं । प्राणानां । वसूनां । मध्ये । यज्ञः । विलोप्सीय । इति । उत् । ह । एव । ततः । एति । अगदः । ह । भवति ।

पदा०-(एतस्मिन्, वयसि) इस चौवीस वर्ष की आयु में (तं) प्रथम ब्रह्मचर्य्य करते हुए ब्रह्मचारी से (चेत्) यदि कोई (किंच) कुछ कहे तो (सः) वह ब्रह्मचारी (ब्रूयात्) उसको उत्तर देवे कि (प्राणाः,वसवः)प्राण वसु हैं, हे प्राणप्रियमित्रो! (इदं, मे,प्रातः,सवनं) यह मेरा प्रथम प्रातःसवन समान ब्रह्मचर्य्य काल है आप लोग विघ्न न करें प्रत्युत ऐसा यत्न करें कि मेरा (मध्यन्दिनं, सवनं) मध्यन्दिन सवन (अनुसंतनुत) भले प्रकार पूर्ण हो (प्राणानां, वसूनां) जिन प्राणोंकी वसु संज्ञा है,आप मित्रों वा पितरों के (मध्ये) मध्य जो (अहं)मैं (यज्ञः) यज्ञरूप हूं सो मैं (विलोप्सीय, माः) विलुप्त न होजाऊं (ह) निश्चयकरके (ततः) उक्त कथन से (उत् ,एति) वह सर्वत्र उदय होता और (अगदः, ह, भवति) त्रिविध दुःखों से विमुक्त होता है ।

भाष्य-इस श्लोक में उक्त ब्रह्मचारी की इस प्रकार दृढ़ता वर्णन कीगई है कि चौबीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य का अनुष्ठान करने वाले ब्रह्मचारी से यदि कोई मित्र वा बान्धव तथा माता

पिता आदि इस प्रथम ब्रह्मचर्य्य के अनुष्ठान की सिद्धि में कुछ बाधा डालें तो वह ब्रह्मचारी उनको यह उत्तर देवे कि हे प्राणप्रिय मित्रो वा बान्धवादि पितरो ! यह मेरा प्रातःसवन समान ब्रह्म चर्य्यकाल है और मैं इस समय इसका अनुष्ठान कररहा हूं कृपाकर के आप लोग मेरे इस ब्रह्मचर्य्यरूप तप में विघ्न न करें प्रत्युत मेरे लिये माध्यन्दिनसवन समान ब्रह्मचर्य्य को प्राप्त कराने के लिये यत्नवान् हों, यह मेरी आप लोगों से प्रार्थना है, हे प्रिय बान्धवो ! मैं सत्करणीय यज्ञ हूं, आप ऐसी चेष्टा न करें जिससे मैं विलुप्त होजाऊं किन्तु ऐसा यत्न करें जिससे मैं सूर्य्य की तरह प्रकाशित होऊं, मैं इस प्रातःसवन का कदापि त्याग न करूंगा, और यह उत्तम जनों का लक्षण भी है कि अनेक विघ्नहोने पर भी वह आरब्ध कार्य्य का त्याग नहीं करते, अतएव आप लोग मुझको सन्तप्त न करें, इस प्रकार दृढ़ता से वह ब्रह्मचारी सर्वत्र उदय होता और त्रिविध दुःखों से विनिर्मुक्त होकर परमपद को प्राप्त होता है ॥

सं०—अब माध्यन्दिन सवन का कथन करते हैं:—

अथ यानि चतुश्चत्वारिँशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनँ सवनं चतुश्चत्वारिँशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनँ सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदँ सर्वँ रोदयन्ति ।३।

पद०—अथ । यानि । चतुश्चत्वारिंशत् । वर्षाणि । तत् । माध्यन्दिनं । सवनं । चतुश्चत्वारिंशदक्षरा । त्रिष्टुप् । त्रैष्टुभं ।

माध्यन्दिनं । सवनं । तत् । अस्य । रुद्राः। अन्वायत्ताः । प्राणाः । वाव । रुद्राः । एते । हि । इदं । सर्वं । रोदयन्ति ।

पदा०-(अथ) अत्र (यानि) जो (चतुश्चत्वारिंशत्, वर्षाणि) ४४ वर्ष का ब्रह्मचर्य (तत्,माध्यन्दिनं,सवनं) वह माध्यन्दिन सवन है (चतुश्चत्वारिंशदक्षरा, त्रिष्टुप्) ४४ अक्षर का त्रिष्टुप् छन्द होता है और (त्रैष्टुभं, माध्यन्दिनं, सवनं) त्रिष्टुप् छन्द के समान ही माध्यन्दिन सवन है (अस्य, तत्) यह यज्ञरूप माध्यन्दिन सवन (रुद्राः, अन्वायत्ताः) रुद्ररूप देवता से सम्बन्ध रखता है (वाव) निश्चयकरके (प्राणाः, रुद्राः) प्राण ही रुद्र हैं (हि) क्योंकि (एते) यही (इदं,सर्वं) इन सब प्राणियों को (रोदयन्ति) रुलाते हैं।

भाष्य-प्रथम श्लोक में प्रातःसवन का वर्णन करके इस श्लोक में माध्यन्दिन सवन का कथन किया है, ४४ वर्ष का माध्यन्दिन सवन होता है अर्थात् जो ब्रह्मचारी आचार्य्यकुल में ४४ वर्ष पर्य्यन्त वेदाध्ययन करता हुआ अपनी आयु को व्यतीत करता है वह माध्यन्दिनसवन=मध्यम ब्रह्मचार्य्य है, और माध्यन्दिन के समान ही त्रिष्टुप् छन्द है, क्योंकि यह छन्द भी ४४ अक्षर का होता है, इस सवन में प्रायः इसी छन्द का प्रयोग किया जाता है और इस सवन का देवता रुद्र है, या यों कहो कि इस ब्रह्मचारी की "रुद्र" संज्ञा है, जो इन्द्रिय के उत्क्रमण काल में सब प्राणियों को रुलावे उसका नाम "रुद्र" है ॥

सं०-अब उक्त ब्रह्मचारी की दृढ़ता कथन करते हैं :—

तञ्चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात्प्राणारुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेतिमाऽहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति।४

पद०—तं । चेत् । एतस्मिन् । वयसि । किञ्चित् । उपतपेत् । सः । ब्रूयात् । प्राणाः । रुद्राः । इदं । मे । माध्यन्दिनं । सवनं । तृतीयसवनं । अनुसन्तनुत । इति । मा । अहं । प्राणानां । रुद्राणां । मध्ये । यज्ञः । विलोप्सीय । इति । उत् । ह । एव । ततः । एति । अगदः । ह । भवति ।

पदा०—(एतस्मिन्, वयसि) इस ४४ वर्ष की आयु में (तं) यह मध्यम ब्रह्मचर्य्य करते हुए इस ब्रह्मचारी से (चेत्) यदि कोई (किंचित्) कुछ कहे वा (उपतपेत्) दुःख पहुंचावे तो (सः) वह ब्रह्मचारी उसके प्रति (ब्रूयात्) यह कथन करे कि (प्राणाः, रुद्राः) प्राण रुद्र हैं (मे) मेरा (इदं) यह (माध्यन्दिनं, सवनं) माध्यन्दिनसवन=मध्यम ब्रह्मचर्य्यकाल है, आप मेरे ब्रह्मचर्य्य में विघ्न न करें प्रत्युत् (तृतीयसवनं) तृतीयसवन को (अनुसन्तनुत) प्राप्त करायें (प्राणानां, रुद्राणां, मध्ये) आप प्राणप्रिय मित्रों वा रुद्र रूप धारी पितरों के मध्य (यज्ञः) इस ब्रह्मचर्य्यरूप यज्ञ के अनुष्ठान से प्रतिष्ठा को प्राप्त (अहं) मुझको (विलोप्सीय, मा) विलुप्त मत करो (ह) निश्चय करके (ततः) इस कथन से वह

(उद्, एति,) सर्वत्र उदय होकर (अगदः, इति) त्रिविध दुःखों से विमुक्त (भवति) होता है।

भाष्य—इस ४४ वर्ष की आयु का ब्रह्मचर्य्य करते हुए इस माध्यन्दिनसवन वाले ब्रह्मचारी से यदि कोई कहे कि तु ब्रह्मचर्य्य छोड़दे अब तुझको पठन पाठन की आवश्यकता नहीं वा इसको कोई दुःख पहुंचावे तो वह ब्रह्मचारी उसको इस प्रकार कथन करे कि हे मेरे प्राणप्रिय मित्रो वा हे रुद्ररूपधारी पितरो ! मैं आपके मध्य इस ब्रह्मचर्य्यरूप यज्ञ के अनुष्ठान से प्रतिष्ठा को प्राप्त मेरा नाश न करें प्रत्युत यह प्रयत्न करें कि मैं तृतीय सवन को प्राप्त होऊं, इस प्रकार उत्तर देने से वह ब्रह्मचारी सर्वत्र उदय होता और त्रिविध दुःखों से छूट जाता है।

सं०—अब तृतीयसवन कथन करते हैं:—

अथ यान्यष्टाचत्वारिँ शद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिँ शदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताःप्राणा वावाऽऽदित्या एते हीद मर्वमाददते ॥ ५ ॥

पद०—अथ । यानि । अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि । तत् । तृतीयसवनं । अष्टाचत्वारिंशदक्षरा । जगती । जागतं । तृतीयसवनं । तत् । अस्य । आदित्याः । अन्वायत्ताः । प्राणाः । वाव । आदित्याः। एते । हि । इदं । सर्वं । आददते ।

पदा०-(अथ) अब (यानि) जो (अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि) ४८वर्ष का ब्रह्मचर्य्य है (तत्,तृतीयसवनं) वह तृतीयसवन है (जागतं, तृतीयसवनं) तृतीय सवन जगती छन्दान्वित होता है क्योंकि (जगती) जगतछिन्द (अष्टाचत्वारिंशदक्षरा)४८अक्षरों का होता है (अस्य)इस ब्रह्मचारी के (तत्) उस सवन में (आदित्याः, अन्वायत्ताः) आदित्य का सम्बन्ध है (प्राणाः, वाव, आदित्याः) प्राण ही आदित्य हैं (हि) क्योंकि (एते) यह प्राण (इदं, सर्वं) इस सब को (आददते) धारण किये हुए हैं ॥

भाष्य-प्रातःसवन और माध्यन्दिनसवन का वर्णन करने के अनन्तर क्रमप्राप्त इस श्लोक में तृतीयसवन का कथन किया गया है अर्थात् ४८ वर्ष आचार्य्यकुल में निवास करते हुए ब्रह्मचर्य्यपूर्वक जो वेदों का अध्ययन रूप तप है उसका नाम "तृतीयसवन" है, यह तृतीयसवन जगतीछन्दान्वित है, या यों कहो कि इसमें प्रायः जगती छन्दों का प्रयोग किया जाता है, इस यज्ञ रूप ब्रह्मचारी की आदित्य संज्ञा होती है अर्थात् जिसने अपने प्राण नाम इन्द्रियों को भले प्रकार वशीभूत करलिया है उसका नाम " आदित्य " है, इस ब्रह्मचर्य्य रूप आध्यात्मिक अनुष्ठान से ब्रह्मचारी सब सूक्ष्मसे सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करलेता है और ब्रह्मचर्य्यरूप तप से सूर्य्य की तरह चमकता है ।

सं०-अब उक्त ब्रह्मचारी की दृढ़ता कथन करते हैं:—

तञ्चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायु-

रनुसन्तनुतेति माऽहं प्राणानामादित्यानां-मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्य-गदो हैव भवति ॥ ६ ॥

पद०–तं । चेत् । एतस्मिन् । वयसि । किञ्चित् । उपतपेत् । सः । ब्रूयात् । प्राणाः । आदित्याः । इदं । मे । तृतीयसवनं । आयुः। अनुसन्तनुत। इति । मा । अहं । प्राणानां । आदित्यानां । मध्ये । यज्ञः । विलोप्सीय । इति । उत् । ह । एव । ततः । एति । अगदः । ह । एव । भवति ।

पदा०–(एतस्मिन्, वयसि) इस ४८ वर्ष की आयु में (तं) उत्तम ब्रह्मचर्य करते हुए इस ब्रह्मचारी से (चेत्) यदि कोई (किंचित्) कुछ कहे वा (उपतपेत्) दुःख पहुंचावे तो तो (सः) वह ब्रह्मचारी (ब्रूयात्) इस प्रकार कथन करे कि (प्राणाः,आदित्याः) प्राण आदित्य हैं, हे प्राणप्रिय मित्रो तथा विज्ञानी पितरो (इदं,मे,तृतीयसवनं) यह मेरा तृतीयसवन है, आप लोग मेरे लिये (आयुः, अनुसंतनुत) आयु की वृद्धि का प्रयत्न करें (इति) ऐसा कथन करे (प्राणानां, आदित्यानां, मध्ये) प्राणप्रिय मित्रो तथा विज्ञानी पितरों के मध्य (अहं) मैं (यज्ञः) यज्ञ हूं मुझको (विलोप्सीय) विलुप्त (मा) मत करो (ततः, इति) इस प्रकार कथन करने वाला ब्रह्मचारी (ह, उत, एति) प्रसिद्ध होकर उदय को प्राप्त होता और (अगदः, ह, एव, भवति) निश्चय करके वह सदा ही नीरोग रहता है ।

सं०–अब उक्त ब्रह्मचर्य का फल कथन करते हैं:—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महीदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

पद०–एतत् । हं । स्म । वै । तत् । विद्वान् । आह । महीदास । ऐतरेयः । सः । किं । मे । एतत् । उपतपसि । यः । अहं । अनेन । न । प्रेष्यामि । इति । सः । ह । षोडशं । वर्षशतं । अजीवत् । प्र । ह । षोडशं । वर्षशतं । जीवति । यः । एवं । वेद ।

पदा०–(ऐतरेयः) ऐतरेय ऋषि के (ह) प्रसिद्ध पुत्र (महीदासः) महीदास (तत्, एतत्) उस इस यज्ञ विज्ञान को (विद्वान्) जानकर (आह,स्म) यह कथन करते थे कि (सः) वह तुम मेरे ब्रह्मचर्य्य को न जानते हुए (किं) क्यों (एतत्) इसप्रकार (उपतपति) तपाते हो (यः) जो (अहं) मैं (अनेन) इस तेरे उपताप से (न, प्रेष्यामि) नहीं मरूंगा, क्योंकि मैंने पूर्ण ब्रह्मचर्य्यरूप तप किया है (सः, ह) वह प्रसिद्ध दृढ़व्रती महीदास (षोडशं, वर्षशतं) एकसौसोलह वर्ष (अजीवत्) जीवित रहे, (यः, एवं, वेद) जो उक्त प्रकार से जानता है वह भी (षोडशं, वर्षशतं) एकसौ सोलह वर्ष (प्र, जीवति, ह) निश्चयपूर्वक जीता है ।

भाष्य–इस श्लोक में महर्षि महीदास की आख्यायिका द्वारा उक्त ब्रह्मचर्य व्रत को दृढ़ किया है अर्थात् ऐतरेयादि

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रसिद्ध महीदास नामक ऋषि इस ब्रह्मचर्य्य-रूप विज्ञान को जानते हुए अपने को तपाने वाले शत्रु वा अन्य विघ्नकारी मनुष्यों से कहा करते थे कि तुम लोग मेरे ब्रह्मचर्य्य को न जानते हुए मुझको क्यों दुःख दे रहे हो तुम्हारा दुःख देना मेरे लिये कोई विघ्नकारी नहीं होसकता, क्योंकि मैंने पूर्ण ब्रह्मचर्य्य पालन किया है, इस प्रकार दृढ़व्रती महीदास ११६ वर्ष तक जीवित रहे और जो कोई इसी प्रकार व्रत धारण करेगा वह भी इतनी ही आयु को प्राप्त होगा अर्थात् जो ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण करता है वह नीरोग रहकर पूर्ण आयु भोगता है ॥

इति षोडशःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब ब्रह्मचारी के दीक्षादि व्रत कथन करते हैं:—

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षा ॥ १ ॥

पद०—सः । यत् । अशिशिषति । यत् । पिपासति । यत् । न । रमते । ताः । अस्य । दीक्षा ।

पदा०—(सः) वह ब्रह्मचारी (यत्, अशिशिषति) जो खाता है (यत्, पिपासति) जो पीता है (यत्, न, रमते) जो उनमें आसक्त नहीं होता (अस्य) इस ब्रह्मचारी की (ताः,दीक्षाः) वही दीक्षायें हैं।

भाष्य–ब्रह्मचर्य्याश्रमरूप यज्ञ के दीक्षादि व्रत यह हैं कि जो ब्रह्मचारी खानपानादि व्यवहार करता है उसका उनमें लिप्त न होना ही " दीक्षा " है अर्थात् जीवन यात्रा के निर्वाहार्थ जो कुछ मिलजाये उसीको खा पी कर सन्तुष्ट रहना दीक्षायें हैं ॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥ २ ॥

पद०–अथ । यत् ।अश्नाति । यत् । पिबति । यत् । रमते । तत् । उपसदैः । एति ।

पदा०–(अथ) और ब्रह्मचारी (यत्, अश्नाति) जो खाता है (यत्, पिबति) जो पीता है (यत्, रमते) जो उनमें आसक्त होजाता है (तत्) वह (उपसदः, एति) उपसदों के समान है ॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरतिस्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥ ३ ॥

पद०–अथ । यत् । हसति । यत् । जक्षति । यत् । मैथुनं । चरति । स्तुतशस्त्रैः । एव । तत् । एतिं ।

पदा०–(अथ) और वह ब्रह्मचारी (यत्, हसति) जो हंसता है (यत्, जक्षति) जो गमन करता है (यत्, मैथुनं, चरति) जो संयोग करता है (तत्) वह (एव) निश्चय करके (स्तुतशस्त्रैः, एति) स्तोत्र शस्त्र की समता को प्राप्त होता है ॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसासत्य-वचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥ ४ ॥

पद०-अथ । यत् । तपः । दानं । आर्जवं । अहिंसा । सत्यवचनं । इति । ताः । अस्य । दक्षिणाः ।

पदा०-(अथ) और वह ब्रह्मचारी (यत्) जो (तपः) तप=तितिक्षा (दानं) दान (आर्जवं) सरलता (अहिंसा) किसी प्राणी को न सताना (सत्यवचनं) सत्यभाषण (इति) यह सब करता है (ताः) वह (अस्य) इसकी (दक्षिणाः) दक्षिणा है ॥

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथः ॥५॥

पद०-तस्मात् । आहुः । सोष्यति । असोष्ट । इति । पुनः । उत्पादनं । एव । अस्य । तत् । मरणं । एव । अस्य । अवभृथः ।

पदा०-(तस्मात्) जिस कारण (आहुः) कथन करते हैं कि (सोष्यति) सुब्रह्मचारी उत्पन्न होगा (असोष्ट) उत्पन्न हो चुका है (इति) इस प्रकार (अस्य) उनका (पुनः, उत्पादनं) पुनर्जन्म होना (एव) ही "सोष्यति" तथा "असोष्ट" के समान और (अस्य) उसका (तत्, मरणं, एव) ब्रह्मचर्य्य व्रत करते हुए मरण ही (अवभृथः) "अवभृथ" याग के समान है।

भाष्य-प्रथम श्लोक में जो ब्रह्मचारी के लिये दीक्षायें कथन कीगई हैं उनसे विरुद्ध जो ब्रह्मचारी खानपान में आसक्त होजाता है वह उस पद से गिरकर उपसद=ऋत्विजों की समता को प्राप्त होता है, और जो ब्रह्मचारी हंसता है, गमन करता है, मिथुन करता है, वह स्तुत तथा शस्त्र* की समता को प्राप्त होता है।

---

* सामवेद के गानकरने वाले जिन ऋचाओं को गाते हैं उनका नाम "स्तुत" तथा उसी को "स्तोत्र" कहते हैं, और जो ऋचायें यज्ञ में पढ़ी जाती हैं उनका नाम "शस्त्र" है ॥

और जो ब्रह्मचारी तप=तितिक्षा, दान=विद्यादि का दान, आर्जवं=सरलता, अहिंसा, सत्यभाषणादि व्यवहार करता है वह दक्षिणा है अर्थात् दीक्षा, उपसद्, स्तुत, शस्त्र और दक्षिणा यह सब यज्ञ के अङ्ग हैं, और ब्रह्मचर्य्य भी एक यज्ञ है सो यह सब ब्रह्मचारी में घटाये हैं कि अमुक २ कर्मों वाला अमुक २ पद को प्राप्त होता है, जहां यज्ञ में प्रत्येक ऋत्विक् के कार्य्य विभक्त किये हैं उनमें एक सोमरस बनाने वाला भी होता है, सु-धातु अनेकार्थवाची है परन्तु यहां प्रकरणवशात् दो ही अर्थों में प्रयुक्त होती है अर्थात् सोष्यति=सोमरस बनावेगा अथवा यह माता सुब्रह्मचारी उत्पन्न करेगी वा असोष्ट=यह माता ब्रह्मचारी उत्पन्न करचुकी है, वास्तव में बात यह है कि ब्रह्मचारी का पुनर्जन्म ही यज्ञ के "**सोष्यति**" और "**असोष्ट**" के समान है, यहां केवल शब्द की समानता है अर्थ की नहीं, और ब्रह्मचर्य्य व्रत करते हुए इस ब्रह्मचारी का मरण ही "**अवभृथ**" याग के समान है अर्थात् यज्ञ के पश्चात्=समाप्ति पर उक्त याग किया जाता है, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन "**मीमांसार्य्यभाष्य**" में कियागया है और उक्त शस्त्र आदि सबका वहां भले प्रकार विचार किया है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं ॥

सं०-अब मरणकाल में ब्रह्मचारी के लिये सदुपदेश कथन करते हैं :—

तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत् त्रयं प्रति-

पद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः।६।

पद०–तत् । ह । एतत् । घोरः । आङ्गिरसः । कृष्णाय । देवकीपुत्राय । उक्त्वा । उवाच । अपिपासः । एव । सः । बभूव । सः । अन्तवेलायां । एतत् । त्रयं । प्रतिपद्येत । अक्षितं । असि । अच्युतं । असि । प्राणसंशितं । । असि । इति । तत्र । एते । द्वे । ऋचौ । भवतः ।

पदा०–(ह) प्रसिद्ध (आङ्गिरसः) अङ्गिरा ऋषि के पुत्र (घोरः) घोर नामा ऋषि (देवकीपुत्राय, कृष्णाय) देवकी के पुत्र कृष्ण से (उक्त्वा) अध्ययन काल में (उवाच) बोले कि हे कृष्ण ! (सः) वह ब्रह्मचारी (अन्तवेलायां) मरणकाल में (एतत्, त्रयं) इन तीन पदों को (प्रतिपद्येत) उच्चारण करे (अक्षितं, असि) हे परमात्मन् ! आप अविनाशी हैं (अच्युतं, असि) आप सदा एकरस रहने वाले हैं (प्राणसंशितं, असि) आप सबके प्राणप्रद तथा अतिसूक्ष्म हैं (इति) यह उपदेश किया (तत्, एतत्) वह यह उपदेश सुन (सः) वह कृष्ण (अपिपासः, एव) अन्य के प्रति तृष्णा रहित (बभूव) होगये (तत्र) उक्त विषय में (एते, द्वे) यह दो (ऋचौ, भवतः) मंत्र हैं।

भाष्य–अङ्गिरा गोत्रोत्पन्न घोर नामा ऋषि अध्ययनकाल में अपने शिष्य कृष्ण से बोले कि हे कृष्ण ! ब्रह्मचारी मरण काल में इन तीन पदों को उच्चारण करे कि हे परमात्मन् ! आप "**अविनाशी**" हैं, हे देव ! आप "**एकरसरहनेवाले**" हैं, हे पिता ! आप "**जीवनदाता**" तथा "**अतिसूक्ष्म**"

हैं, कृष्ण इस उपदेश को सुनकर अन्य सबको छोड़ एकमात्र परमात्मपरायण होगये, उक्त विषय में निम्नलिखित दो मन्त्र हैं ॥

१-"आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम् । परोयदिध्यते दिवा ॥

ऋग्० ५ । ८ । १४

२-"उद्वयं तमसस्परिज्योतिः पश्यन्त उत्तरं स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥ ७ ॥

यजु० २० । २१

पद०-आत् । इत् । प्रत्नस्य । रेतसः । ज्योतिः । पश्यन्ति । वासरं । परः । यत् । इध्यते । दिवा । उत् । वयं । तमसः । परि । ज्योतिः। पश्यन्तः । उत्तरं । स्वः । पशन्त । उत्तरं । देवं । देवत्रा । सूर्य्यं । अगन्म । ज्योतिः । उत्तमं । इति । ज्योतिः । उत्तमं । इति ।

पदा०-(प्रत्नस्य) पुरातन नित्य (रेतसः) विश्व का कारण जो ब्रह्म उसकी (वासरं) दिन के समान (ज्योतिः) ज्योति को (आत्, इति) सर्वत्र व्याप्त (पश्यति) देखते हैं, वह ज्योतिः कैसी है ? (यत्) जो (परः) सब से ऊपर (दिवा) दिव्यस्वरूप (इध्यते) वर्तमान (तमसः) अज्ञानरूप अन्धकार से (परि, उत) परे=ऊपर विराजमान है (उत्तरं, ज्योतिः, पश्यन्तः) उसी उत्कृष्ट ज्योति को देखते हुए (स्वः, पश्यन्तः, उत्तरं) उसी एक मात्र ज्योति का ध्यान करते हुए (वयं) हमलोग (उत्तरं, ज्योतिः) उसी उत्कृष्ट ज्योति को (अगन्म) प्राप्त हों (इति) जो (देवं) दिव्यगुणयुक्त और (देवत्रा) सूर्य्यादि देवों की (सूर्य्यं)प्रकाशक है॥

भाष्य-"ज्योतिरुत्तममिति" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता तथा खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, दिव्य-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ! जो इस सारे विश्व का कारण है उसकी दिन के समान ज्योति को सर्वत्र व्याप्त देखते हैं जो दिव्यस्वरूप सबसे ऊपर वर्त्तमान है, जो अज्ञानरूप अन्ध-कार से परे विराजमान है, उसी उत्कृष्ट ज्योति को देखते हुए, उसी एकमात्र ज्योति का ध्यान करते हुए, उसीको प्राप्त हों जो दिव्यगुण युक्त तथा सब दिव्य पदार्थों की प्रकाशक है।

स्मरण रहे कि पूर्व श्लोक में जो यह कथन किया था कि इस विषय में दो मंत्र प्रमाण हैं सो उन दोनो मंत्रों को हमने वेद से पूर्ण उद्धृत करके यहां रख दिये हैं और उनके पते तथा पद पदार्थ भी पूर्णरीति से लिख दिये हैं ताकि उपासक को इन मंत्रों के खोजने में विलम्ब न लगे और दोनों का अर्थ भी पूर्ण प्रकार से समझ में आजाय, हां द्वितीय मंत्र में इतना भेद है कि "ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्" पाठ अधिक है जो ज्ञात होता है कि यह प्रतीक "उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्" ऋग० १।५०।१०इस मंत्र से उद्धृत कीगई है।

इति सप्तदशःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब "अध्यात्म" और "अधिदैवत" उपासन कथन करते हैं:-

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधि-दैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भव-त्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥ १ ॥

पद०—मनः । ब्रह्म । इति । उपासीत । इति । अध्यात्मं । अथ । अधिदैवतं । आकाशः । ब्रह्म । इति । उभयं । आदिष्टं । भवति । अध्यात्मं । च । अधिदैवतं । च ।

पदा०—(मनः) मन (ब्रह्म) सब इन्द्रियों में श्रेष्ठ है (इति, उपासीत) ऐसा जानकर उपासना करने का नाम (इति, अध्यात्मं) अध्यात्मोपासना (अथ) और (आकाशः) आकाश (ब्रह्म) सब भूतों में बड़ा है (इतिं) यह जानकर उपासना करने का नाम अधिदैवतोपासना है (इति) इसप्रकार (अध्यात्मं, च) अध्यात्म (च) और (अधिदैवतं) अधिदैवत (उभयं) दोनों (आदिष्टं, भवति) ऋषियों द्वारा उपदेश कीगई हैं॥

सं०—अब "मन" और "आकाश" के चतुष्पाद वर्णन करते हैं:-

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म, वाक् पादःप्राणः पा-दश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम-थाधिदैवतमग्नि पादो वायुः पाद आदि-

त्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं-भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च॥ २॥

पद०-तत्। एतत्। चतुष्पाद्। ब्रह्म। वाक्। पादः। प्राणः। पादः। चक्षुः। पादः। श्रोत्रं। पादः। इति। अध्यात्मं। अथ। अधिदैवतं। अग्निः। पादः। वायुः। पादः। आदित्यः। पादः। दिशः। पादः। इति। उभयं। एव। आदिष्टं। भवति। अध्यात्मं। च। एव। आधिदैवतं। च।

पदा०-(तत्, एतत्) वह यह (ब्रह्म) वृहत् मन (चतुष्पाद्) चार पाद वाला है (वाक्, पादः) बाणी प्रथम पाद (प्राणः, पादः) प्राण द्वितीय पाद (चक्षुः, पादः) चक्षुः तृतीय पाद (श्रोत्रं, पादः) श्रोत्र चौथा पाद है (इति, अध्यात्मं) यह अध्यात्म वर्णन है (अथ) और (अग्निः, पादः) अग्नि प्रथम पाद (वायुः, पादः) वायु द्वितीय पाद (आदित्यः, पादः) आदित्य तृतीय पाद (दिशः, पादः) दिशा चतुर्थपाद है (इति, अधिदैवतं) यह अधिदैवत वर्णन है (एव) निश्चय करके (अध्यात्मं, च) अध्यात्म (च) और (अधिदैवतं) अधिदैवत (उभयं, एव) यह दोनों ही (उपदिष्टं,भवति) ऋषियों द्वारा उपदेश कियेगये हैं।

सं०-अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥ २॥

पद०—वाक् । एव । ब्रह्मणः । चतुर्थः । पादः । सः । अग्निना । ज्योतिषा । भाति । च । तपति । च । भाति । च । तपति । च । कीर्त्या । यशसा । ब्रह्मवर्चसेन । यः । एवं । वेद ।

पदा०—(ब्रह्मणः) मनरूप ब्रह्म का (वाक्, एव) वाणी ही (चतुर्थः, पादः) चतुर्थ पाद है (सः) वह पाद (अग्निना) अग्निरूप (ज्योतिषा) ज्योति से (भाति, च) प्रदीप्त होता (च) और (तपति) तपता है (यः) जो पुरुष (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता है वह (कीर्त्या) कीर्ति (यशसा) यश (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (भाति, च) जगत् में शोभित होता (च) और (तपति) देदीप्यमान होता है।

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थ पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ४ ॥

पद०—प्राणः । एव । ब्रह्मणः । चतुर्थः । पादः । सः । वायुना । ज्योतिषा । भाति । च । तपति । च । भाति । च । तपति । च । कीर्त्या । यशसा । ब्रह्मवर्चसेन । यः । एवं । वेद ।

पदा०—(ब्रह्मणः) मनरूप ब्रह्म का (प्राणः) घ्राणेन्द्रिय (एव) ही (चतुर्थः,पादः) चतुर्थ पाद है (सः) वह पाद (वायुना, ज्योतिषा) वायुरूप ज्योति से (भाति, च) शोभित (च) और (तपति) देदीप्यमान होता है (यः,

एवं, वेद) जो उक्त प्रकार से जानता है वह (कीर्त्या) कीर्ति (यशसा) यश (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (भाति, च) सुशोभित (च) और (तपति) देदीप्यमान होता है ॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ५ ॥

पद०—चक्षुः । एव । ब्रह्मणः । चतुर्थः । पादः । सः । आदित्येन । ज्योतिषा । भाति । च । तपति । च । भाति । च । तपति । च । कीर्त्या । यशसा । ब्रह्मवर्चसेन । यः । एवं । वेद ।

पदा०—(ब्रह्मणः) मनरूप ब्रह्म का (चक्षुः, एव) चक्षु ही (चतुर्थः, पादः) चतुर्थ पाद है (सः) वह पाद (आदित्येन, ज्योतिषा) आदित्यरूप ज्योति से (भाति, च) भासित होता (च) और (तपति) प्रकाशित होता है (यः, एवं, वेद) जो उक्त प्रकार से जानता है वह (कीर्त्या,यशसा, ब्रह्मवर्चसेन) कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज से (भाति, च, तपति, च) सुशोभित तथा प्रकाशमान होता है ॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद ॥ ६ ॥

पद०—श्रोत्रं । एव । ब्रह्मणः । चतुर्थः । पादः । सः । दिग्भिः । ज्योतिषा । भाति । च । तपति । च । भाति । च । तपति । च । कीर्त्या । यशसा । ब्रह्मवर्चसेन । यः । एवं । वेद । यः । एवं । वेद ।

पदा०—(ब्रह्मणः) मनरूप ब्रह्म का (श्रोत्रं, एव) श्रोत्र ही (चतुर्थः, पादः) चतुर्थपाद है (सः) वह पाद (दिग्भिः) दिशारूप (ज्योतिषा) ज्योति से (भाति, च, तपति, च) शोभायमान और प्रकाशित होता है (यः, एवं, वेद) जो उक्त प्रकार से जानता है वह (कीर्त्या) कीर्ति (यशसा) यश (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (भाति, च, तपति, च) शोभायमान और प्रकाशित होता है।

भाष्य—" य एवंवेद " पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, (शेष सब स्पष्ट है)

इति अष्टादशः खण्डः समाप्तः

अथ एकोनविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब आदित्य का महत्व कथन करते हैं:—

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यान मसदेवेदमग्र आसीत् । तत्सदासीत्तत्स-मभवत् । तदाण्डं निरवर्त्तत । तत्संवत-सरस्य मात्रामशयत । तन्निरभिद्यत, ते

आण्डकपाले रजतश्च सुवर्णश्चाभवताम्॥१॥

पद०—आदित्यः । ब्रह्म । इति । आदेशः । तस्य । उपव्याख्यानं । असत् । एव । इदं । अग्रे । आसीत् । तत् । सत् । आसीत् । तत् । समभवत् । तत् । आण्डं । निरवर्त्तत । तत् । संवत्सरस्य । मात्रां । अशयत । तत् । निरभिद्यत । ते । आण्डकपाले । रजतं । च । सुवर्णं । च । अभवताम् ।

पदा०—(आदित्यः) आदित्य (ब्रह्म) बड़ा है (इति) यह (आदेशः) उपदेश है (तस्य) उसका यह (उपव्याख्यानं) उपव्याख्यान है (अग्रे) सूर्य्य की उत्पत्ति के पूर्व (इदं) यह जगत् (असत्, एव) असत् ही था (तत्) वह (सत्, आसीत्) सत् था (तत्) वह (समभवत्) सब प्रकार से (तत्) तब (आण्डं, निरवर्त्तत) अण्डाकार होगया (तत्) वह अण्डा (संवत्सरस्य) एक वर्ष की (मात्रां) अवधि पर्य्यन्त (अशयत) स्थिर रहा (तत्) फिर वह (निरभिद्यत) भेद को प्राप्त हुआ उससे (ते, आण्डकपाले) वह दो अण्डकपाल (रजतश्च) शुक्ल (च) और (सुवर्णं) सुवर्ण दीप्ति वाले (अभवतां) हुए ।

भाष्य—आदित्य से तात्पर्य्य यहां प्रकृतिरूप पिण्ड का है, इस पिण्ड को " असत् " इस अभिप्राय से कथन कियागया है कि उस समय प्रकृति कार्य्यरूप न थी और " सत् " इस लिये कथन किया है कि वह अपनी सत्ता में सद्रूप थी,वह प्रकृति रूप पिण्ड कुछ कालतक निश्चल रहकर दो भागों में विभक्त होगया, एक भाग वह जिसमें सूर्य्य चन्द्रमादिकों की ज्योतियें हैं और दूसरा भाग वह कहलाया जिसमें पृथिव्यादि-

लोकलोकान्तर हैं इस प्रकार प्रकृति इस कार्य्यरूप जगत् को प्राप्त हुई, ब्रह्म से तात्पर्य्य यहां बड़े का है, जैसाकि " तस्मात् नामरूपमन्नञ्च ब्रह्मजायते " मुण्ड० १ । ९ इस वाक्य में अन्नादिकों को ब्रह्म कथन कियागया है ।

सं०—अब प्रकृति के अन्य कार्य्य कथन करते हैं:—

तद्यद्रजतꣳसेयं पृथिवी, यत्सुवर्णꣳसा द्यौः। यज्जरायु ते पर्वता। यदुल्वꣳस-मेघो नीहारः, याधमनयस्ता नद्यः, यद्वास्तेयमुदकꣳस समुद्रः ॥ २ ॥

पद०—तत् । यत् । रजतं । सा । इयं । पृथिवी । यत् । सुवर्ण । सा । द्यौः । यत् । जरायु । ते । पर्वताः । यत् । उल्वं । समेघः । नीहारः । याः । धमनयः । ताः । नद्यः । यत् । वास्तेयं । उदकं । सः । समुद्रः ।

पदा०—(तत्) उन दोनों कपालों में से (यत्, रजतं) जो रजत वर्ण का भाग था उससे (सा,इयं,पृथिवी) वह यह पृथिवी (यत्, सुवर्ण) जो सुवर्णरूप भाग था (सा, द्यौः) उससे द्यु लोक (यत्, जरायु) जो जेररूप भाग था (ते, पर्वताः) उससे पर्वत (यत्, उल्वं) जो झिल्लीरूप भाग था उससे (नीहारः, समेघः) कुहर और मेघ बने (यः,धमनयः) जो सूक्ष्म नाड़ियें थीं उनसे (ताः, नद्यः) यह नदियें (यत्, वास्तेयं, उदकं) जो मूत्रस्थानीय जल था उससे (सः, समुद्रः) वह समुद्र बने ।

भाष्य–उस अण्डाकार प्रकृति के राजत भागों से पृथिवी, सुवर्णरूप भागों से द्यौ, जेररूप विभागों से पर्वत, झिल्ली से मेघ तथा निहार, धमनियों से नदियें और मूत्रस्थानीय जल से समुद्र बना।

तात्पर्य्य यह है कि प्रकृति को उक्त श्लोकों में अण्डे के रूपक से वर्णन किया है, इसलिये रूपकालङ्कार से जो २ अण्डे में भाग होते हैं उन सब का वर्णन उक्त श्लोक में आया है, इसलिये कोई दोष नहीं।

सं०–अब उक्त प्रकृति के कार्य्य आदित्य का उदय कथन करते हैं:–

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उल्लवोऽनूदतिष्ठन्त्सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उल्लवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः ॥ ३ ॥

पद०–अथ। यत। तत। अजायत। सः। असौ। आदित्यः। तं। जायमानं। घोषाः। उलूलवः। अनूदतिष्ठन्। सर्वाणि। च। भूतानि। सर्वे। च। कामाः। तस्मात। तस्या। उदयं। प्रतिं। प्रत्यायनं। प्रति। घोषाः। उलूलवः। अनूतिष्ठन्ति। सर्वाणि। च। भूतानि। सर्वे। च। एव। कामाः।

पदा०–(अथ) अब यह कथन करते हैं कि (यत, तत) वह जो तेजोराशी (अजायत) उत्पन्न हुआ (सः, असौ, आदित्यः)

वह आदित्य है(तं,जायमानं)उस आदित्य=सूर्य्य को उत्पन्न हुआ देख (अलूलवः) उच्चस्वर से (घोषाः) ध्वनि (अनूदतिष्ठन्) होने लगी, क्योंकि (तस्मात्) इसी आदित्य के आश्रय से (सर्वाणि, भूतानि) सब प्राणियों की (सर्वे, च, कामाः) सब कामनायें पूर्ण होती हैं (तस्मात्) इस कारण (तस्य, उदयं, प्रति) उसके उदय के प्रति और (प्रत्यायनं, प्रति) प्रति दिन उदय के प्रति=समय (अलूलवः,घोषाः) उच्च स्वर से ध्वनियें (अनूतिष्ठन्ति) हुआ करती हैं (च) और (सर्वाणि, भूतानि) सब प्राणी (च) और (एव) निश्चय करके उनकी (सर्वे, कामाः) सब कामनायें उठ खड़ी होती हैं ॥

सं०—अब उक्त आदित्य के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्यासो ह यदेनꣳ साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन् निम्रेडेरन् ॥४॥

पद०—सः। यः। एतं। एवं। विद्वान्। आदित्यं। ब्रह्म। इति। उपास्ते। अभ्यासः। ह। यत्। एनं। साधवः। घोषाः। आ। च। गच्छेयुः। उप। च। निम्रेडेरन्। निम्रेडेरन्।

पदा०—(सः) वह पुरुष (यः) जो (एतं) इस (आदित्यं) आदित्य को (एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (ब्रह्म, इति) सृष्ट पदार्थों में बड़ा (विद्वान्) जान (उपास्ते) विचारता है (एनं) इसको (ह) निश्चय करके (अभ्यासः) अतिशीघ्र (साधवः, घोषाः) प्रशंसापरक शब्द (आ, च, गच्छेयुः) प्राप्त होते हैं (च) और (उप, निम्रेडेरन्) वह उसको सुख पहुंचाते हैं।

भाष्य-"**निर्ब्रेडेरन्**" पाठ दो वार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, उक्त प्रकरण में आदित्य को ब्रह्म तथा उसकी उपासना इस अभिप्राय से कथन की है कि आदित्यादि प्रकृति के मुख्य २ कार्य्यों के विज्ञान से पुरुष बहुदर्शी होजाता है और उसकी सब लोग शुभ शब्दों से प्रशंसा करते हैं जिस का उसके लिये फल भी शुभ होता है।

जो लोग यहां आदित्य को ईश्वर समझकर उपासना कथन करते हैं यह उनकी भूल है, क्योंकि उपासना शब्द ईश्वर की पूजा में ही नहीं आता किन्तु एक ज्ञातव्य अथवा भोक्तव्य पदार्थ की ओर झुकने के लिये भी आता है, जैसाकि "**उपास्ते ये गृहस्थापरपाकमबुद्धय**" इत्यादि स्थलों में स्पष्ट है, इससे सिद्ध है कि आदित्य की उपासना यहां उसके ज्ञान के अभिप्राय से है ब्रह्मवत् ध्यान के अभिप्राय से नहीं, ऐसा ही पूर्वोक्त जड़ोपासनाओं में सर्वत्र समझना चाहिये॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे उपनिषदार्य्यभाष्ये, तृतीयः प्रपाठकः समाप्तः

ओ३म्

अथ चतुर्थः प्रपाठकः प्रारभ्यते

सं०—तृतीय प्रपाठक में उपासनाओं का वर्णन किया, अब इस प्रपाठक में "जानश्रुति" आदिकों की आख्यायिका द्वारा संवर्गादि अनेक विद्याओं का कथन करते हैं:—

जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस । स ह सर्वत आवसथान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ॥१॥

पद०—जानश्रुतिः । ह । पौत्रायणः । श्रद्धादेयः । बहुदायी । बहुपाक्यः । आस । सः । ह । सर्वतः । आवसथान् । मापयाञ्चक्रे । सर्वतः । एव । मे । अत्स्यन्ति । इति ।

पदा०—(बहुपाक्यः) विविधपाक युक्त (श्रद्धादेयः, बहु-दायी) श्रद्धापूर्वक बहुत दान का देने वाला (पौत्रायणः) जन श्रुति राजा के पौत्र का पुत्र (ह) प्रसिद्ध (जानश्रुतिः) जान श्रुति राजा (आस) था (सः) उसने (सर्वतः) सर्वत्र (आवस-थान्) धर्मशालायें (मापयाञ्चक्रे) बनवाई कि (सर्वतः) सब ओर से आये हुए अभ्यागत (मे, एव) मेरे ही अन्न को (अत्स्य-न्ति, इति) भोजन करेंगे ।

भाष्य—जनश्रुति राजा के पौत्र का पुत्र जानश्रुति नामवाला राजा जो बहुत ऐश्वर्यशाली और दानी था उसने अपने राज्य में

सर्वत्र धर्मशालायें बनवादी थीं कि सब स्थानों से आये हुए अभ्यागत पुरुष मेरे ही अन्न का भोजन करें।

अथहहꣳसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवꣳ हꣳसोहꣳसमभ्युवाद हो हो हि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्माप्रसाङ्क्षी-स्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥ २ ॥

पद०–अथ। ह। हंसाः। निशायां। अतिपेतुः। तद। ह। एवं। हंसः। हंसं। अभ्युवाद। हो। हो। हि। भल्लाक्ष। भल्लाक्ष। जानश्रुतेः। पौत्रायणस्य। समं। दिवा। ज्योतिः। आततं। तद। मा। प्रसाङ्क्षीः। तत्। त्वा। मा। प्रधाक्षीः। इति।

पदा०–(ह) निश्चयकरके (अथ) अत्र यह कथन करते हैं कि एक दिन (हंसाः) दो हंस उड़ते हुए (निशायां) रात्रि समय स्वप्नावस्था में (अतिपेतुः) राजा के ऊपर आये (तत्, ह) और वह वहां (एवं) इस प्रकार (हंसः) एक हंस (हंसं) दूसरे हंस को (अभ्युवाद) कहने लगा कि (हो, हो) हे हे (भल्लाक्ष, भल्लाक्ष) मन्ददृष्टि मन्ददृष्टि (पौत्राणस्य) पौत्रायण (जानश्रुतेः) जानश्रुति का (ज्योतिः) प्रताप (दिवा, समं) द्युलोक के समान (आततं) फैलरहा है (तद) उस प्रताप के (मा, प्रसाङ्क्षीः) साथ सम्बन्ध मत करो (हि) क्योंकि (तद) वह प्रताप (त्वा) तुमको (मा, प्रधाक्षीः, इति) दग्ध न कर देवे।

भाष्य–इस कथा में जो हंसों का परस्पर कथन वर्णन कियागया है वह उपचार से है, क्योंकि हंसों का किसी समय में भी बोलना नहीं सुनागया और न वह किसी पुरुष के यश अप यश के ज्ञाता होसकते हैं, केवल आख्यायिका को अद्भुत बनाने के लिये हंसों द्वारा उपन्यास कियागया है।

भाव यह है कि जानश्रुति राजा का अभिमान तोड़कर उसको ब्रह्मविद्या का जिज्ञासु बनाने के लिये यह आख्यायिका रची गई है अन्य किसी असम्भव कथन में इसका तात्पर्य्य नहीं ॥

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्वर एनमे-तत्सन्तꣳसयुग्वानमिव रैक्कमात्थेति। यो नु कथꣳसयुग्वा रैक्क इति॥ ३ ॥

पद०–तं। उ। ह। परः। प्रत्युवाच। कं। उ। अरे। एनं। एतत्। सन्तं। सयुग्वानं। इव। रैकं। आत्थ। इति। यः। नु। कथं। सयुग्वा। रैक्कः। इति।

पदा०–(तं, उ, ह) उस हंस को (परः) दूसरा हंस (प्रत्युवाच) बोला कि (अरे) हे प्रियामित्र (कं, एनं, एतत्, सन्तं) तु किसको (सयुग्वानं, रैकं, इव) सयुग्वा रैक्क के समान (आत्थ) कहता है (यः, नु, सयुग्वा, रैक्कः, इति) निश्चयकरके कहो कि जो सयुग्वा रैक्क है वह (कथं) कैसा है।

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्ये-व मेनꣳसर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः

साधु कुर्वन्ति । यस्तद्वेद यत्सवेद स मयैतदुक्त इति ॥ ४ ॥

पद०-यथा । कृताय । विजिताय । अधरेयाः । संयन्ति । एवं । एनं । सर्वं । तत् । अभिसमेति । यत् । किञ्च । प्रजाः । साधु । कुर्वन्ति । यः । तत् । वेद । यत् । सः । वेद । सः । मया । एतत् । उक्तः । इति ।

पदा०-(यथा) जिस प्रकार (कृताय, विजिताय) कृताय के जीतने पर (अधरेयाः) नीचे की सब नरदें (संयन्ति) जीती जाती हैं (एवं) इसी प्रकार (यत्, किञ्च, प्रजाः, साधु, कुर्वन्ति) जो कुछ प्रजा उत्तम कर्म करती है (तत्, सर्वं) वह सब (एनं) इस सयुग्वारैक को (अभिसमेति) प्राप्त होते हैं (यः) जो कोई (यत्) जो कुछ (वेद) जानता है (सः) वह रैक (तत्) उस सब को (वेद) जानता है (सः) वह (मया) मैंने (एतत्, उक्तः, इति) इस रैक के विषय में यह सब कहा ॥

सं०-अब जानश्रुति उक्त कथन को अपने द्वारपाल से वर्णन करता है :—

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव । स ह सञ्जिहान एव क्षत्तारमुवाचाङ्गारे स सयुग्वानमिव रयिक्कमात्थेति । यो नु कथꣳ सयुग्वा रयिक्व इति ॥ ५ ॥

पद०-तत् । उ । ह । जानश्रुतिः । पौत्रायणः । उपशुश्राव । सः । ह । सञ्जिहानः । एव । क्षत्तारं । उवाच । अङ्ग । अरे । सः । सयुग्वानं । इव । रयिक्कं । आत्थ । इति । यः । नु । कथं । सयुग्वा । रयिक्कः । इति ।

पदा०-(तत्, उ, ह) निश्चयकरके यह बात (जानश्रुतिः, पौत्रायणः) जानश्रुति पौत्रायण ने (उपशुश्राव) सुनी (सः,ह) वह प्रसिद्ध राजा (सञ्जिहानः, एव) प्रातःकाल ही (क्षत्तारं, उवाच) द्वारपाल को बोला कि (अङ्ग, अरे,) हे प्रिय (सयुग्वानं, एव, रयिक्कं, आत्थ, इति) क्या तुम सयुग्वान रैक के समान मुझको मानता है, तब द्वारपाल ने पूछा कि(नु) निश्चयकरके (यः) जो (सयुग्वा,रयिक्कः,इति) सयुग्वा रयिक्क है (सः) वह (कथं) कैसा है।

सं०-अब राजा सयुग्वारायिक का वर्णन करते हैं :—

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधुकुर्वन्ति । यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ६ ॥

पद०-यथा । कृताय । विजितातय । अधरेयाः । संयन्ति । एवं । एनं । सर्वं । तत् । अभिसमेति । यत् । किञ्च । प्रजाः । साधु । कुर्वन्ति । यः । तत् । वेद । यत् । सः । वेद । सः । मया । एतत् । उक्तः । इति ।

पदा०-(यथा) जिसप्रकार (कृताय, विजिताय) कृताय के जीतने पर (अधरेयाः) नीचे की सब नरदें (संयन्ति) जीती

जाती हैं (एवं) इसी प्रकार (यत्, किञ्च, प्रजाः, साधु, कुर्वन्ति) प्रजा जो कुछ उत्तम कर्म करती है (तत्, सर्वं) वह सब (एनं) इस सयुग्वारैक्व को (अभिसमेति) प्राप्त होते हैं (यः,तत्, वेद) जो कोई कुछ जानता है (यत्, सः, वेद ,) उसको रैक्व जानता है (सः, मया) वह मैंने (एतत्, उक्तः, इति) यह रैक्वविषयक वर्णन किया है।

स ह क्षत्ताऽन्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय । तँ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ॥ ७ ॥

पद०—सः । ह । क्षत्ता । अन्विष्य । न । अविदं । इति । प्रत्येयाय । तं । ह । उवाच । यत्र । अरे । ब्राह्मणस्य । अन्वेषणा । तत् । एनं । अर्छ । इति ।

पदा०—(सः, ह) वह प्रसिद्ध (क्षत्ता) द्वारपाल (अन्विष्य) खोजकर लौट आया और राजा से कहने लगा (न, अविदं) मैंने उनको नहीं जाना (इति) इस कारण (प्रत्येयाय) लौट आया हुं तब (तं, ह, उवाच) वह प्रसिद्ध राजा बोला (अरे) हे प्रिय द्वारपाल (यत्र) जहां पर (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मवेत्ता पुरुषों की (अन्वेषणा) खोज होती है (तत्) वहां पर (एनं) इस ऋषि की (अर्च्छ,इति) खोज करो।

भाष्य—द्वारपाल के पूछने पर राजा ने रैक्व ऋषि का सम्पूर्ण वृतान्त कह सुनाया, द्वारपाल ने कहा कि दुर्भाग्यवशात् मैं उनको नहीं जानता तब राजा ने कहा कि हे द्वारपाल ! उस महर्षि की अन्वेषणा करो, यह सुनकर वह द्वारपाल ऋषि

की खोज में बाहर जाकर इतस्ततः खोजकर लौट आया और राजा को कहा कि मैंने उस ऋषि को नहीं पाया, फिर राजा ने उसको बतलाया कि हे द्वारपाल ! जहां ब्रह्मविद् पुरुषों की खोज होती है वहां उस ऋषि को जाकर खोजो ।

सं०—अब उस द्वारपाल को ऋषि की प्राप्ति कथन करते हैं:—

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश । तꣳहाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वारैक्व इत्यहꣳह्यरा ३ इति ह प्रतिजज्ञे । स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय ॥ ८ ॥

पद०—सः । अधस्तात् । शकटस्य । पामानं । कषमाणं । उपोपविवेश । तं । ह । अभ्युवाद । त्वं । नु । भगवः । सयुग्वा । रैक्वः । इति । अहं । हि । अरे । इति । ह । प्रतिजज्ञे । सः । ह । क्षत्ता । अविदं । इति । प्रत्येयाय ।

पदा०—(सः) उस द्वारपाल ने (शकटस्य, अधस्तात्) गाड़ी के नीचे भाग में बैठे (पामानं) पामा नामक दाद को (कषमाणं) खुजलाते हुए ऋषि को देखा देखकर (उपोपविवेश) विनय पूर्वक उनके निकट बैठगया और (तं, ह, अभ्युवाद) उनसे पूछा कि (भगवः) हे भगवन् ! (नु) क्या (त्वं) आप ही (सयुग्वा, रयिकः, इति) सयुग्वा रयिक हैं (इति) तब ऋषि ने कहा (अरे) हे अबोद्धा मनुष्य (हि) निश्चय (अहं) मैं ही सयुग्वा रयिक हूं (इति, ह, प्रतिजज्ञे) इस प्रकार स्वीकृति लेने के

अनन्तर (सः, ह, क्षत्ता) वह द्वारपाल (अविदं) मैंने ऋषि को जाना (इति) यह विचार करता हुआ (प्रत्येयाय) राजा के निकट लौटा आया ॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब गौयें आदि भेट लेकर राजा का ऋषि के समीप जाना कथन करते हैंः—

तदुह जानश्रुतिःपौत्रायणःषट्शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे । तꣳहाभ्युवाद ॥ १ ॥

पद०-तत् । उ । ह । जानश्रुतिः। पौत्रायणः । षट् । शतानि । गवां । निष्कं। अश्वतरीरथं । तत् । आदाय। प्रतिचक्रमे । तं । ह । अभ्युवाद ।

पदा०-(ह) प्रसिद्ध (जानश्रुतिः, पौत्रायणः) जानश्रुति पौत्रायण राजा (तत्, उ) उसी काल (षट्, शतानि, गवां) छसौ गायें (निष्कं) सुवर्ण मणि आदि अमूल्य रत्नों की माला (अश्वतरीरथं) खच्चरों का शीघ्रगामी रथ (तत्) वह इस धन को (आदाय) लेकर (प्रतिचक्रमे) ऋषि के समीप उपस्थित हुआ और (तं) उस (ह) प्रसिद्ध ऋषि को (अभ्युवाद) अभिवादनपूर्वक बोला ।

रैक्वेमानि षट्शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथोऽनु म एतां भगवो देवता॑शाधि यां देवतामुपास्स इति ।२।

पद०—रैक्व । इमानि । षट् । शतानि । गवां । अयं । निष्कः । अयं । अश्वतरीरथः । अनु । मे । एतां । भगवः । देवतां । शाधि । यां । देवतां । उपास्से । इति ।

पदा०—(रैक्व) हे ऋषे रैक्व ! (इमानि) यह (षट्,शतानि, गवां) छसौ गायें (अयं) यह (निष्कः) माला (अयं) यह (अश्वतरीरथः) अश्वतरीरथ आप ग्रहण करें (अनु, भगवः) पश्चात् बोला कि हे भगवन् ! (यां, देवतां, उपास्से, इति) जिस देवता की आप उपासना करते हैं (एतां, मे, शाधि) उसी देवता का मेरे लिये उपदेश करें ॥

तमुह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति । तदुह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥ ३ ॥

पद०—तं । उ । ह । परः । प्रत्युवाच । अह । हारेत्वा । शूद्र । तव । एव । सह । गोभिः । अस्तु । इति । तत् । उ । ह । पुनः । एव । जानश्रुतिः । पौत्रायणः । सहस्रं । गवां । निष्कं । अश्वतरीरथं । दुहितरं । तत् । आदाय । प्रतिचक्रमे ।

पदा०-(ह) वह प्रसिद्ध ऋषि (परः) जिनके समान दूसरा नहीं (तं, उ) उस जानश्रुति राजा से (प्रत्युवाच) बोले कि (अह) अरे (शूद्र) शूद्र (हारेत्वा) मोति माणिक आदि के हार (गोभिः, सह) गौओं सहित (तव, एव) तुम्हीं को (अस्तु, एव) शुभ हों (तद, उ) इसके अनन्तर (ह) वह प्रसिद्ध (जानश्रुतिः,पौत्रायणः) जानश्रुति पौत्रायण (पुनः, एव) फिर (सहस्रं, गवां) एक हज़ार गौ (निष्कं) हीरा मोती के हार (अश्वतरीरथं) अश्वतरीरथ और (दुहितरं) अपनी कन्या (तद) वह यह सब धन (आदाय) लेकर (प्रतिचक्रमे) ऋषि के निकट उपस्थित हुआ और बोला कि:—

तꣳहाभ्युवाद,रैक्वेदꣳसहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति ॥ ४ ॥

पद०-तं । ह । अभ्युवाद । रैक्व । इदं । सहस्रं । गवां । अयं । निष्कः। अयं । अश्वतरीरथः । इयं । जाया । अयं । ग्रामः । यस्मिन् । आस्से । अनु । एव । मा । भगवः । शाधि । इति ।

पदा०-(तं, ह) उस प्रसिद्ध ऋषि को (अभ्युवाद) अभिवादन करके राजा बोले कि (रैक्व) हे महर्षि रैक्व (इदं) यह (सहस्रं, गवां) हज़ार गाय (अयं, निष्कः) यह हार (अयं, अश्वतरीरथः) यह अश्वतरीरथ (इयं, जाया) यह मेरी कन्या (अयं, ग्रामः) यह ग्राम (यस्मिन्) जिसमें (आस्से) आप बस रहे हैं, यह सब कृपया ग्रहण करें (अनु) अनन्तर

बोला कि (भगवः) हे भगवन् (एव) निश्चयकरके (मा) मुझको (शाधि, इति) शिक्षा दें अर्थात् अपने उपास्य देव का उपदेश करें ।

सं०—अब ऋषि कथन करते हैं:—

**तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचाऽऽ-
जहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनाऽऽला
पयिष्यथा इति । ते हैते रैक्कपर्णा
नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास ।
तस्मै होवाच ॥ ५ ॥**

पद०—तस्याः । ह । मुखं । उपोद्गृह्णन् । उवाच । आजहार । इमाः । शूद्र । अनेन । एव । मुखेन । आलापयिष्यथाः । इति । ते । ह । एते । रैक्कपर्णाः । नाम । महावृषेषु । यत्र । अस्मै । उवास । तस्मै । ह । उवाच ।

पदा०—(ह) प्रसिद्ध राजा की (तस्याः) उस कन्या के (मुखं) मुख को (उपोद्गृह्णन्) प्यार से देखते हुए (ह) वह प्रसिद्ध ऋषि (उवाच) बोले (शूद्र) हे शूद्र (इमाः) यह जो भेट (आजहार) लाये हो सो अस्तु, परन्तु (अनेन, एव, मुखेन) इस कन्या के मुख से ही आप मुझको (आलापयिष्यथाः) भाषण करावेंगे (इति) इसके अनन्तर (महावृषेषु) महावृष देश में (रैक्कपर्णाः, नाम) रैक्कपर्ण नाम से प्रसिद्ध (ते, एव) जो यह ग्राम है (यत्र, उवास) जहां आप रहते हैं (अस्मै)

वह ग्राम मैंने आपको दिये, पश्चात् (तस्मै) उस राजा के प्रति (उवाच) ऋषि ने संवर्ग विद्या का उपदेश किया।

भाष्य-उपरोक्त श्लोकों का भाव यह है कि जब द्वारपाल द्वारा सयुग्वारैक ऋषि का भले प्रकार पता लगगया तब जानश्रुति राजा छ सौ गौयें, एक मणिमोतियों का हार और एक अश्वतरी=वेगवान् खच्चरों का रथ यह सब धन लेकर ऋषि के निकट प्राप्त हुआ और विनयपूर्वक अभिवादन कर समीप बैठ बोला कि हे ऋषे ! यह सब धन आपकी भेट करता हूं कृपाकरके आप मुझको ब्रह्मविद्या का उपदेश करें अर्थात् जिस देवता की आप उपासना करते हैं उसी का मुझे भी उपदेश करें ताकि मेरा कल्याण हो, तब वह ऋषि राजा से बोले कि हे शूद्र ! यह जो कुछ भी धन तु मेरी भेट के लिये लाया है यह तेरे ही लिये शुभ हो अर्थात् इस धन के लालच से मैं तुझ अनधिकारी को ब्रह्मविद्या का उपदेश न करूंगा, यह सुनकर राजा घर लौट आये और उसी समय हज़ार गायें, एक मणिमय हार, एक अश्वतरीरथ और अपनी युवा कन्या को लेकर पुनः ऋषि की सेवा में उपस्थित हुए और बोले कि महाराज कृपाकरके इस सब धन को आप ग्रहण करें तथा अपनी कन्या का मुख उठाकर कहा कि इसको आप अपनी धर्मपत्नि बनावें और यह ग्राम जहां आप निवास करते हैं यह भी आप ही के अर्पण करता हूं परन्तु कृपया मुझको ब्रह्मविद्या का उपदेश करें, तब ऋषि प्यार से उस कन्या के मुख का अवलोकन करते हुए बोले कि हे शूद्र ! तुम यह जितना धन लाये हो वह मेरे लिये कोई राग पैदा नहीं करसक्ता पर

हां इस कन्या के मुख से तुम मुझको बुलवाते हो अर्थात् इनमें से कोई पदार्थ मुझको उपदेश देने के लिये बाधित नहीं करसकता परन्तु एक स्त्री रत्न ही ऐसा है जिसका निरादर नहीं होसक्ता, पश्चात् उस जानश्रुति राजा को उपदेश किया।

इति द्वितीयःखण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उक्त ऋषि जानश्रुति राजा को संवर्ग विद्या का उपदेश करते हुए प्रथम अधिदैवत उपासन कथन करते हैंः—

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्य्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥ १ ॥

पद०—वायुः। वाव। संवर्गः। यदा। वै। अग्निः। उद्वायति। वायुं। एव। अप्येति। यदा। सूर्य्यः। अस्तं। एति। वायुं। एव। अप्येति। यदा। चन्द्रः। अस्तं। एति। वायुं। एव। अप्येति।

पदा०—(वाव) निश्चयकरके (वायुः) गतिप्रद परमात्मा ही (संवर्गः) संवर्ग है (यदा) जब (वै) निश्चयकरके (अग्निः) अग्नि (उद्वायति) उपशान्त होती है तब (वायुं,

एव, अप्येति) वायु में ही लीन होती है (यदा) जब (सूर्य्यः, अस्तं, एति) सूर्य्य अस्त होता है तब (वायुं, एव, अप्येति) वायु में ही लीन होता है (यदा) जब (चन्द्रः, अस्तं, एति) चन्द्र अस्त होता है तब (वायुं, एव, अप्येति) वायु में ही लीन होता है ।

यदाऽऽप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्तिः । वायुर्ह्येवैतान्सर्वासंवृङ्क्त इत्याधिदैवतं । २ ।

पद०—यदा । आपः । उच्छुष्यन्तिः । वायुं । एव । अपियन्तिः । वायुः । हि । एव । एतान् । सर्वान् । संवृङ्क्ते । इति । अधिदैवतम् ।

पदा०—(यदा) जब (आपः,उच्छुष्यन्तिः) जल सूखता है तब (वायुं, एव, अपियन्तिः) वायु में ही लीन होता है (हि) निश्चयकरके (वायुः,एव) वायु ही (एतान्, सर्वान्) अग्नि, सूर्य्य, चन्द्रमा, जल, इन सब को जो (संवृक्ते) अपने में लीन करता है (इति, अधिदैवतं) यही अधिदैवतसंवर्गोपासना है ।

सं०—अब अध्यात्म उपासन कथन करते हैं :—

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणꣳश्रोत्रं प्राणं मन प्राणो ह्येवैतान्सर्वान् संवृङ्क्त इति ॥ ३ ॥

पद०—अथ । अध्यात्मं । प्राणः । वाव । संवर्गः । सः । यदा । स्वपिति । प्राणं । एव । वाग् । अप्येति । प्राणं । चक्षुः । प्राणं ।

श्रोत्रं । प्राणं । मनः । प्राणः । हि । एव । एतान् । सर्वान् । संवृङ्क्ते । इति ।

पदा०-(अथ) अब उक्त उपासना के अनन्तर अध्यात्म संवर्गोपासना कथन करते हैं (वाव) निश्चयकरके (प्राणः) प्राणप्रद परमात्मा ही (संवर्गः) संवर्ग है (सः) पुरुष (यदा) जब (स्वपिति) सोता है तब (वाग्) वागेन्द्रिय (प्राणं, एव) प्राण को ही (अप्येति) प्राप्त होता है (चक्षुः, प्राणं) चक्षु प्राण को (श्रोत्रं, प्राणं) श्रोत्र प्राण को (मनः, प्राणं) मन प्राण को प्राप्त होता है (हि) क्योंकि (प्राणः, एव) प्राण ही (एतान्, सर्वान्) वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, इन सब इन्द्रियों को (संवृङ्क्ते, इति) अपने में लीन कर लेता है ॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥ ४ ॥

पद०-तौ । वै । एतौ । द्वौ । संवर्गौ । वायुः । एव । देवेषु । प्राणः । प्राणेषु ।

पदा०-(वै) निश्चयकरके (तौ, एतौ, द्वौ) पूर्वोक्त वह यह दो (संवर्गौ) संवर्ग हैं जो (देवेषु) देवों में (वायुः, एव) वायु नाम से और (प्राणेषु) प्राणों में (प्राणः) प्राण नाम से प्रसिद्ध हैं ।

भाष्य-संयुग्वारैक ऋषि ने जानश्रुति राजा को संवर्ग विद्या का इस प्रकार उपदेश किया कि हेराजन् ! इस विद्या के दो भेद हैं, एक "अधिदैवतसंवर्गोपासना" और दूसरी "अध्यात्मसंवर्गोपासना" है, अधिदैवतसंवर्गोपासना को इस

प्रकार समझे कि वायु नामक गतिप्रद परमात्मा ही संवर्ग है और अग्नि, सूर्य्य, चन्द्रमा तथा जल आदि देवताओं की पराकाष्ठा एकमात्र वही ब्रह्म है अर्थात् सब देवता उपशान्तकालमें उसी गति शील परमात्मा में लय होते हैं,इस भाव को पूर्ण प्रकार से समझने का नाम "अधिदैवतसंवर्गोपासना" और प्राण नामक प्राणप्रद परमात्मा ही संवर्ग है, वाक्, चक्षुः, श्रोत्र और मन आदि इन्द्रियों की पराकाष्ठा एकमात्र ब्रह्म ही है अर्थात् जब पुरुष इस असार संसार से पयान करता है तब उसके सब इन्द्रिय उसी प्राणरूप परमात्मा में लय होजाते हैं, इस भाव को पूर्ण प्रकार से समझने का नाम "अध्यात्मसंवर्गोपासना" है, और यह उक्त दो देवों में वायु और प्राण नाम से प्रसिद्ध है जो इस भाव को जानता है वह सिद्धि को प्राप्त होता है ॥

सं०-अब निम्नलिखित आख्यायिका द्वारा उक्त विषय को स्फुट करते हैं :—

अथ ह शौनकञ्च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिक्षे। तस्मा उ ह न ददतुः।५।

पद०-अथ । ह । शौनकं । च । कापेयं । अभिप्रतारिणं । च । काक्षसेनिं । परिविष्यमाणौ । ब्रह्मचारी । विभिक्षे । । तस्मै । उ । ह । न । ददतुः ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (कापेयं) कपिगोत्र वाले (शौनकं) शौनक (च) और (काक्षसेनिं)

कक्षसेन का पुत्र (अभिप्रतारिणं) अभिप्रतारी इन दोनों को (परिविष्यमाणौ) जब भोजन परोसा जारहा था उस काल में (ब्रह्मचारी, विभिक्षे) एक ब्रह्मचारी ने आकर भिक्षा मांगी (तस्मै) उस ब्रह्मचारी के लिये (उ, ह) निश्चय (न, ददतु) उन्होंने कुछ नहीं दिया ॥

सं०-अब ब्रह्मचारी कथन करता है :—

सहोवाच-महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन् बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥ ६ ॥

पद०-सः। ह। उवाच। महात्मनः। चतुरः। देवः। एकः। कः। सः। जगार। भुवनस्य। गोपाः। तं। कापेय। न। अभिपश्यन्ति। मर्त्या। अभिप्रतारिन्। बहुधा। वसन्तं। यस्मै। वै। एतत्। अन्नं। तस्मै। एतत्। न। दत्तं। इति।

पदा०-(सः, ह) वह प्रसिद्ध ब्रह्मचारी उक्त दोनों से (उवाच) बोला कि जो (भुवनस्य) सम्पूर्ण विश्व का (गोपाः) रक्षक (एकः) एक (कः) आनन्दस्वरूप (देवः) परमात्मा है (सः) वह (महात्मनः) बड़े आत्मा वाले (चतुरः) चारों को (जगार) खाता है (कापेय) हे शौनक तथा (अभिप्रतारिन्) हे अभिप्रतारिन्! (मर्त्याः) अज्ञानी पुरुष (बहुधा, वसन्तं) सर्वत्र वसते हुए (तं) उस देव को (न, अभिपश्यन्ति) नहीं देखते हे राजन्! (यस्मै) जिसके लिये (वै) निश्चयकरके (एतत्,

अन्नं) यह अन्न है (तस्मै) उसके लिये (एतत्) यह अन्न (न, दत्तं, इति) नहीं दिया ।

भाष्य—सयुग्वारैक ऋषि के किये हुए उपदेश को इस आख्यायिका द्वारा इस प्रकार स्फुट किया है कि किसी स्थान पर जब शौनक और अभिप्रतारी नाम वाले महाशयों को भोजन परोसा जारहा था उसी काल में एक ब्रह्मचारी ने उनके निकट जाकर भिक्षा मांगी तो उन्होंने उस ब्रह्मचारी को कुछ नहीं दिया तब वह ब्रह्मचारी बोला कि सम्पूर्ण विश्व का रक्षक सुखस्वरूप जो परमात्मा है फिर कैसा है अग्नि, सूर्य्य, चन्द्र और जल इन चारो देवों तथा वाणी, चक्षु श्रोत्र और मन इन चारो बड़े इन्द्रियों को खाता=अपने में लीन करलेता है, जैसाकि पीछे १-४ श्लोकों में वर्णन कर आये हैं, उसको आप लोग नहीं जानते, या यों कहो कि अज्ञानी लोग सर्वत्र वसते हुए उस आनन्दस्वरूप देव को नहीं देखते, हे राजन् ! जिसके लिये यह अन्न है उसके लिये आप लोगों ने अन्न नहीं दिया अर्थात् मैं ब्रह्मचारी जो परमात्मा की वेदरूप वाणी को सर्वत्र फैलाने के लिये अध्ययन कर रहा हूं उसका आपने निरादर किया, जो ईश्वरीयवाणी वेद है उसका रक्षक ब्रह्मचारी ही है, सो आप दोनों का मुझको भिक्षा न देना परमपिता परमात्मा का हनन करना है और यह सम्पूर्ण अन्न उसी की कृपा से उपलब्ध होते हैं, अतएव मुझको अन्न न देना आपके लिये पाप है ॥

सं०—अब शौनक कापेय ब्रह्मचारी से कथन करते हैं:—

तदु ह शौनकःकापेयः प्रतिमन्वानःप्रत्येयायाऽऽत्मा देवानां जनिता प्रजाना

हिरण्यदंष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे । दत्तास्मै भिक्षामिति ॥ ७ ॥

पद०—तत् । उ । ह । शौनकः । कापेयः प्रतिमन्वानः । प्रत्येयाय । आत्मा । देवानां । जनिता । प्रजानां । हिरण्यदंष्ट्रः । बभसः । अनसूरिः । महान्तं । अस्य । महिमानं । आहुः । अनद्यमानः । यत् । अनन्नं । अत्ति । इति । वै । वयं । ब्रह्मचारिन् । आ । इदं । उपास्महे । दत्त । अस्मै । भिक्षां । इति ।

पदा०—(कापेयः, शौनकः) कापेय शौनक (तत्, उ, ह) उस प्रसिद्ध ब्रह्मचारी के वाक्य को सुनकर (प्रतिमन्वानः) पुनः२ मन में विचारते हुए (प्रत्येयाय) उसके समीप आकर बोले कि हे ब्रह्मचारिन् ! वह परमात्मा सारे देवताओं का (आत्मा) आत्मा (देवानां, जनिता) सूर्य्यादि देवों को उत्पन्न करने वाला और जो (प्रजानां) सम्पूर्ण प्रजाओं का (बभसः) भक्षक (हिरण्यदंष्ट्रः) चमकते हुए दांतों वाला है (अनसूरिः) विज्ञानी है (अस्य) इसकी (महान्तं) महान् (महिमानं) विभूति को (आहुः) ब्रह्मवेत्ता लोग कथन करते हैं (यत्) जो स्वयं (अनद्यमानः) अभक्ष्यमान् रहता हुआ उसका भी (अत्ति) भक्षण करता है जो (अनन्नं) अन्न नहीं है (इति) यह उसकी महिमा है (ब्रह्मचारिन्) हे ब्रह्मचारिन् ! (वै) निश्चयकरके (वयं) हम लोग (इदं) इस परमात्मा की (आ, उपास्महे) भले प्रकार

उपासना करते हैं, यह कहकर सेवकों को कहने लगे कि (दत्त, अस्मै, भिक्षां, इति) इस ब्रह्मचारी को भिक्षा दो ॥

सं०—अब ब्रह्मचारी अन्न की प्रशंसा करता है :—

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दशकृत ँ सैषा विराडन्नादी तयेद ँ सर्वं दृष्ट ँ सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥

पद०—तस्मै । उ । ह । ददुः । ते । वै । एते । पंच । अन्ये । पंच । अन्ये । दश । सन्तः । तत् । कृतं । तस्मात् । सर्वासु । दिक्षु । अन्नं । एव । दशकृतं । सा । एषा । विराट् । अन्नादी । तया । इदं । सर्वं । दृष्टं । सर्वं । अस्य । इदं । दृष्टं । भवति । अन्नादः । भवति । यः । एवं । वेद । यः एवं । वेद ।

पदा०—(तस्मै, उ, ह, ददुः) उस प्रसिद्ध ब्रह्मचारी को उन सेवकों ने भिक्षा दी, तब वह अन्न की प्रशंसा करने लगा कि (वै) निश्चयकरके (ते) वह (एते) यह (अन्ये, पंच) वागादी से अन्य पांच सूर्यादि (अन्ये, पंच) अग्न्यादि से अन्य पांच वागादि (दश, सन्तः) यह सब मिलकर दश होते हैं (तत्, कृतं) यह दश उस कृत के समान हैं (तस्मात्) इस कारण (सर्वासु) सब (दिक्षु) दिशाओं में (अन्नं, एव) अन्न ही (दशकृतं) दशकृत है (सा, एषा) वह यह (विराट्)

विराट् कहलाता है जो (अन्नादी) अन्नादी है (तया) उस विराट्रूप अन्न द्वारा (इदं, सर्वं) यह सब (दृष्टं) देखाजाता है (यः, एवं, वेद) जो उक्त प्रकार से जानता है (अस्य) उस उपासक का (इदं, सर्वं, दृष्टं, भवति) यह सब दृष्ट होता है॥

भाष्य-"य एवं वेद" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता तथा खण्ड की पूर्त्ति के लिये आया है, उक्त दोनों श्लोकों का भाव यह है कि जब उस ब्रह्मचारी ने कापेय शौनक और अभिप्रतारी दोनों से कहा कि आपने मुझको भिक्षा नहीं दी इससे ज्ञात होता है कि आप उस परमपिता परमात्मा के जानने वाले नहीं, यह वाक्य सुनकर शौनक ब्रह्मचारी के निकट आकर बोला कि हे ब्रह्मचारिन् ! हम लोग उस ब्रह्म को भले प्रकार जानते हैं अर्थात् वह ब्रह्म सम्पूर्ण पदार्थों का आत्मा है, या यों कहो कि उसी की सत्ता से संसार के सारे पदार्थ अपनी२ चेष्टा करते हैं, वह अजर, अमर, अभय और महान् है, इस प्रकार उसके महत्व का ब्रह्मविद् लोग वर्णन करते हैं, वह अभक्ष्य=न खाने योग्य अग्नि, सूर्य्य, चन्द्र तथा जलादि और वाणी, चक्षुः, श्रोत्र, मन आदि को भी भक्षण करता है अर्थात् उनका संहार कर्त्ता है, जैसाकि पूर्व श्लोक में वर्णन किया गया है, हे ब्रह्मचारिन् ! हम उस परमपिता परमात्मा को भले प्रकार जानते और उसकी उपासना करते हैं, इतना कथन करके शौनक ने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि इस ब्रह्मचारी को भिक्षा दो सेवकों ने ब्रह्मचारी को भिक्षा दी और वह ब्रह्मचारी उस अन्न की प्रशंसा इस प्रकार करने लगा कि अग्नि, सूर्य्य, चन्द्र, जल, वायु यह पांच और वाग्,

चक्षुः, श्रोत्र, मन, प्राण यह पांच, ये सब मिलकर दश होते हैं, यह उस कृत के समान हैं अर्थात् जिसप्रकार कृत सर्वोपरि होता है इसी प्रकार अग्नि आदि चार तथा वागादि चारों से प्राण श्रेष्ठ है, जो उक्त भाव को पूर्ण प्रकार से जानता है वह सर्व द्रष्टा होता है ॥

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्थःखण्डःप्रारभ्यते

सं०—अब गुण कर्म स्वभावानुकूल ब्रह्मविद्या में अधिकार कथन करने के लिये सत्यकाम जाबाल की आख्यायिका वर्णन करते हैं:—

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे ब्रह्मचर्य्यं भवति विवित्स्यामि । किंगोत्रोन्वहमस्मीति ॥ १ ॥

पद०—सत्यकामः । ह । जाबालः । जाबालां । मातरं । आमन्त्रयाञ्चक्रे । ब्रह्मचर्य्यं । भवति । विवित्स्यामि । किंगोत्रः । अनु । अहं । अस्मि । इति ।

पदा०—(ह) प्रसिद्ध (जाबालः) जबाला के पुत्र (सत्यकामः) सत्यकाम ने (मातरं,जबालां) माता जबाला से (आमन्त्रयाञ्चक्रे) जिज्ञासापूर्वक पूछा कि (भवति) हे मातः ! (अहं) मैं (ब्रह्मचर्य्यं) ब्रह्मचर्य्य व्रत (विवत्स्यामि) करूंगा, सो मैं (किंगोत्रः) किस गोत्र वाला (अस्मि) हूं (अनु, इति) यह कथन करें ।

सं०—अब जबाला उत्तर देती है:—

साहैनमुवाच-नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्व-मसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साऽहमेतन्नवेद यद्गोत्रस्त्व-मसि। जबाला तु नामाऽहमस्मि सत्य-कामो नाम त्वमसि। स सत्यकाम एव जाबालो ब्रवीथा इति॥ २॥

पद०—सा। ह। एनं। उवाच। न। अहं। एतत्। वेद। तात। यद्गोत्रः। त्वं। असि। बहु। अहं। चरन्ती। परिचारिणी। यौवने। त्वां। अलभे। सा। अहं। एतत्। न। वेद। यद्गोत्रः। त्वं। असि। जबाला। तु। नाम। अहं। अस्मि। सत्यकामः। नाम। त्वं। असि। सः। सत्यकामः। एव। जाबालः। ब्रवीथाः। इति।

पदा०—(सा, ह) वह प्रसिद्ध जबाला (एनं) अपने पुत्र सत्यकाम से (उवाच) बोली (तात) हे प्रिय पुत्र! (यद्गोत्रः) जिस गोत्र का (त्वं, असि) तु है (न, अहं, एतत्, वेद) मैं उसको नहीं जानती, क्योंकि (यौवने) यौवन अवस्था में (बहु) बहुत (चरन्ती) सेवा करती हुई (अहं) मुझ (परिचारिणी) सेविका ने (त्वां) तुझको (अलभे) प्राप्त किया (सा, अहं) वह मैं सेविका (एतत्, न, वेद) यह नहीं जानती कि (यद्गोत्रः, त्वं, असि) जिस गोत्र वाला तु है, हां इतना जानती हूं कि (जबाला, नाम, अहं, अस्मि) मेरा नाम जबाला है और (सत्य-

कामः, नाम, त्वं, असि) तेरा नाम सत्यकाम है (सः) सो (तु) तुझसे ऋषि पूछें तो (ब्रवीथाः, इति) यह कथन करना कि मैं सत्यकामः, एव, जाबाल,इति) सत्यकाम जाबाल हूं ।

सं०-अब सत्यकाम का आचार्य्य के पास जाना कथन करते हैं:—

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्म-चर्य्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगव-न्तमिति ॥ ३ ॥

पद०-सः।ह। हारिद्रुमतं।गौतमं। एत्य। उवाच। ब्रह्मचर्य्यं। भगवति। वत्स्यामि। उपेयां। भगवन्तं।इति।

पदा०-(सः, ह) वह प्रसिद्ध सत्यकाम जाबाल (गौतमं) गौतम गोत्रोत्पन्न (हारिद्रुमतं) हारिद्रुमत ऋषि के (एत्य) समीप जाकर (उवाच) बोला कि मैं (भगवति) आपके समीप (ब्रह्मचर्य्यं, वत्स्यामि) ब्रह्मचर्य्य करूंगा, इसलिये (भगवन्तं) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न ! आपकी सेवा में समीप (उपेयां, इति) उपस्थित हुआ हूं।

सं०-अब ऋषि "सत्यकाम जाबाल" से प्रश्न करते हैं:—

त॰होवाच-किं गोत्रो नु सोम्यासीति। स होवाच-नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्य-पृच्छं मातरꣳसामा प्रत्यब्रवीद्बह्वहं चर-न्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साह-मेतन्नवेदयद्गोत्रस्त्वमसि। जबाला तु ना-

माऽहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहꣳसत्यकामोजाबालोऽस्मि भो इति ।४।

पद०–तं । ह । उवाच । किंगोत्रः । नु । सोम्य । असि । इति । सः । ह । उवाच । न । अहं । एतत् । वेद । भोः । यद्गोत्रः । अहं । अस्मि । अपृच्छं । मातरं । सा । मा । प्रत्यब्रवीत् । बहु । अहं । चरन्ती । परिचारिणी । यौवने । त्वां । अलभे । सा । अहं । एतत् । न । वेद । यद्गोत्रः । त्वं । असि । जबाला । तु । नाम । अहं । अस्मि । सत्यकामः । नाम । त्वं । असि । इति । सः । अहं । सत्यकामः । जाबालः । अस्मि । भोः । इति ।

पदा०–(तं, ह) उस प्रसिद्ध सत्यकाम जाबाल से (उवाच) ऋषि बोले ((सोम्य) हे ब्रह्मचारिन् ! (किंगोत्रः) तेरा गोत्र क्या है ? (नु) " नु " वितर्कार्थ में आया है (इति) इसके अनन्तर (सः, ह) वह प्रसिद्ध सत्यकाम (उवाच) बोला (भोः) हे भगवन् ! (यद्गोत्रः, अहं, अस्मि) जो मेरा गोत्र है (न,अहं,एतत,वेद) उसको मैं नहीं जानता, क्योंकि (मातरं,अपृच्छं) माता के पूछने पर (सा,मा, प्रत्यब्रवीत्) उसने मुझसे कहा कि (यौवने) यौवनावस्था में (बहु) बहुत (चरन्ती) सेवा करती हुई (अहं) मुझ (परिचारिणी) सेविका ने (त्वां, अलभे) तुझको प्राप्त किया (सा, अहं) सो मैं (एतत, न, वेद) यह नहीं जानती (यद्गोत्रः, त्वं, असि) जिस गोत्र का तु है (जबाला, नाम, अहं, अस्मि) मेरा नाम जबाला और (सत्यकामः,नाम, त्वं, असि, इति) तेरा नाम सत्यकाम है (भोः) हे भगवन् ! (सः, अहं) सो मैं (सत्यकामः, जाबालः, अस्मि, इति) सत्यकाम जाबाल हूं " तु " शब्द निर्धारणार्थ आया है ।

सं०—अब ऋषि कथन करते हैं :—

तꣳ होवाच—नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधꣳ सोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये। न सत्यादगा इति। तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति। ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणाऽऽवर्तयेति। स ह वर्षगणं प्रोवास। ता यदा सहस्रꣳ सम्पेदुः॥५॥

पद०—तं। ह। उवाच। न। एतत्। अब्राह्मणः। विवक्तुं। अर्हति। समिधं। सोम्य। आहर। उप। त्वा। नेष्ये। न। सत्यात्। अगाः। इति। तं। उपनीय। कृशानां। अबलानां। चतुःशताः। गाः। निराकृत्य। उवाच। इमाः। सोम्य। अनुसं-व्रज। इति। ताः। अभिप्रस्थापयन्। उवाच। न। असहस्रेण। आवर्त्तय। इति। सः। ह। वर्षगणं। प्रोवास। ताः। यदा। सहस्रं। सम्पेदुः।

पदा०—(तं, ह, उवाच) उस प्रसिद्ध सत्यकाम से ऋषि बोले कि (एतत्) इस बात को (अब्राह्मणः) ब्राह्मण से भिन्न (विवक्तुं, न, अर्हति) कहने को समर्थ नहीं होसक्ता (सोम्य) हे ब्रह्मचारिन्! (समिधं, आहर) होमसामग्री लेआ (त्वा) तुमको (उप, नेष्ये) उपनीत करूंगा, क्योंकि तुम (सत्यात्, न, अगाः, इति) सत्य से गिरे नहीं (तं) उस सत्यकाम का

(उपनीय) उपनयन कर (कृशानां, अबलनां, चतुःशताः, गाः) क्षीण दुर्बल चारसौ गौ (निराकृत्य) पृथक् करके (उवाच) बोले (सोम्य) हे सोम्य ! (इमाः) इन गौओं को (अनुसंव्रज) चराने के लिये लेजाओ तब (ताः) उन गौओं को (अभिप्रस्थापयन्) बन को लेजाता हुआ (उवाच) बोला कि (असहस्रेण) हज़ार गौओं के बिना (न, आवर्त्तेय, इति) नहीं आउंगा (सः, ह) वह प्रसिद्ध सत्यकाम (वर्षगणं) कई वर्ष (प्रोवास) बन में रहा, और (यदा) जब (ताः) वह गौयें (सहस्रं) हज़ार (सम्पेदुः) होगईं । (इसका आगे के श्लोक से सम्बन्ध है)

भाष्य—सत्यकाम जाबाल की इस आख्यायिका का तात्पर्य्य यह है कि जब सत्यकाम वेदाध्ययन के योग्य हुआ तो उसने अपनी माता जबाला से कहा कि हे पूज्यमातः ! मैं ब्रह्मचर्य्यपूर्वक अध्ययन करने के लिये आचार्य्यकुल में वास करना चाहता हूं सो तु यह बतला कि मेरा गोत्र क्या है ? तब माता ने उत्तर दिया कि हे प्रिय पुत्र ! मैं तेरा गोत्र नहीं जानती, क्योंकि युवावस्था में परिचारिणी रहकर अपना निर्वाह करती रही हूं और इसी अन्तर में तु मेरा पुत्र उत्पन्न हुआ, इससे मुझको तेरा गोत्र याद नहीं, तु ऋषि के समीप जा, मेरा नाम जबाला प्रसिद्ध है और तेरा नाम सत्यकाम है, सो ऋषि के पूछने पर तु कहना कि मैं सत्यकाम जाबाल हूं,वह सत्यकाम जाबाल गौतम गोत्रोत्पन्न हारिद्रुमान् ऋषि के पुत्र हारिद्रुमत आचार्य्य के निकट जाकर बोला कि हे भगवन् ! मैं ब्रह्मचर्य्यपूर्वक विद्याध्ययन करने के लिये आपके समीप आया हूं सो कृपया मेरा उपनयन कराके अध्ययन कराओ, तब ऋषि ने पूछा कि हे सोम्य ! तेरा गोत्र

क्या है ? सत्यकाम ने उत्तर दिया कि मैं गोत्र नहीं जानता, क्योंकि मैंने अपनी माता जबाला से गोत्र पूछा था सो उसने उत्तर दिया कि मैंने तुमको सेविकावस्था में लाभ किया है इससे मुझको तेरे गोत्र का ज्ञान नहीं, हे भगवन् ! मेरी माता का नाम जबाला और मेरा नाम सत्यकाम है अर्थात् मैं सत्यकामजाबाला हूं, यह सारा वृत्तान्त सुनकर ऋषि बोले कि वास्तव में तु ब्राह्मण है क्योंकि ब्राह्मण से भिन्न इस प्रकार सत्य कहने को कदापि समर्थ नहीं होसक्ता, हे सोम्य ! तुम हवन सामग्री लाओ मैं तुम्हारा उपनयन कराउंगा, क्योंकि तुम सत्य से पृथक् नहीं हुए हो ।

इस कथा से लोग कई प्रकार के भाव निकालते हैं, कोई कहता है कि प्रचारिणी के अर्थ अनेक पति वाली स्त्री के हैं, कोई कहता है कि इसके अर्थ सेविका के अवश्य हैं पर इससे यह आवश्यक नहीं कि उसका कोई एक पति न हो, जिन लोगों के विचार में प्रचारिणी के अर्थ बहुत लोगों की सेवा से पुत्र लाभ करने के हैं उनके मत में गोत्र याद न रहने का कारण यही है कि उसका कोई नियत पति न था, इसलिये वह गोत्र न बतला सकी, यहां यह स्मरण रहे कि गोत्र याद न रहने का कारण यही नहीं होसक्ता, गोत्र याद न रहने का कारण यदि यही होता तो अब तक बहुत स्त्रियें ऐसी हैं जिनको अपना गोत्र याद नहीं तो क्या उनका कोई एक नियत पति नहीं, स्त्रियें ही क्या बहुत मनुष्य ऐसे हैं जिनको अपना गोत्र याद नहीं, क्योंकि गोत्र के अर्थ उस कुल में जो कोई एक बड़ा पुरुष हुआ हो उसके हैं, और यह बात एक इतिहास से सम्बन्ध रखती है

इसलिये सर्वसाधारण को याद रहना कठिन है, हमारे विचार में यही कारण गोत्र याद न रहने का यहां भी है, रही यह बात कि सत्यकाम ने जो गोत्र याद न रहने का यह कारण बतलाया कि मेरी माता दास कर्म में लगी रही इसलिये उसको गोत्र याद नहीं, इससे ऋषि को आश्चर्य्य क्यों हुआ और उसने सत्यकाम को गूढ़ सत्यवादी कैसे समझा ? इसका उत्तर यह है कि सत्यकाम ने यह बात आकर सत्य बतलाई कि मेरी माता दासी का काम करती रही है और दास कर्म करना उस समय शूद्र का काम था, इस गूढ़ भेद के बतलाने पर कि मैं एक शूद्रा का लड़का हूं ऋषि ने इस सच्चाई द्वारा उसको गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मण समझा, इस प्रकार कथा का भाव यह प्रतीत होता है कि जो स्त्रियें शिक्षा नहीं पातीं अथवा दास कर्म में नियुक्त रहती हैं वह अपने गोत्र को याद नहीं रखसक्तीं, इस कारण जबाला गोत्र नहीं बतला सकी, यदि यह कल्पना कर भी लीजाय कि वह ऐसी स्त्री थी जिसका कोई विवाहित पति न था किन्तु बहुतों की सेवा में रहने से उसको पुत्र उत्पन्न हुआ इस कारण वह गोत्र याद न रखसकी, यदि यह कारण भी मानाजाय तब भी ऋषि ने गुण कर्म स्वभाव से ही सत्यकाम को ब्राह्मण निश्चित किया, क्योंकि ऋषि यह कैसे जानसक्ते थे कि यह अमुक ब्राह्मण का पुत्र है ।

और बात यह है कि जो लोग सत्यकाम को जन्म से ब्राह्मण मानते हैं उनके कथन में दोष यह है कि यदि अनुमान द्वारा वीर्य्य से सत्यकाम को ब्राह्मण मानागया तो क्षेत्र से भी सत्यकाम का ब्राह्मण होना आवश्यक था पर उसकी माता ने

यह कहीं नहीं बतलाया कि मैं ब्राह्मणी होकर सेविका रही किन्तु यही बतलाया है कि मैं दास कर्म में नियुक्त रही, अधिक क्या इस कथा से स्पष्ट है कि ऋषि ने सत्यकाम की केवल गुण कर्म स्वभाव से परीक्षा की कि यह ब्राह्मण है ॥

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सत्यकाम का वन से आचार्य्यकुल को आना कथन करते हैं:—

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद-सत्यकाम इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव। प्राप्ताः सोम्य सहस्रꣳस्मः प्रापय न आचार्य्यकुलम्।१।

पद०-अथ। ह। एनं। ऋषभः। अभ्युवाद। सत्यकाम। इति। भगवः। इति। ह। प्रतिशुश्राव। प्राप्ताः। सोम्य। सहस्रं। स्मः। प्रापय। नः। आचार्य्यकुलम्।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (ऋषभः) वृषभ नामा ऋषि (एनं) इस सत्यकाम से (अभ्युवाद) बोले कि (सत्यकाम इति) हे सत्यकाम! तब सत्यकाम बोला (भगवः) हे भगवन्! क्या आज्ञा है, ऋषि बोले (सोम्य) हे सोम्य! (सहस्रं) एक सहस्र गाय (प्राप्ताः, स्मः, ह) प्राप्त होगईं, अब (नः) हमारे सहित इन सब को आचार्य्यकुल (प्रापय, इति) प्राप्त कराओ।

सं०–अब वह वृषभ ऋषि सत्यकाम को उपदेश करते हैं:–

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच- प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैषवै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥२॥

पद०–ब्रह्मणः । च । ते । पादं । ब्रवाणि । इति । ब्रवीतु । मे । भगवान् । इति । तस्मै । ह । उवाच । प्राची । दिक् । कला । प्रतीची । दिक् । कला । दक्षिणा । दिक् । कला । उदीची । दिक् । कला । एषः । वै । सोम्य । चतुष्कलः । पादः । ब्रह्मणः । प्रकाशवान् । नाम ।

पदा०– हे सोम्य ! (ते) तुमको (ब्रह्मणः, च) परमात्मा की महिमारूप (पादं, ब्रवाणि) एक पाद का उपदेश करूं (इति) यह कथन सुनकर सत्यकाम बोला (भगवन्) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न ? (मे) मुझको (ब्रवीतु) उपदेश करें (इति) यह सुनकर (तस्मै, ह, उवाच) ऋषि बोले कि हे सोम्य ! ब्रह्म के पाद की (कला) एक कला (प्राची, दिक्) पूर्वदिशा (कला) द्वितीय कला (प्रतीची, दिक्) पश्चिम दिशा (कला) तृतीय कला (दक्षिणा, दिक्) दक्षिण दिशा (कला) चतुर्थ कला (उदीची, दिक्) उत्तर दिशा है (सोम्य) हे सोम्य ! (वै) निश्चयकरके (ब्रह्मणः एषः, चतुष्कलः, पादः) ब्रह्म का यह

चतुष्कल पाद (प्रकाशवान्, नाम) प्रकाशवान् नाम से प्रसिद्ध है।

सं०—अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते । प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति। प्रकाशवतोह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥

पद०—सः। यः। एतं। एवं। विद्वान्। चतुष्कलं। पादं। ब्रह्मणः। प्रकाशवान्। इति। उपास्ते। प्रकाशवान्। अस्मिन्। लोके। भवति। प्रकाशवतः। ह। लोकान्। जयति। यः। एतं। एवं। विद्वान्। चतुष्कलं। पादं। ब्रह्मणः। प्रकाशवान्। इति। उपास्ते।

पदा०—(सः, यः) वह पुरुष जो (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (एतं, चतुष्कलं, पादं) इस चतुष्कल पाद को (एवं) उक्त प्रकार से (वेद) जानता हुआ (प्रकाशवान्, इति) प्रकाशवान् मानकर (उपास्ते) उपासना करता है वह (अस्मिन्, लोके) इस लोक में (प्रकाशवान्) प्रकाशवान् होता है और (ह) निश्चय करके (प्रकाशवतः, लोकान्) प्रकाशवान् लोकों को (जयति) जय करता है।

भाष्य—"**य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते**" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता

के लिये आया है कि अवश्य ऐसा ही होता है, उक्त श्लोकों का भाव यह है कि जब सत्यकाम के पास एकसहस्र गाय होगई तो "ऋषभ" नामक किसी दिव्यशक्ति वाले देवविशेष ने सत्यकाम से आकर कहा कि हे सत्यकाम ! तुम अब इन गौओं को आचार्य्यकुल को लेजाओ और मैं तुमको चतुष्कल ब्रह्म का उपदेश करता हूं जिसकी तुम्हें उपासना करनी चाहिये, तब ऋषभ ने पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इन चार कलाओं को ब्रह्म का एक पाद निरूपण किया और इस पाद का नाम "प्रकाशवान्" रखा जिसका तात्पर्य्य यह है कि ऋषभ ने विराट्रूप से ब्रह्म का वर्णन सत्यकाम के प्रति किया अर्थात् ब्रह्म वह है जो पूर्वोत्तरादि सब दिशाओं में व्यापक है जिसका देशकाल तथा वस्तुकृत परिच्छेद नहीं होसक्ता, या यों कहो कि यह नहीं कहाजासक्ता कि अमुक दिशा में है और अमुक दिशा में नहीं, न उसकी व्यापकता को कोई पदार्थ रोक सक्ता है, इसलिये वस्तुकृत परिच्छेद नहीं, और कालकृत परिच्छेद इसलिये नहीं कि वह भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनो कालों में एकरस रहता है, इस विषय को बोधन करने के लिये पूर्वादि सब दिशाओं को ब्रह्म का पादस्थानीय कथन किया है, और इससे ब्रह्म के ज्ञान का प्रकाश होता है, इसलिये इसको प्रकाशवान् नाम से वर्णन किया, इसके अनन्तर ऋषभ ने कहा कि आगे दूसरे पाद का उपदेश तुमको "अग्नि" नामक ऋषि करेंगे, इसी प्रकार मार्ग में "हंस" तथा "मद्गु" नामक ऋषियों ने सत्यकाम को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया।

कई एक लोग जो ऋषभादि को पशु,पक्षी आदि जड़ पदार्थ मानते हैं उनके मत में दोष यह है कि प्रथम तो पशु पक्षी आदिक उपदेश ही नहीं करसकते, यदि उनका उपदेश करना मान भी लियाजाय तो वह उपदेश ऐसा भ्रान्तिरहित कब होसकता है जिसको आचार्य्य ने यथावत् ठीक माना, इससे स्पष्ट है कि ऋषभादि ऋषियों के नाम थे कोई पशु, पक्षी अथवा अग्न्यादि जड़ पदार्थ न थे,और जो सत्यकाम ने आकर आचार्य्य से यह कथन किया है कि मुझे जो उपदेश मिला है वह किसी मनुष्य का नहीं, इसका तात्पर्य्य यह है कि दिव्यशक्ति वाले होने के कारण ऋषभादि को मनुष्य नहीं कहा जासकता, और इसी अभिप्राय से सत्यकाम ने उनको मनुष्यों से भिन्न देवविशेष वर्णन किया है ॥

इति पञ्चमःखण्डः समाप्तः

अथ षष्ठःखण्डःप्रारभ्यते

सं०—अब "अग्नि" का द्वितीयपाद सम्बन्धी उपदेश कथन करते हैं:—

अग्निष्टे पादं वक्तेति । स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार । ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ १ ॥

पद०—अग्निः । ते । पादं । वक्ता । इति । सः । ह । श्वोभूते । गाः । अभिप्रस्थापयाञ्चकार । ताः । यत्र । अभि । सायं । बभूवुः तत्र । अग्निं । उपसमाधाय । गाः । उपरुध्य । समिधं । आधाय । पश्चात् । अग्नेः । प्राङ् । उपोपविवेश ।

पदा०—(ते) तुमको (पादं) ब्रह्म के द्वितीय पाद का (वक्ता, इति) उपदेश (अग्निः) अग्नि करेंगे, (सः, ह) वह प्रसिद्ध सत्यकाम (श्वोभूते) प्रातःकाल (गाः) गौओं को लेकर (अभिप्रस्थापयाञ्चकार) आचार्य्यकुल की ओर चला (ताः) उनको (यत्र) जहां (अभि, सायं) सन्ध्या काल (बभूवुः) हुआ (तत्र) वहां (गाः, उपरुध्य) गौओं को ठहरा कर (अग्निं, उपसमाधाय) अग्नि को प्रज्वलित करके उसमें (समिधं, आधाय) समिधाओं का आधान कर (अग्नेः, पश्चात्) अग्नि के पीछे (प्राङ्) पूर्वाभिमुख (उपोपविवेश) बैठगये ॥

तमग्निरभ्युवाद—सत्यकाम इति । भगव इति प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

पद०—तं । अग्निः । अभ्युवाद । सत्यकाम । इति । भगवः । इति । प्रतिशुश्राव ।

पदा०—(अग्निः) अग्नि (तं) उस सत्यकाम को (सत्यकाम) हे सत्यकाम ! कहकर (अभ्युवाद) बोले, अग्नि के इस प्रकार कथन को सुन सत्यकाम ने कहा (भगवः, इति) हे भगवन् क्या आज्ञा है, इस प्रकार (प्रतिशुश्राव, इति) प्रत्युत्तर दिया ॥

सं०—अब "अग्नि" सत्यकाम को उपदेश करते हैं—

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच—पृथिवी कलाऽन्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥ ३ ॥

पद०—ब्रह्मणः। सोम्य । ते। पादं । ब्रवाणि । इति । ब्रवीतु। मे । भगवान् । इति । तस्मै । ह । उवाच । पृथिवी । कला । अन्तरिक्षं । कला । द्यौः । कला । समुद्रः । कला । एषः । वै । सोम्य । चतुष्कलः । पादः । ब्रह्मणः । अनन्तवान् । नाम ।

पदा०—(सोम्य) हे सोम्य (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (पादं) द्वितीय पाद का (ते) तुझ को (ब्रवाणि, इति) उपदेश करूं सत्यकाम ने कहा कि (भगवान्) हे ऐश्वर्यसम्पन्न ऋषे ! (मे) मुझ को (ब्रवीतु, इति) उपदेश करें (ह, तस्मै) उस प्रसिद्ध सत्यकाम को अग्नि (उवाच) बोले कि (कला, पृथिवी) उस ब्रह्म की प्रथम कला पृथिवी (कला, अन्तरिक्षं) द्वितीय कला अन्तरिक्ष (कला, द्यौ) तृतीय कला द्युलोक (कला,समुद्रः) चतुर्थ कला समुद्र है (सोम्य) हे सोम्य ! (वै) निश्चयकरके (ब्रह्मणः) ब्रह्म का (एषः) यह (चतुष्कलः) चार कला युक्त (पादः) पाद (अनन्तवान्, नाम) अनन्तवान् नाम वाला है ॥

सं०—अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

स य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवा-

नस्मिंल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोका-
ञ्जयति । य एतमेवं विद्वाॅंश्चतुष्कलं
पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥४॥

पद०—सः । यः । एतं । एवं । विद्वान् । चतुष्कलं । पादं । ब्रह्मणः । अनन्तवान् । इति । उपास्ते । अनन्तवान् । अस्मिन् । लोके । भवति । अनन्तवतः । ह । लोकान् । जयति । यः । एतं । एवं । विद्वान् । चतुष्कलं । पादं । ब्रह्मणः । अनन्तवान् । इति । उपास्ते ।

पदा०—(सः, यः) वह पुरुष जो (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (एतं) इस (चतुष्कलं) चार कला वाले (पादं) पाद को (एवं, विद्वान्) उक्त प्रकार से जानता हुआ (अनन्तवान्, इति) अनन्तवान् समझकर (उपास्ते) उपासना करता है वह (अस्मिन्, (लोके)इस लोक में (अनन्तवान्, भवति) अनन्तवान् होता है, और (ह) निश्चयकरके (अनन्तवतः, लोकान्) अनन्तवान् लोकों का (जयति) जय करता है ॥

भाष्य—"य एतमेवंविद्वाॅंश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, महर्षि ऋषभ ने सत्यकाम से कहा कि हे सत्यकाम ! मैंने तुम्हें ब्रह्म के प्रथम पाद का उपदेश किया, अब द्वितीय पाद का उपदेश तुमको "अग्नि" नामा ऋषि करेंगे, इसके अनन्तर दूसरे दिन प्रातःकाल ही गौओं को लेकर आचार्यकुल की ओर प्रस्थान किया, और जहां सन्ध्या काल हुआ

वहीं गौओं को ठहराकर सन्ध्या अग्निहोत्र करके पूर्वाभिमुख बैठगये, इसके अनन्तर महर्षि अग्नि हे सत्यकाम ! कहकर दूर से ही पुकारने लगे, अग्नि के इस वाक्य को सुनकर सत्यकाम ने कहा हे भगवन् ! क्या आज्ञा है मैं यहां उपस्थित हूं,इसके अनन्तर अग्नि ने कहा कि यदि आप ध्यानपूर्वक श्रवण करें तो मैं आपको ब्रह्म के द्वितीय पाद का उपदेश करूं सत्यकाम ने कहा कृपया मुझको उपदेश करें तब अग्नि ने उपदेश किया कि ब्रह्म की एक कला पृथिवी, द्वितीय अन्तरिक्ष, तृतीय द्युलोक और चतुर्थ कला समुद्र है, यह चतुष्कल ब्रह्म का द्वितीय पाद है जिसका नाम अनन्तवान् है, जो पुरुष इस पाद को भलेप्रकार जानते हैं, या यों कहो कि जो उक्त लोक लोकान्तरों के तत्व को विचारते हैं वह परमात्मा की अनन्त महिमा का अनुभव करते हुए अनन्तवान् लोकों के ज्ञाता होते हैं ॥

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब महर्षि "हंस" ब्रह्म के तृतीय पाद का कथन करते हैं:-

हꣳसस्ते पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार ।ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधायपश्चादग्नेःप्राङुपोपविवेश॥१॥

पद०—हंसः। ते। पादं। वक्ता। इति। सः। ह। श्वोभूते। गाः। अभिप्रस्थापयाञ्चकार। ताः। यत्र। अभि। सायं। बभूवुः। तत्र। अग्निं। उपसमाधाय। गाः। उपरुध्य। समिधं। आधाय। पश्चात्। अग्नेः। प्राङ्। उपोपविवेश।

पदा०—(हंसः) हंस (ते) तुझको (पादं) ब्रह्म के तृतीय पाद का (वक्ता, इति) उपदेश करेंगे, यह कहकर अग्नि वहां से चले गये (सः, ह) वह प्रसिद्ध सत्यकाम (श्वोभूते) दूसरे दिन प्रातःकाल (गाः) गौओं को लेकर (अभिप्रस्थापयाञ्चकार) आचार्य्यकुल की ओर चले (ताः) उनको (यत्र) जहां (अभि, सायं) सन्ध्या काल (बभूवुः) हुआ (तत्र) वहीं पर (गाः,उपरुध्य) गौओं को ठहरा (अग्निं, उपसमाधाय) अग्नि को प्रदीप्त करके (समिधं, आधाय) समिधाओं का आधान कर (अग्नेः) अग्नि के (पश्चात्) पीछे (प्राङ्) पूर्वाभिमुख (उपोपविवेश) बैठगये।

तꣳहꣳस उपनिपत्याभ्युवाद-सत्यकाम इति। भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

पद०—तं। हंसः। उपनिपत्य। अभ्युवाद। सत्यकाम। इति। भगवः। इति। ह। प्रतिशुश्राव।

पदा०—(ह) वह प्रसिद्ध (हंसः) हंस (उपनिपत्य) समीप आकर (सत्यकाम, इति) हे सत्यकाम! इस प्रकार (तं) उसको (अभ्युवाद) पुकारा तब सत्यकाम ने (प्रतिशुश्राव) उत्तर दिया कि (भगवः, इति) हे भगवन् क्या आज्ञा है।

सं०-अब महर्षि हंस कथन करते हैंः—

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्य्यं कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥ ३ ॥

पद०-ब्रह्मणः। सोम्य । ते । पादं । ब्रवाणि । इति । ब्रवीतु । मे । भगवान् । इति । तस्मै । ह । उवाच । अग्निः । कला । सूर्य्यः । कला । चन्द्रः । कला । विद्युत् । कला । एषः । वै । सोम्य । चतुष्कलः । पादः । ब्रह्मणः । ज्योतिष्मान् । नाम ।

पदा०-(सोम्य) हे सोम्य ! यदि आप ध्यानपूर्वक सुनें तो (ते) आपको (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (पादं) तृतीय पाद का (ब्रवाणि, इति) उपदेश करूं, तब सत्यकाम बोले (भगवान्) हे ऐश्वर्य्य-सम्पन्न (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु,इति) उपदेश करें,फिर (तस्मै) उसके लिये (ह) प्रसिद्ध हंस (उवाच) बोले कि ब्रह्म के तृतीय पाद की (अग्निः, कला) प्रथम कला अग्नि (सूर्य्यः, कला) दूसरी कला सूर्य्य (चन्द्रः, कला) तीसरी कला चन्द्रमा (विद्युत, कला) चौथी कला विद्युत है (सोम्य) हे सोम्य (वै) निश्चयकरके (ब्रह्मणः) ब्रह्म का(एषः) यह (चतुष्कलः) चतुष्कल (पादः) पाद (ज्योतिष्मान्, नाम) ज्योतिष्मान् नाम वाला है ।

सं०-अब उक्त पाद के ज्ञाता को फल कथन करते हैंः—

स य एतमेवं विद्वा॑श्चतुष्कलं पादं ब्रह्म-णो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मान-स्मिँल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोका-ञ्जयति य एतमेवं विद्वा॑श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

पद०—सः । यः । एतं । एवं । विद्वान् । चतुष्कलं । पादं । ब्रह्मणः । ज्योतिष्मान् । इति । उपास्ते । ज्योतिष्मान् । अस्मिन् । लोके । भवति । ज्योतिष्मतः । ह । लोकान् । जयति । यः । एतं । एवं । विद्वान् । चतुष्कलं । पादं । ब्रह्मणः । ज्योतिष्मान् । इति । उपास्ते ।

पदा०—(सः, यः) वह पुरुष जो (ब्रह्मणः, एतं, चतुष्कलं, पादं) ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को (एवं उक्त प्रकार से (विद्वान्) जानता हुआ (ज्योतिष्मान्,इति) ज्योतिष्मान् समझकर (उपास्ते) विचारता है वह (अस्मिन्, लोके, ज्योतिष्मान्, भवति) इस लोक में तेजस्वी होता है और (ज्योतिष्मतः, लोकान्, जयति) तेजवान् लोकों का जय करता है ।

भाष्य—"य एतमेवं विद्वा॑श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते" पाठ दोबार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, महर्षि हंस ने सत्यकाम को ब्रह्म का ज्योतिष्मान् नामक तृतीय पाद बतलाया जिसकी अग्नि, सूर्य्य,

चन्द्रमा और विद्युत्, यह चार कला हैं, सो हे सोम्य! जो पुरुष इस चतुष्कल पाद को जानता है वह तेजस्वी और तेजवान् लोकों का स्वामी होता है (शेषपूर्ववत्)।

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब महर्षि "मद्गु" चतुर्थ पाद का कथन करते हैं:—

मद्गुष्टे पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार। ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्नि मुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङु-पोपविवेश ॥ १ ॥

पद०—मद्गुः। ते। पादं। वक्ता। इति। सः। ह। श्वोभूते। गाः। अभिप्रस्थापयाञ्चकार। ताः। यत्र। अभि। सायं। बभूवुः। तत्र। अग्नि। उपसमाधाय। गाः। उपरुध्य। समिधं। आधाय। पश्चात्। अग्नेः। प्राङ्। उपोपविवेश।

पदा०—(ते) तुझको (पादं) ब्रह्म के चतुर्थ पाद का (वक्ता, इति) उपदेश (मद्गुः) मद्गु ऋषि करेंगे, (सः, ह,) वह प्रसिद्ध सत्यकाम (श्वोभूते) दूसरे दिन प्रातःकाल (गाः) गौओं को लेकर (अभिप्रस्थापयाञ्चकार) आचार्यकुल की ओर चला (ताः) उन्हों ने (यत्र) जहां (अभि, सायं) सन्ध्या को

(बभूवुः) प्राप्त किया (तत्र) वहीं (गाः, उपरुध्य) गौओं को ठहराकर (अग्निं, उपसमाधाय) अग्नि को प्रज्वलित करके (समिधं, आधाय) समिधाओं का आधान कर (अग्नेः, पश्चात्) अग्नि के पीछे (प्राङ्) पूर्वाभिमुख (उपोपविवेश) बैठगया ॥

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद–सत्यकाम इति । भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

पद०–तं । मद्गुः । उपनिपत्य । अभ्युवाद । सत्यकामः । इति । भगवः । इति । ह । प्रतिशुश्राव ।

पदा०–(तं) वह (मद्गुः) मद्गु (उपनिपत्य) समीप आकर (सत्यकामः, इति) हे सत्यकाम, इसप्रकार (अभ्युवाद) पुकारने लगे, तब (ह) प्रसिद्ध सत्यकाम ने (प्रतिशुश्राव) उत्तर दिया कि (भगवः, इति) हे भगवन् क्या आज्ञा है ॥

सं०–अब महर्षि मद्गु कथन करते हैं :—

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच–प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥ ३ ॥

पद०–ब्रह्मणः । सोम्य । ते । पादं । ब्रवाणि । इति । ब्रवीतु । मे । भगवान् । इति । तस्मै । ह । उवाच । प्राणः । कला । चक्षुः । कला । श्रोत्रं । कला । मनः । कला । एषः । वै । सोम्य । चतुष्कलः । पादः । ब्रह्मणः । आयतनवान् । नाम ।

पदा०-(सोम्य) हे सोम्य (ब्रह्मणः, पादं) ब्रह्म के चतुर्थ पाद का (ते) तुम्हें (ब्रवाणि, इति) उपदेश करूं, तब सत्यकाम ने कहा कि (भगवान्) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न (मे) मुझको (ब्रवीतु) उपदेश करें (ह) निश्चयकरके (तस्मै, उवाच) उसको ऋषि बोले कि (प्राणः, कला) प्रथम कला प्राण (चक्षुः, कला) दूसरी कला चक्षु (श्रोत्रं, कला) तीसरी कला श्रोत्र और (मनः, कला) चौथी कला मन है (सोम्य) हे सोम्य (वै) निश्चयकरके (ब्रह्मणः, एषः, चतुष्कलः, पादः) ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद (आयतनवान्, नाम) आयतनवान् नाम वाला है॥

सं०-अब उक्त पाद के ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

पद०-सः। य। यः। एतं। एवं। विद्वान्। चतुष्कलं। पादं। ब्रह्मणः। आयतनवान्। इति। उपास्ते। आयतनवान्। अस्मिन्। लोके। भवति। आयतनवतः। ह। लोकान्। जयति। यः। एतं। एवं। विद्वान्। चतुष्कलं। पादं। ब्रह्मणः। आयतनवान्। इति। उपास्ते।

पदा०-(सः) वह पुरुष (यः) जो (ब्रह्मणः) ब्रह्म के

(एतं, चतुष्कलं, पादं) इस चतुष्कल पाद को (एवं) उक्त प्रकार से (विद्वान्) जानता हुआ (आयतनवान्, इति) आयतनवान् समझकर (उपास्ते) विचारता है वह (अस्मिन्, लोके, आयतनवान्, भवति) इस लोक में आयतनवान् होता और (ह) निश्चयकरके (आयतनवतः, लोकान्, जयति) आयतनवान् लोकों का जय करता है।

भाष्य-य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते" पाठ दो वार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, महर्षि "मद्गु" ने सत्यकाम को ब्रह्म का आयतनवान् नाम चतुर्थपाद बतलाया जिसकी प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन यह चार कला हैं, सो हे सोम्य ! जो पुरुष इस चतुष्कल पाद को जानता है वह इस लोक में आयतन वान्=घर वाला अर्थात् ऐश्वर्य्य सम्पन्न होकर सबका स्वामी होता और अन्ततः मुक्ति को प्राप्त करता है, इस प्रकार मार्ग में षोडशकल ब्रह्म का उपदेश सत्यकाम जाबाल को इन चार ऋषियों ने किया, और वह उपदेश श्रवणकर आचार्य्यकुल में पहुंचगये ॥

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सत्यकाम आचार्य्यकुल को प्राप्त होकर मार्ग सम्बन्धी वृतांत आचार्य्य के प्रति कथन करते हैं:—

प्रापहाचार्य्यकुलम् । तमाचार्य्योऽ-

भ्युवाद–सत्यकाम इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ १ ॥

पद०–प्राप । ह । आचार्य्यकुलं । तं । आचार्य्यः । अभ्युवाद । सत्यकाम । इति । भगवः । इति । ह । प्रतिशुश्राव ।

पदा०–(ह) प्रसिद्ध सत्यकाम (आचार्य्यकुलं) आचार्य्य कुल को (प्राप) प्राप्त होगये तब (आचार्य्यः) आचार्य्य (सत्यकाम) हे सत्यकाम ! कहकर (तं) उसको (अभ्युवाद) पुकारने लगे, सत्यकाम ने नम्रतापूर्वक (भगवः) हे भगवन् क्या आज्ञा है (इति, ह) इस प्रकार (प्रतिशुश्राव) प्रत्युत्तर दिया ॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वाऽनुशशासेत्यन्येमनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे। भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात्॥२॥

पद०–ब्रह्मवित् । इव । वै । सोम्य । भासि । कः । नु । त्वा । अनुशशास । इति । अन्ये । मनुष्येभ्यः । इति । ह । प्रतिजज्ञे । भगवान् । तु । एव । मे । कामे । ब्रूयात् ।

पदा०–(सोम्य) हे ब्रह्मचारिन् (वै) निश्चयकरके तुम (ब्रह्मवित्, इव) ब्रह्मवित् पुरुष की न्याईं (भासि) सुशोभित होरहे हो (कः) किसने (त्वा) तुमको (अनुशशास, इति) उपदेश किया है (नु) " नु " वितर्कार्थ में आया है, यह सुन सत्यकाम ने (प्रतिजज्ञे) प्रत्युत्तर दिया कि (अन्ये, मनुष्येभ्यः, इति) मनुष्य से अन्य=ऋषियों ने उपदेश किया है (तु) परन्तु (भगवान्) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न ! (एव) निश्चयकरके आप (मे) मुझको (कामे) अपनी इच्छानुसार (ब्रूयात्) उपदेश करें ॥

श्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्य्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति । तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किञ्चन वीयायेति वीयायेति ॥ ३ ॥

पदा०-श्रुतं । हि । एव । मे । भगवद्दृशेभ्यः । आचार्य्यात् । ह । एव । विद्या । विदिता । साधिष्ठं । प्रापयति । इति । तस्मै । ह । एतत् । एव । उवाच । अत्र । ह । न । किञ्चन । वीयाय । इति । वीयाय । इति ।

पदा०-(ह) निश्चयकरके (भगवद्दृशेभ्यः) हे भगवन् ! आपके समान आचार्य्यों से (मे) मैंने (श्रुतं, एव) निश्चयपूर्वक सुना है कि (आचार्य्यात्) आचार्य्य से (एव) ही (विदिता, विद्या) ज्ञात हुई विद्या (साधिष्ठं) उत्तम मार्ग को (प्रापयति) प्राप्त कराती है (इति) इस हेतु आप मुझको ब्रह्मविद्या का उपदेश करें, तब (तस्मै) उसको (ह) प्रसिद्ध आचार्य्य ने (एतत्, एव) ब्रह्मविद्या विषयक ही (उवाच) उपदेश किया और कहा कि (अत्र, ह) इस विद्या में (न, किंचन, वीयाय, इति) कुछ न्यूनता नहीं अर्थात् सब प्रकार से पूर्ण है ।

भाष्य-" **वीयायेति** " पाठ दोबार उक्त अर्थ की पुष्टि तथा खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, (शेष सब अर्थ स्पष्ट हैं)

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब एक आख्यायिका द्वारा अनधिकारी को समावर्त्तन संस्कार का निषेध कथन करते हैं :—

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्य्यमुवास। तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन् परिचचार। स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयꣳस्तꣳह स्मैव न समावर्तयति॥१॥

पद०—उपकोसलः। ह। वै। कामलायनः। सत्यकामे। जाबाले। ब्रह्मचर्य्यं। उवास। तस्य। ह। द्वादश। वर्षाणि। अग्नीन्। परिचचार। सः। ह। स्म। अन्यान्। अन्तेवासिनः। समावर्तयन्। तं। ह। स्म। एव। न। समावर्तयति।

पदा०—(ह) प्रसिद्ध (कामलायनः) कमल ऋषि के पुत्र (उपकोसलः) उपकोसल ने (वै) निश्चयकरके (जाबाले, सत्यकामे) सत्यकामजाबाल के निकट (ब्रह्मचर्य्यं) ब्रह्मचर्य्य (उवास) व्रत और (अग्नीन्, परिचचार) विविध यज्ञों का अनुष्ठान किया (ह) प्रसिद्ध है कि (तस्य) उस उपकोसल के (द्वादश, वर्षाणि) बाहर वर्ष व्यतीत होगये (सः, ह) उस आचार्य्य ने (अन्यान्) और (अन्तेवासिनः) ब्रह्मचारियों का (समावर्तयन्, स्म) समावर्त्तन कराया परन्तु (तं, ह, एव) उस प्रसिद्ध उपकोसल का ही (न, समावर्तयति, स्म) समावर्तन संस्कार नहीं कराया।

भाष्य–प्रसिद्ध कमल ऋषि के पुत्र उपकोसल ने सत्य-काम जाबाल के निकट ब्रह्मचर्य्यपूर्वक अध्ययन, सन्ध्योपासन, सत्य तथा गुरुपूजा आदि विविधयज्ञों का अनुष्ठान करते हुए १२ वर्ष व्यतीत किये, इसके अनन्तर आचार्य्य ने इसके सहपाठियों का तो समावर्तन कराया परन्तु योग्य होने पर भी इसका संस्कार नहीं कराया ।

सं०–अब आचार्य्यपत्नि अपने पति से कथन करती है:—

तं जायोवाच-तप्तो ब्रह्मचारी कुशलम-ग्नीन् परिचचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवो-चन् प्रब्रूह्यस्मा इति । तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासाञ्चक्रे ॥२॥

पद०–तं । जाया । उवाच । तप्तः । ब्रह्मचारी । कुशलं । अग्नीन् । परिचचारीत् । मा । त्वा । अग्नयः । परिप्रवो-चन् ।। प्रब्रूहि । अस्मै । इति । तस्मै । ह । अप्रोच्य । एव । प्रवासाञ्चक्रे ।

पदा०–(जाया) आचार्य्यपत्नी (तं) आचार्य्य से (उवाच) बोली कि (ब्रह्मचारी) यह उपकोसल नामा ब्रह्मचारी (तप्तः) साधन सम्पन्न है, क्योंकि इसने (कुशलं, अग्नीन्, परिचचारीत्) सब प्रकार से यज्ञों का अनुष्ठान किया है, हे स्वामिन् ! (अग्नयः) सत्यादि व्रत (त्वा) आप (मा) मत (परिप्र-वोचन्) त्यागें (अस्मै) इस ब्रह्मचारी को (प्रब्रूहि, इति)

उपदेश करके समावर्तन करें (तस्मै) उस ब्रह्मचारी को (अप्रोच्य,एव) उपदेश किये बिना ही (प्रवासाञ्चक्रे) बाहर चले गये ॥

सं०—अब ऋषिपत्नि ब्रह्मचारी से कथन करती हैः—

स ह व्याधिनाऽनशितुं दध्रे । तमाचार्य्य जायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किन्नु नाश्नासीति । स होवाच-बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रति पूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति ॥ ३ ॥

पद०—सः । ह । व्याधिना । अनशितुं । दध्रे । तं । आचार्य्यजाया । उवाच । ब्रह्मचारिन् । अशान । किं । नु । न । अश्नासि । इति । सः । ह । उवाच । बहवः । इमे । अस्मिन् । पुरुषे । कामाः । नानात्ययाः । व्याधिभिः । प्रतिपूर्णः । अस्मि । न । अशिष्यामि । इति ।

पदा०—(सः, ह) उस प्रसिद्ध ब्रह्मचारी ने (व्याधिना, अनशितुं, दध्रे) मानसिक व्याधि के कारण खाना छोड़ दिया तब (तं) उस ब्रह्मचारी को (आचार्य्यजाया) आचार्य्यपत्नी (उवाच) बोली (ब्रह्मचारिन्) हे ब्रह्मचारिन् ! (अशान) आप भोजन करें (किं, नु, न, अश्नासि,इति) आप भोजन क्यों नहीं करते (सः, ह, उवाच) वह प्रसिद्ध ब्रह्मचारी बोला (बहवः, इमे, अस्मिन्, पुरुषे, नानात्ययाः, कामाः) इस पुरुष में अनेक मार्गों वाली बहुत प्रकार की कामनायें विद्यमान हैं (व्याधिभिः)

उन व्याधियों से (परिपूर्णः, अस्मि,इति) मैं परिपूर्ण हूं, इसलिये (न, अशिष्यामि, इति) मैं भोजन नहीं करूंगा ।

सं०—अब उपचार से अग्नियों का ब्रह्मचारी के प्रति उपदेश कथन करते हैं :—

अथ हाग्नयः समुदिरे-तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं न पर्य्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः ॥ ४ ॥

पद०—अथ । ह । अग्नयः । समुदिरे । तप्तः । ब्रह्मचारी । कुशलं । नः । पर्य्यचारीत् । हन्त । अस्मै । प्रब्रवाम । इति । तस्मै । ह । ऊचुः ।

पदा०—(अथ) इसके अनन्तर (ह) वह प्रसिद्ध (अग्नयः) अग्नियें (समुदिरे) परस्पर कहने लगीं कि (तप्तः, ब्रह्मचारी) इस ब्रह्मचारी ने तपश्चरण करते हुए(कुशलं) बड़ी योग्यता से (नः, पर्य्यचारीत्) हमारी सेवा की है (हन्त) यदि सब की सम्मति होतो (अस्मै) इसको (प्रब्रवाम, इति) हम सब उपदेश करें तब उन्होंने (तस्मै,ह,उवाच) उस ब्रह्मचारी को उपदेश किया ।

सं०—अब उक्त अग्नियों का उपदेश कथन करते हैं:—

प्राणो ब्रह्म । कं ब्रह्म । खं ब्रह्मेति । स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म । कञ्च तु खञ्च न विजानामीति । ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खम् । यदेव खं तदेव कमिति । प्राणञ्चहास्मै तदाकाशञ्चोचुः ॥ ५ ॥

पद०-प्राणः । ब्रह्म । कं । ब्रह्म । खं । ब्रह्म । इति । सः । ह । उवाच । विजानामि । अहं । यत् । प्राणः। ब्रह्म । कं । च । तु । खं । च । न । विजानामि । इति । ते । ह । ऊचुः । यत् । वाव । कं । तत् । एव । खं । यत् । एव । खं । तत् । एव । कं । इति । प्राणं । च । ह । अस्मै । तत् । आकाशं । च । ऊचुः ।

पदा०-(प्राणः, ब्रह्म) ब्रह्म प्राणस्वरूप है (कं, ब्रह्म) सुखस्वरूप है (खं, ब्रह्म, इति) आकाशवत् सर्वत्र व्यापक है,इस उपदेशानन्तर (सः, ह, उवाच) वह प्रसिद्ध ब्रह्मचारी बोला कि हे अग्नयो ! (अहं, विजानामि) मैं जानता हूं (यत्) कि (प्राणः, ब्रह्म) प्राण ब्रह्म है (तु) परन्तु (कं, च, खं, च) कं और खं के अर्थ को (न, विजानामि, इति) नहीं जानता तब (ते, ह, ऊचुः) वह प्रसिद्ध अग्नियें बोलीं कि (यत, वाव) जो ही (कं) है (तत्, एव) वही (खं) खं है (यत्, एव, खं) जो ही खं है (तत्, एव, कं, इति) वही कं है (अस्मै) उस ब्रह्मचारी को (प्राणं, च) प्राण (च) और (तत्, आकाशं) उस आकाश विषयक (ऊचुः) कथन किया।

भाष्य-अग्नियों ने उस ब्रह्मचारी को यह उपदेश किया कि प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है और खं ब्रह्म है अर्थात "प्राणिति सर्वं जगदिति प्राणः"=जो सब जगत् को चेष्टा कराता है उसका नाम "प्राण" सुख स्वरूप होने से उसी का नाम "कं" और सबका अधिकरण होने से ब्रह्म का नाम "खं" है, और इसी को "आकाश" कहते

हैं, उक्त ब्रह्मचारी उपकोसल को जो अग्नियों द्वारा ब्रह्म विद्या की प्राप्ति कथन कीगई है यह उपचार से है वास्तव में तात्पर्य्य यह प्रतीत होता है कि जब आचार्य्य उसका समावर्तन किये बिना ही बाहर चलेगये तो ब्रह्मचारी ने अपने अनुभव से ही प्राण, कं और खं को ब्रह्म समझा ॥

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उक्त ब्रह्मचारी को गार्हपत्याग्नि का उपदेश कथन करते हैं:—

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्नि-रन्नमादित्य इति । य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति॥१॥

पद०—अथ । ह । एनं । गार्हपत्यः । अनुशशास । पृथिवी । अग्निः । अन्नं । आदित्यः । इति । यः । एषः । आदित्ये । पुरुषः । दृश्यते । सः । अहं । अस्मि । सः । एव । अहं । अस्मि । इति ।

पदा०—(अथ) इसके अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (एनं) इस ब्रह्मचारी को (गार्हपत्यः) गार्हपत्याग्नि ने (अनुशशास) उपदेश किया कि (पृथिवी, अग्निः, अन्नं आदित्यः, इति) पृथिवी, अग्नि, अन्न और आदित्य यह मेरे रूप हैं, और (यः, एषः) जो यह (आदित्ये, पुरुषः) आदित्य में पुरुष (दृश्यते) दीखता है (सः) वह (अहं, अस्मि) मैं हूं ।

भाष्य—“ **स एवाहमस्मीति** ” पाठ दोबार उक्त

अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, जो सदा ही गृह में स्थिर रहती है उसका नाम " गार्हपत्याग्नि " है, और इसी की अग्नि कुण्ड में आकर " आहवनीय " संज्ञा होजाती है, यह अग्नि सब से मुख्य होने के कारण यह कथन किया गया है कि जो आदित्य में ज्योति है वह भी यही अग्नि है।

सं०—अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिँश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

पद०—सः। यः। एतं। एवं। विद्वान्। उपास्ते। अपहते। पापकृत्यां। लोकी। भवति। सर्वं। आयुः। एति। ज्योक्। जीवति। न। अस्य। अवर पुरुषाः। क्षीयन्ते। उप। वयं। तं। भुञ्जामः। अस्मिन्। च। लोके। अमुष्मिन्। च। यः। एतं। एवं। विद्वान्। उपास्ते।

पदा०—(सः,यः) वह पुरुष जो (एतं) इस गार्हपत्याग्नि को (एवं, विद्वान्) उक्त प्रकार से जानता हुआ (उपास्ते) उपासना करता है उसके (पापकृत्यां) पापकर्म (अपहते) नाश होकर (लोकी,भवति) लोकवान् होता है (सर्वं, आयुः, एति) सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है (ज्योक्, जीवति) उत्तम जीवन वाला होकर जीता है (अस्य) इसके (अवरपुरुषाः)

पुत्रपौत्रादि (न, क्षीयन्ते) क्षय को प्राप्त नहीं होते. और (अस्मिन्, च) इस लोक (च) और (अमुष्मिन् , लोके) परलोक में (तं) उस ज्ञाता पुरुष की (वयं) हम अग्नियें (उप, भुञ्जामः) सब ओर से रक्षा करती हैं ।

भाष्य-" य एतमेवं विद्वानुपास्ते " पाठ दोबार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, (शेष सब स्पष्ट है) ॥

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब उक्त ब्रह्मचारी को दक्षिणाग्नि का उपदेश कथन करते हैं:—

अथ हैनमन्वाहार्य्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति । य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

पद०-अथ । ह । एनं । अन्वाहार्य्यपचनः । अनुशशास । आपः । दिशः । नक्षत्राणि । चन्द्रमाः । इति । यः । एषः । चन्द्रमसि । पुरुषः । दृश्यते । सः । अहं । अस्मि । सः । एव । अहं । अस्मि । इति ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (एनं) इस ब्रह्मचारी को (अन्वाहार्य्यपचनः) दक्षिणाग्नि ने (अनुशशास)

उपदेश किया कि (आपः, दिशः, नक्षत्राणि, चन्द्रमाः,इति) जल, दिशायें, नक्षत्र और चन्द्रमा यह मेरे रूप हैं (यः, एषः चन्द्रमसि, पुरुषः, दृश्यते) जो यह चन्द्रमा में पुरुष दीखता है (सः, अहं, अस्मि) वह मैं हूं।

भाष्य-"स एवाहमस्मीति" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, दक्षिणाग्नि ने कहा कि जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा यह सब मेरे ही रूप हैं और जो चन्द्रमा में पुरुष दीखता है वह भी मैं ही हूं अर्थात् चन्द्रमादिकों में जो शक्ति है वही मुझ में भी है॥

सं०-अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उपवयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्चलोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते॥२॥

सूचना-यही श्लोक पीछे एकादश खण्ड में आया है जिस का पद पदार्थ वहां कियागया है, पाठकगण वहीं देखलें॥

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब उक्त ब्रह्मचारी को आहवनीय अग्नि का उपदेश कथन करते हैं:—

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास–प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति। य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

पद०–अथ। ह। एनं। आहवनीयः। अनुशशास। प्राणः। आकाशः। द्यौः। विद्युत्। इति। यः। एषः। विद्युति। पुरुषः। दृश्यते। सः। अहं। अस्मि। सः। एव। अहं। अस्मि। इति।

पदा०–(अथ) इसके अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (एनं) इस ब्रह्मचारी को (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि ने (अनुशशास) उपदेश किया कि (प्राणः, आकाशः, द्यौः, विद्युत्, इति) प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत् यह मेरे ही रूप हैं, और (यः,एषः) जो यह (विद्युति, पुरुषः, दृश्यते) विद्युत् में पुरुष दीखता है (सः, अहं, अस्मि) वह मैं ही हूं।

भाष्य–"स एवाहमस्मीति" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, आहवनीय अग्नि ने कहा कि प्राण, आकाश, द्यौ और विद्युत् यह सब मेरे ही रूप हैं और जो विद्युत् में पुरुष दृष्टिगत होता है वह भी मैं ही हूं अर्थात् विद्युतादिकों में जो शक्ति है वह मुझ में है, इसलिये यह सब अपना आप ही हैं॥

सं०—अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावर पुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते।२

सूचना—इस श्लोक का पद, पदार्थ पीछे ग्यारहवें खण्ड में करआये हैं पाठक वहीं देखलें ॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उक्त तीनों अग्नियों का मिलकर उपदेश कथन करते हैं:—

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्याऽऽत्मविद्या चाऽऽचार्य्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याऽऽजगाम हास्याऽऽचार्य्यस्तमाचार्य्योऽभ्युवादोपकोसल इति॥१॥

पद०—ते । ह । ऊचुः । उपकोसल । एषा । सोम्य । ते । अस्मद्विद्या । आत्मविद्या । च । आचार्य्यः । तु । ते । गतिं । वक्ता । इति । आजगाम । ह । अस्य । आचार्य्यः । तं । आचार्य्यः । अभ्युवाद । उपकोसल । इति ।

पदा०-(ते) वह (ह) प्रसिद्ध तीनों अग्नियें (ऊचुः) बोलीं कि (सोम्य) हे सोम्य (उपकोसल) उपकोसल (ते) तुमको जो उपदेश कियागया है (एषा) यह (अस्मद्विद्या) हमारीविद्या है (च) और यह (आत्मविद्यां) आत्मविद्या कहलाती है (तु) परन्तु (गतिं) इस ब्रह्मज्ञान का (वक्ता) उपदेश (ते) तुमको (आचार्य्यः, इति) आचार्य्य करेंगे (अस्य, आचार्य्यः) इसके आचार्य्य (आजगाम) आगये हैं (तं, आचार्य्यः) वह आचार्य्य (उपकोसल) हे उपकोसल ! इस प्रकार कहकर (अभ्युवाद) पुकारने लगे ॥

सं०-अब आचार्य्य और उपकोसल का वार्त्तालाप कथन करते हैं:—

भगव इति ह प्रतिशुश्राव । ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति । को नु त्वाऽनुशशासेति को नु माऽनुशिष्याद्भो इति हापेव निन्हुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे । किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति ॥ २ ॥

पद०-भगवः । इति । ह । प्रतिशुश्राव । ब्रह्मविदः । इव । सोम्य । ते । मुखं । भाति । कः । नु । त्वा । अनुशशास । इति । कः । नु । मा । अनुशिष्यात् । भोः । इति । ह । अप । इव । निह्नुते । इमे । नूनं । ईदृशाः । अन्यादृशाः । इति । ह । अग्नीन् । अभ्यूदे । किं । नु । सोम्य । किल । ते । अवोचन् । इति ।

पदा०-(ह) वह प्रसिद्ध ब्रह्मचारी बोला (भगवः, इति) हे भगवन् ! क्या आज्ञा है तब आचार्य्य बोले (सोम्य) हे ब्रह्मचारिन् ! (ते, मुखं) तेरा मुख (ब्रह्मविदः, इव) ब्रह्मवेत्ता के मुखसमान (भाति) सुशोभित है (कः, नु, त्वा, अनुशशास, इति) किसने तुझको उपदेश किया है (भोः) हे भगवन् ! (कः, नु, मा, अनुशिष्यात्) कौन मुझको अनुशासन करेगा (ह) वह प्रसिद्ध ब्रह्मचारी (इति) इसप्रकार (अप, निह्नुते, इव) उस उपदेश को छिपाने के समान बोला, फिर अग्नियों की ओर ध्यान करके कहा (अन्यादृशाः) मनुष्यों से भिन्न (इदृशाः) ऐसे जो (इमे) यह अग्नियें हैं इन्होंने ही उपदेश किया है (इति, ह) यह कहकर (अग्नीन्) अग्नियों को गुरु (अभ्यूदे) स्वीकार किया, तब आचार्य्य बोले (सोम्य) हे सोम्य ! (ते, किल) तेरे लिये इन्होंने (किं, नु) कौनसी विद्या (अवोचन्) सिखलाई है ॥

सं०-अब उपकोसल कथन करते हैं:—

इदमिति ह प्रतिजज्ञे । लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि—यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यन्त इति। ब्रवीतु मे भगवानिति। तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

पद०-इदं । इति । ह । प्रतिजज्ञे । लोकान् । वाव । किल । सोम्य । ते । अवोचन् । अहं । तु । ते । तत् । वक्ष्यामि । यथा ।

पुष्करपलाशे । आपः । न । श्लिष्यन्ते । एवं । एव । विदि । पापं । कर्म । न । श्लिष्यन्ते । इति । ब्रवीतु । मे । भगवान् । इति । तस्मै । ह । उवाच ।

पदा०-(ह) वह प्रसिद्ध ब्रह्मचारी बोला कि (इदं, इति, प्रतिजज्ञे) मैंने यह विद्या सीखी है तब आचार्य्य बोले (सोम्य) हे सोम्य ! (लोकान्, वाव) लौकिक विद्याओं का ही (किल, ते, अवोचन्) निश्चय तुझको उपदेश किया है (तु) परन्तु (अहं) मैं (ते) तुझको (तत्) उस ब्रह्मज्ञान का (वक्ष्यामि) उपदेश करूंगा जो मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है (यथा) जैसे (पुष्करपलाशे) कमल के पत्र पर (आपः, न, श्लिष्यन्ते) जल नहीं ठहर सकते (एवं) इसीप्रकार (एवंविदि) उक्त रीति से ब्रह्म के जानने वाले में (पापं, कर्म) पापकर्म (न, श्लिष्यन्ते) नहीं ठहरसकते (इति) यह सुनकर शिष्य बोला कि (भगवान्) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न ! (मे, ब्रवीतु) आप मुझको उस ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें, तब (तस्मै, ह, उवाच) उसको ब्रह्म-विद्या का उपदेश आचार्य्य ने किया ॥

इति चतुर्दशःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब आचार्य्य उस अमृतस्वरूप ब्रह्म का उपदेश करते हैं:-

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्

ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति ॥ १ ॥

पद०-यः । एषः । अक्षिणि । पुरुषः । दृश्यते । एषः । आत्मा । इति । ह । उवाच । एतत् । अमृतं । अभयं । एतत् । ब्रह्म । इति । तत् । यत् । अपि । अस्मिन् । सर्पिः । वा । उदकं । वा । सिञ्चन्ति । वर्त्मनी । एव । गच्छति ।

पदा०-(यः, एषः, पुरुषः, अक्षिणि, दृश्यते) जो यह पुरुष अक्षि में दीखता है (एषः, आत्मा, इति) यही आत्मा है (एतत्, अमृतं) वह अमृतस्वरूप है (अभयं) अभय है (एतत्, ब्रह्म, इति) यह सब से बड़ा है (इति, ह, उवाच) आचार्य्य ने यह कथन किया (तत्) उसमें (यत्, अपि) जो कुछ भी (अस्मिन्) इसमें (सर्पिः, वा, उदकं, वा) घी अथवा जल (सिञ्चति) डाले जाते हैं (वर्त्मनी, एव, गच्छति) वह किनारों पर ही चलाजाता है और यह अक्षि निर्लेप रहता है ॥

सं०-अब इस ज्ञान के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

एतꣳ संयद्वाम इत्याचक्षत एतꣲ हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येनं वामान्येभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

पद०-एतं । संयद्वामः । इति । आचक्षते । एतं । हि । सर्वाणि । वामानि । अभिसंयन्ति । सर्वाणि । एनं । वामानि । अभिसंयन्ति । यः । एवं । वेद ।

पदा०-(एतं, संयद्वामः, इति, आचक्षते) इसको संयद्वाम कहते हैं (एतं, हि, सर्वाणि, वामानि, अभिसंयन्ति) इसको ही सब सौन्दर्य्य प्राप्त होते हैं (यः, एवं, वेद) जो उक्त प्रकार से जानता है वह (सर्वाणि, एनं, वामानि, अभिसंयन्ति) सब सौन्दर्य्य वाला होता है॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति । सर्वाणि वामानि नयति । य एवं वेद ॥ ३ ॥

पद०-एषः । उ । एव । वामनीः । एषः । हि । सर्वाणि । वामानि । नयति । सर्वाणि । वामानि । नयति । यः । एवं । वेद ।

पदा०-(एषः, उ, एव, वामनीः) यही आत्मा वामनी है (हि) क्योंकि (सर्वाणि, वामानि) सम्पूर्ण सौन्दर्य्य (एषः, नयति) इसी से प्राप्त होते हैं (यः, एवं, वेद) जो उक्त प्रकार से जानता है वह (सर्वाणि, वामानि, नयति) सारे सौन्दर्य्य को प्राप्त होता है ।

सं०-अब परमात्मा को प्रकाशस्वरूप कथन करते हैंः—

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद॥४॥

पद०-एषः । उ । एव । भामनीः । एषः । हि । सर्वेषु । लोकेषु । भाति । सर्वेषु । लोकेषु । भाति । यः । एवं । वेद ।

पदा०-(एषः, उ, एव) यही (भामनीः) प्रकाश वाला है (हि) क्योंकि (एषः, सर्वेषु, लोकेषु, भाति) यही सब लोकों का प्रकाशक है (यः, एवं, वेद) जो उक्त प्रकार से जानता है वह (सर्वेषु, लोकेषु, भाति) सब लोकों में प्रकाशित होता है ॥

सं०-अब उक्त ब्रह्मवेत्ता पुरुष की गति कथन करते हैं :-

यथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान् मासेभ्यः संवत्सरꣳसंवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः ॥५॥

पद०-अथ । यत् । उ । च । एव । अस्मिन् । शव्यं । कुर्वन्ति । यदि । च । न । अर्चिषं । एव । अभिसंभवन्ति । अर्चिषः । अहः । अह्नः । आपूर्यमाणपक्षं । आपूर्य्यमाणपक्षात् । यान् । षड् । उदङ् । एति । मासान् । तान् । मासेभ्यः। सवत्सरं । संवत्सरात् । आदित्यं । आदित्यात् । चन्द्रमसं । चन्द्रमसः । विद्युतं । तत्पुरुषः । अमानवः ।

पदा०-(अथ) अब यह कथन करते हैं कि (यत्, उ, च, एव) जो निश्चयकरके (अस्मिन्) इसके शरीर का (शव्यं) मृतक कर्म (कुर्वन्ति) ऋत्विक् लोग करते हैं (यदि, च, न) अथवा नहीं करते (अर्चिषं, एव, अभिसंभवन्ति) पर यह

प्रकाश को ही प्राप्त होता है (अर्चिषः) उस प्रकाश से (अहः) दिन को (अन्हः) दिन से (आपूर्य्यमाणपक्षं) आपूर्य्यमाण पक्ष को (आपूर्य्यमाणपक्षात्) आपूर्य्यमाणपक्ष से (यान्, षड्, उदङ्, तान्, मासान्, एति) उत्तरायण के जो छ मास हैं उनको प्राप्त होता है (मासेभ्यः) उन मासों से (सवत्सरं) संवत्सर को (संवत्सरात्) संवत्सर से (आदित्यं) आदित्य को (आदित्यात्) आदित्य से (चन्द्रमसं) चन्द्रमा को (चन्द्र-मसः) चन्द्रमा से (विद्युतं) विद्युत् को प्राप्त होता है, और (तत्पुरुषः, अमानवः) ऐसा पुरुष मानव नहीं होता।

स एतान् ब्रह्मगमयत्येष देवपथो ब्रह्म-पथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानव-मावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥ ६ ॥

पद०—सः। एतान्। ब्रह्म। गमयति। एषः। देवपथः। ब्रह्मपथः। एतेन। प्रतिपद्यमानाः। इमं। मानवं। आवर्तं। न। आवर्तन्ते। न। आवर्तन्ते।

पदा०—(सः) उक्त ब्रह्मज्ञानी पुरुष (एतान्) ब्रह्म के उपासकों को (ब्रह्म, गमयति) ब्रह्म को प्राप्त कराता है (एषः, देवपथः) यही देवताओं का मार्ग है (ब्रह्मपथः) यही ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग है (एतेन, प्रतिपद्यमानाः) इस मार्ग द्वारा प्राप्त हुए २ (इमं, मानवं) इस मनु के (आवर्तं) पुनः २ जन्म मरण रूप भंवर को (न, आवर्न्तन्ते) प्राप्त नहीं होते।

भाष्य-"नावर्तन्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है,इस खण्ड में जो अक्षिपुरुष का वर्णन कियागया है वह कोई पुरुषविशेष नहीं किन्तु ब्रह्म को ही अक्षिपुरुष कथन किया है, यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापक होने से उसकी उपलब्धि सर्वत्र होती है तथापि अक्षि आदि पदार्थों में उसका वर्णन विशेषरूप से इस कारण किया है कि उक्त स्थानों में ब्रह्म का निर्माणकौशल्य अधिकता से पायाजाता है, या यों कहो कि उसकी सत्ता के द्योतक जिस प्रकार सूर्य्य चन्द्रमा तथा अक्षि आदि स्थान पायेजाते हैं इस प्रकार अन्य नहीं, इसी भाव से यहां अक्षिपुरुष का वर्णन है और उक्त पुरुष के ज्ञाता को यह फल कथन किया है कि उसकी लोकलोकान्तरों में ख्याति होती है, ऐसे पुरुष का दाहादि संस्कार यदि वैदिक न भी कियाजाय तो भी उसकी सद्गति में कोई भेद नहीं पड़ता, उक्त ज्ञानी पुरुष की अवस्था यह होती है कि प्रथम वह एक साधारण प्रकार के प्रकाश को प्राप्त होता है उसके अनन्तर अभ्यास करता हुआ दिन जैसे प्रकाश को प्राप्त होता है फिर उस प्रकाश से वह पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसे प्रकाश को प्राप्त होता है फिर उत्तरायण गति को प्राप्त होता है जिसका आशय यह है कि इस अवस्था में वह आत्मज्ञान से देदीप्यमान होजाता है, फिर वह संवत्सर=एकवर्ष पर्य्यन्त अपनी चित्तवृत्ति का निरोध करसक्ता है फिर आदित्य की अवस्था को प्राप्त होता है अर्थात् आदित्यसंज्ञक ब्रह्मचारी के समान होजाता है, इसके अनन्तर चन्द्रमा=ब्रह्मानन्द को प्राप्त होकर मुक्त होजाता है, फिर विद्युत् के समान अद्भुत प्रकाश वाला

होता है उक्त मुक्त पुरुष अन्य लोगों के लिये ब्रह्मप्राप्ति का हेतु होता है और स्वयं इस पुनर्जन्म के चक्र में नहीं आता अर्थात् परान्तकाल तक मुक्ति अवस्था में रहता है॥

इति पञ्चदशःखण्डः समाप्तः

अथ षोडशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब ज्ञानयज्ञ का वर्णन करते हैं:—

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदꣳ सर्वं पुनाति। यदेष यन्निदꣳ सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्त्तनी॥ १॥

पद०—एषः। ह। वै। यज्ञः। यः। अयं। पवते। एषः। ह। यत्। इदं। सर्वं। पुनाति। यत्। एषः। यन्। इदं। सर्वं। पुनाति। तस्मात्। एषः। एव। यज्ञः। तस्य। मनः। च। वाक्। च। वर्त्तनी।

पदा०—(ह, वै) निश्चयकरके (एषः) यह (यज्ञः) यज्ञ है (यः,अयं) जो यह (पवते) पवित्र करता है (एषः, ह) निश्चकरके यह यज्ञ (यत्) अपनी सुगन्धि द्वारा गमन करता हुआ (इदं, सर्वं, पुनाति) इन सब पदार्थों को पवित्र करता है (यत्, एषः) जिसलिये यह ज्ञानयज्ञ (यन्) अपने यज्ञोद्भव कर्मों

द्वारा (सर्वं, पुनाति) सबको पवित्र करता है (तस्मात्) इसकारण (एषः, एव) यही (यज्ञः) यज्ञ है (तस्य) इस ज्ञानरूप यज्ञ के (मनः, च, वाक्, च, वर्त्तनी) वाणी और मन दोनों मार्ग हैं।

भाष्य-ज्ञानयज्ञ के मन और वाणी यह दोनों प्रसिद्ध मार्ग हैं अर्थात् संस्कृत वाणी तथा संस्कृत मन वाला पुरुष उक्त ज्ञान यज्ञ को प्राप्त होता है अन्य नहीं, एकमात्र यही यज्ञ मनुष्य को पवित्र करता है इसी अभिप्राय से इसको यज्ञरूप से कथन कियागया है।

भाव यह है कि वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन है पर ज्ञानयज्ञ सब से श्रेष्ठ होने के कारण सर्वोपरि है, इसीलिये कृष्णजी भी गीता में इसकी महिमा यों वर्णन करते हैं किः—

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वंकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परि समाप्यते। गी०४। ३३

अर्थ-हे अर्जुन कर्मरूप यज्ञों से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि सब कर्म ज्ञानयज्ञ में ही समाप्त होते हैं, इसलिये ज्ञानयज्ञ सब से श्रेष्ठ है॥

सं०-अब उक्त मन, वाणीरूप दोनो मार्गों का कथन करते हैंः-

तयोरन्यतरांमनसा सꣳस्करोति ब्रह्मा। वाचा होताऽध्वर्युरुद्गाताऽन्यतराꣳस यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति॥ २॥

पद०—तयोः । अन्यतरां । मनसा । संस्करोति । ब्रह्मा । वाचा । होता । अध्वर्युः । उद्गाता । अन्यतरां । सः । यत्र । उपाकृते । प्रातरनुवाके । पुरा । परिधानीयायाः । ब्रह्मा । व्यववदति ।

पदा०—(तयोः) उक्त दोनों मार्गों में से जब (ब्रह्मा) ब्रह्मा (अन्यतरां) एक मार्ग को (मनसा,संस्करोति) मन से ग्रहण करता है और (होता,अध्वर्युः,उद्गाता) होता, अध्वर्यु तथा उद्गाता (अन्यतरां) अन्य मार्ग को ग्रहण करते हैं (यत्र) जहां (प्रातरनुवाके, उपाकृते) प्रातरनुवाक के प्रारम्भ होने से (पुरा) पूर्व (सः, ब्रह्मा) वह ब्रह्मा (परिधानीयायाः) परिधानीय ऋचाओं से प्रथम (व्यववदति) बोलता है तो वह यज्ञ पूर्ण नहीं होता ॥

सं०—अब उक्त यज्ञ में अन्य दोष कथन करते हैं:—

अन्यतरामेव वर्तनिꣳसꣳस्करोति हीयतेऽन्यतरा । स यथैकपाद्व्रजन्रथो वैकेन चक्रेण वर्त्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति । यज्ञꣳरिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति । सइष्ट्वा पापीयान् भवति ॥ ३ ॥

पद०—अन्यतरां । एव । वर्तनीं । संस्करोति । हीयते । अन्यतरा । सः । यथा । एकपाद् । व्रजन् । रथः । वा । एकेन । चक्रेण । वर्त्तमानः । रिष्यति । एवं । अस्य । यज्ञः । रिष्यति । यज्ञं । रिष्यन्तं । यजमानः । अनु । रिष्यति । सः । इष्ट्वा । पापीयान् । भवति ।

पदा०-(अन्यतरां, एव, वर्तनीं) उक्त दोनों मार्गों में से जो एक मार्ग का (संस्करोति) संस्कार करता है उसका (हीयते, अन्यतरा) दूसरा मार्ग हानि को प्राप्त होजाता है (सः) वह पुरुष इसप्रकार गिरजाता है (यथा) जैसे (एकपाद्, व्रजन्, रथः) एक पाद वाला रथ (एकेन,चक्रेण,वर्त्तमानः) एक चक्र से वर्त्तमान (रिष्यति) गिरजाता है (एवं, अस्य, यज्ञः) इसी प्रकार इस पुरुष का यज्ञ (रिष्यति) हानि को प्राप्त होता है (यज्ञं, रिष्यन्तं) यज्ञ के नष्ट होने पर (यजमानः,अनु, रिष्यति) यजमान भी हानि को प्राप्त होता है (सः) वह यजमान (इष्ट्वा) ऐसे यज्ञ का करने वाला (पापीयान्,भवति) पापी होता है।

भाष्य—जिस यज्ञ में ब्रह्मा आदि ऋत्विक् यज्ञ के ज्ञान तथा कर्म इन दोनों मार्गों से काम नहीं लेते वह यज्ञ फलहीन होने से उसका करने वाला यजमान भी पापी होता है।

सं०—अब उक्त दोनो मार्गों के ठीक रखने का कथन करते हैं:—

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदत्युभे एव वर्तनी सꣳस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ।४।

पद०—अथ । यत्र । उपाकृते । प्रातरनुवाके । न । पुरा । परिधानीयायाः । ब्रह्मा । व्यववदति । उभे । एव । वर्तनी । संस्कुर्वन्ति । न । हीयते । अन्यतरा ।

पदा०—(अथ) और (यत्र) जिस यज्ञ में (प्रातरनुवाके, उपाकृते) प्रातरनुवाक के प्रवृत्त होने पर (परिधानीयायाः) परिधानीय ऋचा से (पुरा) पूर्व (ब्रह्मा) ब्रह्मा (न, व्यववदति) नहीं

बोलता (उभे, एव, वर्तनी, संस्कुर्वन्ति) और दोनों मार्गों का संस्कार ऋत्विक् लोग करते हैं तो (न, हीयते, अन्यतरा) दोनों में कोई मार्ग हानि को प्राप्त नहीं होता।

सं०—अब उक्त यज्ञ के समर्थन में दृष्टान्त कथन करते हैं:—

स यथोभयपाद्व्रजन्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान् भवति ॥५॥

पद०—सः । यथा । उभयपाद् । व्रजन् । रथः । वा । उभाभ्यां । चक्राभ्यां । वर्तमानः । प्रतितिष्ठति । एवं । अस्य । यज्ञः । प्रतितिष्ठति । सः । इष्ट्वा । श्रेयान् । भवति ।

पदा०—(सः) वह (रथः) रथ (यथा) जैसे (उभयपाद्, व्रजन्) दोनों पादों से चलता हुआ (वा) और (उभाभ्यां, चक्राभ्यां, वर्तमानः) दोनों चक्रों से वर्त्तमान (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है (एवं) इसी प्रकार (अस्य) इस यजमान का (यज्ञः) यज्ञ (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है और (सः, इष्ट्वा, श्रेयान, भवति) वह यजमान यज्ञ करके पुण्यात्मा होता है।

भाष्य—जिसप्रकार दोनों चक्रों से चलने वाला रथ प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है इसीप्रकार कर्मरूप वाणी और ज्ञानरूप मन से संयुक्त यज्ञ प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है अर्थात् ज्ञान तथा कर्म यह दोनों अङ्ग जिस यज्ञ में पूर्ण रहते हैं वही यज्ञ शुभ होता है, क्योंकि ज्ञानकर्म के समुच्चय से ही पुरुष को शुभ फलों

तथा मुक्ति की प्राप्ति होती है, इसी अभिप्राय से "अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्याऽमृतमश्नुते" यजु० ४०। ८ इस मंत्र में ज्ञान कर्म के समुच्चय का विधान किया है॥

इति षोडशःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब प्रजापति परमात्मा द्वारा पृथिव्यादि पदार्थों की उत्पत्ति तथा वेदों का आविर्भाव कथन करते हैं:—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानाᳬरसान् । प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥ १ ॥

पद०-प्रजापतिः । लोकान् । अभ्यतपत् । तेषां । तप्यमानानां । रसान् । प्रावृहत् । अग्निं । पृथिव्याः । वायुं । अन्तारिक्षात् । आदित्यं । दिवः ।

पदा०—(प्रजापतिः) परमात्मा ने (लोकान्) सम्पूर्ण लोकों को (अभ्यतपत्) उत्पन्न किया (तेषां,तप्यमानानां) इनके उत्पन्न होने के पश्चात् (रसान्) सब के सारभूत अग्नि, वायु, आदित्य इन महर्षियों को (प्रावृहत) प्रवृद्ध किया (पृथिव्यां, अग्निं) पार्थिव गुणों के प्रकाशार्थ अग्नि को (अन्तरिक्षात्,वायुं) अन्तरिक्ष के गुण प्रकाशार्थ वायु को (दिवः, आदित्यं) द्युलोकस्थ पदार्थों के द्योतनार्थ आदित्य को उत्पन्न किया॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाꣳरसान् प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूꣳषि सामान्यादित्यात्॥२॥

पद०—सः। एताः। तिस्रः। देवताः अभ्यतपत्। तासां। तप्यमानानां। रसान्। प्रावृहत्। अग्नेः। ऋचः। वायोः। यजूंषि। सामानि। आदित्यात्।

पदा०—(सः) उस प्रजापति परमात्मा ने (एतः) अग्नि, वायु, आदित्य यह (तिस्रः) तीन (देवताः) दिव्यगुण वाले महर्षि (अभ्यतपत्) उत्पन्न किये (तासां, तप्यमानानां) इनके उत्पन्न होने के अनन्तर (रसान्) ऋग्, यजु, साम रूप रसों को (प्रावृहत्) प्रकाशित किया (अग्नेः, ऋचः) अग्नि द्वारा ऋग्वेद (वायोः, यजूंषि) वायु द्वारा यजुर्वेद (सामानि, आदित्यात्) आदित्य द्वारा सामवेद प्रकाशित हुआ॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्रावृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः॥३॥

पद०—सः। एतां। त्रयीं। विद्यां। अभ्यतपत्। तस्याः। तप्यमानायाः। रसान्। प्रावृहत्। भूः। इति। ऋग्भ्यः। भुवः। इति। यजुर्भ्यः। स्वः। इति। सामभ्यः।

पदा०—(सः) उस प्रजापति परमात्मा ने (एतां, त्रयीं, विद्यां, अभ्यतपत्) इस त्रयी विद्या को उत्पन्न किया (तस्याः, तप्यमानायाः) उसके उत्पन्न होने पर (रसान्, प्रावृहत्) रसों

को उत्पन्न किया (भूः, इति, ऋग्भ्यः) ऋग्वेद द्वारा "भूः" (भुवः, इति, यजुर्भ्यः) यजुर्वेद द्वारा "भुवः" (स्वः, इति, सामभ्यः) सामवेद द्वारा "स्वः" व्याहृतियों को उत्पन्न किया ॥

सं०-अब ऋग्वेदनिमित्तक यज्ञ के खण्डित होने पर प्रायश्चित्त कथन करते हैंः—

तद्यद्यृक्तो रिष्येद् भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणार्चां यज्ञस्य विरिष्टꣳ सन्दधाति॥४॥

पद०-तत् यदि। ऋक्तः। रिष्येत्। भूः। स्वाहा। इति। गार्हपत्ये। जुहुयात्। ऋचां। एव। तत्। रसेन। ऋचां। वीर्य्येण। ऋचां। यज्ञस्य। विरिष्टं। सन्दधाति।

पदा०-(यदि) यदि (तत्) वह (ऋक्तः, रिष्येत्) ऋग्वेद निमित्तक यज्ञ खण्डित होजाय तो उसके प्रायश्चित्तार्थ (गार्हपत्ये) गार्हपत्याग्नि में (भूः, स्वाहा, इति) "भूः" स्वाहा बोलकर (जुहुयात्) हवन करे, क्योंकि वह (ऋचां) ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा (यज्ञस्य) यज्ञ के (विरिष्टं) खण्डित होने को (सन्दधाति) सन्धान करती है (तत्) वह (ऋचां, एव, रसेन) ऋग्वेद का ही ऋचारूप "भूः" रस है और (ऋचां, वीर्य्येण) ऋग्वेद के ही प्रभाव से उस खण्डित यज्ञ का प्रायश्चित्त होता है॥

सं०-अब यजुर्वेदनिमित्तक यज्ञ के खण्डित होने पर प्रायश्चित्त कथन करते हैंः—

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषांवीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टᳬ सन्दधाति ॥ ५ ॥

पद०—अथ । यदि । यजुष्टः । रिष्येत् । भुवः । स्वाहा । इति । दक्षिणाग्नौ । जुहुयात् । यजुषां । एव । तत् । रसेन । यजुषां । वीर्य्येण । यजुषां । यज्ञस्य । विरिष्टं । सन्दधाति ।

पदा०—(अथ) अत्र (यदि) यदि (यजुष्टः) यजुर्वेद निमित्तक यज्ञ (रिष्येत्) खण्डित होजाय तो (दक्षिणाग्नौ) दक्षिणाग्नि में (भुवः, स्वाहा, इति) "भुव" स्वाहा बोलकर (जुहुयात्) हवन करे, क्योंकि (यजुषां, यज्ञस्य) यजुर्वेद निमित्तक यज्ञ के (विरिष्टं) खण्डित होने को यही (सन्दधाति) पूर्ण करती है (तत्) वह (यजुषां, एव, रसेन) यजुर्वेद के रस "भुवः" द्वारा (यजुषां, वीर्य्येण) यजुर्वेद के प्रभाव से ही उस खण्डित यज्ञ का प्रायश्चित्त होता है ॥

सं०—अब सामवेदनिमित्तक यज्ञ के खण्डित होने पर प्रायश्चित्त कथन करते हैं:—

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीयेजुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन

साम्नां वीर्य्येण साम्नां यज्ञस्य विरि-ष्टँसन्दधाति ॥६॥

पद०—अथ । यदि । सामतः । रिष्येत् । स्वः । स्वाहा । इति । आहवनीये । जुहुयात् । साम्नां । एव । तत् । रसेन । साम्नां । वीर्य्येण । साम्नां । यज्ञस्य । विरिष्टं । सन्दधाति ।

पदा०—(अथ) अब (यदि) यदि (सामतः) सामवेद निमित्तक यज्ञ (रिष्येत्) खण्डित होजाय तो (आहवनीये) आहवनीयाग्नि में (स्वः, स्वाहा, इति) "स्वः" स्वाहा पढ़कर (जुहुयात्) होम करे, क्योंकि (साम्नां, यज्ञस्य) सामवेद यज्ञ के (विरिष्टं) खण्डित होने को (सन्दधाति) यही पूर्ण करती है (साम्नां) सामवेद के (एव) ही (तत् , रसेन) "स्वः" रूप रस से, और (साम्नां, वीर्य्येण) सामवेद के ही प्रभाव से खण्डित यज्ञ का प्रायश्चित्त होता है ॥

सं०—अब ब्रह्मा के ज्ञानविषयक कथन करते हैं:—

तद्यथा लवणेन सुवर्णँसन्दध्यात् सुवर्णेन रजतँरजतेन त्रपु त्रपुणा सीसँसीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥७॥

पद०—तत् । यथा । लवणेन । सुवर्ण । सन्दध्यात् । सुवर्णेन । रजतं । रजतेन । त्रपु । त्रपुणा । सीसं । सीसेन । लोहं । लोहेन । दारु । दारु । चर्मणा ।

पदा०-(तत्) उक्त विषय में दृष्टान्त यह है कि (यथा) जैसे (लवणेन) क्षार पदार्थ से (सुवर्णं) सुवर्ण को (सन्दध्यात्) जोड़ाजाता है (सुवर्णेन, रजतं) सुवर्ण से रजत को (रजतेन, त्रपु) रजत से कलई को (त्रपुणा, सीसं) कलई से सीसे को (सीसेन, लोहं) सीसे से लोहे को (लोहेन, दारु, चर्मणा, दारु) लोहे और चर्म से काष्ठ को जोड़ाजाता है ॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्य्येण यज्ञस्य विरिष्टꣳसन्दधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्माभवति ॥ ८ ॥

पद०-एवं । एषां । लोकानां । आसां । देवतानां । अस्याः । त्रय्याः । विद्यायाः । वीर्य्येण । यज्ञस्य । विरिष्टं । सन्दधाति । भेषजकृतः । ह । वै । एषः । यज्ञः । यत्र । एवंविद् । ब्रह्मा । भवति ।

पदा०-(एवं) इसी प्रकार (एषां, लोकानां) इन लोकों (आसां, देवतानां) अग्नि आदि देवताओं और (अस्याः, त्रय्याः, विद्यायाः) उक्त त्रयी विद्या के (वीर्य्येण) बल से (यज्ञस्य, विरिष्टं, सन्दधाति) यज्ञ की हानि को ब्रह्मा पूर्ण करता है (ह, वै) निश्चयकरके (यत्र) जिस यज्ञ में (एवंविद्) ऐसा जानने वाला (ब्रह्मा, भवति) ब्रह्मा होता है, (एषः, यज्ञः) वह यज्ञ (भेषजकृतः) ओषधरूप होता है ॥

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद्ब्र-

ह्माभवत्येवंविदꣳह वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा यतो यत आवर्त्तते तत्तद्गच्छति ॥ ९ ॥

पद०-एषः । ह । वै । उदक्प्रवणः । यज्ञः । यत्र । एवंविद् । ब्रह्मा । भवति । एवंविदं । ह । वै । एषा । ब्रह्माणं । अनुगाथा । यतः । यतः । आवर्त्तते । तत् । तत् । गच्छति ।

पदा०-(ह, वै) निश्चयकरके (एषः, यज्ञः) उक्त यज्ञ (उदक्प्रवणः) सब की रक्षा करने वाला होता है (यत्र, एवंविद्, ब्रह्मा, भवति) जहां इसप्रकार का जानने वाला ब्रह्मा होता है (एवंविदं, ह, वै) निश्चयकरके इस प्रकार के (ब्रह्माणं) ब्रह्मा की यह (अनुगाथा) गाथा है कि (यतः, यतः) जहां २ यज्ञ में (आवर्त्तते) कोई अपने कर्म से गिरजाता है (तत, तत्) उस २ कर्म को (गच्छति) ब्रह्मा जानलेता है ॥

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाऽभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानꣳसर्वाꣳश्चर्त्विजोऽभिरक्षति । तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ १० ॥

पद०-मानवः । ब्रह्मा । एव । एकः । ऋत्विक् । कुरून् । अश्वा । अभिरक्षति । एवंविद् । ह । वै ब्रह्मा । यज्ञं । यजमानं । सर्वान् । च । ऋत्विजः । अभिरक्षति । तस्मात् । एवंविदं । एव । ब्रह्माणं । कुर्वीत । न । अनेवंविदं । न । अनेवंविदम् ।

पदा०-(कुरून्, अश्वा, अभिरक्षति) जिसप्रकार कुरुओं की एक योग्य घोड़ी ने रक्षा की थी (ह, वै) निश्चयकरके (एवंविद्) ऐसा जानने वाला ब्रह्मा (यज्ञं) यज्ञ की (यजमानं) यजमान की (च) और (सर्वान्, ऋत्विजः) सब ऋत्विजों की (अभिरक्षति) रक्षा करता है (तस्मात्) इसकारण (एवंविदं, एवं) ऐसे जानने वाले को ही (ब्रह्माणं) ब्रह्मा (कुर्वीत) बनावे (न, अनेवंविदं) न जानने वाले को न बनावे, ऐसा (मानवः) मननशील (एकः, एव, ऋत्विक्) एक ही ऋत्विक् यज्ञ के लिये पर्य्याप्त होता है।

भाष्य-"**नानेवंविदम्**" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, इस खण्ड के श्लोकों का भाव यह है कि प्रजापति परमात्मा ने अपने ज्ञानद्वारा पृथिव्यादि लोकों की स्तुति के लिये महर्षि "अग्नि" को तथा अन्तरिक्ष से लेकर लोक लोकान्तरों में यज्ञों द्वारा हवि पहुंचाने के लिये "वायु" को और दिव्यगीतियों के गानार्थ "आदित्य"को उत्पन्न किया अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य इन तीन ऋषियों को इसलिये उत्पन्न किया कि इनके हृदय में वेदों का प्रकाश कियाजाय, उत्पन्न करके ऋग्, यजु, साम यह तीन वेद इनको दिये, और इनमें भूः, भुवः, स्वः इन व्याहृतियों को मुख्य रखा, इसलिये यदि कोई ऋग्वेद वेत्ता अपने कर्म में त्रुटि करता है तो वह "**भूः स्वाहा**" इस व्याहृति से आहुति देकर अपनी त्रुटि को पूर्ण करे, यदि यजुर्वेद वेत्ता त्रुटि करे तो "**भुवः स्वाहा**" इससे आहुति दे और सामवेद वेत्ता त्रुटि करे तो "**स्वः स्वाहा**" इससे आहुति दे, उक्त प्रकार से आहुतियां देने वाला अपनी सब त्रुटियों को

पूर्ण करलेता है परन्तु उक्त त्रुटियों के पूर्ण कराने वाला ब्रह्मा पूर्णज्ञाता होना चाहिये जो ऋगादि वेद तथा उक्त व्याहृतियों के तत्व को पूर्ण रीति से जानता हो, ऐसे ब्रह्मा के अधिष्ठातृत्व में जो यज्ञ कियाजाता है वह यजमान तथा सब ऋत्विकों का रक्षक होता है, इसलिये यजमान को चाहिये कि वेद वेदाङ्गों के जानने वाले को ब्रह्मा बनावे ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे उपनिषदार्य्यभाष्ये चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः

ओ३म्

अथ पञ्चमःप्रपाठकः प्रारभ्यते

सं०—अब प्राणविद्या का वर्णन करते हैं:—

यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद ज्ये-ष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति। प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥१॥

पद०—यः। ह। वै। ज्येष्ठं। च। श्रेष्ठं। च। वेद। ज्येष्ठः। च। ह। वै। श्रेष्ठः। च। भवति। प्राणः। वाव। ज्येष्ठः। च। श्रेष्ठः। च।

पदा०—(ह, वै) निश्चयकरके (यः) जो उपासक (ज्येष्ठं, च, श्रेष्ठं, च,) ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को (वेद) जानता है वह (ह, वै) निश्चयपूर्वक (ज्येष्ठः, च, श्रेष्ठः, च) ज्येष्ठ और श्रेष्ठ (भवति) होता है (प्राणः, वाव) प्राणः ही (ज्येष्ठः च, श्रेष्ठः, च) ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं ॥

सं०—अब प्राणों की श्रेष्ठता में उदाहरण कथन करते हैं:—

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति। वाग्वाव वसिष्ठः ॥२॥

पद०—यः। ह। वै। वसिष्ठं। वेद। वसिष्ठः। ह। स्वानां। भवति। वाक्। वाव। वसिष्ठः।

पदा०—(ह, वै) निश्चयकरके (यः) जो उपासक (वसिष्ठं, वेद) श्रेष्ठ को जानता है वह (ह) निश्चयकरके (स्वानां,

वसिष्ठः, भवति) अपने स्वजातियों में श्रेष्ठ होता है (वाक्, वाव) बाणी ही (वसिष्ठः) श्रेष्ठ है ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिँश्च । चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

पद०–यः । ह । वै । प्रतिष्ठां । वेद । प्रति । ह । तिष्ठति । अस्मिन् । च । लोके । अमुष्मिन् । च । चक्षुः । वाव । प्रतिष्ठा ।

पदा०–(ह, वै) निश्चयकरके (यः) जो उपासक (प्रतिष्ठां, वेद) प्रतिष्ठा को जानता है वह (अस्मिन्, च, अमुष्मिन्, च, लोके) इस लोक तथा परलोक में (ह) निश्चयकरके (प्रति, तिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है (चक्षुः, वाव, प्रतिष्ठा) चक्षु ही प्रतिष्ठा है ॥

यो ह वै सम्पदं वेद सँ हास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च । श्रोत्रं वाव सम्पत् ॥४॥

पद०–यः । ह । वै । सम्पदं । वेद । सं । ह । अस्मै । कामाः । पद्यन्ते । दैवाः । च । मानुषाः । च । श्रोत्रं । वाव । सम्पत् ।

पदा०–(ह, वै) निश्चयकरके (यः) जो उपासक (सम्पदं, वेद) सम्पदा को जानता है (ह) निश्चयकरके (अस्मै) उसके लिये (दैवाः, च, मानुषाः, च) सर्वोत्तम मनुष्य सम्बन्धी (कामाः) कामनायें (सं, पद्यन्ते) प्राप्त होती हैं (श्रोत्रं, वाव, सम्पत्) श्रोत्र ही सम्पदा है ॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनँ ह स्वा-

नां भवति। मनो ह वा आयतनम् ॥५॥

पद०-यः । ह । वै । आयतनं । वेद । आयतनं । ह । स्वानां । भवति । मनः । ह । वै । आयतनं ।

पदा०-(ह, वै) निश्चयकरके (यः) जो उपासक (आयतनं, वेद) आयतन को जानता है वह (ह) निश्चयकरके (स्वानां, आयतनं, भवति) अपने बान्धव वा स्वजातियों का आश्रय होता है (ह, वै) निश्चयकरके (मनः, आयतनं) मन ही आश्रय है ॥

सं०-अब इन्द्रियों का परस्पर विवाद कथन करते हैं:—

अथ ह प्राणा अहꣳश्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳ श्रेयानस्म्यहꣳ श्रेयानस्मीति ॥ ६ ॥

पद०-अथ । ह । प्राणाः । अहं । श्रेयसि । व्यूदिरे । अहं । श्रेयान् । अस्मि । अहं । श्रेयान् । अस्मि । इति ॥

पदा०-(अथ) अब (ह) निश्चयकरके यह कथन करते हैं कि (प्राणाः) वागादि इन्द्रिय कहने लगे कि (अहं, श्रेयसि) मैं श्रेष्ठ हूं (अहं, श्रेयान्, अस्मि) मैं श्रेष्ठ हूं (अहं, श्रेयान्, अस्मि) मैं श्रेष्ठ हूं (इति) इसप्रकार (व्यूदिरे) परस्पर विवाद करने लगे ॥

सं०-अब इन्द्रियों का प्रजापति के पास जाना कथन करते हैं :-

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचु-र्भगवन्, को नः श्रेष्ठ इति तान् हो-

वाच यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति।७।

पद०-ते । ह । प्राणाः । प्रजापतिं । पितरं । एत्य । ऊचुः । भगवन् । कः । नः । श्रेष्ठः । इति । तान् । ह । उवाच । यस्मिन् । वः । उत्क्रान्ते । शरीरं । पापिष्ठतरं । इव । दृश्येत । सः । वः । श्रेष्ठः । इति ।

पदा०-(ते) वह (ह) प्रसिद्ध (प्राणाः) इन्द्रिय (प्रजापतिं, पितरं) अपने रक्षक प्रजापति को (एत्य) प्राप्त होकर (ऊचुः) बोले कि (भगवन्) हे भगवन् (नः, कः, श्रेष्ठः, इति) हम में से कौन श्रेष्ठ है ! तब (तान्, ह, उवाच) उनको प्रजापति बोला (वः) तुम में से (यस्मिन्, उत्क्रान्ते) जिसके चले जाने पर (शरीरं) शरीर (पापिष्ठतरं, इव, दृश्येत) महापापी सा देख पड़े (सः) वही (वः) तुम में (श्रेष्ठः, इति) श्रेष्ठ है।

सं०-अब प्रथम वाणी का उत्क्रमण कथन करते हैंः—

सा ह वागुच्चक्राम-सा संवत्सरं प्रोष्य पर्य्येत्योवाच-कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा कला अवदन्तःप्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति। प्रविवेश ह वाक्॥८॥

पद०-सा । ह । वाक् । उच्चक्राम । सा । संवत्सरं । प्रोष्य । पर्य्येत्य । उवाच । अथं । अशकत । ऋते । मत् । जीवितुं । इति ।

यथा । कलाः । अवदन्तः । प्राणन्तः । प्राणेन । पश्यन्तः । चक्षुषा । शृण्वन्तः । श्रोत्रेण । ध्यायन्तः । मनसा । एवं । इति । प्रविवेश । ह । वाक् ।

पदा०-(सा) वह (ह) प्रसिद्ध (वाक्) बाणी (उच्चक्राम) उत्क्रमण करगई और (सा) वह (संवत्सरं) एकवर्ष (प्रोष्य) बाहर रहकर (पर्य्येत्य) फिर आकर अन्य प्राणों से (उवाच) बोली की (मत्, ऋते) मेरे विना (जीवितुं, कथं, अशकत, इति) तुम कैसे जीवित रहे तब अन्य इन्द्रिय बोले कि (यथा) जैसे (कलाः, अवदन्तः) गूंगे बोलते हुए (प्राणेन, प्राणन्तः) मुख्य प्राण से प्राणों को धारण करते हुए (चक्षुषा, पश्यन्तः) चक्षु से देखते (श्रोत्रेण, शृण्वन्तः) श्रोत्र से सुनते (मनसा, ध्यायन्तः) मन से ध्यान करते हुए जीते हैं (एवं) इसी प्रकार हम भी जीवित रहे (इति) यह सुनकर (ह) वह प्रसिद्ध (वाक्) बाणी (प्रविवेश) शरीर में प्रविष्ट होकर अपना व्यापार करने लगी ।

सं०-अब चक्षु का उत्क्रमण कथन करते हैं:—

चक्षुर्होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्य्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति, यथान्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति, प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

पद०-चक्षुः । ह । उच्चक्राम । तत् । संवत्सरं । प्रोष्य । पर्य्येत्य । उवाच । कथं । अशकत । ऋते । मत् । जीवितुं । इति ।

यथा । अन्धाः । अपश्यन्तः । प्राणन्तः । प्राणेन । वदन्तः । वाचा । शृण्वन्तः । श्रोत्रेण । ध्यायन्तः । मनसा । एवं । इति । प्रविवेश । ह । चक्षुः ।

पदा०–(तत्) वह (ह) वह प्रसिद्ध (चक्षुः) चक्षु (उच्चक्राम) उत्क्रमण करके (संवत्सरं) एकवर्ष पर्य्यन्त (प्रोष्य) बाहर रहकर (पर्य्यैत्य) पुनः लौट आया और (उवाच) बोला कि (मत्, ऋते) मेरे बिना तुम (कथं) कैसे (जीवितुं) जीवनधारण करने को (अशकत, इति) समर्थ हुए, तब अन्य प्राण बोले (यथा) जैसे (अन्धाः) नेत्रहीन पुरुष (अपश्यन्तः) न देखता हुआ (प्राणेन, प्राणन्तः) प्राण से प्राण को धारण करता हुआ (वाचा, वदन्तः) बाणी से बोलता हुआ (श्रोत्रेण, शृण्वन्तः) श्रोत्र से सुनता हुआ (मनसा, ध्यायन्तः) मन से ध्यान करता हुआ जीता है (एवं) इसी प्रकार हम जीते रहे (इति) यह सुनकर (ह) उस प्रसिद्ध (चक्षुः) चक्षु ने (प्रविवेश) प्रवेश किया ।

सं०–अब श्रोत्र का उत्क्रमण कथन करते हैं:—

श्रोत्रꣳहोच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्य्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा वधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति, प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥१०॥

पद०–श्रोत्रं । ह । उच्चक्राम । तत् । संवत्सरं । प्रोष्य । पर्य्यैत्य । उवाच । कथं । अशकत । ऋते । मत् । जीवितुं । इति ।

यथा । बधिराः । अशृण्वन्तः । प्राणन्तः । प्राणेन । वदन्तः । वाचा । पश्यन्तः । चक्षुषा । ध्यायन्तः । मनसा । एवं । इति । प्रविवेश । ह । श्रोत्रम् ।

पदार्थ—(तत्) वह (ह) प्रसिद्ध (श्रोत्रं) श्रोत्र (उच्चक्राम) उत्क्रमण कर (संवत्सरं, प्रोष्य) एकवर्ष बाहर रहकर (पर्य्येत्य) लौट आया और (उवाच) बोला कि (कथं, अशकत, ऋते, मत्, जीवितुं, इति) मेरे बिना तुम कैसे जीवित रहे तब अन्य प्राण बोले कि (यथा) जैसे (बधिराः, अशृण्वन्तः) बधिर न सुनते हुए (प्राणेन, प्राणन्तः) प्राण से श्वास लेते हुए (वाचा, वदन्तः) वाणी से बोलते हुए (चक्षुषा, पश्यन्तः) आंखों से देखते हुए (मनसा, ध्यायन्तः) मन से ध्यान करते हुए जीवित रहते हैं (एवं) इसीप्रकार हम सब जीवित रहे (इति) यह सुनकर (ह) वह प्रसिद्ध (श्रोत्रं) श्रोत्र (प्रविवेश) प्रवेश करगया ।

सं०—अब मन का उत्क्रमण कथन करते हैंः—

मनोहोच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्य्येत्योवाच-कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति, प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

पद०—मनः । ह । उच्चक्राम । तत् । संवत्सरं । प्रोष्य । पर्य्येत्य । उवाच । कथं । अशकत । ऋते । मत् । जीवितुं । इति ।

यथा। बालाः। अमनसः। प्राणन्तः। प्राणेन। वदन्तः। वाचा। पश्यन्तः। चक्षुषा। शृण्वन्तः। श्रोत्रेण। एवं। इति। प्रविवेश। ह। मनः।

पदा०-(तत्) वह (ह) प्रसिद्ध (मनः) मन (उच्चक्राम) उत्क्रमण कर (संवत्सरं, प्रोष्य) एकसाल पर्य्यन्त बाहर रहकर (पर्य्येत्य) लौट आया और आकर (उवाच) बोला कि (कथं, अशकत, ऋते, मत्, जीवितुं, इति) मेरे बिना तुम कैसे जीवित रहे, तब अन्य इन्द्रिय बोले कि (यथा) जैसे (बालाः, अमनसः) बिना मन वाले बालक (प्राणेन, प्राणन्तः) प्राण से प्राणन करते हुए (वाचा, वदन्तः) बाणी से बोलते हुए (चक्षुषा, पश्यन्तः) आंखों से देखते हुए (श्रोत्रेण, शृण्वन्तः) श्रोत्र से सुनते हुए जीवित रहते हैं (एवं) इसीप्रकार हम जीवित रहे (इति) यह सुनकर (ह) वह प्रसिद्ध (मनः) मन (प्रविवेश) प्रवेश करगया ॥

सं०-अब प्राण का उत्क्रमण कथन करते हैं:-

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष्यन्त्स यथा सुहयः पड्वीशशंकून् संखिदेदेवमितरान् प्राणान् समखिदत्तꣳहाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वन्नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ॥ १२ ॥

पद०-अथ। ह। प्राणः। उच्चिक्रमिष्यन्। सः। यथा। सुहयः। पड्वीशशंकून्। संखिदेत्। एवं। इतरान्। प्राणान्।

समखिदत् । तं । ह । अभिसमेत्य । ऊचुः । भगवन् । एधि । त्वं । नः । श्रेष्ठः । असि । मा । उत्क्रमीः । इति ।

पदा०-(अथ) वागादि इन्द्रियों के उत्क्रमणानन्तर (ह) प्रसिद्ध (सः) उस (प्राणः) प्राण ने (उच्चिक्रमिष्यन्) निकलते हुए (एतरान्, प्राणान्) अन्य सब इन्द्रियों को (समखिदत्) अपने २ स्थान से चलायमान करदिया (यथा) जैसे (सुहयः) उत्तम घोड़ा (पड्वीशशंकून्) बांधने की कीलों को (संखिदेत्) उखाड़ देता है (एवं) इसीप्रकार सब इन्द्रियों को उखाड़ कर प्राण चला (तं, ह) उस प्रसिद्ध प्राण को जाता देख सब इन्द्रिय (अभिसमेत्य) चारो ओर से समीप आकर (ऊचुः) बोले (भगवन्) हे भगवन् (एधि) आओ (नः) हमारे मध्य (त्वं) आपही (श्रेष्ठः, असि) श्रेष्ठ हैं (मा, उत्क्रमीः, इति) आप उत्क्रमण न करें ॥

सं०-अब वागादि इन्द्रिय अपने ऐश्वर्य्य को प्राणों के अधीन करते हैं:—

अथ हैनं वागुवाच-यदहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच-यदहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति ॥ १३ ॥

पद०-अथ । ह । एनं । वाक् । उवाच । यत् । अहं । वसिष्ठा । अस्मि । त्वं । तत् । वसिष्ठः । असि । इति । अथ । ह । एनं । चक्षुः । उवाच । यत् । अहं । प्रतिष्ठा । अस्मि । त्वं । तत् । प्रतिष्ठः । असि । इति ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (ह) वह प्रसिद्ध (वाक्) वाणी (एनं) इस प्राण से (उवाच) बोला कि (अहं) मैं (यत्) जो (वसिष्ठा, अस्मि) ऐश्वर्यवाला हूं (तत्) उस ऐश्वर्य वाला (त्वं, वसिष्ठः, असि, इति) तु हो (अथ) इसके अनन्तर (एनं) इसको (ह) प्रसिद्ध (चक्षुः, उवाच) चक्षु बोला (यत्, अहं) जो मैं (प्रतिष्ठा, अस्मि) प्रतिष्ठा वाला हूं (त्वं, तत्, प्रतिष्ठः असि, इति) उस प्रतिष्ठा वाला तु हो ॥

अथ हैनꣳ श्रोत्रमुवाच-यदह संपदस्मि त्वं तत्सम्पदसीत्यथ हैनं मन उवाच-यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥ १४ ॥

पद०-अथ । ह । एनं । श्रोत्रं । उवाच । यत् । अहं । सम्पत् । अस्मि । त्वं । तत् । सम्पत् । असि । इति । अथ । ह । एनं । मनः । उवाच । यत् । अहं । आयतनं । अस्मि । त्वं । तत् । आयतनं । असि । इति ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (एनं) इसको (श्रोत्रं, उवाच) श्रोत्र बोला कि (यत्) जो (अहं) मैं (सम्पत्, अस्मि) सम्पत्ति हूं (तत्) वह (सम्पत्) सम्पत्ति (त्वं, असि, इति) तु हो (अथ, ह, एनं, मनः, उवाच) फिर इसके पश्चात् वह प्रसिद्ध मन बोला कि (यत्) जो (अहं) मैं (आयतनं, अस्मि) आयतन हूं (तत्) वह(आयतनं) आयतन (त्वं,असि,इति) तु हो ॥

सं०-अब प्राण का मुख्यता कथन करते हैं :-

न वै वाचो न चक्षूꣳषि न श्रोत्राणि न

मनांसीत्याचक्षते। प्राणा इत्येवाचक्षते। प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥ १५ ॥

पद०-न। वै। वाचः। न। चक्षुषि। न। श्रोत्राणि। न। मनांसि। इति। आचक्षते। प्राणाः। इति। एव। आचक्षते। प्राणः। हि। एव। एतानि। सर्वाणि। भवति।

पदा०-(न, वै, वाचः) निश्चयकरके न बाणी कहते हैं (न, चक्षुषि) न चक्षु (न, श्रोत्राणि) न श्रोत्र (न, मनांसि, इति, आचक्षते) न मन है यह कहते हैं किन्तु (प्राणाः, इति, एव, आचक्षते) सब लोग प्राण को ही कथन करते हैं (हि) निश्चयकरके (एतानि, सर्वाणि) यह सब इन्द्रिय (प्राणः, एव, भवति) प्राण ही है।

भाष्य-इस खण्ड में वर्णित विद्या का नाम "प्राणविद्या" है, इसको प्राणविद्या इस अभिप्राय से वर्णन कियागया है कि प्राण शब्द मुख्यतया प्राणों में वर्त्तता है परन्तु गौणीवृत्ति से यहां अन्य इन्द्रियों का भी वाचक है, क्योंकि अन्य सब इन्द्रिय अपनी २ सत्ता को प्राणों के सहारे ही लाभ करते हैं, इसलिये अन्य इन्द्रियों को भी प्राण कथन कियागया है, इस खण्ड में प्राण तथा इन्द्रियों के सम्वाद द्वारा वागादि सब इन्द्रियों में प्राण की प्रधानता कथन कीगई है अर्थात् एक समय प्राण से भिन्न अन्य इन्द्रियों को यह अभिमान हुआ कि यह शरीर हमारे ही सहारे ठहरा हुआ है, इस अभिमान की निवृत्ति के लिये प्रजापति ने कहा कि जिसके निकल जाने पर यह शरीर अमङ्गल प्रतीत हो वही तुम सब में श्रेष्ठ और

उसी के सहारे यह शरीर है, यहां प्रजापति के पास सब इन्द्रियों का मिलकर जाना और उसका कथन करना उपचार से है, प्रथम वाक् इन्द्रिय निकला तब भी शरीर ज्यों का त्यों बनारहा, क्योंकि वाक्रहित मूक पुरुष भी संसार में देखे जाते हैं फिर श्रोत्रेन्द्रिय निकला उससे भी शरीर ज्यों का त्यों बना रहा, क्योंकि बधिर पुरुष भी अपनी जीवन यात्रा करते हैं, एवं एक २ इन्द्रिय के निकल जाने से शरीर की कुछ भी हानि न हुई फिर जब प्राण ने अपने निकलने का विचार किया तब सब इन्द्रिय अपने २ स्थान से विचलित होगये और सब ने मिलकर प्राण से प्रार्थना की कि हे भगवन् ! आप न जायं आपके जाने पर हम में से कोई भी इन्द्रिय स्थिर नहीं रहसकता, इससे सिद्ध है कि प्राण ही सब इन्द्रियों में मुख्य है।

भाव यह है कि मनुष्य को चाहिये कि प्राणों को मुख्य समझकर उनको अपने अधीन करने का यत्न करे और वह यत्न प्राणायाम द्वारा संयम करने से ही सफल होता है अन्यथा नहीं अर्थात् योगशास्त्रोक्त प्राणायाम की विधि से अपने प्राणों को वशीभूत करके परमात्मपरायण होना ही प्राणों के स्वाधीन करने का एकमात्र उपाय है, सुखपूर्वक शरीरयात्रा करने के लिये यह प्राणविद्या सबसे मुख्य है, इसीलिये इसका वर्णन कई एक उपनिषदों में पाया जाता है, अतएव जिज्ञासु को उचित है कि वह यत्न पूर्वक प्राणविद्या का सम्पादन करे॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब प्राणों का अन्न कथन करते हैं:—

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किञ्चिदिदमाश्वभ्य आशकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षम् । न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवतीति ॥ १ ॥

पद०-सः । ह । उवाच । किं । मे । अन्नं । भविष्यति । इति । यत् । किञ्चित् । इदं । आश्वभ्यः । आशकुनिभ्यः । इति । ह । ऊचुः । तत् । वं । एतत् । अनस्य । अन्नं । अनः । ह । वै । नाम । प्रत्यक्षं । न । ह । वै । एवंविदि । किञ्चन । अनन्नं । भवति । इति ।

पदा०-(सः, ह, उवाच) वह मुख्य प्राण बोला कि (किं, मे, अन्नं, भविष्यति, इति) मेरा अन्न क्या होगा (ऊचुः) इन्द्रियों ने कहा (यत्, किंचित्, इदं, आश्वभ्यः) जो कुछ यह कुत्ते और (आशकुनिभ्यः, इति) पक्षियों से लेकर अन्न है (तत्, वै, एतत् अनस्य, अन्नं) यह ही इस प्राण का अन्न है (ह, वै) निश्चयकरके (अनः, नाम, प्रत्यक्षं) "अन" यह नाम प्राण का प्रत्यक्ष है (ह, वै) स्पष्ट है कि (एवंविदि) पूर्वोक्त रीति से जानने वाले के लिये (किंचिन) कुछ भी (अनन्न, न,

भवति, इति) अनन्न नहीं होता।

भाष्य-" प्राण " शब्द से यहां पशु पक्षी आदि सब जीवों के प्राण का ग्रहण है, इसी अभिप्राय से कुत्ते आदिकों को प्राणियों का अन्न कथन किया है, इसमें यह अभिप्राय नहीं कि कोई प्राणी भी योग्यायोग्य अन्न का विचार न करे, यदि ऐसा होता तो वेद में स्पष्ट प्रकार से मांसादि के भक्षण का निषेध न किया जाता, जैसाकि:—

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥
अथर्व०८।३।६।३२

अर्थ-जो लोग कच्चा तथा पकाया हुआ मांस और अण्डों को खाते हैं उनका हम निषेध करें, इस मंत्र में मनुष्य के लिये सब प्रकार के मांस का निषेध किया है फिर सब प्राणियों के लियें मांस अन्न कैसे होसक्ता है।

जो लोग इसके यह अर्थ करते हैं कि प्राणीमात्र का सब कुछ अन्न है वह विष तथा अन्य मलादि पदार्थ जो अभक्ष्य हैं उनको भक्ष्य कैसे ठहरासक्ते हैं, यदि यह कहाजाय कि कृमि कीटादिकों के लिये मल भक्ष्य है तथा ओषधि आदिकों में विष भक्ष्य है तो इस इसप्रकार भी भक्ष्याभक्ष्य योग्यतानुसार हुआ अर्थात् कृमि प्राणियों के लिये मल भक्ष्य और अन्य मनुष्य प्राणियोंके लिये अभक्ष्य है, एवं योग्यतानुसार मीमांसा करने से यह सिद्ध होता है कि कुत्ते आदि अन्न गिद्धादिकों के लिये भक्ष्य और मनुष्यों के लिये अभक्ष्य है, और जो यह कथन कियागया है कि उक्त प्रकार से जानने वाले के लिये

कोई अनन्न नहीं, इसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष उक्त अन्न की परिभाषा को जानता है वह इस बात को भली भांति जानता है कि अमेध्य से अमेध्य पदार्थ भी किसी न किसी का अन्न है, एवं उसके ज्ञान में कोई भक्ष्य पदार्थ अनन्न नहीं किन्तु सब अन्न ही है।

सं०—अब प्राण के वस्त्र कथन करते हैं:—

सहोवाच--किं मे वासो भविष्यतीत्या-
प इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः
पुरस्ताच्चोपरिष्टाचाद्भिः परिदधति ।
लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति । २।

पद०—सः । ह । उवाच । किं । मे । वासः । भविष्यति । इति । आपः । इति । ह । ऊचुः । तस्मात् । वै । एतत् । अशिष्यन्तः । पुरस्तात् । च । उपरिष्टात् । च । अद्भिः । परिदधति । लम्भुकः । ह । वासः । भवति । अनग्नः । ह । भवति ।

पदा०—(सः, ह, उवाच) वह प्रसिद्ध प्राण इन्द्रियों से बोला कि (किं, मे, वासः, भविष्यति, इति) मेरा वस्त्र क्या होगा तब इन्द्रिय (ह, ऊचुः) स्पष्टतया बोले कि (आपः, इति) जल ही आपका वस्त्र होगा (तस्मात्, वै) इसकारण निश्चय करके (एतत्, अशिष्यन्तः) अन्न को खाते हुए (पुरस्तात्) पहिले (च) और (उपरिष्टात्) पीछे (अद्भिः, परिदधति) जलों से अन्न को वस्त्र पहनाया जाता है (ह) स्पष्ट है कि जो पुरुष उक्त प्रकार से जानता है वह (वासः, लम्भुकः, भवति) सदा ही वस्त्रों को लाभ करता है (अनग्नः, ह, भवति) निश्चय करके कभी नंगा नहीं रहता ॥

सं०-अब उक्त उपदेश का प्रभाव कथन करते हैं:—

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच--यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ३॥

पद०-तत् । ह । एतत् । सत्यकामः । जाबालः । गोश्रुतये । वैयाघ्रपद्याय । उक्त्वा । उवाच । यद्यपि । एनत् । शुष्काय । स्थाणवे । ब्रूयात् । जायेरन् । एव । अस्मिन् । शाखाः । प्ररोहेयुः । पलाशानि । इति ।

पदा०-(तत्, ह, एतत्) वह यह प्रसिद्ध उपदेश (सत्यकामः, जाबालः) सत्यकाम जाबाल ने (गोश्रुतये, वैयाघ्रपद्याय, उक्त्वा) व्याघ्रपद नामक ऋषि के पुत्र गोश्रुति नामक ऋषि को करते हुए (उवाच) कहा कि (यद्यपि) यदि (एनत्) यह उपदेश (शुष्काय, स्थाणवे) शुष्क काष्ठ के लिये भी (ब्रूयात्) कहाजाय तो (जायेरन्, एव, अस्मिन्, शाखाः) निश्चयपूर्वक उसमें शाखा निकल आवेंगी और (प्ररोहेयुः, पलाशानि, इति) पत्र भी निकल आवेंगे ॥

सं०-अब परमात्मप्राप्ति का उपाय कथन करते हैं:—

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावस्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्यां रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् ॥ ४॥

पद०—अथ । यदि । महत् । जिगमिषेत् । अमावस्यायां । दीक्षित्वा । पौर्णमास्यां । रात्रौ । सर्वौषधस्य । मन्थं । दधिमधुनोः । उपमथ्य । ज्येष्ठाय । श्रेष्ठाय । स्वाहा । इति । अग्नौ । आज्यस्य । हुत्वा । मन्थे । सम्पातं । अवनयेत् ।

पदा०—(अथ) इसके अनन्तर (यदि) यदि (महत्) महान् ब्रह्म को (जिगमिषेत्) प्राप्त करना चाहे तो (अमावस्यायां) अमावस्या तिथि को (दीक्षित्वा) दीक्षित होकर (पौर्णमास्यां, रात्रौ) पौर्णमासी की रात्रि में (सर्वौषधस्य) सब प्रकार की औषधियों को (मन्थं) मथ (दधिमधुनोः) दधि और मधु (उपमथ्य) मिलाकर (ज्येष्ठाय, श्रेष्ठाय, स्वाहा, इति) "ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा" पढ़कर (अग्नौ, आज्यस्य, हुत्वा) अग्नि में उक्त आज्य का हवन करे, और (मन्थे, सम्पातं, अवनयेत्) स्रुवा में शेष रहे घृतभाग को मन्थ नामक पात्रविशेष में छोड़े ।

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् । प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् । सम्पदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् । आयतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् ॥ ५ ॥

पद०—वसिष्ठाय । स्वाहा । इति । अग्नौ । आज्यस्य । हुत्वा । मन्थे । सम्पातं । अवनयेत् । प्रतिष्ठायै । स्वाहा । इति ।

अग्नौ । आज्यस्य । हुत्वा । मन्थे । सम्पातं अवनयेत् । सम्पदे । स्वाहा । इति । अग्नौ । आज्यस्य । हुत्वा । मन्थे । सम्पातं । अवनयेत् । आयतनाय । स्वाहा । इति । अग्नौ । आज्यस्य । हुत्वा । मन्थे । सम्पातं । अवनयेत् ।

पदा०–(वसिष्ठाय, स्वाहा) "**वसिष्ठाय स्वाहा**" (इति) यह पढ़कर (अग्नौ, आज्यस्य, हुत्वा) अग्नि में आज्य का हवन करे (मन्थे, सम्पातं, अवनयेत्) शेष भाग को मन्थ नामक पात्र में छोड़े (प्रतिष्ठायैस्वाहा) "**प्रतिष्ठायै स्वाहा**" (इति) यह पढ़कर (अग्नौ, आज्यस्य, हुत्वा) अग्नि में आज्य का हवन करे (मन्थे, सम्पातं, अवनयेत्) शेष भाग को मन्थ नामक पात्र में छोड़े (सम्पदे, स्वाहा) "**सम्पदे स्वाहा**" (इति) यह पढ़कर (अग्नौ, आज्यस्य, हुत्वा) अग्नि में आज्य का हवन करे (मन्थे, सम्पातं, अवनयेत्) शेष भाग को मन्थ नामक पात्र में छोड़े (आयतनाय, स्वाहा) "**आयतनाय स्वाहा**" (इति) यह पढ़कर (अग्नौ, आज्यस्य, हुत्वा) अग्नि में आज्य का हवन करे (मन्थे, सम्पतं, अवनयेत्) शेष भाग को मन्थ नामक पात्र में छोड़े ।

सं०–अब परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना कथन करते हैं :—

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदꣳ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यै-

ष्ठ्यꣳश्रैष्ठ्यꣳराज्यमाधिपत्यं गमयत्वह-मेवेदꣳसर्वमसानीति ॥ ६ ॥

पद०-अथ। प्रतिसृप्य। अञ्जलौ। मन्थं। आधाय। जपति। अमः। नाम। असि। अमा। हि। ते। सर्वं। इदं। सः। हि। ज्येष्ठः। श्रेष्ठः। राजा। अधिपतिः। सः। मा। ज्यैष्ठ्यं। श्रैष्ठ्यं। राज्यं। आधिपत्यं। गमयतु। अहं। एव। इदं। सर्वं। असानि। इति।

पदा०-(अथ) होम की समाप्ति के अनन्तर यजमान (प्रतिसृप्य) अग्नि से पीछे हटकर (मन्थं) मथन कीहुई सामग्री के शेष भाग को (अञ्जलौ) अञ्जलि में (आधाय) रखकर (जपति) मन में जाप करे कि (अमः, नाम, असि) आप "अम" नाम वाले हैं (हि) क्योंकि (इदं, सर्वं) यह सब (ते) तुम्हारी ही (अमा) रचना है (सः) आप ही (ज्येष्ठः, श्रेष्ठः) सब से बड़े तथा श्रेष्ठ हैं (राजा, अधिपतिः) आप ही राजा और हमारे अधिपति=स्वामी हैं (सः) सो आप (मा) मुझको भी (ज्यैष्ठ्यं, श्रैष्ठ्यं, राज्यं, आधिपत्यं) ज्येष्ठता, श्रेष्ठता तथा राज्य और आधिपत्य (गमय) प्राप्त करायें (अहं, एव) मैं भी आप की कृपा से (इदं, सर्वं) इन सब को (असानि, इति) प्राप्त होऊं यह मेरी विनयपूर्वक प्रार्थना है॥

सं०-अब यजमान का आचमन करना कथन करते हैंः-

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति त-त्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति। वयं दे-

वस्य भोजनमित्याचामति श्रेष्ठ७ सर्व-धातममित्याचामति। तुरं भगस्य धीम-हीति सर्वं पिबति॥ ७॥

पद०-अथ। खलु। एतया। ऋचा। पच्छः। आचामति। तत्। सवितुः। वृणीमहे। इति। आचामति। वयं। देवस्य। भोजनं। इति। आचामति। श्रेष्ठं। सर्वधातमं। इति। आचामति। तुरं। भगस्य। धीमहि। इति। सर्वं। पिबति।

पदा०-(अथ) प्रार्थना के अनन्तर (खलु) निश्चयकरके (एतया) इस वक्ष्यमाण (ऋचा) मंत्र से विधिपूर्वक (पच्छः) एक २ पाद पढ़कर (आचामति) आचमन करे (तत्, सवितुः, वृणीमहे) उस सर्वोत्पादक ब्रह्म को मैं स्वीकार करता हूं (इति आचामति) ऐसा बोलकर एक आचमन करे (वयं, देवस्य, भोजनं) हे दिव्यगुणसम्पन्न आप हम उपासकों को भोजन प्रदान करें (इति, आचामति) यह बोलकर दूसरा आचमन करे (श्रेष्ठं, सर्वधातमं) आप श्रेष्ठ सम्पूर्ण पदार्थों के उत्पन्न करने वाले हैं (इति, आचामति) ऐसा बोलकर तीसरा आचमन करे (तुरं, भगस्य, धीमहि) हे सर्वत्र व्यापक ऐश्वर्यसम्पन्न हम आपका ध्यान करते हैं (इति, सर्वं, पिबति) इसप्रकार बोलकर सब पीले॥

भाष्य-परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना केअनन्तर आचमन करे,जिसकी विधि इस प्रकार है कि आचमनी नामक पात्र मे से दाक्षण हाथ की हथेली में जल लेकर निम्नलिखित वाक्यों से एक२ आचमन करे अर्थात् "तत्सवितुर्वृणीमहे" इससे एक "वयं

देस्य भोजनं" इससे दूसरा "श्रेष्ठं सर्वधातमम्" इससे तीसरा और "तुरं भगस्य धीमहि" यह पढ़कर सब पीजाय।

यह सम्पूर्ण मंत्र ऋग्० ४।४।२८।१. में इस प्रकार है कि:—

तत्सवितुर्वृणीमहे, वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठं सर्वधातमम्. तुरं भगस्य धीमहि॥

सं०—अब अन्य विधि कथन करते हैं:—

निर्णिज्य कंसं चमसं वा। पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा। वाचंयमोऽप्रसाहः स यदि स्त्रियं पश्येत् समृद्धं कर्मेति विद्यात्॥ ८॥

पद०—निर्णिज्य। कंसं। चमसं। वा। पश्चात्। अग्नेः। संविशति। चर्मणि। वा। स्थण्डिले। वा। वाचंयमः। अप्रसाहः। सः। यदि। स्त्रियं। पश्येत्। समृद्धं। कर्म। इति। विद्यात्।

पदा०—(कंसं, वा, चमसं) कंस पात्र और चमसादि पात्रों को (निर्णिज्य) धो माजकर रखने के अनन्तर (अग्नेः, पश्चात्) अग्नि के पृष्ठभाग में (चर्मणि, वा, स्थण्डिले) मृग चर्म वा केवल भूमि पर विधिपूर्वक (वाचंयमः) चुपचाप होकर (अप्रसाहः) काम क्रोधादि के वशीभूत न होता हुआ (सः) वह यजमान (संविशति) बैठजाय (यदि, स्त्रियं, पश्येत्) यदि उस काल में स्त्री को देखे तो (कर्म, समृद्धं) काम सिद्ध होगया (इति, विद्यात्) यह समझे।

सं०—अब उक्त विषय में प्रमाण कथन करते हैं:—

तदेषश्लोको-यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रि-यꣳ स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने । तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥ १ ॥

पद०-तत् । एषः । श्लोकः । यदा । कर्मसु । काम्येषु । स्त्रियं । स्वप्नेषु । पश्यति । समृद्धिं । तत्र । जानीयात् । तस्मिन् । स्वप्ननिदर्शने । तस्मिन् । स्वप्ननिदर्शने ।

पदा०-(तत्,एषः,श्लोकः) उक्त विषय में यह श्लोक प्रमाण है कि (यदा) जब (काम्येषु, कर्मसु) काम्यकर्मों में (स्वप्नेषु) स्वप्न में (स्त्रियं, पश्यति) स्त्री को देखे तो (तस्मिन्, तत्र, स्वप्ननिदर्शने) उस स्वप्न के देखने में (समृद्धिं,जानीयात्) समृद्धि जाने ।

भाष्य-"तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने" पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है,यह स्वप्न इसलिये शुभ सूचक है कि प्रसन्नचित्त वाले को ही उक्त प्रकार के स्वप्न आते हैं, और काम्यकर्मों में ऐसे स्वप्न आना इसलिये भी समृद्धिप्रद हैं कि काम्यकर्मों में मङ्गलसूचक पदार्थ दृष्टि पड़ने चाहियें और स्त्री शृंगार प्रधान होने से मंगल सूचक है इसलिये वह समृद्धि का कारण है ॥

इति द्वितीयःखण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब श्वेतकेतु और जैबलि ऋषि का संवाद कथन करते हैं:—

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालाना ँ समितिमेयाय। त ँ ह प्रवाहणो जैबलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥ १ ॥

पद०—श्वेतकेतुः। ह। आरुणेयः। पञ्चालानां। समितिं। एयाय। तं। ह। प्रवाहणः। जैबलिः। उवाच। कुमार। अनु। त्वा। अशिषत्। पिता। इति। अनु। हि। भगवः। इति।

पदा०—(ह) प्रसिद्ध (आरुणेयः, श्वेतकेतुः) आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु (पञ्चालानां) पञ्चाल देश की (समितिं) सभा में (एयाय) आये (तं) उस श्वेतकेतु से (जैबलि,प्रवाहणः) जैबलि प्रवाहण (उवाच) बोले कि (कुमार) हे कुमार ! (त्वा) आपको (पिता) पिता ने (अनु, अशिषत्, इति) क्या शिक्षा दी है ? तब कुमार बोला (भगवः) हे भगवन् (अनु,हि, इति) मैं भले प्रकार सुशिक्षित हूं ॥

सं०—अब श्वेतकेतु से जैबलि प्रवाहण प्रश्न करते हैं:—

वेत्थ यदितोऽधिप्रजाः प्रयन्तीति न भगव इति वेत्थ यथा पुनरावर्त्तन्ता इति न भगव इति वेत्थ पथोर्देवया-

नस्य पितृयाणस्य च व्यावर्त्तना इति न भगव इति ॥ २ ॥

पद०-वेत्थ । यत् । इतः । अधि । प्रजाः । प्रयन्ति । इति । न । भगवः । इति । वेत्थ । यथा । पुनः । आवर्त्तन्ते । इति । न । भगवः । इति । वेत्थ । पथोः । देवयानस्य । पितृयाणस्य । च । व्यावर्त्तना । इति । न । भगवः । इति ।

पदा०-(यत्, इतः, अधि, प्रजाः, प्रयान्ति, इति, वेत्थ) जो यहां से यह सब प्रजा मरकर जहां जाती है उसको तुम जानते हो ? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया (न, भगवः, इति) हे भगवन् ! मैं नहीं जानता (यथा, पुनः, आवर्त्तन्ते, इति, वेत्थ) और जो प्रजा लौट कर जिसप्रकार पुनः आती है उसको जानते हो (न, भगवः, इति) हे भगवन् ! मैं नहीं जानता (देवयानस्य) देवयान (च) और (पितृयाणस्य) पितृयाणरूप (पथोः) मार्गों के (व्यवर्त्तना, इति) पृथक् होने को (वेत्थ) जानते हो ? (न, भगवः, इति) हे भगवन् मैं नहीं जानता ॥

वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यत इति न भगव इति वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति नैव भगव इति ॥ ३ ॥

पद०-वेत्थ । यथा । असौ । लोकः । न । सम्पूर्यते । इति । न । भगवः । इति । वेत्थ । यथा । पञ्चम्यां । आहुतौ । आपः । पुरुषवचसः । भवन्ति । इति । न । एव । भगवः । इति ।

पदा०-(यथा, असौ, लोकः, न, सम्पूर्यते, इति) जिस प्रकार वह लोक नहीं भरता (वेत्थ) तुम जानेत हो (न, भगवः, इति) हे भगवन् ! मैं नहीं जानता (यथा, पञ्चम्यां, आहुतौ, आपः) जैसे पञ्चमी आहुति में जल (पुरुषवचसः) पुरुष (भवन्ति, इति) होजाते हैं (वेत्थ) जानते हो ? (न, एव, भगवः, इति) हे भगवन् निश्चय मैं नहीं जानता ॥

अथ नु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात् कथꣳ सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति । स हाऽऽयस्तःपितुरर्द्धमेयाय।तꣳहोवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनुत्वाऽशिषमिति ॥४॥

पद०-अथ । नु । किं । अनुशिष्टः । अवोचथाः । यः । हि । इमानि । न । विद्यात् । कथं । सः । अनुशिष्टः । ब्रुवीत । इति । सः । ह । आयस्तः । पितुः । अर्द्धं । एयाय । तं । ह । उवाच । अननुशिष्य । वाव । किल । मा । भगवान् । अब्रवीत् । अनु । त्वा । अशिषं । इति ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर जैवलि ने (नु) तर्क से कहा कि (किं, अनुशिष्टः, अवोचथाः) फिर तुमने अपने आपको सुशिक्षित क्यों कहा (यः) जो (हि) निश्चयपूर्वक (इमानि,न, विद्याव) इनको नहीं जानेत (कथं, सः, अनुशिष्टः)

वह तु शिक्षा पाया हुआ (ब्रुवीत, इति) कैसे कहाजासक्ता है (सः, ह) वह प्रसिद्ध श्वेतकेतु (आयस्तः) परास्त हुआ२ (पितुः, अर्द्ध) पिता के स्थान को (एयाय) चलाआया, और (तं, ह, उवाच) पिता को बोला कि (अननुशिष्य, वाव, किल) बिना शिक्षा दिये हुए ही (मा) मुझ से (भगवान्) आपने (अब्रवीत्) कहा कि (त्वा) तुझको (अनु, अशिषं, इति) मैंने शिक्षा दी है।

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति । स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकञ्चन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं तेनावक्ष्यमिति ॥ ५ ॥

पद०-पञ्च । मा । राजन्यबन्धुः । प्रश्नान् । अप्राक्षीत् । तेषां । न । एकञ्चन । अशकं । विवक्तुं । इति । सः । ह । उवाच । यथा । मा । त्वं । तदा । एतान् । अवदः । यथा । अहं । एषां । न । एकञ्चन । वेद । यदि । अहं । इमान् । अवेदिष्यं । कथं । ते । न । अवक्ष्यं । इति ।

पदा०-श्वेतकेतु ने अपने पिता से कहा कि हे भगवन् ! (राजन्यबन्धुः) क्षत्रियाधम जैवलिप्रवाहण ने (मा) मुझ से (पंच, प्रश्नान्) पांच प्रश्न (अप्राक्षीत्) पूछे परन्तु मैं (तेषां, एकञ्चन) उनमें से एक का भी (विवक्तुं) उत्तर देने को (न, अशकं) समर्थ न हुआ (इति) इस प्रकार (सः) वह (ह) प्रसिद्ध

पिता पुत्र के वचन सुनकर (उवाच) बोला कि (तदा) तुमने अपने आने के समय ही (मा) मुझ से (यथा) जैसे वह प्रश्न थे (एतान्) उनको वैसे ही (अवदः) सुनाया (यथा) जिस प्रकार उनका उत्तर है (अहं) मैं भी (एषां, एकञ्चन) उनमें से एक भी (न, वेद) नहीं जानता, हे पुत्र श्वेतकेतो ! (यदि, अहं) यदि मैं (इमान्) इनको (अवेदिष्यं) जानता होता तो (ते) तुम से (कथं) क्यों (न) न (अवक्ष्यं,इति) कहता अर्थात् अवश्य कहता ।

सं०-अब गौतम ऋषि का जैवलि राजा के पास जाना कथन करते हैंः—

स ह गौतमो राज्ञोऽर्द्धमेयाय । तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार । स ह प्रातः सभागे उदेयाय । तꣳहोवाच मानुषस्य भगवन् गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति । स होवाच तवैव राजन् मानुषं वित्तम् । यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति ॥ ६ ॥

पद०-सः । ह । गौतमः । राज्ञः । अर्द्धं । एयाय । तस्मै । ह । प्राप्ताय । अर्हां । चकार । सः । ह । प्रातः । सभागेः । उदेयाय । तं । ह । उवाच । मानुषस्य । भगवन् । गौतम । वित्तस्य । वरं । वृणीथाः । इति । सः । ह । उवाच । तव । एव । राजन् । मानुषं ।

वित्तं । यां । एव । कुमारस्य । अन्ते । वाचं । अभाषथाः । तां । एव । मे । ब्रूहि । इति ।

पदा०-(सः, ह, गौतमः) वह प्रसिद्ध गौतम (राज्ञः) राजा के (अर्द्ध) स्थान को (एयाय) प्राप्त हुए (तस्मै, प्राप्ताय) उस प्राप्त हुए गौतम का (अर्हां, चकार) राजा ने विधिपूर्वक सत्कार किया (सः, ह) उक्त प्रसिद्ध राजा के (प्रातः) प्रातः काल (सभागेः) सभा में आने पर (उदेयाय) ऋषि उसको प्राप्त हुए (तं,ह,उवाच) उस प्राप्त हुआ ऋषि से राजा बोले कि (भगवन्, गौतम) हे ऐश्वर्य्य सम्पन्न गौतम ! (मानुषस्य, वित्तस्य) मनुष्य सम्बन्धी धन का (वरं,वृणीथाः इति) तुम वर मांगो (सः, ह, उवाच) तब वह गौतम बोले कि (राजन्) हे राजन् ! (तव, एव) तुम्हीं को (मानुषं, वित्तं) मनुष्यसम्बन्धी धन शुभ हो (कुमारस्य, अन्ते) कुमार के प्रति (यां, एव, वाचं) जो ही प्रश्न (अभाषथाः) आपने किये थे (तां, एव) वही (मे, ब्रूहि, इति) कृपाकरके मुझको कहें ।

सं०-अब राजा कथन करते हैं:—

स ह कृच्छ्रीबभूव । तꣳह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार । तꣳहोवाच यथा मा त्वं गोतमाऽवदो यथेयं । न प्राक्त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति । तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति । तस्मै होवाच ॥ ७ ॥

पद०—सः । ह । कृच्छ्रीबभूव । तं । ह । चिरं । वस । इति । आज्ञापयाञ्चकार । तं । ह । उवाच । यथा । मा । त्वं । गौतम । अवदः । यथा । इयं । न । प्राक् । त्वत्तः । पुरा । विद्या । ब्राह्मणान् । गच्छति । तस्मात् । उ । सर्वेषु । लोकेषु । क्षत्रस्य । एव । प्रशासनं । अभूत् । इति । तस्मै । ह । उवाच ।

पदा०—(सः, ह, कृच्छ्रीबभूव) वह प्रसिद्ध राजा उक्त कथन सुनकर दुःखी हुआ और (तं, ह) उस प्रसिद्ध गौतम को (आज्ञापयाञ्चकार) आज्ञा दी कि तुम (चिरं, वस, इति) चिरकाल तक मेरे समीप वास करो (तं, ह, उवाच) उस प्रसिद्ध गौतम को राजा बोले कि हे गौतम (यथा, मा, त्वं, अवदः) जिस प्रकार आपने मुझ से पूछा है (त्वत्तः, प्राक्) आप से पूर्व (इयं, विद्या) यह विद्या (ब्राह्मणान्, न, गच्छति) ब्राह्मणों को प्राप्त नथी (तस्मात्) इसलिये (सर्वेषु, लोकेषु) सब लोकों में (उ) निश्चय पूर्वक (क्षत्रस्य, एव) क्षत्रियों का ही (प्रशासनं) अधिकार (अभूत्) हुआ (इति) इस प्रकार गौतम को समझाकर पश्चात् (तस्मै, ह, उवाच) उनको उपदेश किया ।

भाष्य—एक समय आरुणि ऋषि का प्रसिद्ध पुत्र श्वेतकेतु पञ्चाल देश की सभा में आये, वहां पर उनसे जैवालि प्रवाहण बोले कि हे कुमार ! आपको पिता उद्दालक ने क्या शिक्षा दी है ? श्वेतकेतु ने कहा कि मैं सुशिक्षित हूं, तब राजा ने उससे पांच प्रश्न किये (१) यहां से प्रजा कहां जाती है (२) वहां से पुनः कैसे लौट आती है (३) देवयान और पितृयाण मार्ग का भेद कहां होता है (४) वह लोक क्यों नहीं भरजाता जहां यह सब प्रजा मरकर जाती है (५) पांचवी आहुति में जल पुरुष वाचक कैसे

होजाता है ? इन पांचों प्रश्नों में से श्वेतकेतु एक का भी उत्तर न देसका, तब वहां से निरुत्तर हो अपने पिता के समीप आकर बोला कि बिना शिक्षा दिये हुए ही आपने मुझसे कहा कि तुझ को मैंने शिक्षा दी है, आज मैं राजा के सन्मुख बहुत लज्जित हुआ, इस प्रकार वह प्रसिद्ध पिता अपने पुत्र के वचन सुनकर बोले कि इन प्रश्नों का उत्तर मैं भी नहीं जानता, हे पुत्र श्वेतकेतो ! यदि मैं इन प्रश्नों को जानता होता तो आपसे अवश्य कहता अर्थात् आपको इनका अवश्य उपदेश करता,तदनन्तर इसी निमित्त वह प्रसिद्ध गौतम ऋषि राजा के स्थान पर गये, राजा ने यथा-विधि उनका सत्कार किया, फिर प्रातःकाल राजा सभा में आये और उन्होंने ऋषि गौतम से कहा कि हे गौतम ! आप मनुष्य सम्बन्धी धन का वर मुझ से मांगें, तब गौतम ने उत्तर दिया कि यह धन आप ही को शुभ हो, आपने कुमार के प्रति जो प्रश्न किये थे कृपाकरके उनका मुझको उपदेश करें, राजा बोले कि आप चिरकाल तक मेरे समीप वास करें तब यह विद्या आप मुझ से सीख सकेंगे और साथ ही यह भी कहा कि यह विद्या ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं हुई और उनको प्राप्त न होने से क्षत्रियों की इस विद्याविषयक बड़ी ख्याति है अर्थात् इस विद्या विषयक सर्वत्र क्षत्रियों का ही अधिकार है, इस प्रकार बहुत कुछ कह गौतम को समझाकर पश्चात् राजा ने उनको पञ्चाग्नि विद्या का उपदेश किया ॥

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब जैवलि उक्त प्रश्नों का उत्तर गौतम के प्रति कथन करते हैं :—

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्या-दित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चि-श्चन्द्रमाअङ्गारा नक्षत्राणिविस्फुलिङ्गाः।१

पद०-असौ । वाव। लोकः । गौतम । अग्निः । तस्य । आदित्यः । एव । समिद् । रश्मयः । धूमः । अहः । अर्चिः । चन्द्रमाः । अङ्गाराः । नक्षत्राणि । विस्फुलिङ्गाः ।

पदा०-(गौतम) हे गौतम ! (असौ, वाव, लोकः, अग्निः) यह द्यौ लोक ही अग्निकुण्ड है (तस्य) उसकी (आदित्यः, एव, समिद्) आदित्य ही समिधायें (रश्मयः, धूमः) रश्मियें धूम (अर्चिः, अहः) ज्वाला दिवस (अङ्गाराः,चन्द्रमाः) चन्द्रमा अङ्गारे और (विस्फुलिङ्गाः, नक्षत्राणि) नक्षत्र चिनगारे हैं ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति। तस्या आहुतेःसोमो राजा सम्भवति॥२॥

पद०-तस्मिन् । एतस्मिन् । अग्नौ । देवाः । श्रद्धां । जुह्वति। तस्याः । आहुतेः । सोमः । राजा । सम्भवति ।

पदा०-(देवाः) प्रकृति की शक्तियें (तस्मिन्, एतस्मिन्) उस (अग्नौ) अग्नि में (श्रद्धां) परमाणुरूप सद्द्रव्यों का

(जुह्वति) हवन करती हैं (तस्याः, आहुतिः) उस आहुति से (सोमः, राजा, सम्भवति) वाष्परूप जल उत्पन्न होता है।

भाष्य–इस द्युलोकस्थ अग्नि में प्रकृतिसिद्ध हवन का वर्णन कियागया है कि हे गौतम! द्युलोकरूप अग्नि जो आदित्यरूप समिधाओं से प्रदीप्त है, नाना प्रकार के नक्षत्रों की रश्मियें जिस का धूम, सब प्रकार के अल्हाद जनक पदार्थ उसके अङ्गार स्थानीय और सब नक्षत्र उसके चिन्गारे हैं, उस अग्नि में इस प्रकृति की दिव्यशक्तियें अनेकविध परमाणु पुंजों का हवन कर रही हैं, इस हवन से सात्विक पदार्थ उत्पन्न होते हैं अर्थात् चन्द्रमा जैसे आल्हादजनक कोटानकोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं, यह बृहत् यज्ञ परमात्मा की ओर से प्रकृति में प्रवाहरूप से सदैव होता रहता है, जैसाकि "**सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्**" ऋग्०८।८।४८।२ इस मंत्र में वर्णन किया है, और इसी भाव को "**वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः**" यजु०३१।१४ इस मंत्र ने इस प्रकार वर्णन किया है कि वसंतऋतु इस यज्ञ का घृतस्थानी, ग्रीष्म समिद् स्थानीय और शरद् हवि है, इत्यादि, इस प्रकार इस यज्ञ का वर्णन वेद के अनेक स्थलों में पायाजाता है, अधिक क्या इस द्युलोकरूप अग्नि को इस प्राकृत यज्ञ के लिये उपनिषत्कारों ने प्रथम अग्निरूप से वर्णन किया है॥

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब द्वितीयाग्नि का कथन करते हैं:—

पर्जन्योवाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः ॥१॥

पद०—पर्जन्यः । वाव । गौतम । अग्निः । तस्य । वायुः । एव । समित् । अभ्रं । धूमः । विद्युत् । अर्चिः । अशनिः । अङ्गाराः । ह्रादुनयः । विस्फुलिङ्गाः ।

पदा०—(गौतम) हे गौतम ! (पर्जन्यः, वाव, अग्निः) मेघ ही द्वितीय अग्निकुण्ड है (तस्य, वायुः, एव, समित्) वायु ही उसकी समिधा (अभ्रं, धूमः) अबर ही धूम (विद्युत, अर्चिः) विजुली ही ज्वाला (अशनिः, अङ्गाराः) वज्र ही अङ्गार और (ह्रादुनयः, विस्फुलिङ्गाः) गर्जन ही विस्फुलिङ्ग हैं ।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳराजानं जुह्वति।तस्या आहुतेर्वर्षꣳसम्भवति।२।

पदा०—तस्मिन् । एतस्मिन् । अग्नौ । देवाः। सोमं । राजानं। जुह्वति । तस्याः । आहुतेः । वर्ष । सम्भवति ।

पदा०—(देवाः) प्रकृति की दिव्यशक्तियें (तस्मिन्, एतस्मिन्) उस (अग्नौ) पर्जन्यरूप अग्नि में (सोमं,राजानं) वाष्परूप जल का (जुह्वति) हवन करती हैं (तस्याः, आहुतेः) उस आहुति से (वर्ष,सम्भवति) वृष्टि होती है ।

भाष्य—इस खण्ड में द्वितीय अग्नि का वर्णन करते हुए रूपकालङ्कार से यज्ञ का कथन किया है कि यह मेघ ही अग्नि है इसमें वायु समिद् हैं जो धुन्धाकार जल होजाता है वह धूम है विद्युत् अर्चि और अशनि अङ्गार हैं, जो नभोमण्डल में हृदयों को विदीर्ण करता हुआ विद्युत् का शब्द उत्पन्न होता है वह इसके चिनगारे हैं, इस अग्नि में प्रकृति की दिव्य शक्तियें वाष्परूप जलों का हवन करती हैं जिससे वर्षा होती है अर्थात् केवल पर्जन्यरूप अग्नि ही वृष्टि का कारण नहीं किन्तु वायुयें समिधाओं का काम करती हैं और प्रकृति की दिव्यशक्तियें सञ्चित चतुरणुकादि परमाणु पुंज को एकत्रित करके जब उनकी आहुति देती हैं तब वृष्टि होती है, इस प्रकार पर्जन्यरूप अग्नि वृष्टि का कारण है।

इति पंचमःखण्डः समाप्तः

अथ षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब तृतीय अग्नि का कथन करते हैं:—

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः॥१॥

पद०—पृथिवी। वाव। गौतम।अग्निः।तस्याः। संवत्सरः। एव। समित्। आकाशः। धूमः। रात्रिः। अर्चिः। दिशः। अङ्गाराः। अवान्तरदिशः। विस्फुलिङ्गाः।

पदा०-(गौतम) हे गौतम ! (पृथिवी, वाव, अग्निः) पृथिवी ही अग्नि है (संवत्सरः, एव, तस्याः, समित्) वर्ष ही उसकी समिधा (आकाशः, धूमः) आकाश ही धूम (रात्रिः, अर्चिः) रात्रि ही ज्वाला (दिशः, अङ्गाराः) दिशायें अङ्गार और (अवान्तरदिशः, विस्फुलिङ्गाः) अवान्तर दिशायें विस्फुलिङ्ग हैं ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति। तस्या आहुतेरन्नꣳसम्भवति ॥ २ ॥

पद०-तस्मिन् । एतस्मिन् । अग्नौ । देवाः । वर्षं । जुह्वति । तस्याः । आहुतेः । अन्नं । सम्भवति ।

पदा०-(देवाः) प्रकृति की दिव्य शक्तियें (तस्मिन्, एतस्मिन्) उस (अग्नौ) पृथिवीरूप अग्नि में (वर्षं) वर्षा का (जुह्वति) हवन करती हैं (तस्याः, आहुतेः) उस आहुति से (अन्नं, सम्भवति) अन्न उत्पन्न होता है।

भाष्य-पृथिवीरूप अग्नि के सम्वत्सररूप काल को समिधा स्थानीय इस कारण कथन कियागया है कि उक्त समिधाओं से पृथिवी में यज्ञके फल रूप अन्न की उत्पत्ति होती है, और दिशा आकाशादि अन्न की उत्पत्ति में असाधारण कारण होने से अङ्गारादि स्थानीय कथन कियेगये हैं, इस अग्नि में जब प्रकृति की दिव्यशक्तियें आहुति देती हैं तो इससे अन्न की उत्पत्ति होती है अर्थात् पृथिवी से अन्न की उत्पत्ति एक वृहत् यज्ञ द्वारा होती है अन्यथा नहीं ।

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब चतुर्थ अग्नि का कथन करते हैं:—

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वाऽर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

पद०-पुरुषः । वाव । गौतम । आग्निः । तस्य । वाक् । एव । समित् । प्राणः । धूमः । जिह्वा । अर्चिः । चक्षुः । अङ्गाराः । श्रोत्रं । विस्फुलिङ्गाः ।

पदा०-(गौतम) हे गौतम ! (पुरुषः, वाव, आग्निः) पुरुष ही अग्नि है (वाक्, एव, तस्य, समित्) वाणी ही उस अग्नि की समिधा (प्राणः, धूमः) प्राण धूम (जिह्वा, अर्चिः) जिह्वा ज्वाला (चक्षुः, अङ्गाराः) चक्षु अङ्गार, और (श्रोत्रं, विस्फुलिङ्गाः) श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति । तस्या आहुते रेतः सम्भवति ॥ २ ॥

पद०-तस्मिन् । एतस्मिन् । अग्नौ । देवा । अन्नं । जुह्वति । तस्याः । आहुतेः । रेतः । सम्भवति ।

पदा०-(देवाः) प्रकृति की दिव्यशक्तिरूप इन्द्रिय (तस्मिन्, एतस्मिन्) उस (अग्नौः) अग्नि में (अन्नं, जुह्वति) अन्न की आहुति देते हैं (तस्याः, आहुतेः) उस आहुति से (रेतः, सम्भवतिं) वीर्य्य उत्पन्न होता है ॥

भाष्य–यहां पुरुष को अग्नि इस अभिप्राय से वर्णन किया है कि इस अग्नि में रसनादि इन्द्रियें षट् रसों का हवन करते हैं और इस आहुति से रेतस=वीर्य्य की उत्पत्ति होती है ॥

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अत्र गर्भाधान के लिये योषारूप पञ्चमाग्नि का कथन करते हैंः—

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

पद०–योषा । वाव । गौतम । अग्निः । तस्याः । उपस्थः । एव । समित् । यत् । उपमन्त्रयते । सः । धूमः । योनिः । अर्चिः । यत् । अन्तः । करोति । ते । अङ्गाराः । अभिनन्दाः । विस्फुलिङ्गाः ।

पदा०–(गौतम) हे गौतम ! (योषा, वाव, अग्निः) प्रकृति ही अग्नि है (उपस्थः, एव, तस्याः, समित्) उसकी संगरूप आसक्ति ही उसमें समिधा हैं (यत्, उपमन्त्रयते, सः, धूमः) जो रजोगुण के भावों से अपनी ओर खींचती है वह धूम (योनिः, अर्चिः) कारणता ज्वाला है (यत्, अन्तः, करोति, ते, अङ्गाराः)

जो अपने भीतर पुरुष को आसक्त करलेती है वह अङ्गार और (अभिनन्दाः, विस्फुलिङ्गाः) जो प्राकृत आनन्द है वह विस्फुलिङ्ग हैं ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति ।
तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति ॥ २ ॥

पद०-तस्मिन् । एतस्मिन् । अग्नौ । देवाः । रेतः । जुह्वति । तस्याः । आहुतेः । गर्भः । संभवति ।

पदा०-(तस्मिन्, एतस्मिन्, अग्नौ) उस अग्नि में (देवाः) प्रकृति की दिव्यशक्तियें (रेतः) बीज की (जुह्वति) आहुति देती हैं (तस्याः आहुतेः) उस आहुति से (गर्भः, सम्भवति) गर्भ होता है ।

भाष्य-" योषा " के अर्थ यहां मिश्रीभाव को प्राप्त होने वाली प्रकृति के हैं, इसको अग्निरूप इसलिये वर्णन किया है कि प्रकृतिरूप अग्नि में आहुति देने से बिना कोई भी भाव उत्पन्न नहीं होता, और " उपस्थ " के अर्थ यहां संग के हैं किसी गुह्य इन्द्रिय के नहीं, जैसाकि " रथोपस्थमुपाविशत् " गी० १ । ४६ में रथ सम्बन्धी स्थानविशेष के अर्थ "उपस्थ" के हैं ॥

तात्पर्य्य यह है कि प्रकृतिरूप अग्नि में जब बीजरूप आहुति दीजाती है तब उससे गर्भ स्थित होकर अङ्कुरादिकों की उत्पत्ति होती है, यहां प्रकृति और गर्भाधान का कथन प्राणी-मात्र के लिये है केवल मनुष्य के लिये नहीं, इससे सिद्ध है कि " योषा " के अर्थ यहां स्त्री के नहीं किन्तु प्रकृति के हैं, क्योंकि यदि " योषा " के अर्थ स्त्री और उपस्थ के अर्थ गुह्यइन्द्रिय

होते तो जो कीटादि स्वेदज हैं उनके लिये यह गर्भाधानविधि कैसे लगसक्ती, इसलिये उक्त प्राकृतिक हवन मानना ही समीचीन है ॥

भाव यह है कि यहां प्रकृति और पुरुष के जोड़े से गर्भाधान का कथन कियागया है किसी स्त्री पुरुष के जोड़े से नहीं, इसलिये उपस्थ आदिकों के श्लील अर्थ करके जिन टीकाकारों ने इस श्लोक के भाव को बिगाड़ा है वह तात्पर्य्य यहां नहीं ॥

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उक्त पांचवीं आहुति का फल कथन करते हैं:—

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति। स उल्वाऽऽवृतो गर्भो दश वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते॥ १ ॥

पद०—इति । तु । पञ्चम्यां । आहुतौ । आपः । पुरुषवचसः। भवन्ति । इति । सः । उल्वावृतः । गर्भः । दश । वा । मासान् । अन्तः। शयित्वा । यावत् । वा । अथ । जायते ॥

पदा०—(इति) इस प्रकार (तु) निश्चयकरके (पञ्चम्यां, आहुतौ) पांचवीं आहुति में (आपः) जल (पुरुषवचसः, भवन्ति, इति) पुरुष वाची होते हैं (सः) वह (गर्भः) गर्भ (उल्वावृतः) जेर से आवृत होकर (दश, वा, मासान्) दश

महीने (यावत्, वा) अथवा न्यूनाधिक (अन्तः, शयित्वा माता के उदर में शयन करके (अथ) अनन्तर (जायते उत्पन्न होता है ॥

स जातो यावदायुषं जीवति । तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति । यत एवेतो यतः सम्भूतो भवति ॥ २ ॥

पद०–सः । जातः । यावत् । आयुषं । जीवति । तं । प्रेतं । दिष्टं । इतः । अग्नयः । एव । हरन्ति । यतः । एव । इतः । यतः । सम्भूतः । भवति ॥

पदा०–(सः, जातः यावत्, आयुषं, जीवति) वह उत्पन्न हुआ पुरुष यावदायुष जीवित रहकर (तं) वह फिर (दिष्टं) कर्मानुकूल (प्रेतं) मरण को प्राप्त होता है तब उसको (इतः) यहां से (अग्नयः, एव, हरन्ति) अग्नियें ही लेजाती हैं (यतः, एव, इतः, यतः, सम्भूतः, भवति) जहां से ही उत्पन्न होता है वहां ही उसको लेजाती हैं ।

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब तृतीय प्रश्न का उत्तर देते हैं:—

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽह-

रन्ह आपूर्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षड्डुदङ्ङेति मासा७स्तान् ॥ १ ॥

पद०—तत् । ये । इत्थं । विदुः । ये । च । इमे । अरण्ये । श्रद्धा । तपः । इति । उपासते । ते । अर्चिषं । अभिसम्भवन्ति । अर्चिषः । अहः । अन्ह । आपूर्यमाणपक्षं । आपूर्यमाणपक्षात् । यान् । षट् । उदङ् । एति । मासान् । तान् ।

पदा०—(तत्) वह पुरुष (ये) जो (इत्थं) पूर्वोक्त प्रकार से उक्त विद्या को (विदुः) जानते हैं (च) और (ये, इमे) वह पुरुष जो (अरण्ये) बन में (श्रद्धा, तपः, इति, उपासते) श्रद्धापूर्वक तितिक्षा करते हुए उपासना करते हैं (ते) वह दोनों (अर्चिषं) अर्चिरादि मार्ग को (अभिसम्भवन्ति) प्राप्त होते हैं (अर्चिषः, अहः) अर्चिरादि मार्ग से दिन को (अन्हः, आपूर्यमाणपक्ष) दिन से पाक्षिकी दशा को (आपूर्यमाणपक्षात्) पाक्षि की दशा से (षट्) छ (उदङ्) उत्तरायण के (यान्) जो (मासान्) मास हैं (तान्, एति) उनको प्राप्त होते हैं ॥

मासेभ्यः संवत्सर७संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

पद०—मासेभ्यः । संवत्सरं । संवत्सरात् । आदित्यं । आदित्यात् । चन्द्रमसं । चन्द्रमसः । विद्युतं । तत्पुरुषः ।

अमानवः । सः । एनान् । ब्रह्म । गमयति । एषः । देवयानः । पन्थाः । इति ॥

पदा०-(मासेभ्यः, संवत्सरं) षट् मासों से संवत्सर को (संवत्सरात्, आदित्यं) संवत्सर से आदित्य को (आदित्यात्, चन्द्रमसं) आदित्य से चन्द्रलोक को (चन्द्रमसः, विद्युतं) चन्द्रलोक से विद्युत् को प्राप्त होकर(तत्पुरुषः, अमानवः) फिर उस अवस्था में देवभाव को प्राप्त होता है (सः) वह (एनान्) इन लोगों को (ब्रह्म, गमयति) ब्रह्म को प्राप्त करादेता है (एषः, देवयानः, पन्थाः, इति) यह देवयान मार्ग है॥

सं०-अब पितृयाणमार्ग का कथन करते हैं :—

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासाꣳस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥३॥

पद०-अथ । ये । इमे । ग्रामे । इष्टापूर्ते । दत्तं । इति । उपासते । ते । धूमं । अभिसम्भवन्ति । धूमात् । रात्रिं । । रात्रेः । अपरपक्षं । अपरपक्षात् । यान् । षड् । दक्षिणा । एति । मासान् । तान् । न । एते । संवत्सरं । अभिप्राप्नुवन्ति ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (ये, इमे, ग्रामे) जो यह पुरुष ग्राम में रहकर (इष्टापूर्ते) धर्मशालायें तथा यज्ञादिकर्म और (दत्तं) दान देना (इति, उपासते) यह कर्म करते हैं (ते) वह (धूमं, अभिसम्भवन्ति) धूम को प्राप्त होते हैं (धूमात्,

रात्रिं) धूम से रात्रि को (रात्रेः, अपरपक्षं) रात्रि से कृष्णपक्ष को (अपरपक्षात्) कृष्णपक्ष से (यान्) जो (षड्) छ (दक्षिणा) दक्षिणायन के (मासान्) मास हैं (तान्, एति) उनको प्राप्त होते हैं (न, एते, संवत्सरं, अभिप्राप्नुवन्ति) यह संवत्सर को प्राप्त नहीं होते ॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति॥ ४॥

पद०—मासेभ्यः। पितृलोकं। पितृलोकात्। आकाशं। आकाशात्। चन्द्रमसं। एषः। सोमः। राजा। तत्। देवानां। अन्नं। तं। देवाः। भक्षयन्ति।

पदा०—(मासेभ्यः, पितृलोकं) मासों से पितृलोक को पितृलोकात्, आकाशं) पितृलोक से आकाश को (आकाशात्, चन्द्रमसं) आकाश से चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं (एषः) यह (सोमः) चन्द्रमा जो (राजा) स्वयं प्रकाश है (तत्) वह (देवानां) देवों का (अन्नं) अन्न है (तं, देवाः, भक्षयन्ति) उसको देव खाते हैं, यह पितृयाण मार्ग है ॥

सं०—अब उनकी पुनरावृत्ति कथन करते हैं:—

तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानंपुनर्निवर्त्तन्ते । यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति ॥ ५ ॥

पद०—तस्मिन् । यावत् । सम्पादं । उषित्वा । अथ । एतं । एव । अध्वानं । पुनः । निवर्त्तन्ते । यथा । इतं । आकाशं । आकाशात् । वायुं । वायुः । भूत्वा । धूमः । भवति । धूमः । भूत्वा । अभ्रं । भवति ।

पदा०—(तस्मिन्) उस चन्द्रलोक में (यावत्, सम्पादं, उषित्वा) जबतक कर्मों का भोग है तबतक वहां रहकर (अथ) इसके अनन्तर (एतं, एव, अध्वानं, पुनः, निवर्त्तन्ते) इस ही मार्ग को फिर लौट आते हैं (यथा, इतं, आकाशं) जिसप्रकार प्रथम आकाश को प्राप्त हुए थे उसी क्रम से लौटते हैं (आकाशात्, वायुं) आकाश से वायु को (वायुः, भूत्वा, धूमः, भवति) वायु से धूम होते हैं (धूमः, भूत्वा, अभ्रं, भवति) धूम से फिर अभ्र=बादल होजाते हैं ॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति । त इह ब्रीहि यवा ओषधि वनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥ ६ ॥

पद०—अभ्रं । भूत्वा । मेघः । भवति । मेघः । भूत्वा । प्रवर्षति । ते । इह । ब्रीहि । यवाः । ओषधिवनस्पतयः । तिलमाषाः । इति । जायन्ते । अतः । वै । खलु । दुर्निष्प्रपतरं । यः । यः । हि । अन्नं । अत्ति । यः । रेतः । सिञ्चति तद्भूयः । एव । भवति ।

पदा०-(अभ्रं, भूत्वा, मेघः, भवति) अभ्र होकर फिर मेघ होते हैं (मेघः, भूत्वा, प्रवर्षति) मेघ होकर फिर वर्षते हैं (ते, इह) फिर वह (व्रीहि, यवाः,ओषधिवनस्पतयः, तिलमाषा, इति, जायन्ते) चावल, जौ, ओषधि, बनस्पतियें, तिल, उड़द, यह सब होते हैं (अतः) इनसे (वै, खलु) निश्चयकरके (दुर्निष्प्रपतरं) उनका निकलना अति कठिन होजाता है (यः, यः, हि, अन्नं, अत्ति) निश्चयकरके जो जो उस अन्न को खाता है और (यः, रेतः, सिञ्चति) जो गर्भाधान करता है (तद्भूयः, एव, भवति) फिर वह उस गर्भ में चलाजाता है ॥

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ ७ ॥

पद०-तत् । ये । इह । रमणीयचरणाः । अभ्याशः । ह । यत् । ते । रमणीयां । योनिं । आपद्येरन् । ब्राह्मणयोनिं । वा । क्षत्रिययोनिं । वा । वैश्ययोनिं । वा । अथ । ये । इह । कपूयचरणाः । अभ्याशः । ह । यत् । ते । कपूयां । योनिं । आपद्येरन् । श्वयोनिं । वा । शूकरयोनिं । वा । चण्डालयोनिं । वा ।

पदा०-(तत्) वह (ये) जो (इह) इस लोक में (रमणीयचरणाः) उत्तम कर्मों वाले हैं (ते) वह (ह) निश्चयकरके (अभ्याशः) शीघ्र ही (यत्) जो (रमणीयां,योनिं) उत्तम योनि हैं उनको (आपद्येरन्) प्राप्त होते हैं (ब्राह्मणयोनिं) ब्राह्मणयोनि को (वा) अथवा (क्षत्रिययोनिं) क्षत्रिययोनि को (वा) अथवा (वैश्ययोनिं) वैश्ययोनि को (अथ) और (ये) जो (इह) यहां (कपूयचरणाः) निन्दित कर्मों वाले हैं (ते) वह (अभ्याशः) शीघ्र ही (कपूयां, योनिं) निन्दित योनि को (आपद्येरन्) प्राप्त होते हैं (श्वयोनिं) कुत्ते की योनि को (वा) अथवा (शूकरयोनिं) शूकर योनि को (वा) अथवा (चण्डालयोनिं) चण्डाल योनि को प्राप्त होते हैं।

अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानी क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳस्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः ॥ ८ ॥

पद०-अथ। एतयोः। पथोः। न। कतरेणच। न। तानि। इमानि। क्षुद्राणि। असकृदावर्तीनि। भूतानि। भवन्ति। जायस्व। म्रियस्व। इति। एतत्। तृतीयं। स्थानं। तेन। असौ। लोकः। न। सम्पूर्यते। तस्मात्। जुगुप्सेत। तत्। एषः। श्लोकः।

पदा०-(अथ) और (एतयोः) उक्त दोनों (पथोः) मार्गों में से (कतरेणच) किसीएक मार्ग से भी (न) नहीं जाते

(तानि, इमानि) वह यह अज्ञानी (क्षुद्राणि) क्षुद्र (प्राणी) जीव (असकृदावर्तीनि) बारम्बार आवर्त्तनशील (भवन्ति) होते हैं और उनकी यह गति होती है कि (जायस्व, म्रियस्व, इति) पैदा हो मर इस प्रकार बारम्बार जिसमें आवागमन बना रहता है (एतत्, तृतीयं, स्थानं) यह तृतीय स्थान है (तेन) इससे (असौ, लोकः, न, सम्पूर्यते) वह लोक नहीं भरता (तस्मात्) इसकारण (जुगुप्सेत) इससे अपने आपकी रक्षा करे (तत्, एषः, श्लोकः) उक्त विषय में यह श्लोक है ।

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाऽऽचरँस्तैरिति ॥ ९ ॥

पद०—स्तेनः । हिरण्यस्य । सुरां । पिबन् । च । गुरोः । तल्पं । आवसन् । ब्रह्महा । च । एते । पतन्ति । चत्वारः । पञ्चमः । च । आचरन् । तैः । इति ।

पदा०—(हिरण्यस्य, स्तेनः) सुवर्ण की चोरी करने वाला (सुरां, पिबन्) शराब पीने वाला (च) और (गुरोः, तल्पं, आवसन्) गुरु की स्त्री से गमन करने वाला (ब्रह्महा) ब्रह्म हत्या करने वाला (एते, चत्वारः, पतन्ति) यह चारो गिर जाते हैं (च) और (पञ्चमः) पांचवां (तैः) इनका (आचरन्, इति) संग करने वाला गिरजाता है ॥

सं०—अब उक्त पञ्चाग्नि विद्या का फल कथन करते हैं:—

अथ ह य एतानेवं पंचाग्नीन् वेद न सह तैरप्याचरन् पाप्मना लिप्यते

शुद्धःपूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥१० ॥

पद०–अथ । ह । यः । एतान् । एवं । पंच । अग्नीन् । वेद न । सः । ह । तैः । अपि । आचरन् । पाप्मना । लिप्यते । शुद्धः । पूतः । पुण्यलोकः । भवति । यः । एवं । वेद । यः । एवं । वेद ।

पदा०–(ह) निश्चयकरके (अथ) अब यह कथन करते हैं कि (यः) जो (एतान्, एवं, पंच, अग्नीन्, वेद) इन पंचाग्नियों को उक्त प्रकार से जानता है (सः, ह, तैः, अपि, आचरन्) वह निश्चय इनके साथ आचरण करता हुआ भी (पाप्मना) पापरूपी मल से (न, लिप्यते) लिपायमान नहीं होता (यः, एवं, वेद) जो उक्त प्रकार से जानता है वह (शुद्धः, पूतः, पुण्यलोकः, भवति) शुद्ध पवित्र पुण्यलोक वाला होता है।

भाष्यं–" य एवं वेद " पाठ दोबार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, महर्षि गौतम ने जो जैवलि राजा के निकट जाकर यह प्रार्थना की थी कि हे भगवन् ! जो आपने कुमार से प्रश्न किये थे कृपाकरके उनका मेरे प्रति समाधान करें, राजा ने पृथक् २ पांचो प्रश्नों का समाधान इसप्रकार किया " किसप्रकार जल पञ्चमी आहुति में पुरुषाकार होते हैं" ? इस प्रश्न का समाधान पञ्चाग्निविद्या द्वारा किया, जो लोग आरण्य में रहकर श्रद्धा तथा तप से अपने जीवन को व्यतीत करते हैं वह प्रथम ज्ञानार्चि को प्राप्त होते हैं फिर दिन के समान उस अर्चि का प्रकाश होता है फिर पूर्णमा के चांद सदृश उनके विमलज्ञान का प्रकाश होजाता है, इत्यादि इस प्रकार

उत्तरोत्तर गति को प्राप्त होते हुए एक प्रकार के अमानवभाव को प्राप्त होते हैं इसी का नाम " देवयान " है, और इनसे भिन्न जो लोग ग्राम में रहकर यज्ञादि कर्म करते हैं वह कर्म की उच्च अवस्था को प्राप्त होते हैं यह " पितृयाण " मार्ग है,इस प्रकार देवयान और पितृयाण का भेद बतलाया, उत्तम कर्मों वाले उत्तम योनि को और नीच कर्मों वाले नीच योनि को प्राप्त होते हैं, इसप्रकार प्रजा की उत्पत्ति तीसरे प्रश्न के उत्तर में कथन की, क्षुद्र कीट पतंगादि द्वारा पुनः २ उत्पत्ति का कथन करके चतुर्थ प्रश्न का उत्तर दिया और आवागमन के बने रहने से वह लोक भरता नहीं, इससे पञ्चम प्रश्न का उत्तर कथन किया, पञ्चाग्नि विद्या के उपक्रम द्वारा जैवलि प्रवाहण ने गौतम के पांचो प्रश्नों का उत्तर दिया, जिससे महर्षि गौतम भलीभांति पंचाग्निविद्या के तत्व को समझ गये ॥

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब एक आख्यायिका द्वारा ब्रह्मविषयक विचार करते हैं:-

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते

महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मी-माꣳसाञ्चक्रुःको नु आत्मा किंब्रह्मेति॥१॥

पद०–प्राचीनशालः । औपमन्यवः । सत्ययज्ञः । पौलुषिः । इन्द्रद्युम्नः । भाल्लवेयः । जनः । शार्कराक्ष्यः । बुडिलः । आश्वित-राश्विः । ते । ह । एते । महाशालाः । महाश्रोत्रियाः । समेत्य । मीमांसाञ्चक्रुः । कः । नुः । आत्मा । किं । ब्रह्म । इति ।

पदा०–(औपमन्यवः, प्राचीनशालः) उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल (पौलुषिः, सत्ययज्ञः) पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ (भाल्लवेयः, इन्द्रद्युम्नः) भाल्लवि के पुत्र इन्द्रद्युम्न (जनः, शार्क-राक्ष्यः) शर्कराक्ष के पुत्र जन (बुडिलः, आश्वतराश्विः) अश्वतराश्वि के पुत्र बुडिल यह पांचों (महाशालाः, महाश्रोत्रियाः) बड़े गृहस्थ और श्रोत्रिय=वेदवेत्ता (समेत्य) इकट्ठे होकर (मीमांसाञ्चक्रुः) विचार करने लगे कि (नः) हमारा (आत्मा) आत्मा (किं) क्या है और (ब्रह्म, इति) ब्रह्म क्या है ॥

सं०–अब सबका मिलकर आरुणि उद्दालक के पास जाना कथन करते हैं:—

ते ह सम्पादयाञ्चक्रुरुद्दालको वै भग-वन्तोऽयमारुणिः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति। तꣳहन्ताभ्यागच्छा-मेति । तꣳहाभ्याजग्मुः ॥ २ ॥

पद०–ते । ह । सम्पादयाञ्चक्रुः । उद्दालकः । वै । भगवन्तः । अयं । आरुणिः । सम्प्रति । इमं । आत्मानं । वैश्वानरं । अध्येति ।

तं । हन्त । अभ्यागच्छाम । इति । तं । ह । अभ्याजग्मुः ।

पदा०—(ते, ह) उन सब विद्वानों ने (सम्पादयाञ्चक्रुः) निश्चय किया कि (अयं) यह जो (आरुणिः, उद्दालकः) आरुणि उद्दालक हैं (वै) निश्चयकरके (सम्प्रति) आजकल भलेप्रकार (अयं, आत्मानं, वैश्वानरं) इस वैश्वानर आत्मा को (अध्येति) जानते हैं (भगवन्तः) हे मित्रो हम लोग (हन्त) अब (तं) उनके (अभ्यागच्छाम, इति) समीप चलें, यह विचारकर (तं, ह) वह प्रसिद्ध पांचो (अभ्याजग्मुः) उद्दालक के पास आये ॥

स ह सम्पादयाञ्चकार–प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये । हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥ ३ ॥

पद०—सः । ह । सम्पादयाञ्चकार । प्रक्ष्यन्ति । मां । इमे । महाशालाः । महाश्रोत्रियाः । तेभ्यः । न । सर्वं । इव । प्रतिपत्स्ये । हन्त । अहं । अन्यं । अभ्यनुशासानि । इति ।

पदा०—(सः, ह) वह प्रसिद्ध उद्दालक उन सब को आया हुआ देख (सम्पादयाञ्चकार) विचार करने लगे कि (इमे) यह (महाशालाः, महाश्रोत्रियाः) बड़े गृहस्थ ब्रह्मवेत्ता (मां) मुझ से (प्रक्ष्यन्ति) पूछेंगे (तेभ्यः) उनको (सर्वं, इव) सर्व प्रकार से उत्तर देने में (न, प्रतिपत्स्ये) समर्थ नहीं, इसलिये (हन्त) इस समय (अहं) मैं (अन्यं) अन्य उपदेष्टा (अभ्यनु-

शासानि) इनको बतलाऊं (इति) इस प्रकार उन्होंने विचार किया ॥

सं०–अब उद्दालक उनके प्रति अन्य आचार्य्य का कथन करते हैं:–

तान् होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति । तꣳहन्ताभ्यागच्छामेति । तꣳहाभ्याजग्मुः ॥ ४ ॥

पद०–तान् । ह । उवाच । अश्वपतिः । वै । भगवन्तः । अयं । कैकेयः । सम्प्रति । इमं । आत्मानं । वैश्वानरं । अध्येति । तं । हन्त । अभ्यागच्छाम । इति । तं । ह । अभ्याजग्मुः ।

पदा०–(तान्, ह, उवाच) उन प्रसिद्ध विद्वानों से उद्दालक बोले कि (भगवन्तः) हे पूजनीय देवो ! (अयं, कैकेयः) यह कैकेय के पुत्र (अश्वपतिः) अश्वपति (वै) निश्चयकरके (सम्प्रति) इस समय (इमं) इस (आत्मानं, वैश्वानरं) वैश्वानर ब्रह्म को (अध्येति) भले प्रकार जानते हैं सो (हन्त) आओ हम सब (तं) उनके (अभ्यागच्छाम) निकट चलें (इति) इस प्रकार विचार कर वह सब (तं) उनके (अभ्याजग्मुः) समीप उपस्थित हुए ॥

सं०–अब राजा अश्वपति कथन करते हैं:—

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार । स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो

नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु मे भगवन्त इति ॥ ५ ॥

पद०—तेभ्यः । ह । प्राप्तेभ्यः । पृथक् । अर्हाणि । कारयाञ्चकार । सः । ह । प्रातः । सञ्जिहानः । उवाच । न । मे । स्तेनः । जनपदे । न । कदर्यः । न । मद्यपः । न । अनाहिताग्निः । न । अविद्वान् । न । स्वैरी । स्वैरिणी । कुतः । यक्ष्यमाणः । वै । भगवन्तः । अहं । अस्मि । यावत् । एकैकस्मै । ऋत्विजे । धनं । दास्यामि । तावत् । भगवद्भ्यः । दास्यामि । वसन्तु । मे । भगवन्तः । इति ।

पदा०—(ह) जब वह प्रसिद्ध महात्मा (प्राप्तेभ्यः) वहां पहुंच गये तब राजा ने (तेभ्यः) उनकी (पृथक्) पृथक् २ (अर्हाणि) पूजा (कारयाञ्चकार) कराई (सः, ह) वह प्रसिद्ध राजा (प्रातः, सञ्जिहानः) प्रातःकाल उठते ही उनके समीप आकर (उवाच) बोले कि (मे) मेरे (जनपदे) देश में (न, स्तेनः) न चोर है (न, कदर्य्यः) न कृपण (न, मद्यपः) न मद्य पीने वाला (न, अनाहिताग्निः) न अग्निहोत्रादि यज्ञ न करने वाला (न, अविद्वान्) न मूर्ख (न, स्वैरी) न कोई व्यभिचारी है, और जब व्यभिचारी ही नहीं तो (कुतः, स्वैरिणी) व्यभिचारिणी स्त्रियां कैसे होसक्ती है (भगवन्तः) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न विद्वानों !

(वै) निश्चयकरके (अहं) मैं (यक्ष्यमाणः, अस्मि) यज्ञ करने वाला हूं (यावत्) जितना (एकैकस्मै) एक २ (ऋत्विजे) ऋत्विक् को (धनं, दास्यामि) धन दूंगा (तावत्) उतना ही (भगवद्भ्यः) आप लोगों को (दास्यामि) दूंगा (भगवन्तः) आप लोग (वसन्तु) मेरे यहां पर निवास करें (इति) यह प्रार्थना राजा ने की ॥

सं०-अब वह ब्रह्मवेत्ता राजा के प्रति कथन करते हैं:-

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तꣳहैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरꣳसम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥ ६ ॥

पद०-ते । ह । ऊचुः । येन । ह । एव । अर्थेन । पुरुषः । चरेत् । तं । ह । एव । वेदत् । आत्मानं । एव । इमं । वैश्वारनं । सम्प्रति । अध्येषि । तं । एव । नः । ब्रूहि । इति ।

पदा०-(ह, ते) वह प्रसिद्ध विद्वान् (ऊचुः) बोले कि (एव) निश्चयकरके जो (येन, अर्थेन) जिस प्रयोजन से (चरेत्) जिसके निकट जाय (तं, एव) उससे वही प्रयोजन (वदेत्) कहे, सो हम लोग इस प्रयोजन से आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं कि आप (इमं) इस (वैश्वानरं, आत्मानं, एव) वैश्वानर परमात्मा का ही (सम्प्रति, अध्येषि) इस समय विचार करते हैं (तं, एव) उस आत्मा का ही (नः) हम लोगों के प्रति (ब्रूहि) कथन करें (इति) यह हमारी प्रार्थना है ॥

सं०-अब राजा कथन करते हैं:—

**तान् होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ।
तेह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे ।
तान् हानुपनीयैवैतदुवाच ॥ ७ ॥**

पद०-तान् । ह । उवाच । प्रातः। वः। प्रतिवक्तास्मि । इति। ते । ह । समित्पाणयः । पूर्वाह्णे । प्रतिचक्रमिरे । तान् । ह । अनु-पनीय । एव । एतत् । उवाच ।

पदा०-(तान्) उन महात्माओं से (ह) वह प्रसिद्ध राजा (उवाच) बोले (प्रातः) प्रातःकाल (वः) आप लोगों को (प्रतिवक्तास्मि, इति) प्रत्युत्तर दूंगा (ते, ह) वह प्रसिद्ध महात्मा (समित्पाणयः) समिधा लेकर (पूर्वाह्णे) पूर्वाह्ण काल में (प्रतिचक्रमिरे) राजा के समीप गये, तब राजा (अनुपनीय, एव) उपनयन न कराता हुआ ही (तान्) उनसे (एतत्) यह (उवाच) बोला कि:-

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब राजा एक २ करके प्रत्येक से प्रश्न करते हुए प्रथम "औपमन्यव" से पूछते हैं:—

**औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति ।
दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै**

सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

पद०–औपमन्यव । कं । त्वं । आत्मानं । उपास्से । इति । दिवं । एव । भगवः । राजन् । इति । ह । उवाच । एषः । वै । सुतेजाः । आत्मा । वैश्वानरः । यं । त्वं । आत्मानं । उपास्से । तस्मात् । तव । सुतं । प्रसुतं । आसुतं । कुले । दृश्यते ।

पदा०–(औपमन्यव) हे औपमन्यव (त्वं) आप (कं, आत्मानं) किस लक्षणविशिष्ट ब्रह्म की (उपास्से, इति) उपासना करते हैं ? (भगवः,राजन्) हे ऐश्वर्यसम्पन्न राजन् ! (दिवं,इति, उपास्से) द्युलोक को ही उपासता हूं, फिर राजा बोले (वै) निश्चयकरके (एषः) यह (सुतेजाः) उत्तम तेजोराशि (वैश्वानरः, आत्मा) वैश्वानर आत्मा है (यं) उस (आत्मानं) आत्मा को (त्वं, उपास्से) आप उपासते हैं (तस्मात्) इसीकारण (तव, कुले) आपके कुल में (सुतं) सुत (प्रसुतं) प्रसुत (आसुतं) आसुत* यह तीनों प्रकार के सोमरस (दृश्यते) देख पड़ते हैं ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । मू-

---

*सोम को अहर्गण में "सुत" अहीन में "प्रसुत" और सत्र यज्ञ में "आसुत" कहते हैं अर्थात् आपके कुल में पूर्णरीति से अग्निहोत्री पाये जाते हैं ॥

र्द्धात्वेष आत्मन इति होवाच । मूर्द्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

पद०—अत्सि । अन्नं । पश्यसि । प्रियं । अत्ति । अन्नं । पश्यति । प्रियं । भवति । अस्य । ब्रह्मवर्चसं । कुले । यः । एतं । एव । आत्मानं । वैश्वानरं । उपास्ते । मूर्द्धा । तु । एषः । आत्मनः । इति । ह । उवाच । मूर्द्धा । ते । व्यपतिष्यत् । यत् । मां । न । आगमिष्यः । इति ।

पदा०—(अन्नं, अत्सि) आप अन्न खाते (प्रियं, पश्यसि) प्रिय देखते हैं (एतं, एव) इसीप्रकार (यः) जो कोई (वैश्वानरं, आत्मानं) इस वैश्वानर आत्मा की (उपास्ते) उपासना करता है वह भी (अन्नं, अत्ति) अन्न खाता (प्रियं, पश्यति) प्रिय देखता है (अस्य, कुले) उसके कुल में (ब्रह्मवर्चसं, भवति) ब्रह्मतेज होता है (तु) परंतु (आत्मनः, एषः, मूर्द्धा) यह वैश्वानर= व्यापक ब्रह्म सब से शिरोमणि है (इति, ह, उवाच) इसप्रकार कथन करके बोले राजा कि (यत्, मां, न, आगमिष्यः, इति) यदि आप मेरे पास न आते तो (मूर्द्धा, व्यपतिष्यत्) तुम्हारा शिर गिरजाता अर्थात् तुम विद्वानों में लज्जित होते ॥

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब राजा " पौलुषि " से प्रश्न करते हैं:—

अथ होवाच—सत्ययज्ञं पौलुषिम् ।प्राची-

नयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्य-
मेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप
आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से ।
तस्मात्तव बहुविश्वरूपं कुले दृश्यते ॥१॥

पद०-अथ।ह। उवाच। सत्ययज्ञं। पौलुषिं। प्राचीनयोग्य। कं। त्वं। आत्मानं। उपास्से। इति। आदित्यं। एव। भगवः। राजन्। इति। ह। उवाच। एषः। वै। विश्वरूपः। आत्मा। वैश्वानरः। यं। त्वं। आत्मानं। उपास्से। तस्मात्। तव। बहु-विश्वरूपं। कुले। दृश्यते॥

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (ह) वह प्रसिद्ध राजा (पौलुषिं, सत्ययज्ञं) पुलुष ऋषि के पुत्र सत्ययज्ञ से (उवाच) बोले कि (प्राचीनयोग्य) हे प्राचीनयोग्य ! (त्वं, कं आत्मानं, उपास्से,इति) आप किस लक्षणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करते हैं ? (भगवः, राजन्) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न राजन् ! (आदित्यं, एव) आदित्य की ही उपासना करता हूं (इति, ह, उवाच) फिर राजा बोले कि (वै) निश्चयकरके (एषः) यह आदित्य (वैश्वानरः, आत्मा) वैश्वानर आत्मा (विश्वरूपः) विश्वरूप है (त्वं) आप (यं) जिस (आत्मानं) आत्मा की (उपास्से) उपासना करते हैं (तस्मात्) इसीकारण (तव,कुले) आपके कुल में (विश्वरूपं, दृश्यते) विविधप्रकार के पदार्थ देख पड़ते हैं ॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं

पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-मुपास्ते। चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यद्यन्मां ना गमिष्य इति ॥ २ ॥

पद०—प्रवृत्तः । अश्वतरीरथः । दासी । निष्कः । अत्सि । अन्नं । पश्यसि । प्रियं । अत्ति । अन्नं । पश्यति । प्रियं । भवति । अस्य । ब्रह्मवर्चसं । कुले । यः । एतं । एवं । आत्मानं । वैश्वानरं । उपास्ते । चक्षुः । तु । एतत् । आत्मनः । इति । ह । उवाच । अन्धः । अभविष्यत् । यत् । मां । न । आगमिष्यः । इति ॥

पदा०—(अश्वतरीरथः,दासी, निष्कः,प्रवृत्तः) अश्वतरीरथ, दासी, मणिमोतियों के हार आपके पास हैं (अन्नं, अत्सि) अन्न खाते हैं (प्रियं, पश्यसि) प्रिय देखते हैं (एवं) इसीप्रकार (यः) जो (एतं) इस (वैश्वानरं, आत्मानं, उपास्ते) वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं वह भी (अन्नं, अत्ति) अन्न को खाते (प्रियं, पश्यति) प्रिय देखते हैं (तु) परन्तु (एतत्, आत्मनः) यह आदित्य वैश्वानर का (चक्षुः) चक्षु है (इति, ह, उवाच) यह कथन करके राजा बोले कि (यत्) जो आप (मां) मेरे निकट (न, आगमिष्यः,इति) न आते तो (अन्धः, अभविष्यत्) अज्ञानी ही बने रहते ॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब राजा " भाल्लवेय " से प्रश्न करते हैं:—

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयम् । वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ॥ १ ॥

पद०-अथ । ह । उवाच । इन्द्रद्युम्नं । भाल्लवेयं । वैयाघ्रपद्य । कं । त्वं । आत्मानं । उपास्से । इति । वायुं । एव । भगवः । राजन् । इति । ह । उवाच । एषः । वै । पृथग्वर्त्मा । आत्मा । वैश्वानरः । यं । त्वं । आत्मानं । उपास्से । तस्मात् । त्वां । पृथग्बलयः । आयन्ति । पृथग्रथश्रेणयः । अनुयन्ति ॥

पदा०-(अथ, ह) इसके अनन्तर वह प्रसिद्ध राजा (भाल्लवेयं, इन्द्रद्युम्नं) भाल्लवि ऋषि के पुत्र इन्द्रद्युम्न से (उवाच) बोले कि (वैयाघ्रपद्य) हे वैयाघ्रपद्य ! (त्वं) आप (कं, आत्मानं, उपास्से, इति) किस लक्षणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करते हैं (इति, ह, उवाच) इन्द्रद्युम्न बोला कि मैं (भगवः,राजन्) हे ऐश्वर्यसम्पन्न राजन् ! (वायुं, एव) वायु की ही उपासना करता हूं, तब राजा बोले (वै) निश्चयकरके (एषः) यह (पृथग्वर्त्मा)

विविधप्रकार से गमन करने वाला वायु ही (वैश्वानरः, आत्मा) वैश्वानर ब्रह्म है (त्वं) आप (यं) जिस (आत्मानं, उपास्से) आत्मा की उपासना करते हैं (तस्मात्) इसीकारण (त्वां) आपको (पृथग्बलयः) नाना भेटें (आयन्ति) आती हैं और (पृथग्रथश्रेणयः) विविध यान (अनुयन्ति) आपके पीछे चलते हैं ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियंभवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । प्राणास्त्वेष आत्मन इति होवाच । प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

पद०—अत्सि । अन्नं । पश्यसि । प्रियं । अत्ति । अन्नं । पश्यति । प्रियं । भवति । अस्य । ब्रह्मवर्चसं । कुले । यः । एतं । एवं । आत्मानं । वैश्वानरं । उपास्ते । प्राणाः । तु । एषः । आत्मनः । इति । ह । उवाच । प्राणः । ते । उदक्रमिष्यत् । यत् । मां । न । आगमिष्यः । इति ।

पदा०—(अन्नं,अत्सि) अन्न खाते हैं (प्रियं, पश्यसि) प्रिय देखते हैं (एवं) इसीप्रकार (यः) जो (एतं) इस (वैश्वानरं, आत्मानं, उपास्ते) वैश्वानर आत्मा की उपसना करते हैं वह भी (अन्नं, अत्ति) अन्न खाते (प्रियं, पश्यति) प्रिय देखते हैं (अस्य, कुले) इसके कुल में (ब्रह्मवर्चसं, भवति) ब्रह्मतेज होता है (तु) परन्तु (एषः) यह (प्राणाः, आत्मनः)

वायु प्राण समान है (इति, ह, उवाच) फिर राजा बोले कि (यत्) जो आप (मां) मेरे निकट (न, आगमिष्यः, इति) न आते तो (ते, प्राणः, उदक्रमिष्यत्) तुम्हारे प्राण निकल जाते अर्थात् आप इस विज्ञान से रहित होकर जीवन व्यतीत करते ॥

इति चतुर्दशःखण्डः समाप्तः

अथ पंचदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब राजा " शार्कराक्ष्य " से कथन करते हैं:—

अथ होवाच-जनꣳशर्कराक्ष्य कं त्व-मात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुलं आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । त-स्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च॥१॥

पद०-अथ । ह । उवाच । जनं । शार्कराक्ष्य । कं । त्वं । आत्मानं । उपास्से। इति। आकाशं । एव ।भगवः । राजन् । इति। ह । उवाच । एषः । वै । बहुलं । आत्मा । वैश्वानरः । यं । त्वं । आत्मानं । उपास्से । तस्मात् । त्वं । बहुलः । असि । प्रजया । च । धनेन । च ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (ह) वह प्रसिद्ध राजा (जनं, शार्कराक्ष्य) जन शार्कराक्ष्य से (उवाच) बोले कि (त्वं, कं, आत्मानं, उपास्से, इति) आप किस लक्षणविशिष्ट ब्रह्म

की उपासना करते हैं (इति, ह, उवाच) तब वह बोला कि (भगवः, राजन्) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न राजन् (आकाशं, एव) आकाश ही की उपासना करता हूं (वै) निश्चयकरके (एषः) यह (बहुलं बहुव्यापक (वैश्वानरः, आत्मा) वैश्वानर आत्मा है (यं) जिस (आत्मानं) आत्मा का (त्वं) आप (उपास्से) उपासन करते हैं (तस्मात्) इसी कारण (त्वं) आप (प्रजया, च, धनेन, च) प्रजा और धन से (बहुलः, असि) बहुव्यापक हैं ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुलेय एत-मेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। सन्दे-हस्त्वेष आत्मन इति होवाच। सन्दे-हस्ते व्यशीर्य्यद्यन्मां नागमिष्य इति॥२॥

पद०—अत्सि । अन्नं । पश्यसि । प्रियं । अत्ति । अन्नं । पश्यति । प्रियं । भवति । अस्य । ब्रह्मवर्चसं । कुले । यः । एतं । एवं । आत्मानं । वैश्वानरं । उपास्ते । सन्देहः । तु । एषः । आत्मनः । इति । ह । उवाच । सन्देहः । ते । व्यशीर्य्यत् । यत् । मां । न । आगमिष्यः । इति ।

पदा०—(अन्नं, अत्सि) अन्न खाते हैं, (प्रियं, पश्यसि) प्रिय देखते हैं (एवं) इसी प्रकार (यः) जो (एतं) इस (वैश्वानरं, आत्मानं, उपास्ते) वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं वह भी (अन्नं, अत्ति) अन्न को खाते (प्रियं, पश्यति) प्रिय देखते हैं (अस्य, कुले, ब्रह्मवर्चसं) इसके कुल में ब्रह्मतेज (भवति) होता है (तु) परन्तु (एषः) यह (आत्मनः, सन्देहः)

आत्मा का मध्य=धड़समान है (इति, ह, उवाच) राजा ने कहा कि (यत्) जो आप(मां) मेरे निकट (न, आगमिष्यः,इति) न आते तो (ते, सन्देहः, व्यशीर्य्यत्) तुम्हारा धड़ टूट जाता ॥

इति पंचदशःखण्डः समाप्तः

अथ षोडशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब राजा "आश्वतराश्वि" से प्रश्न करते हैंः—

अथ होवाच-बुडिलमाश्वतराश्विम् । वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैषवै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्त्वꣳरयिमान् पुष्टिमानसि॥१॥

पद०-अथ। ह। उवाच। बुडिलं। आश्वतराश्वि । वैयाघ्रपद्य। कं। त्वं। आत्मानं। उपास्से। इति। अपः। एव। भगवः। राजन्। इति। ह। उवाच। एषः। वै। रयिः। आत्मा। वैश्वानरः। यं। त्वं। आत्मानं। उपास्से। तस्मात्। त्वं। रयिमान्। पुष्टिमान्। असि।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (आश्वतराश्वि, बुडिलं) आश्वतराश्वि बुडिल से (ह, उवाच) वह प्रसिद्ध राजा बोले (वैयाघ्रपद्य) हे वैयाघ्रपद्य ! (त्वं, कं, आत्मानं, उपास्से, इति) आप किस लक्षणविशिष्ट आत्मा की उपासना करते हैं? (ह, उवाच) वह प्रसिद्ध बुडिल बोले (भगवः, राजन्) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न

राजन् ! (अपः, एव) जल की ही मैं उपासना करता हूं, तब राजा बोले (वै) निश्चयकरके (एषः) यह (रयिः, आत्मा, वैश्वानरः) ऐश्वर्य्यसम्पन्न ही वैश्वानर आत्मा है (त्वं, यं) आप जिस (आत्मानं) आत्मा की (उपास्से) उपासना करते हैं (तस्मात्) इसी कारण (रयिमान्, पुष्टिमान्, असि) ऐश्वर्य्यसम्पन्न और पुष्ट हैं ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते वस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच। वस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति॥ २॥

पद०—अत्सि । अन्नं। पश्यसि प्रियं । अत्ति । अन्नं। पश्यति । प्रियं । भवति । अस्य । ब्रह्मवर्चसं । कुले । यः । एतं । एवं । आत्मानं । वैश्वानरं । उपास्ते । वस्तिः । तु । एषः । आत्मनः । इति । ह । उवाच । वस्तिः । ते । व्यभेत्स्यत् । यत् । मां । न । आगमिष्यः । इति ।

पदा०—(अन्नं, अत्सि) अन्न खाते हैं (प्रियं, पश्यसि) प्रिय देखते हैं (एवं) इसी प्रकार (यः) जो (एतं) इस (वैश्वानरं, आत्मानं, उपास्ते) वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं वह भी (अन्नं, अत्ति) अन्न खाते (प्रियं, पश्यति) प्रिय देखते हैं (अस्य, कुले) इसके कुल में (ब्रह्मवर्चसं, भवति) ब्रह्मतेज होता है (तु) परन्तु (एषः) यह (वस्तिः, आत्मनः) आत्मा जलस्वरूप है (इति, ह, उवाच) यह राजा ने कहा (यत्,

मां, न, आगामिष्यः, इति) जो आप मेरे समीप न आते तो (वस्तिः, ते, व्यभेत्स्यत्) आपका जलसंग्रह छिन्नभिन्न होजाता ॥

इति षोडशःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब राजा "उद्दालक" के प्रति प्रश्न करते हैं:—

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेवभ गवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा-वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्सेतस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसिप्रजया च पशुभिश्च ॥१॥

पद०—अथ। ह। उवाच। उद्दालकं। आरुणिं। गौतम। कं। त्वं। आत्मानं। उपास्से। इति। पृथिवीं। एव। भगवः। राजन्। इति। ह। उवाच। एषः। वै। प्रतिष्ठा। आत्मा। वैश्वानरः। यं। त्वं। आत्मानं। उपास्से। तस्मात्। त्वं प्रतिष्ठितः। असि। प्रजया। च। पशुभिः। च।

पदा०—(अथ) इसके अनन्तर (ह) वह प्रसिद्ध राजा (गौतम, आरुणिं, उद्दालकं) गौतम गोत्रोत्पन्न आरुणि के पुत्र उद्दालक से (उवाच) बोले कि (त्वं, कं, आत्मानं, उपास्से, इति) आप किस लक्षणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करते हैं

(इति, ह, उवाच) प्रसिद्ध उद्दालक ने उत्तर दिया कि (भगवः, राजन्) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न राजन् (पृथिवीं, एव) पृथिवी की ही उपासना करता हूं, तब राजा बोले (वै) निश्चयकरके (एषः) यह (वैश्वानरः, आत्मा, प्रतिष्ठा) वैश्वानर आत्मा का ही प्रतिष्ठा=पाद है (त्वं) आप (यं) जिस (आत्मानं, उपास्से) आत्मा की उपासना करते हैं (तस्मात्) इसीकारण (प्रजया, च, पशुभिः, च) प्रजा और पशुओं से (त्वं, प्रतिष्ठितः, असि) आप प्रतिष्ठित हैं ॥

अत्स्यन्नं पश्यासि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति॥२॥

पद०—अत्सि । अन्नं । पश्यसि । प्रियं । अत्ति । अन्नं । पश्यति । प्रियं । भवति । अस्य । ब्रह्मवर्चसं । कुले । यः । एतं । एवं । आत्मानं । वैश्वानरं । उपास्ते । पादौ । तु । एतौ । आत्मनः । इति । ह । उवाच । पादौ । ते । व्यम्लास्येतां । यत् । मां । न । आगमिष्यः । इति ।

पदा०—(अन्नं, अत्सि) अन्न खाते हैं (प्रियं, पश्यसि) प्रिय देखते हैं (यः) जो (एवं) उक्त प्रकार से (एतं) इस (वैश्वानरं,आत्मानं,उपास्ते) वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं वह भी (अन्नं, अत्ति,) अन्न खाते (प्रियं, पश्याति) प्रिय देखते हैं

(अस्य, कुले, ब्रह्मवर्चसं, भवति) इसके कुल में ब्रह्मतेज होता है (इति, ह, उवाच) फिर प्रसिद्ध राजा बोले (तु) परन्तु (एतौ, आत्मनः) यह पृथिवी उस ब्रह्म का (पादौ) पाद समान है (यत्, मां, न, आगमिष्यः, इति) जो आप मेरे पास न आते तो (ते, पादौ, व्यम्लास्येतां) आपके पाद=पैर शिथिल होजाते ।

भाष्य-पूर्वोक्त श्लोकों में वैश्वानर शब्द परमात्मा का वाचक है, जैसाकि "विश्वेषां विकाराणां नरः" "विश्वानरः" विश्वानर एव वैश्वानरः "=जो प्रकृति के सब कार्य्यों का कर्त्ता हो उसका नाम "विश्वानर" और इसी का नाम "वैश्वानर" है,यहां स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय है अथवा विश्वेनर= सब जीवों का जो स्वामी हो उसका नाम यहां "वैश्वानर" है, यद्यपि वैश्वानर शब्द जाठराग्नि में भी वर्तता है परन्तु यहां परमात्मा विषयक आया है, क्योंकि उक्त छओं महात्माओं से राजा ने बार २ वैश्वानर की उपासना का प्रश्न करके उनकी न्यूनता को पूर्ण किया है, और जो इस प्रकरण में वैश्वानर को प्रादेशमात्र कहा है वह "अङ्गुष्ठमात्रःपुरुषः"इस कठ के वाक्य समान हृदयगत होने के अभिप्राय से कथन किया है, वेदान्त सूत्रों में महर्षि व्यास ने कई एक ऋषियों के मत दिखलाकर इस बात को बलपूर्वक सिद्ध किया है कि वैश्वानर की उपासना से तात्पर्य्य परमात्मा की उपासना का है किसी जड़ पदार्थ की उपासना का नहीं, स्वामी शङ्कराचार्य्य आदि भाष्यकार भी वैश्वानर उपासना से निराकार ब्रह्म की

उपासना का ही ग्रहण करते हैं किसी साकार पदार्थ की उपासना का नहीं, और यह बात इस प्रकरण से भी स्पष्ट प्रतीत होती है कि जब "सत्ययज्ञपौलुषि" ने राजा के पूछने पर अपने आपको आदित्य का उपासक बतलाया तो राजा ने कथन किया कि आदित्य उस वैश्वानर का चक्षु है और उक्त उपासक को यह भी बोधन किया कि यदि तुम मेरे समीप न आते तो चक्षुहीन होजाते, जिसका भाव यह है कि यदि तुम आदित्य=सूर्य्य की ही उपासना करते और उसको ब्रह्म का चक्षुस्थानीय न जानते तो तुम सदैव के लिये अज्ञानी रहते,इसी भाव से वेद तथा उपनिषदोंके कई एक स्थलों में सूर्य्य तथा चन्द्रमा को नेत्र स्थानी कथन कियागया है किसी साकार मूर्त्ति के अभिप्राय से नहीं ।

स्मरण रहे कि यदि आदित्यादिकों को ब्रह्म मानकर उनकी पूजा करना उपनिषत्कारों को अभीष्ट होता तो इस स्थल में आदित्यादि जड़ों की व्यावृत्ति करके एकमात्र वैश्वानर ब्रह्म की उपासना कथन न कीजाती और नाही चक्षु, प्राण, शरीर, आदिकों से रहित होने का भय जड़ोपास्ति में उपासक को बतलाया जाता ॥

सार यह है कि इस स्थल में वैश्वानर को विराट्रूपद्वारा वर्णन कियागया है जैसाकि पुरुषसूक्त में पुरुष को विराट्रूप से वर्णन किया है किसी मूर्त्ति के अभिप्राय से नहीं, इसीप्रकार सब उपासकों की उपासनाओं में राजा ने न्यूनता बतलाकर एकमात्र वैश्वानर की उपासना का ही विधान किया है जो उक्त श्लोकों के अर्थों से भलेप्रकार स्पष्ट है, इसलिये अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं ॥

इति सप्तदशःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब अश्वपति राजा सबको अभिमुख करके उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

तान् होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेम-मात्मानं वैश्वानरं विद्वाꣳसोऽन्नमत्थ । यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मा-नं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वे-षु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥ १ ॥

पद०-तान् । ह । उवाच । एते । वै । खलु । यूयं । पृथक् । इव । इमं । आत्मानं । वैश्वानरं । विद्वांसः । अन्नं । अत्थ । यः । तु । एतं । । एवं । प्रादेशमात्रं । अभिविमानं । आत्मानं । वैश्वानरं । उपास्ते । सः । सर्वेषु । लोकेषु । सर्वेषु । भूतेषु । सर्वेषु । आत्म-सु । अन्नं । अत्ति ॥

पदा०-(तान्, ह, उवाच) उन प्रसिद्ध महात्माओं से राजा बोले कि (एते, वै, खलु, यूयं) निश्चयकरके आप लोग (पृथक्, इव) भिन्न २ रूप से (इमं) इस (वैश्वानरं, आत्मानं) वैश्वानर आत्मा को (विद्वांसः) जानते हुए (अन्नं, अत्थ) अन्न खाते हैं (यः, तु) परन्तु जो (एतं) इस ब्रह्म को (एवं) उक्त प्रकार से (प्रादेशमात्रं) प्रादेशमात्र (अभिविमानं) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रत्यक्षवत् जानने वाला (वैश्वानरं, आत्मानं)

व्यापक ब्रह्म को (उपास्ते) उपासता है (सः) वह (सर्वेषु, लोकेषु) सब लोकों में (सर्वेषु, भूतेषु) सब भूतों में (सर्वेषु, आत्मसु) सब आत्माओं में (अन्नं, अत्ति) अन्न खाता है अर्थात् आनन्द भोगता है ॥

सं०—अब उक्त वैश्वानर आत्मा को रूपकालङ्कार द्वारा कथन करते हैं:—

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्माऽऽत्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्य्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥ २ ॥

पद०—तस्य । ह । वै । एतस्य । आत्मनः । वैश्वानरस्य । मूर्द्धा । एव । सुतेजाः । चक्षुः । विश्वरूपः । प्राणः । पृथग्वर्त्मात्मा । सन्देहः । बहुलः । बस्तिः । एव । रयिः । पृथिवी । एव । पादौ । उरः । एव । वेदिः । लोमानि । बर्हिः । हृदयं । गार्हपत्यः । मनः । अन्वाहार्य्यपचनः । आस्यं । आहवनीयः ।

पदा०—(तस्य, एतस्य, ह, वै) उस प्रसिद्ध (आत्मनः, वैश्वानरस्य) व्यापक ईश्वर का (सुतेजाः, मूर्द्धा, एव) तेजोराशि द्युलोक ही मूर्द्धा (विश्वरूपः, चक्षुः) सूर्य्य चक्षु (पृथग्वर्त्मात्मा, प्राणः) वायु ही प्राण समान (बहुलः, सन्देहः)

आकाश धड़ समान (रयिः, एव, बस्तिः) बस्ति ही जल (पृथिवी, एव, पादौ) पृथिवी ही पाद (वेदिः,एव,उरः) यज्ञवेदि ही वक्षस्थल समान (बर्हिः,लोमानि) यज्ञकुश ही लोम समान (गार्हपत्यः, हृदयं) गार्हपत्याग्नि ही हृदय (अन्वाहार्य्यपचनः, मनः) दक्षिणाग्नि ही मन समान और (आहवनीयः, आस्यं) आहवनीयाग्नि मुख समान है ॥

इति अष्टादशःखण्डः समाप्तः

अथ एकोनविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब प्रथमाहुति द्वारा प्राणवायु की तृप्ति कथन करते हैं:-

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयꣳस यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥

पद०-तत् । यत् । भक्तं । प्रथमं । आगच्छेत् । तत् । होमीयं । सः । यां । प्रथमां । आहुतिं । जुहुयात् । तां । जुहुयात् । प्राणाय । स्वाहा । इति । प्राणः । तृप्यति ।

पदा०-(तत्,यत्) वह जो (भक्तं) होमीय द्रव्य (प्रथमं, आगच्छेत्) प्रथमाहुति में हवन करे (तत्,होमीयं) उस होमीय द्रव्य से (सः) वह यजमान (यां) जिस (प्रथमां, आहुतिं, जुहुयात्) प्रथम आहुति को देवे उसकी विधि यह है कि (तां) उस

प्रथमाहुति को (प्राणाय, स्वाहा, इति) "प्राणाय स्वाहा" यह बोलकर अग्नि में देवे (इति) इससे (प्राणः, तृप्यति) प्राण तृप्त होते हैं ॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषितृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किञ्च द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यनुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

पद०—प्राणे । तृप्यति । चक्षुः । तृप्यति । चक्षुषि । तृप्यति । आदित्यः । तृप्यति । आदित्ये । तृप्यति । द्यौः । तृप्यति । दिवि । तृप्यन्त्यां । यत् । किञ्च । द्यौ । च । आदित्यः । च । अधितिष्ठतः । तत् । तृप्यंति । तस्य । अनु । तृप्तिं । तृप्यति । प्रजया । पशुभिः । अन्नाद्येन । तेजसा । ब्रह्मवर्चसेन । इति ।

पदा०—(प्राणे, तृप्यति) प्राण के तृप्त होने से (चक्षुः, तृप्यति) चक्षु तृप्त होता है (चक्षुषि, तृप्यति) चक्षुओं के तृप्त होने से (आदित्यः, तृप्यति) आदित्य तृप्त होता है (आदित्ये, तृप्यति) आदित्य के तृप्त होने से (द्यौः, तृप्यति) द्युलोक तृप्त होता है (दिवि, तृप्यन्तां) द्युलोक के तृप्त होने से (यत्, किञ्च) जो कुछ (द्यौः, च, आदित्यः, च) द्युलोक और आदित्य के (आधितिष्ठतः) आश्रित है (तत्, तृप्यति) वह सब तृप्त होता है (तस्य, अनु, तृप्ति) इन सब की तृप्ति के पश्चात् (प्रजया, पशुभिः,

अन्नाद्येन, तेजसा, ब्रह्मवर्चसेन, इति, तृप्यति) प्रजा, पशु, अन्न, तेज और ब्रह्मतेज से यजमान तृप्त होता है ।

भाष्य–इन श्लोकों में हवन द्वारा प्रथमाहुति से प्राणवायु की तृप्ति इस प्रकार कथन कीगई है कि जब होमीय द्रव्य से प्रथमाहुति देवे तो "**प्राणाय स्वाहा**" यह बोलकर देवे, इस से प्राण तृप्त होते हैं, यहां "प्राण" शब्द परमात्मा और भौतिक वायु का बोधक है, जिसका आशय यह है कि प्रथम यजमान परमात्मा का स्तवन करे, जैसाकि पीछे कई स्थलों में वर्णन कर आये हैं और यह तो प्रत्यक्ष ही है कि हवन से वायु शुद्ध होती है, वायु का शुद्ध होना ही उसकी तृप्ति है, वायु के तृप्त होने से चक्षु की तृप्ति होती है,क्योंकि हवनादि यज्ञों में प्रथम नेत्र का ही सम्बन्ध विशेष होता है, प्रकाशक होने से यहां नेत्रशक्तिविशेष का नाम आदित्य है सो नेत्र के तृप्त होने से आदित्य की तृप्ति और चक्षुगोलक का नाम द्युलोक है, सो आदित्य के तृप्त होने से चक्षु गोलक की तृप्ति होती है, और द्युलोक तथा आदित्य के तृप्त होने से अन्य जितने पदार्थ अक्षिगत हैं उन सब की तृप्ति=शुद्धि होती है, इसके पश्चात् यजमान प्रजासे, पशुओं से, विविध भोग्य पदार्थों से, सांसारिक ऐश्वर्यरूप तेज से और ब्रह्मतेज से तृप्त होता है ॥

इति एकोनविंशःखण्डः समाप्तः

अथ विंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब द्वितीयाहुति द्वारा "व्यान" की तृप्ति कथन करते हैं:—

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद् व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥ १ ॥

पद०—अथ । यां । द्वितीयां । जुहुयात् । तां । जुहुयात् । व्यानाय । स्वाहा । इति । व्यानः । तृप्यति ।

पदा०—(अथ) प्रथमाहुति के अनन्तर (यां) जिस (द्वितीयां) द्वितीयाहुति का (जुहुयात्) हवन करे (तां) उसको (व्यानाय, स्वाहा) "व्यानाय स्वाहा" पढ़कर (जुहुयात्) आहुति दे (इति) इससे (व्यानः) व्यान (तृप्यति) तृप्त होता है ।

भाष्य—यहां व्यान से श्रोत्रेन्द्रिय व्याप्त वायु का ग्रहण है अर्थात् "व्यानाय स्वाहा" पढ़कर द्वितीयाहुति दे, इस आहुति से श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त होता है ॥

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किञ्च दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

पद०-व्याने । तृप्यति । श्रोत्रं । तृप्यति । श्रोत्रे । तृप्यति । चन्द्रमाः । तृप्यति । चन्द्रमसि । तृप्यति । दिशः । तृप्यन्ति । दिक्षु । तृप्यन्तीषु । यत् । किञ्च । दिशः । च । चन्द्रमाः । च । अधितिष्ठन्ति । तत् । तृप्यति तस्य । अनु । तृप्तिं । तृप्यति । प्रजया । पशुभिः । अन्नाद्येन । तेजसा । ब्रह्मवर्चसेन । इति ।

पदा०-(व्याने, तृप्यति) व्यान के तृप्त होने से (श्रोत्रं, तृप्यति) श्रोत्र तृप्त होता है (श्रोत्रे, तृप्यति) श्रोत्र के तृप्त होने से (चन्द्रमाः, तृप्यति) चन्द्रमा तृप्त होता है (चन्द्रमसि, तृप्यति) चन्द्रमा के तृप्त होने से (दिशः, तृप्यन्ति) दिशायें, तृप्त होती हैं (दिक्षु, तृप्यन्तीषु) दिशाओं के तृप्त होने से (यत्, किंच) जो कुछ (दिशः, च, चन्द्रमाः, च) दिशा और चन्द्रमा के (अधितिष्ठन्ति) अधिकार में है (तत्, तृप्यति) वह सब तृप्त होता है (तस्य, नु, तृप्तिं) उस सब की तृप्ति के अनन्तर यजमान (प्रजया) प्रजा (पशुभिः) पशु (अन्नाद्येन) ऐश्वर्य्य (तेजसा) तेज और (ब्रह्मवर्चसेन, इति) ब्रह्मतेज से (तृप्यति) तृप्त होता है ।

भाष्य-व्यान के तृप्त होने से श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त होता है, यहां व्यान नाम श्रोत्रेन्द्रियाधिष्ठित वायु का है सो इस वायु के तृप्त होने से श्रोत्र की तृप्ति कथन करना समुचित ही है, चन्द्रमा से तात्पर्य्य यहां श्रोत्र की शक्ति का है अर्थात् " चदि अल्हादे " धातु से " चन्द्रमा " शब्द सिद्ध होता है जिसके अर्थ आनन्द दाता के हैं और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द के श्रवण करने से भी आनन्द की प्राप्ति होती है, इसी अभिप्राय से कहा

है कि श्रोत्र के तृप्त होने से चन्द्रमा की तृप्ति होती है, चन्द्रमा की तृप्ति से दिशायें तृप्त होती है, क्योंकि दिशाओं के सम्बन्ध से ही श्रोत्र में शब्द आता है सो श्रोत्र की तृप्ति से दिशाओं का तृप्त होना स्पष्ट है, चन्द्रमा तथा दिशाओं के तृप्त होने से इनके अधि-कारी पदार्थ भी तृप्त होते हैं, और सब की तृप्ति के पश्चात यजमान् प्रजा=सन्तान्, पशु, अन्न, सांसारिकतेज और ब्रह्मतेज से तृप्त होता है ॥

इति विंशःखण्डः समाप्तः

अथ एकविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब तृतीयाहुति द्वारा "अपान" की तृप्ति कथन करते हैं :—

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयाद-पानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥ १ ॥

पद०—अथ । यां । तृतीयां । जुहुयात् । तां । जुहुयात् । अपानाय । स्वाहा । इति । अपानः । तृप्यति ।

पदा०—(अथ) इसके अनन्तर (यां) जिस (तृतीयां) तीसरी आहुति से (जुहुयात्) हवन करना हो तो (तां) उस आहुति को (अपानाय, स्वाहा, इति) "अपानाय स्वाहा" इस प्रकार पढ़कर (जुहुयात) हवन करे (इति) इस आहुति से (अपानः, तृप्यति) अपान की तृप्ति होती है ॥

अपाने तृप्यति वाक् तृप्यति वाचि तृप्य-

न्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किञ्च पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

पद०—अपाने । तृप्यति । वाक् । तृप्यति । वाचि । तृप्यन्त्यां । अग्निः । तृप्यति । अग्नौ । तृप्यति । पृथिवी । तृप्यति । पृथिव्यां । तृप्यन्त्यां । यत् । किञ्च । पृथिवी । च । अग्निः । च । अधितिष्ठतः । तत् । तृप्यति । तस्य । अनु । तृप्तिं । तृप्यति । प्रजया । पशुभिः । अन्नाद्येन । तेजसा । ब्रह्मवर्चसेन । इति ।

पदा०—(अपाने, तृप्यति) अपान के तृप्त होने से (वाक्, तृप्यति) वाणी तृप्त होती है (वाचि, तृप्यन्त्यां) वाणी के तृप्त होने से (अग्निः, तृप्यति) अग्नि तृप्त होती है (अग्नौ, तृप्यति) अग्नि के तृप्त होने से (पृथिवी, तृप्यति) पृथिवी तृप्त होती है (पृथिव्यां, तृप्यन्त्यां) पृथिवी के तृप्त होने से (यत्, किंच) जो कुछ (पृथिवी, च, अग्निः, च) पृथिवी और अग्नि के (अधितिष्ठतः) अधिकार में है (तत्, तृप्यति) वह सब तृप्त होता है (तस्य, अनु, तृप्तिं) उस सब की तृप्ति के अनन्तर यजमान (प्रजया) प्रजा (पशुभिः) पशु (अन्नाद्येन) ऐश्वर्य्य (तेजसा) तेज और (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (तृप्यति) तृप्त होता है ॥

भाष्य—यहां अपान शब्द से वाक् इन्द्रियस्थानाधिष्ठित वायु का ग्रहण है, इसी अभिप्राय से कहा है कि अपान के तृप्त होने से बाणी तृप्त होती है, और बाणी का उच्चारण अग्नि की सहायता से होता है, क्योंकि जहां अग्नि न हो वहां बाणी का उच्चारण नहीं होसक्ता, इसीसे वायु की तृप्ति द्वारा अग्नि की तृप्ति कथन की है, या यों कहो कि बाणी का देवता अग्नि है, इसलिये अग्नि के तृप्त होने से पृथिवी की तृप्ति होती है, यहां पृथिवी से तात्पर्य्य बाणीगत स्थान का है और अग्नि तथा पृथिवी के अधिकार में जो पदार्थ हैं उनकी और उनके पश्चात् प्रजा आदि से यजमान की तृप्ति होती है॥

इति एकविंशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वाविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब चतुर्थी आहुति द्वारा "समान" की तृप्ति कथन करते हैं:—

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात् समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ॥ १ ॥

पद०—अथ। यां। चतुर्थीं। जुहुयात्। तां। जुहुयात्। समानाय। स्वाहा। इति। समानः। तृप्यति।

पदा०—(अथ) इसके अनन्तर (यां) जिस (चतुर्थीं) चतुर्थ आहुति से (जुहुयात्) हवन करना हो (तां) उसको (समानाय, स्वाहा) "**समानाय स्वाहा**" पढ़कर (जुहुयात्)

आहुति दे (इति) इससे (समानः, तृप्यति) समान की तृप्ति होती है ॥

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किञ्च विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

पद०—समाने । तृप्यति । मनः । तृप्यति । मनसि । तृप्यति । पर्जन्यः । तृप्यति । पर्जन्ये । तृप्यति । विद्युत् । तृप्यति । विद्युति । तृप्यन्त्यां । यत् । किंच । विद्युत् । च । पर्जन्यः । च । अधितिष्ठतः । तत् । तृप्यति । तस्य । अनु । तृप्तिं । तृप्यति । प्रजया । पशुभिः । अन्नाद्येन । तेजसा । ब्रह्मवर्चसेन । इति ।

पदा०—(समाने, तृप्यति) समान के तृप्त होने पर (मनः, तृप्यति) मन तृप्त होता है (मनसि, तृप्यति) मन के तृप्त होने पर (पर्जन्यः, तृप्यति) पर्जन्य तृप्त होता है (पर्जन्ये, तृप्यति) पर्जन्य के तृप्त होने पर (विद्युत, तृप्यति) विद्युत तृप्त होती है (विद्युति, तृप्यन्त्यां) विजुली के तृप्त होने पर (यत, किंच) जो कुछ (विद्युत, च, पर्जन्यः, च) विजुली और पर्जन्य के (अधितिष्ठतः) अधिकार में है (तत, तृप्यति) वह सब तृप्त होता

है (तस्य, अनु, तृप्तिं) उन सब की तृप्ति के अनन्तर यजमान (प्रजया) प्रजा (पशुभिः) पशु (अन्नाद्येन) ऐश्वर्य्य (तेजसा) सांसारिक बल और (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (तृप्यति) तृप्त होता है ॥

भाष्य—सारे शरीर में विचरने वाले वायु का नाम "**समान**" है, सो चतुर्थी आहुति "**समानाय स्वाहा**" पढ़कर दे, इससे समान की तृप्ति होती है और समान के तृप्त होने से मन की तृप्ति यहां इसलिये कथन कीगई है कि मन भी सब इन्द्रियों में समान की न्याईं वर्तता है, यहां मन की शक्तिविशेष का नाम पर्जन्य तथा मन की गति का नाम विद्युत है और वह पर्जन्य के तृप्त होने पर तृप्त होती है, इसके अनन्तर पर्जन्य और विद्युत के अधिकार में जो कुछ है वह सब तृप्त होता और फिर ब्रह्मतेज आदि से यजमान तृप्त होता है ॥

इति द्वाविंशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब पांचवी आहुति द्वारा "उदान" की तृप्ति कथन करते हैं:—

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥ १ ॥

पद०—अथ । यां । पञ्चमीं । जुहुयात् । तां । जुहुयात् । उदानाय । स्वाहा । इति । उदानः । तृप्यति ।

पदा०—(अथ) चतुर्थी आहुति के अनन्तर (यां) जिस (पंचमीं) पांचवीं आहुति से (जुहुयात्) हवन करना होतो (तां) उसको (उदानाय, स्वाहा) "उदानाय स्वाहा" पढ़कर (जुहुयात्) हवन करे (इति) इससे (उदानः, तृप्यति) उदान की तृप्ति होती है॥

उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किञ्च वायुश्चाऽऽकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।

पद०—उदाने । तृप्यति । त्वक् । तृप्यति । त्वचि । तृप्यन्त्यां । वायुः । तृप्यति । वायौ । तृप्यति । आकाशः । तृप्यति । आकाशे । तृप्यति । यत् । किंच । वायुः । च । आकाशः । च । अधितिष्ठतः । तत् । तृप्यति । तस्य । अनु । तृप्तिं । तृप्यति । प्रजया । पशुभिः । अन्नाद्येन । तेजसा । ब्रह्मवर्चसेन । इति ।

पदा०—(उदाने, तृप्यति) उदान की तृप्ति से (त्वक्, तृप्यति) त्वक् की तृप्ति होती है (त्वचि, तृप्यन्त्यां) त्वचा की तृप्ति होने से (वायुः, तृप्यति) वायु की तृप्ति होती है (वायौ, तृप्यति)

वायु के तृप्त होने पर (आकाशः, तृप्यति) आकाश की तृप्ति होती है (आकाशे, तृप्यति) आकाश के तृप्त होने पर (यत्, किंच) जो कुछ (वायुः, च, आकाशः, च) वायु और आकाश के (अधितिष्ठतः) आश्रित है (तत्, तृप्यति) वह सब तृप्त होता है (तस्य, अनु, तृप्तिं) उसकी तृप्ति के अनन्तर वह यजमान (प्रजया, पशुभिः, अन्नाद्येन,तेजसा,ब्रह्मवर्चसेन,इति) प्रजा पशु, ऐश्वर्य्य, सांसारिक तेज और ब्रह्मतेज से (तृप्यति) तृप्त होता है ॥

भाष्य-त्वगिन्द्रिय स्थानाधिष्ठित वायु का नाम "उदान" है, सो उदान वायु की तृप्ति के लिये "उदानाय स्वाहा" पढ़कर पांचवीं आहुति दे, इससे उदान की तृप्ति होती है उदान से त्वक् की पुष्टि होती है त्वक् की पुष्टि होने से स्पर्शेन्द्रिय की शक्ति बढ़ती है,वायु के तृप्त होने पर आकाश की तृप्ति और आकाश की तृप्ति होने पर जो कुछ आकाश और वायु के आश्रित है उस सबकी पुष्टि होती है, उसके अनन्तर प्रजा आदि से यजमान की तृप्ति=पुष्टि होती है ।

इति त्रयोविंशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्विंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब अविधिपूर्वक हवन का निषेध करते हुए विधि-पूर्वक अग्निहोत्र का कथन करते हैं:—

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथा

ऽङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् तत्स्यात् ॥ १ ॥

पद०-सः। यः। इदं। अविद्वान्। अग्निहोत्रं। जुहोति। यथा। अङ्गारान्। अपोह्य। भस्मनि। जुहुयात्। तादृक्। तत्। स्यात्।

पदा०-(सः, यः) वह पुरुष जो (इदं) उक्त पञ्चाहुति विज्ञान को (अविद्वान्) न जानता हुआ (अग्निहोत्रं, जुहोति) अग्निहोत्र करता है (तत्) वह (यथा) जैसे (अङ्गारान्) अग्निहोत्र के योग्य अङ्गारों को (अपोह्य) हटाकर (भस्मनि) भस्म में (जुहुयात्) हवन करने के (तादृक्, स्यात्) सदृश है।

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥ २ ॥

पद०-अथ। यः। एतत्। एवं। विद्वान्। अग्निहोत्रं। जुहोति। तस्य। सर्वेषु। लोकेषु। सर्वेषु। भूतेषु। सर्वेषु। आत्मसु। हुतं। भवति।

पदा०-(अथ) और (यः) जो पुरुष (एतत्) इस पञ्चाहुति विज्ञान को (एवं) उक्त प्रकार से (विद्वान्) जानता हुआ (अग्निहोत्रं, जुहोति) अग्निहोत्र करता है (तस्य) उसका (सर्वेषु, लोकेषु) सब लोकों (सर्वेषु, भूतेषु) सब भूतों और (सर्वेषु, आत्मसु) सब आत्माओं में (हुतं, भवति) अग्निहोत्र होता है॥

सं०—अब उक्त अग्निहोत्र का फल कथन करते हैं :—

तद्यथेषिकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳ हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥ ३ ॥

पद०—तत् । अथ । ईषिकातूलं । अग्नौ । प्रोतं । प्रदूयेत । एवं । ह । अस्य । सर्वे । पाप्मानः । प्रदूयन्ते । यः । एतत् । एवं । विद्वान् । अग्निहोत्रं । जुहोति ।

पदा०—(यः) जो पुरुष (एवं) उक्त प्रकार से (विद्वान्) जानता हुआ (एतत्) इस (अग्निहोत्रं, जुहोति) अग्निहोत्र को करता है (तत्) उसके (यथा) जैसे (ईषिकातूलं) मुञ्ज की रुई (अग्नौ) अग्नि में (प्रोतं) प्रक्षिप्त होने पर (प्रदूयेत) शीघ्र ही भस्म होजाती है (एवं) इसी प्रकार (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस ज्ञाता की (सर्वे) सब (पाप्मानः) पापवासनायें (प्रदूयन्ते) क्षय होजाती हैं।

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतꣳ स्यादिति तदेषश्लोकः ॥ ४ ॥

पद०—तस्मात् । उ । ह । एवंविद् । यद्यपि । चण्डालाय । उच्छिष्टं । प्रयच्छेत् । आत्मनि । ह । एव । अस्य । तद् । वैश्वानरे । हुतं । स्याद् । इति । तद् । एषः । श्लोकः ।

पदा०—(तस्माद्) इसी कारण (उ,ह) निश्चयकरके (एवंविद्) उक्त प्रकार से जानने वाला पुरुष (यद्यपि) यद्यपि (चण्डालाय)

चण्डाल को (उच्छिष्टं) उच्छिष्ट (प्रयच्छेत्) देवे तो (अस्य) इसका (तत्) वह दान (वैश्वानरे, आत्मनि) वैश्वानर ब्रह्म में (ह, एव) ही (हुतं) हुत (स्यात्, इति) होता है (तत्) इस विषय में (एषः, श्लोकः) यह श्लोक है ॥

यथेह क्षुधिताबाला मातरंपर्य्युपासत एवँ सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ ५ ॥

पद०-यथा। इह। क्षुधिताः। बालाः। मातरं। पर्य्युपासते। एवं। सर्वाणि। भूतानि। अग्निहोत्रं। उपासते। इति। अग्निहोत्रं। उपासते। इति।

पदा०-(यथा) जिसप्रकार (इह) इस संसार में (क्षुधिताः) क्षुधातुर (बालाः) बालक (मातरं) माता की (पर्य्युपास्ते) उपासना करते हैं (एवं) इसीप्रकार (सर्वाणि, भूतानि) सब भूतजात (अग्निहोत्रं, उपासते, इति) अग्निहोत्र की उपासना करते हैं।

भाष्य-" अग्निहोत्रमुपासत इति " पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, इस खण्ड में पञ्चाहुति विज्ञान का महत्व वर्णन करते हुए यह कथन किया है कि जो पुरुष उक्त विज्ञान को न जानकर हवन करता है उसका हवन भस्म=राख में आहुति देने के समान है अर्थात् सर्वथा निष्फल होता है, और जो पुरुष इस पञ्चाहुतिविज्ञान को जानकर हवन करता है उसका हवन सब लोकों, सबभूतों और सब जीवों को तृप्त करने वाला

होता है अर्थात् विधिपूर्वक किया हुआ हवन ही फलदायक होता है अविधि पूर्वक किया हुआ फलदायक नहीं होता, विधिपूर्वक हवन करनेवाले के लिये यह फल विधान किया है कि जैसे मुञ्ज की रूई अग्नि पर डालते ही तत्काल भस्म होजाती है इसी प्रकार विधिपूर्वक हवन करने वाले के सब पाप शीघ्र ही क्षय होजाते हैं अर्थात् पापों की वासना उसके अन्तःकरण में नहीं रहती और उसका अन्न सर्वदा वैश्वानर अग्नि में ही हुतद्रव्य के समान पुण्यप्रद होता है, यदि वह चण्डाल को भी उच्छिष्ट देता है तोभी उसके तपोबल से वह वैश्वानर अग्नि में हुतद्रव्य के समान पुण्यप्रद होता है अर्थात् उसके सम्बन्ध में जितने कार्य्य होते हैं उन सब कार्य्यों में उसके आत्मिक बल का प्रभाव बना रहता है, इसलिये चण्डाल भी उसके अन्न को खाकर उत्तम कार्य्य करने के लिये उद्यत होता है, इस विषय में उपनिषत्कार ने यह दृष्टान्त दिया है कि जिसप्रकार भूखे बालक माता की उपासना करते हैं इसीप्रकार सब भूत उसको मातावत् प्रिय जान कर उसकी उपासना करते हैं, इससे सिद्ध है कि विधिपूर्वक किया हुआ अग्निहोत्र ही फलदायक होता है अविधिपूर्वक किया हुआ नहीं ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
उपनिषदार्य्यभाष्ये पञ्चमः
प्रपाठकःसमाप्तः

ओ३म्

अथ षष्ठःप्रपाठकः प्रारभ्यते

सं०—अब महर्षि उद्दालक और श्वेतकेतु के संवाद द्वारा ब्रह्मविद्या का कथन करते हैं :—

ओ३म् श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेय आस तᳫं ह पितोवाच—श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्य्यम् । न वै सोम्याऽस्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥१॥

पद०—ओ३म् । श्वेतकेतुः । ह । आरुणेयः । आस । तं । ह । पिता । उवाच । श्वेतकेतो । वस । ब्रह्मचर्य्यं । न । वै । सोम्य । अस्मत् । कुलीनः । अननूच्य । ब्रह्मबन्धुः । इव । भवति । इति ।

पदा०—श्लोक में "ओ३म्" पद मङ्गलवाची है (ह) प्रसिद्ध (आरुणेय) अरुण ऋषि का पौत्र (श्वेतकेतुः) श्वेतकेतु नामक कुमार (आस) था (तं) उससे (ह) प्रसिद्ध (पिता) उद्दालक (उवाच) बोले कि (श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतो ! (ब्रह्मचर्य्यं) ब्रह्मचर्य्यार्थ गुरुकुल में (वस) वासकर, क्योंकि (सोम्य) हे सोम्य ! (वै) निश्चयकरके (अस्मत्कुलीनः) हमारे कुल में (अननूच्य) वेदों का अध्ययन न करने वाला (ब्रह्मबन्धु, इव) अशिक्षित के समान (न, भवति, इति) कोई नहीं होता ॥

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंꣳशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय तꣳ ह पितोवाच— श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः । येनाश्रुतꣳश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥ २ ॥

पद०—सः। ह । द्वादशवर्षः। उपेत्य। चतुर्विंशतिवर्षः। सर्वान् । वेदान् । अधीत्य । महामनाः । अनूचानमानी । स्तब्धः । एयाय । तं । ह । पिता । उवाच । श्वेतकेतो । यत् । नु । सोम्य । इदं । महामनाः । अनूचानमानी । स्तब्धः । असि । उत । तं । आदेशं । अप्राक्ष्यः । येन । अश्रुतं । श्रुतं । भवति । अमतं । मतं । अविज्ञातं । विज्ञातं । इति । कथं । नु । भगवः । सः । आदेशः । भवति । इति ।

पदा०—(सः, ह) वह प्रसिद्ध श्वेतकेतु (द्वादशवर्षः) बारहवर्ष की अवस्था में (उपेत्य) गुरुकुल जाकर (चतुर्विंशतिवर्षः) चौवीस वर्ष की अवस्था पर्य्यन्त (सर्वान्, वेदान्, अधीत्य) सब वेदों को पढ़ (एयाय) लौट आया, वह श्वेतकेतु कैसा था ! (महामना) बड़े मनवाला (अनूचानमानी) अपने आपको वेदवेत्ता माननेवाला (स्तब्धः) नम्रतारहित स्वभाववाला (तं) उक्त स्वभाव वाले पुत्र से (ह) वह प्रसिद्ध (पिता) उद्दालक

(उवाच) बोले कि (श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतो (सोम्य) ब्रह्मचारिन्! (नु) "नु" वितर्कार्थ में आया है (यत्) जो तु (इदं) यह (महामनाः, अनूचानमानी, स्तब्धः) बड़े मन वाला, अपने आप को वेदवेत्ता समझने वाला और अनम्रस्वभाव वाला (असि) है (उत) क्या तुमने (तं,आदेशं,अप्राक्ष्यः) उस उपदेश को अपने आचार्य्य से पूछा था (येन) जिससे (अश्रुतं, श्रुतं) न सुना हुआ सुनाजाता (अमतं, मतं) न समझाहुआ समझाजाता और (अविज्ञातं, विज्ञातं, इति) न जाना हुआ जाना जाता (भवति) है श्वेतकेतु बोला (भगवः) हे भगवन्! (सः) वह (आदेशः) उपदेश (कथं) कैसे (भवति, इति) होता है ॥

सं०-अब महर्षि उद्दालक कथन करते हैं:—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ ३ ॥

पद०-यथा । सोम्य । एकेन । मृत्पिण्डेन । सर्वं । मृन्मयं । विज्ञातं । स्यात् । वाचारम्भणं । विकारः । नामधेयं । मृत्तिका । इति । एव । सत्यम् ।

पदा०-(सोम्य) हे सोम्य ! (यथा) जैसे (एकेन) एक (मृत्पिण्डेन) मिट्टी के टुकड़े से (मृन्मयं, सर्वं, विज्ञातं, स्यात्) मिट्टी के घट, शरावादि सब विकार जानेजाते हैं, क्योंकि (विकारः) विकार (वाचारम्भणं) वाणी के आरम्भमात्र (नामधेयं) नाम वाले हैं (मृत्तिका, इति, एव, सत्यं) मिट्टी ही सत्य है ॥

सं०—अत्र उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं:—

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳस्याद्वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्॥ ४॥

पद०—यथा। सोम्य। एकेन। लोहमणिना। सर्वं। लोहमयं। विज्ञातं। स्यात्। वाचारम्भणं। विकारः। नामधेयं। लोहं। इति। एव। सत्यं।

पदा०—(सोम्य) हे सोम्य! (यथा) जैसे (एकेन) एक (लोहमणिना) सुवर्ण के ज्ञान से (सर्वं, लोहमयं, विज्ञातं, स्यात्) सब सुवर्णविकार जाने जाते हैं, क्योंकि (विकारः) विकार (वाचारम्भणं, नामधेयं) वाणी के उत्पादक नाममात्र हैं (लोहं, इति, एव, सत्यं) सुवर्ण ही सत्य है॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसंविज्ञातꣳस्याद्वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवꣳसोम्य स आदेशोभवतीति।५।

पद०—यथा। सोम्य। एकेन। नखनिकृन्तनेन। सर्वं। कार्ष्णायसं। विज्ञातं। स्यात्। वाचारम्भणं। विकारः। नामधेयं। कृष्णायसं। इति। एव। सत्यं। एवं। सोम्य। सः। आदेशः। भवति। इति।

पदा०–(सोम्य) हे सोम्य (यथा) जैसे (एकेन) एक (नखनिकृन्तनेन) नख काटनेवाले लोह के नहेरने से (सर्वं, कार्ष्णायसं, विज्ञातं, स्यात्) कृष्ण लोह के सब विकार विदित होजाते हैं, क्योंकि (विकारः) विकार (वाचारम्भणं, नामधेयं) वाणी का आरम्भ होने से नाममात्र हैं (कृष्णायसं, इति, एव, सत्यं) कृष्णलोह ही सत्य है, (सोम्य) हे सोम्य ! (सः) वह (आदेशः) उपदेश (एवं) इस प्रकार (भवति, इति) होता है।

सं०–अब श्वेतकेतु पिता उद्दालक के प्रति कथन करते हैं:–

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्य-द्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्य-न्निति । भगवाꣳस्त्वेव मे तद्ब्रवी-त्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ६ ॥

पद०–न । वै । नूनं । भगवन्तः । ते । एतत् । अवेदिषुः । यत् । हि । एतत् । अवेदिष्यन् । कथं । मे न । अवक्ष्यन् । इति । भगवान् । तु । एव । मे । तत् । ब्रवीतु । इति । तथा । सोम्य । इति । ह । उवाच ।

पदा०–(ते, भगवन्तः) वह मेरे आचार्य्य (वै) निश्चयकरके (एतत्) इस आदेश को (न, नूनं, अवेदिषु) नहीं जानते (हि) क्योंकि (यत्) जो (एतत्) इस आदेश को (अवेदिष्यन्) जानते होते तो (मे) मुझ से (कथं,न,अवक्ष्यन्,इति) कैसे न कहते, अवश्य कहते (तु) परन्तु (भगवान्, एव) आप ही (एतत्) इस आदेश को (मे) मेरे प्रति (ब्रवीतु, इति) कथन

करें, तब उद्दालक बोले (सोम्य) हे सोम्य (तथा) तथास्तु=ऐसा ही होगा, (इति, ह, उवाच) फिर उस प्रसिद्ध पिता उद्दालक ने वक्ष्यमाण उपदेश किया ॥

भाष्य—आरुणि का पुत्र आरुणेय श्वेतकेतु था, उसको पिता ने कहा कि हे पुत्र ! तुमको ब्रह्मचर्य्य करना चाहिये ताकि तु ब्रह्मबन्धु * के समान नाममात्र से ही ब्राह्मणों का सम्बन्धी न गिनाजाय किन्तु गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मण गिनाजाय, श्वेतकेतु ने पिता की आज्ञा मान १२ वर्ष पर्य्यन्त गुरुकुल में वास करके वेदों का अध्ययन किया, जब श्वेतकेतु अध्ययन करके घर आया तो उसको यह अभिमान होगया कि मैं सब कुछ जानता हूं, इस प्रकार का भाव श्वेतकेतु में देखकर पिता ने पूछा कि हे श्वेतकेतो ! तुमने गुरु से यह आदेश भी पूछा कि जिससे बिना सुना सुनाजाय, बिना देखा देखाजाय और बिना जाना हुआ जानाजाय, श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कि हे भगवन् ! ऐसा कैसे होसक्ता है कि बिना देखे देखा जाय, बिना सुने सुनाजाय और बिना जाने जानाजाय, तब पिता ने उत्तर दिया कि हे सोम्य ! जैसे एक मृत्पिण्ड के जानने से मिट्टी के सब विकार जानेजाते हैं, क्योंकि विकार केवल नाममात्र हैं वास्तव में मिट्टीरूप कारण ही सत्य है अथवा जैसे एक सुवर्णपिण्ड से उसके सब विकार ज्ञात होजाते हैं इसीप्रकार

*जो अपने आपको ब्राह्मणों का सम्बन्धी होने से ब्राह्मण कहे और वास्तव में उसमें ब्राह्मणों के धर्म न पाये जायं उसका नाम "ब्रह्मबन्धु" है ॥

अज्ञात वस्तु का ज्ञान उसके कारण के ज्ञान से होता है और जिसप्रकार एक लोहे के नहेरने के ज्ञान से लोहे के सब विकारों का ज्ञान होजाता है इसी प्रकार एक कारण के ज्ञान से कार्य्यों का ज्ञान होजाता है, हे सोम्य ! इस प्रकार अज्ञात पदार्थों का ज्ञान होता है, श्वेतकेतु ने कहा कि हे भगवन् ! आप ही इस अपूर्व ज्ञान को जानते हैं मेरा आचार्य्य नहीं जानता, यदि वह इस ज्ञान को जानते होते तो मुझको अवश्य इसका उपदेश करते, इसलिये कृपा करके आप ही इस अपूर्वज्ञान का मुझको उपदेश करें ।

इस स्थान में उद्दालक ने परमात्मा को सर्वोपरि कारण बतलाने के लिये यह भूमिका बांधी है, जिसका तात्पर्य्य यह है कि सर्वोपरि परमात्मा के ज्ञान से सब पदार्थों का ज्ञान होजाता है जिसका वर्णन आगे विस्तारपूर्वक किया जायगा ॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब उद्दालक पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश करते हैंः—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेत ॥१॥

पद०-सत् । एव । सोम्य । इदं । अग्रे । आसीत् । एकं । एव । अद्वितीयं । तत् । ह । एके । आहुः । असत् । एव ।

करें, तब उद्दालक बोले (सोम्य) हे सोम्य (तथा) तथास्तु=ऐसा ही होगा, (इति, ह, उवाच) फिर उस प्रसिद्ध पिता उद्दालक ने वक्ष्यमाण उपदेश किया ॥

भाष्य—आरुणि का पुत्र आरुणेय श्वेतकेतु था, उसको पिता ने कहा कि हे पुत्र ! तुमको ब्रह्मचर्य्य करना चाहिये ताकि तु ब्रह्मबन्धु * के समान नाममात्र से ही ब्राह्मणों का सम्बन्धी न गिनाजाय किन्तु गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मण गिनाजाय, श्वेतकेतु ने पिता की आज्ञा मान १२ वर्ष पर्य्यन्त गुरुकुल में वास करके वेदों का अध्ययन किया, जब श्वेतकेतु अध्ययन करके घर आया तो उसको यह अभिमान होगया कि मैं सब कुछ जानता हूं, इस प्रकार का भाव श्वेतकेतु में देखकर पिता ने पूछा कि हे श्वेतकेतो ! तुमने गुरु से यह आदेश भी पूछा कि जिससे विना सुना सुनाजाय, बिना देखा देखाजाय और बिना जाना हुआ जानाजाय, श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कि हे भगवन् ! ऐसा कैसे होसक्ता है कि विना देखे देखा जाय, विना सुने सुनाजाय और विना जाने जानाजाय, तब पिता ने उत्तर दिया कि हे सोम्य ! जैसे एक मृत्पिण्ड के जानने से मिट्टी के सब विकार जानेजाते हैं, क्योंकि विकार केवल नाममात्र हैं वास्तव में मिट्टीरूप कारण ही सत्य है अथवा जैसे एक सुवर्णपिण्ड से उसके सब विकार ज्ञात होजाते हैं इसीप्रकार

*जो अपने आपको ब्राह्मणों का सम्बन्धी होने से ब्राह्मण कहे और वास्तव में उसमें ब्राह्मणों के धर्म न पाये जायं उसका नाम "ब्रह्मबन्धु" है ॥

अज्ञात वस्तु का ज्ञान उसके कारण के ज्ञान से होता है और जिसप्रकार एक लोहे के नहेरने के ज्ञान से लोहे के सब विकारों का ज्ञान होजाता है इसी प्रकार एक कारण के ज्ञान से कार्य्यों का ज्ञान होजाता है, हे सोम्य ! इस प्रकार अज्ञात पदार्थों का ज्ञान होता है, श्वेतकेतु ने कहा कि हे भगवन् ! आप ही इस अपूर्व ज्ञान को जानते हैं मेरा आचार्य्य नहीं जानता, यदि वह इस ज्ञान को जानते होते तो मुझको अवश्य इसका उपदेश करते, इसलिये कृपा करके आप ही इस अपूर्वज्ञान का मुझको उपदेश करें।

इस स्थान में उद्दालक ने परमात्मा को सर्वोपरि कारण बतलाने के लिये यह भूमिका बांधी है, जिसका तात्पर्य्य यह है कि सर्वोपरि परमात्मा के ज्ञान से सब पदार्थों का ज्ञान होजाता है जिसका वर्णन आगे विस्तारपूर्वक किया जायगा ॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उद्दालक पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश करते हैंः—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ॥१॥

पद०—सत् । एव । सोम्य । इदं । अग्रे । आसीत् । एकं । एव । अद्वितीयं । तत् । ह । एके । आहुः । असत् । एव ।

इदं । अग्रे । आसीत् । एकं । एव । अद्वितीयं । तस्मात् । असतः । सत् । जायेत ।

पदा०–(सोम्य) हे सोम्य (अग्रे) सृष्टि से पूर्व (इदं) यह (एकं, एव, अद्वितीयं) एक ही अद्वितीय (सत्, एव, आसीत्) ब्रह्म था (तत्, ह) उस प्रसिद्ध ब्रह्म के विषय में (एके, आहुः) कोई एक यह कथन करते हैं कि (अग्रे) सृष्टि से पूर्व (इदं, असत्, एव) यह असत् ही (एकं, एव, अद्वितीयं) एक अद्वितीय (आसीत्) था (तस्मात्) उस (असतः) असत् से (सत्, जायेत) सत् उत्पन्न हुआ ।

कुतस्तु खलु सोम्यैवᳪस्यादिति होवाच-कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येद-मग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ २ ॥

पद०–कुतः । तु । खलु । सोम्य । एवं । स्यात् । इति । ह । उवाच । कथं । असतः । सत् । जायेत । इति । सत् । तु । एव । सोम्य । इदं । अग्रे । आसीत् । एकं । एव । अद्वितीयम् ।

पदा०–(सोम्य) हे सोम्य ! (कुतः, खलु) किसप्रकार (एवं, स्यात्, इति) ऐसा होसक्ता है अर्थात् (असतः) असत् से (सत्, जायेत, इति) सत् की उत्पत्ति (कथं) कैसे (स्यात्) होसक्ती है (इति, ह, उवाच) उद्दालक बोले कि (सोम्य) हे सोम्य ! (तु) परन्तु (अग्रे) सृष्टि से पूर्व (एकं, अद्वितीयं) एक अद्वितीय (इदं) यह (सत्, एव) सत् ही (आसीत्) था ।

तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति । तत्तेजोऽसृजत । तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति । तदपोऽसृजत । तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥ ३ ॥

पद०—तत् । ऐक्षत । बहुस्यां । प्रजायेय । इति । तत् । तेजः । असृजत । तत् । तेजः । ऐक्षत । बहुस्यां । प्रजायेय । इति । तत् । अपः । असृजत । तस्मात् । यत्र । क्व । च । शोचति । स्वेदते । वा । पुरुषः । तेजसः । एव । तत् । अधि । आपः । जायन्ते ।

पदा०—(तत्, ऐक्षत) उसने ज्ञानपूर्वक संकल्प किया कि (बहुस्यां, प्रजायेय, इति) बहुत रूप होकर प्रकट होऊं (तत्, तेजः, असृजत) उसने तेज को उत्पन्न किया (तत्, तेजः, ऐक्षत) उस तेज ने इच्छा की कि (बहुस्यां, प्रजायेय, इति) बहुत रूप होकर प्रकट होऊं (तत्, अपः, असृजत) उसने जल को उत्पन्न किया (तस्मात्) इसीकारण (पुरुषः) पुरुष (यत्र, क्व, च) जिस किसी स्थान में (शोचति) आतप से सन्तप्त (वा) अथवा (स्वेदते) पसीने से प्रस्वेदित होता है तब (तत्) वह (तेजसः, एव) तेज से ही (आपः) जल (अधि, जायन्ते) उत्पन्न होते हैं ॥

ता आप ऐक्षन्त बह्वः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त तस्माद्यत्र क्व च

वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥

पद०-ताः । आपः । ऐक्षन्त । बह्वः । स्याम । प्रजायेमहि । इति । ताः । अन्नं । असृजन्त । तस्मात् । यत्र । क्व । च । वर्षति । तत् । एव । भूयिष्ठं । अन्नं । भवति । अद्भ्यः । एव । तत् । अधि । अन्नाद्यं । जायते ॥

पदा०-(ताः, आप, ऐक्षन्त) उन जलों ने इच्छा की कि (बह्वः, स्याम) हम बहुत रूप होकर (प्रजायेमहि, इति) प्रकट होवें (ताः, अन्नं, असृजन्त) उन्होंने पृथिवी को उत्पन्न किया (तस्मात्) इसी कारण (यत्र, क्व, च) जहां कहीं (वर्षति) वृष्टि होती है (तत्, एव) वहां ही (भूयिष्ठं, अन्नं, भवति) बहुत अन्न उत्पन्न होता है (अद्भ्यः, एव) जल से ही (तत्, अन्नाद्यं) वह अन्न खाने के योग्य (अधि, जायते) उत्पन्न होता है ॥

भाष्य-उद्दालक ने उपदेश किया कि हे श्वेतकेतो ! यह नाम रूपात्मक जगत् सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व सद्रूप होने से ब्रह्माश्रित था और वह ब्रह्म सजातीय,विजातीय, स्वगतभेद शून्य एकमात्र अद्वितीय था अर्थात् उस जैसा कोई न होने से ब्रह्म में सजातीय भेद न था,कोई विजातीय पदार्थ उस प्रकार के ऐश्वर्य्य वाला न होने से विजातीय भेद न था और निराकार होने से स्वगत भेद भी न था।

यहां कई एक लोगों का कथन है कि प्रथम असत् ही था और वह भी उक्त तीनों गुणों से शून्य था अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् परमाणुरूप होकर

ब्रह्म में लीनता को प्राप्त था, इसीलिये यह कथन किया गया है कि एकमात्र ब्रह्म ही था, जिस पक्ष में यह उक्त कथन है उसका तात्पर्य्य यह है कि जब जगत् नाम रूप द्वारा इस भाव को प्राप्त न था उस समय उसको नामरूप के न होने से असत् कथन कियागया है इस भाव से नहीं कि उस समय कुछ भी न था, क्योंकि यदि ऐसा होता तो असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे होती, इससे सिद्ध है कि कार्य्यरूप जगत् न था, इसी भाव को " **असदितिचेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्** " ब्र० सू० २।१।७ में भलीभांति वर्णन किया है कि असत् कथन से तात्पर्य्य शून्य का नहीं किन्तु नामरूपात्मक न होने से तात्पर्य्य है, उस सद्रूप ब्रह्म ने ईक्षण किया कि मैं बहुत रूप होकर प्रकट होऊं जिसका तात्पर्य्य यह है कि उसने अपनी प्रकृति को बहुतरूप करने का विचार कर प्रथम तैजस पदार्थों को रचा, उसके अनन्तर जल को और जलों के अनन्तर पृथिवी को उत्पन्न किया, यहां इन तीन तत्वों का कथन अन्य तत्वों का उपलक्षण है अर्थात् इसीप्रकार वायु तथा आकाश इन दोनों तत्वों को भी उत्पन्न किया, जैसाकि " **तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी** " तैत्तिरी० २।१।३ इत्यादि श्लोकों में पांचो तत्वों की उत्पत्ति कथन की है, यहां उपनिषत्कार ने अग्न्यादि तीन तत्वों की उत्पत्ति कथन की है और सूक्ष्म होने के अभिप्राय से आकाश तथा वायु की

उत्पत्ति कथन नहीं की, इसलिये उपनिषद्वाक्यों का उत्पत्ति विषयक परस्पर विरोध नहीं, और जो यहां यह कथन किया है कि तेज ने इच्छा करके जलों को और जलों ने इच्छा करके पृथिवी को उत्पन्न किया, यहां तेजादिकों का इच्छा करना उपचार से है मुख्यतया नहीं, क्योंकि मुख्य ईक्षण ब्रह्म में ही है, या यों कहो कि तेज में व्यापक ब्रह्म ने इच्छा करके जल को और जलगत ब्रह्म ने पृथिवी को उत्पन्न किया, इसलिये जड़गत इच्छा का दोष इस शास्त्र पर नहीं आता।

इति द्वितीयःखण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब सब भूतों के तीन बीज कथन करते हैं:—

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥१॥

पद०–तेषां। खलु। एषां। भूतानां। त्रीणि। एव। बीजानि। भवन्ति। आण्डजं। जीवजं। उद्भिज्जं। इति।

पदा०–(खलु) निश्चयकरके (तेषां) उन (एषां) इन (भूतानां) भूतों के (त्रीणि, एव) तीन ही (बीजानि, भवन्ति) बीज होते हैं (आण्डजं, जीवजं, उद्भिज्जं, इति) अण्डज जीवज और उद्भिज ॥

भाष्य—यहां "भूत" शब्द से मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकों का ग्रहण है, क्योंकि "एषां" शब्द इन्हीं का निर्देश करता है, इन सब भूतों के तीन ही बीज होते हैं अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होने वाले जीवों का नाम "अण्डज" है, जैसे पक्षी आदि, शरीर से उत्पन्न होने वाले जीवों का नाम "जीवज" है, जैसे मनुष्यादि और पृथिवी के अन्दर से निकलने वाले जीवों का नाम "उद्भिज" है, जैसाकि बनस्पति आदि।

सं०—अब तेजादि भूतों का नाम रूप में परिणत होना कथन करते हैं:—

सेयं देवतैक्षत—हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नाम-रूपे व्याकरवाणीति ॥ २ ॥

पद०—सा। इयं। देवता। ऐक्षत। हन्त। अहं। इमाः। तिस्रः। देवता। अनेन। जीवेन। आत्मना। अनुप्रविश्य। नाम-रूपे। व्याकरवाणि। इति।

पदा०—(सा, इयं, देवता, ऐक्षत) उस परमात्म देव ने सङ्कल्प किया कि (हन्त) अब (अहं) मैं (इमाः) इन (तिस्रः) तेज, जल, पृथिवी तीनों (देवता) देदीप्यमान भूतों में (अनेन, जीवेन, आत्मना, अनुप्रविश्य) इस जीवात्मा द्वारा प्रवेश करके (नामरूपे, व्याकरवाणि, इति) नाम और रूप का विस्तार करूं॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति

सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नाम-रूपे व्याकरोत् ॥ ३ ॥

पद०—तासां । त्रिवृतं । त्रिवृतं । एकैकां । करवाणि । इति । सा । इयं । देवता । इमाः । तिस्रः । देवताः । अनेन । एव । जीवेन । आत्मना । अनुप्रविश्य । नामरूपे । व्याकरोत् ।

पदा०—(तासां, त्रिवृतं, त्रिवृतं, एकैकां, करवाणि, इति) उक्त तीनों भूतों में से एक २ को तीन २ गुणा करूं (सा, इयं, देवता) सो इस परमात्मा ने (इमाः) इन (तिस्रः) तीनों (देवताः) देवताओं में (अनेन, एव, जीवेन, आत्मना) इस जीव रूप आत्मा द्वारा ही (अनुप्रविश्य) प्रवेश करके (नामरूपे, व्याकरोत्) नाम और रूप को बनाया ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा नु खलुसोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति।४।

पद०—तासां । त्रिवृतं । त्रिवृतं । एकैकां । अकरोत् । यथा । नु । खलु । सोम्य । इमाः । तिस्रः । देवताः । त्रिवृत् । त्रिवृत् । एकैका । भवति । तत् । मे । विजानीहि । इति ।

पदा०—(नु, खलु) प्रसिद्ध है कि (तासां, त्रिवृतं, त्रिवृतं, एकैकां, अकरोत्) उस परमात्मा ने उन तीनों देवताओं में से एक २ को तीन २ गुणा किया (सोम्य) हे सोम्य ! (यथा)

जैसे (इमाः, तिस्रः, देवताः) यह तीन देवता (त्रिवृत्, त्रिवृत्, एकैका, भवति) एक२तीन २ गुणा होता है (तत्, मे, विजानाहि, इति) उस त्रिवृत्करण विज्ञान को मुझ से जानो।

भाष्य–उक्त परमात्म देव ने इच्छा की कि मैं जीवात्मा द्वारा प्रवेश करके नाम रूप को बनाऊं, इस कारण उसने प्रथम अग्नि, जल, पृथिवी इन तीनो भूतों को दो २ भागों में विभक्त किया, जैसाकि जल के प्रथम दो भाग करके एक भाग के दो खण्ड कर दूसरे दोनों में मिला दिये इसी प्रकार उन दोनों के भी प्रथम एक २ के दो २ भाग करके फिर एक भाग के दो २ खण्ड कर अपने से अन्य तत्वों में मिला देने का नाम " त्रिवृत्करण " है, और नवीन वेदान्ती इसी के सहारे पर पांच भूतों का पञ्चीकरण करते हैं अर्थात् प्रथम एक तत्व के दो भाग करते हैं फिर एक भाग के चार खण्ड करके उनको दूसरे चारो में मिला देते हैं इसी प्रकार अन्य तत्वों के भी प्रथम दो भाग करके फिर एक भाग को चार खण्डों में विभक्त कर दूसरे चारों में मिला देना " पञ्चीकरण " कहाता है, जिसका भाव यह है कि आधा अपना भाग रहता है और आधा दूसरे चारों का, इस प्रकार यह नामरूपात्मक जगत् बना है इस नाम रूप को बनाने के लिये परमात्मा ने इस प्रकार तत्वों को बांट दिया॥

इति तृतीयः खण्डः समाप्तः

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उक्त तीनो भूतों के तीन २ रूप वर्णन करते हुए प्रथम अग्नि के तीन रूप कथन करते हैं:—

यदग्ने रोहितँरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १ ॥

पद०—यत्। अग्नेः। रोहितं। रूपं। तेजसः। तत्। रूपं। यत्। शुक्लं। तत्। अपां। यत्। कृष्णं। तत्। अन्नस्य। अपागात्। अग्नेः। अग्नित्वं। वाचारम्भणं। विकारः। नामधेयं। त्रीणि। रूपाणि। इति। एव। सत्यम्।

पदा०—(यत्, अग्नेः, रोहितं, रूपं) जो अग्नि में रक्तरूप है (तत्, तेजसः, रूपं) वह तेज का रूप है (यत्, शुक्लं) जो शुक्ल रूप है (तत्, अपां) वह जल का रूप है (यत्, कृष्णं) जो कृष्णरूप है (तत्, अन्नस्य) वह पृथिवी का रूप है (अग्नेः, अग्नित्वं, अपागात्) यह अग्नि से अग्नित्व जातारहा, क्योंकि (विकारः, वाचारम्भणं, नामधेयं) विकार वाणी के आरम्भमात्र नाम वाले हैं (त्रीणि, रूपाणि, इति, एव, सत्यं) तीन रूप ही सत्य हैं ॥

सं०—अब आदित्य के तीन रूप कथन करते हैं:—

यदादित्यस्य रोहितँरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्न-

स्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणिरूपाणीत्येवसत्यम् ॥ २ ॥

पद०-यत् । आदित्यस्य । रोहितं । रूपं । तेजसः । तत् । रूपं । यत् । शुक्लं । तत् । अपां । यत् । कृष्णं । तत् । अन्नस्य । अपागात् । आदित्यात् । आदित्यत्वं । वाचारम्भणं । विकारः । नामधेयं । त्रीणि । रूपाणि । इति । एव । सत्यं ।

पदा०-(यत्, आदित्यस्य, रोहितं, रूपं) जो आदित्य में रक्तरूप दीखता है (तत्, तेजसः, रूपं) वह तेज का रूप है (यत्, कृष्णं) जो कृष्णरूप है (तत्, अपां) वह जल का (यत्, कृष्णं) जो कृष्णरूप है (तत्, अन्नस्य) वह अन्न=पृथिवी का रूप है (आदित्यात्, आदित्यत्वं, अपागात्) आदित्य से आदित्यपन जाता रहा, क्योंकि (विकारः, वाचारम्भणं, नामधेयं) विकार वाणी के आरम्भमात्र नामवाले हैं (त्रीणि, रूपाणि, इति, एव, सत्यं) तीनरूप ही सत्य हैं ॥

सं०-अब चन्द्रमा के तीन रूप कथन करते हैं :—

यच्चन्द्रमसो रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ३ ॥

पद०-यत् । चन्द्रमसः । रोहितं । रूपं । तेजसः । तत् । रूपं । यत् । शुक्लं । तत् । अपां । यत् । कृष्णं । तत् । अन्नस्य ।

अपागात् । चन्द्रात् । चन्द्रत्वं । वाचारम्भणं । विकारः । नामधेयं । त्रीणि । रूपाणि । इति । एव । सत्यं ।

पदा०—(यत्, चन्द्रमसः, रोहितं, रूपं) जो चन्द्रमा में रक्त रूप दीखता है (तत्, तेजसः, रूपं) वह तेज का रूप है (यत्, शुक्लं) जो शुक्ल रूप है (तत, अपां) वह जल का (यत, कृष्णं) जो कृष्णरूप है (तत्, अन्नस्य) वह अन्न=पृथिवी का रूप है (चन्द्रात्, चन्द्रत्वं,अपागात्) चन्द्रमा से चन्द्रपन जाता रहा, क्योंकि(विकारः, वाचारम्भणं, नामधेयं) विकार बाणी के आरम्भमात्र नाम वाले हैं (त्रीणि, रूपाणि, इति, एव, सत्यं) तीन रूप ही सत्य हैं ॥

सं०—अब विद्युत् के तीन रूप कथन करते हैं :—

यद्विद्युतो रोहितꣳरूपं तेजस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणँ विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥४॥

पद०—यत् । विद्युतः । रोहितं । रूपं । तेजसः । तत् । रूपं । यत् । शुक्लं । तत् । अपां । यत् । कृष्णं । तत् । अन्नस्य । अपागात् । विद्युतः । विद्युत्त्वं । वाचारम्भणं । विकारः । नामधेयं । त्रिणि । रूपाणि । इति । एव । सत्यम् ।

पदा०—(यत्, विद्युतः, रोहितं, रूपं) जो विद्युत् में रक्तरूप दीखता है (तत्, तेजसः, रूपं) वह तेज का (यत्, शुक्लं) जो शुक्लरूप है (तत्, अपां) वह जल का (यत्, कृष्णं) जो कृष्णरूप है (तत्, अन्नस्य) वह पृथिवी का है (विद्युतः, विद्युत्वं,

अपागात् ,) विद्युत् से विद्युत्पन जाता रहा, क्योंकि (विकारः, वाचारम्भणं, नामधेयं) विकार बाणी के आरम्भमात्र नाम वाले हैं (त्रीणि, रूपाणि, इति, एव, सत्यं) तीन रूप ही सत्य हैं॥

सं०-अब उक्त विज्ञान के ज्ञाताओं का कथन करते हैं:—

एतद्धस्म वै तद्विद्वाꣳस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदाञ्चक्रुः ॥ ५ ॥

पद०-एतत् । ह । स्म । वै । तत् । विद्वांसः । आहुः । पूर्वे । महाशालाः । महाश्रोत्रियाः । न । नः । अद्य । कश्चन । अश्रुतं । अमतं । अविज्ञातं । उदाहरिष्यति । इति । हि । एभ्यः । विदाञ्चक्रुः ।

पदा०-(ह, वै)निश्चयकरके (तत्,एतत्)उस इस विज्ञान को (विद्वांसः) जानते हुए (पूर्वे) प्राचीन (महाशालाः, महाश्रोत्रियाः) बड़े गृहस्थ ब्रह्मवेत्ता (आहुः, स्म) कथन करते थे कि (नः) हम लोगों को (अद्य) सम्प्रति (कश्चन) कोई भी (अश्रुतं, अमतं, अविज्ञातं) न सुना हुआ, न समझा हुआ और न जाना हुआ (न, उदाहरिष्यति,इति) नहीं कहसक्ता (हि) क्योंकि उन्होंने (एभ्यः) उक्त तीनो रूपों से (विदाञ्चक्रुः) सब कुछ जान लिया था ॥

सं०-अब उनके ज्ञान का कथन करते हैं:—

यदुरोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदि-

त्यपा॑ᳫरूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्य दुक्लमिवा-
भूदित्यन्नस्यरूपमितितद्विदाञ्चक्रुः ॥ ६ ॥

पद०—यत् । उ । रोहितं । इव । अभूत् । इति । तेजसः । तत् । रूपं । इति । तत् । विदाञ्चक्रुः । यत् । उ । शुक्लं । इव । अभूत् । इति । अपां । रूपं । इति । तत् । विदाञ्चक्रुः । यत् । उ । कृष्णं । इव । अभूत् । इति । अन्नस्य । रूपं । इति । तत् । विदाञ्चक्रुः ।

पदा०—(यत् ,उ, रोहितं, इव, अभूत, इति) जो रक्त समान प्रतीत हुआ (तंत्, विदाञ्चक्रुः) उसको ऋषियों ने जाना कि (तत्, तेजसः, रूपं, इति) वह तेज=अग्नि का रूप है (यत्, उ, शुक्लं, इव, अभूत्, इति) जो शुक्ल समान प्रतीत हुआ (तत्, विदाञ्चक्रुः) उसको उन्होंने जाना कि (अपां, रूपं, इति) यह जल का रूप है (यत्, उ, कृष्णं, इव, अभूत् ,इति) जो कृष्ण के समान प्रतीत हुआ (तत्, विदाञ्चक्रुः) वह उन्होंने जाना कि (अन्नस्य, रूपं, इति) यह अन्न=पृथिवी का रूप है ॥

सं०—अत्र अंत में उद्दालक श्वेतकेतु को शिक्षा देते हैं:—

यद्वविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवता-
ना॑ᳫसमास इति तद्विदाञ्चक्रुर्यथा नु खलु
सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रि-
वृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानी-
हीति ॥ ७ ॥

पद०—यत् । उ । अविज्ञातं । इव । अभूत् । इति । एतासां । एव । देवतानां । समासः । इति । तत् । विदाञ्चक्रुः । यथा । नु । खलु । सोम्य । इमाः । तिस्रः । देवताः । पुरुषं । प्राप्य । त्रिवृत् । त्रिवृत् । एकैका । भवति । तत् । मे । विजानीहि । इति ।

पदा०—(यत्, उ, अविज्ञातं, इव, अभूत्, इति) जो कुछ उन ऋषियों को अविज्ञात सा प्रतीत हुआ वह भी (एतासां, एव, देवतानां) इन्हीं तीनों देवताओं का (समासः) समुदाय है (इति,तत्, विदाञ्चक्रुः) इस प्रकार उन ऋषियों ने जाना (सोम्य) हे सोम्य ! (खलु) निश्चय करके (यथा) जिसप्रकार (इमाः, तिस्रः, देवताः) यह तीनो देव (पुरुषं, प्राप्य) पुरुष को प्राप्त होकर (एकैका) उनमें से एक २ (त्रिवृत्, त्रिवृत्, भवति) तीन २ प्रकार का होजाता है (तत्) उस विज्ञान को (मे, विजानीहि, इति) मुझ से जान ॥

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब भुक्त अन्न का तीन प्रकार से परिणाम कथन करते हैं:—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यःस्थविष्ठोधातुस्तत्पुरीषं भवति । यो मध्यमस्तन्मा ँ संयोऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ १ ॥

पद०—अन्नं। अशितं। त्रेधा। विधीयते। तस्य। यः। स्थविष्ठः। धातुः। तत्। पुरीषं। भवति। यः। मध्यमः। तत्। मांसं। यः। अणिष्ठः। तत्। मनः।

पदा०—(अन्नं,अशितं,त्रेधा,विधीयते) खाया हुआ अन्न तीन प्रकार से विभक्त होता है (तस्य, यः, स्थविष्ठः, धातुः) खाद्य पदार्थ का जो बहुत स्थूल भाग है (तत्, पुरीषं) वह मल (भवति) होता है (यः, मध्यमः) जो मध्यम भाग है (तत्, मांसं) वह मांस (यः, अणिष्ठः) जो सूक्ष्म भाग है (तत्, मनः) वह मन होता है॥

सं०—अब पीत जल का तीन प्रकार का परिणाम कथन करते हैं:—

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते, तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति। यो मध्यमस्तल्लोहितम्। योऽणिष्ठः स प्राणः॥२॥

पद०—आपः। पीताः। त्रेधा। विधीयन्ते। तासां। यः। स्थविष्ठः। धातुः। तन्मूत्रं। भवति। यः। मध्यमः। तत्। लोहितं। यः। अणिष्ठः। सः। प्राणः।

पदा०—(आपः, पीताः) जल पीने पर (त्रेधा, विधीयन्ते) तीन भागों में विभक्त होता है (तासां, यः, स्थविष्ठः, धातुः) उसका जो स्थूलतम भाग है (तत्, मूत्रं, भवति) वह मूत्र होता है (यः,मध्यमः) जो मध्यम भाग है (तत्, लोहितं) वह रुधिर (यः, अणिष्ठः) जो सूक्ष्मतम भाग है (सः, प्राणः) वह प्राण होता है॥

सं०-अब भुक्त घृत तैलादि तैजस पदार्थों का परिणाम कथन करते हैं :—

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते-तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति । यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ ३ ॥

पद०-तेजः । अशितं । त्रेधा । विधीयते । तस्य । यः । स्थविष्ठः । धातुः । तत् । अस्थि । भवति । यः । मध्यमः । सः । मज्जा । यः । अणिष्ठः । सा । वाक् ।

पदा०-(तेजः, अशितं) घृतादि तैजसरूप पदार्थ भुक्त होने पर (त्रेधा, विधीयते) तीन भागों में विभक्त होते हैं (तस्य, यः, स्थविष्ठः, धातुः) उनका जो स्थूल भाग है (तत्,अस्थि, भवति) वह अस्थि होता है (यः, मध्यमः) जो मध्यम भाग है (सः, मज्जा) वह मज्जा (यः, अणिष्ठः) जो अणुतम भाग है (सा, वाक्) वह वाक् होता है ॥

सं०-अब उक्त अर्थ का उपसंहार करते हैं:—

अन्नमयꣳहि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

पद०-अन्नमयं । हि । सोम्य । मनः । आपोमयः । प्राणः । तेजोमयी । वाक् । इति । भूयः । एव । मा । भगवान् । विज्ञापयतु । इति । तथा । सोम्य । इति । ह । उवाच ॥

पदा०-(सोम्य) हे सोम्य (हि) निश्चय करके (अन्नमयं, मनः) अन्न प्रधान मन (आपोमयः, प्राणः) जलमय प्राण और (तेजोमयी, वाक्) तेजोमय वाणी है (इति) यह सुनकर श्वेतकेतु बोला (भगवान्) आप (मा) मुझको (भूयः, एव) पुनरपि (विज्ञापयतु) विज्ञान सिखलावें (इति) यह सुनकर (ह) प्रसिद्ध उद्दालक (उवाच) बोले (सोम्य) हे सोम्य (तथा) तथास्तु ॥

इति पञ्चमःखण्डः समाप्तः

अथ षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-श्वेतकेतु के कथन करने पर अब उद्दालक प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं:—

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति॥१॥

पद०-दध्नः । सोम्य । मथ्यमानस्य । यः । अणिमा । सः । ऊर्ध्वः । समुदीषति । तत् । सर्पिः । भवति ।

पदा०-(सोम्य) हे सोम्य (मथ्यमानस्य) मन्थन किये हुये (दध्नः) दधि का (यः) जो (अणिमा) अणुभाग है (सः) वह (ऊर्ध्वः) ऊपर को (समुदीषति) उठता है (तत्, सर्पिः, भवति) वह घृत होता है ॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य

योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ॥ २ ॥

पद०-एवं । एव । खलु । सोम्य । अन्नस्य । अश्यमानस्य । यः । अणिमा । सः । ऊर्ध्वः । समुदीषति । तत् । मनः । भवति ।

पदा०-(खलु) निश्चयकरके (सोम्य) हे सोम्य (एवं, एव) इसको भी पूर्ववत् जानो कि (अश्यमानस्य) जीवों से खाये हुए (अन्नस्य) अन्न का (यः) जो (अणिमा) अणुभाग है (सः, ऊर्ध्वः, समुदीषति) वह ऊपर को उठता है (तत्, मनः, भवति) वह मन होता है ॥

अपा॑ सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥३॥

पद०-अपां । सोम्य । पीयमानानां । यः । अणिमा । सः । ऊर्ध्वः । समुदीषति । सः । प्राणः । भवति ।

पदा०-(सोम्य) हे सोम्य ! (पीयमानानां) पीये हुए (अपां) जलों का (यः, अणिमा) जो अणु भाग है (सः, ऊर्ध्वः, समुदीषति) वह ऊपर को उठता है (सः, प्राणः, भवति) वह प्राण होता है ॥

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥ ४ ॥

पद०-तेजसः । सोम्य । अश्यमानस्य । यः । अणिमा । सः । ऊर्ध्वः । समुदीषति । सा । वाक् । भवति ।

पदा०—(सोम्य) हे सोम्य ! (अश्यमानस्य) खाये हुए (तेजसः) तेजोगुण प्रधान घृत तैलादिकों का (यः, अणिमा) जो अणु भाग है (सः, ऊर्ध्वः, समुदीषति) वह ऊपर को उठता है (सा, वाक्, भवति) वह वाणी होता है ।

सं०—अब अन्त में सब का उपसंहार करते हैं :—

अन्नमयꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ५ ॥

पद०—अन्नमयं । हि । सोम्य । मनः । आपोमयः । प्राणः । तेजोमयी । वाक् । इति । भूयः । एव । मा । भगवान् । विज्ञापयतु । इति । तथा । सोम्य । इति । ह । उवाच ।

पदा०—(सोम्य) हे सोम्य ! (हि) निश्चयकरके (अन्नमयं, मनः) अन्नमय मन (आपोमयः, प्राणः) जलमय प्राण, और (तेजोमय, वाक्) तेजोमय वाक् है (इति) यह सुनकर श्वेतकेतु बोला (भगवान्) आप (मा) मुझको (भूयः, एव) पुनरपि (विज्ञापयतु) विज्ञान सिखलावें (इति) यह सुनकर (ह) वह प्रसिद्ध उद्दालक (उवाच) बोले (सोम्य) हे सोम्य (तथा) तथास्तु ॥

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उद्दालक जीवात्मा को षोडशकल कथन करते हुए उसका स्वरूप वर्णन करते हैं:—

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पंचदशाहानि माशीः काममपः पिबाऽऽपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥ १ ॥

पद०—षोडशकलः । सोम्य । पुरुषः । पञ्चदश । अहानि । मा । अशीः । कामं । अपः । पिब । आपोमयः । प्राणः । न । पिबतः । विच्छेत्स्यते । इति ।

पदा०—(सोम्य) हे सोम्य ! (पुरुषः) जीवात्मा (षोडशकलः) सोलह कला वाला है, यदि पूर्णरूप से जानना चाहो तो (पञ्चदश, अहानि, मा, अशीः) पन्द्रा दिन भोजन मत करो (अपः, कामं, पिब) जल इच्छानुसार पीओ (पिबतः) जल पीते हुए तेरा (प्राणः) प्राण (न, विच्छेत्स्यते) शरीर से पृथक् न होगा ॥

सं०—अब पिता के किये उपदेश पर श्वेतकेतु का अनुष्ठान कथन करते हैं:—

स ह पञ्चदशाहानि नाऽऽशाथ हैनमुपससाद । किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य यजूꣳषि सामानीति । स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥ १ ॥

पद०—सः । ह । पञ्चदश । अहानि । न । आश । अथ । ह । एनं । उपससाद । किं । ब्रवीमि । भोः । इति । ऋचः । सोम्य । यजूंषि । सामानि । इति । सः । ह । उवाच । न । वै । मा । प्रति । भान्ति । भोः । इति ।

पदा०—(सः, ह) उस प्रसिद्ध श्वेतकेतु ने (पञ्चदश, अहानि) पन्दरह दिन (न, आश) नहीं खाया (अथ) इसके अनन्तर १६वें दिन (ह, एनं) इस अपने पिता के समीप (उपससाद) आकर बोला कि (भोः) हे भगवन् (किं, ब्रवीमि) क्या कहूं, उद्दालक बोले (ऋचः) ऋग्वेद (यजूंषि) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (इति) यह सब पढ़ो (सः, ह, उवाच) वह श्वेतकेतु बोला (भोः) हे भगवन् ! (वै) निश्चयकरके (मा, न, प्रति,भान्ति) मुझको कुछ नहीं भासित होता ॥

सं०—अब पिता उद्दालक कथन करते हैं :—

तँ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवँ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशान ॥ ३ ॥

पद०—तं । ह । उवाच । यथा । सोम्य । महतः । अभ्याहितस्य । एकः । अङ्गारः । खद्योतमात्रः । परिशिष्टः । स्यात् । तेन । ततः । अपि । न । बहु । दहेत् । एवं । सोम्य । ते । षोड-

शानां । कलानां । एका । कला । अतिशिष्टा । स्यात् । तया । एतर्हि । वेदान् । न । अनुभवसि । अशान ।

पदा०–(तं) उस श्वेतकेतु से (ह,उवाच) उद्दालक बोले कि (सोम्य) हे सोम्य (यथा) जैसे (महतः, अभ्याहितस्य) प्रज्वलित बड़ी अग्नि का (एकः, अङ्गारः) एक अङ्गार (खद्योतमात्रः, परिशिष्टः, स्यात्) खद्योतमात्र शेष रहा हुआ (तेन) उससे (ततः, अपि) फिर (बहु) बहुत (न, दहेत्) दाह नहीं होता (एवं) इसी प्रकार (सोम्य) हे सोम्य ! (ते) तेरी (षोडशानां, कलानां) षोडश कलाओं में से (एका, कला) एक कला (अतिशिष्टा) शेष (स्यात्) रहगई है (तया, एतर्हि) इसी से (वेदान्) वेदों का (अनुभवसि) अनुभव (न) नहीं होसक्ता (अशान) भोजन करो ।

अथ मे विज्ञास्यसीति, स हाशाथ है-नमुपससाद। तँ॒ह यत्किञ्च पप्रच्छ सर्वँ॒ह प्रतिपेदे, तँ॒ होवाच ॥ ४ ॥

पद०–अथ । मे । विज्ञास्यसि । इति । सः । ह । आश । अथ । ह । एनं । उपससाद । तं । ह । यत् । किंच । पप्रच्छ । सर्वं । ह । प्रतिपेदे । तं । ह । उवाच ।

पदा०–(अथ) भोजनानन्तर (मे) मेरे कथन को (विज्ञास्यसि, इति) समझोगे, तब (सः, ह) उस प्रसिद्ध श्वेतकेतु ने (आश) भोजन किया (अथ) भोजन के पश्चात् (ह, एनं) इस अपने पिता के (उपससाद) निकट आया (तं) उस श्वेतकेतु

से (यत्, किंच, पप्रच्छ) जो कुछ उद्दालक ने पूछा (सर्वं, ह) सबको (प्रतिपेदे) समझसका (तं) उस श्वेतकेतु से फिर उद्दालक (उवाच) बोले ॥

यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टंतं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥५॥

पद०—यथा । सोम्य । महतः । अभ्याहितस्य । एकं । अङ्गारं । खद्योतमात्रं । परिशिष्टं । तं । तृणैः । उपसमाधाय । प्राज्वलयेत् । तेन । ततः । अपि । बहु । दहेत् ।

पदा०—(सोम्य) हे सोम्य (यथा) जैसे (महतः, अभ्याहितस्य) प्रज्वलित बड़ी अग्नि का (एकं, अङ्गारं) एक अङ्गार जो (खद्योतमात्रं, परिशिष्टं) खद्योत मात्र शेष बचा हुआ है (तं) उसको (तृणैः) तृणों के साथ (उपसमाधाय) मिलाकर (प्राज्वलयेत) भलीभांति जलावे तो (तेन) वह (ततः, अपि) उससे भी (बहु, दहेत) बहुत दाह करेगा ॥

एवꣳ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाऽभूत्साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्धास्य विजिज्ञाविति विजिज्ञाविति ॥ ६ ॥

पद०-एवं । सोम्य । ते । षोडशानां । कलानां । एका । कला । अतिशिष्टा । अभूत् । सा । अन्नेन । उपसमाहिता । प्राज्वालीत् । तया । एतर्हि । वेदान् । अनुभवसि । अन्नमयं । हि । सोम्य । मनः । आपोमयः । प्राणः । तेजोमयी । वाक् । इति । तत् । ह । अस्य । विजिज्ञौ । इति । विजिज्ञौ । इति ।

पदा०-(सोम्य) हे सोम्य (एवं) इसी प्रकार (ते) तेरी (षोडशानां, कलानां) सोलह कलाओं में से (एका, कला) एक कला जो (अतिशिष्टा, अभूत्) शेष बच रही है (सा) वह (अन्नेन, उपसमाहिता) अन्न के साथ वर्धित होकर (प्राज्वालीत्) प्रज्वलित होगई (तया) उससे (एतर्हि) अब (वेदान्) वेदों का (अनुभवसि) अनुभव करते हो, क्योंकि (अन्नमयं, हि, सोम्य, मनः) हे सोम्य मन अन्नमय ही है (आपोमयः, प्राणः) प्राण जलमय (तेजोमयी, वाक्, इति) वाक् तेजोमय है (तत्, ह) उस प्रसिद्ध पिता के उपदेश को श्वेतकेतु ने (विजिज्ञौ, इति) समझ लिया ।

भाष्य-" विजिज्ञाविति " पाठ दो वार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, जीवात्मा का स्वरूप बोधन करने के लिये उद्दालक ने श्वेतकेतु से यह कथन किया कि हे पुत्र ! तुम १५ दिन तक कुछ मत खाओ केवल एकमात्र जलपान करो, उस ने पिता की आज्ञानुसार ऐसा ही किया,जब पिता ने फिर पूछा कि वेद पढ़कर सुनाओ तब श्वेतकेतु ने कहा कि क्या कहूं,मुझको अब कुछ याद नहीं, पिता ने कहा देखो जिस प्रकार शान्त हुई बड़ी अग्नि का भाग दाह नहीं करसक्ता और फिर वही प्रज्वलित हुआ २ दाह करने को समर्थ होजाता है इसी प्रकार इस अन्नमय

कोषरूप शरीर के क्षीण होने पर तुम्हारा आत्मा वेदपाठ के लिये समर्थ नहीं रहा पर इस आत्मा का अस्तित्व १५ दिन तक न खाने पर भी ज्यों का त्यों बना हुआ है, हे सोम्य ! इस प्रकार इस आत्मा की सूक्ष्मता है जिससे पुरुष विद्याओं को उपलब्ध करता और नित्य नैमित्तिक सब काम करता है, अधिक क्या धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप मनुष्य जन्म के फल चतुष्टय को यही आत्मा लाभ करता है, यदि उक्त आत्मा का अस्तित्व न होता तो नाही कोई पुनर्जन्म के लिये यात्रा कर सक्ता और नाही उक्त फलों को लाभ करसक्ता, अतएव आत्मा का अस्तित्व जानना आवश्यक है।

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उद्दालक श्वेतकेतु के प्रति प्रकारान्तर से जीवात्मा का अस्तित्व वर्णन करते हुए प्रथम दृष्टान्त कथन करते हैं :—

उद्दालकोहारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषःस्वपितिनाम सतासोम्यतदासम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनꣳ स्वपितीत्याचक्षते स्वꣳह्यपीतो भवति॥१॥

पद०-उद्दालकः। ह। आरुणिः। श्वेतकेतुं। पुत्रं। उवाच स्वप्नान्तं। मे। सोम्य। विजानीहि। इति। यत्र। एतत्। पुरुषः। स्वपिति। नाम। सता। सोम्य। तदा। सम्पन्नः। भवति। स्वं। अपीतः। भवति। तस्मात्। एनं। स्वपिति। इति। आचक्षते। स्वं। हि। अपीतः। भवति।

पदा०-(ह) प्रसिद्ध है कि (आरुणिः) अरुण के पुत्र (उद्दालकः) उद्दालक (श्वेतकेतुं, पुत्रं) श्वेतकेतु पुत्र को (उवाच) बोले कि (सोम्य) हे सोम्य (मे) मुझ से (स्वप्नान्तं) सुषुप्ति अवस्था की विद्या (विजानीहि, इति) जानो (नाम) प्रसिद्ध है कि (यत्र) जिस काल में (एतत्) यह (पुरुषः) पुरुष (स्वपिति) सोजाता है (तदा) उस काल में (सता) ब्रह्म के साथ (सम्पन्नः) मिल जाता है अर्थात् (स्वं, अपीतः, भवति) अपने आपको प्राप्त होजाता है (तस्मात्) इस कारण (एनं) इस को (स्वपिति,इति,आचक्षते) "स्वपिति" ऐसा कथन करते हैं (हि) क्योंकि (स्वं,अपीतः,भवति) अपने स्वरूप में स्थित होता है॥

सं०-अब उक्त अर्थ में दृष्टान्त कथन करते हैः—

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवो-पश्रयत एवमेव खलु सोम्यैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राण-मेवोपश्रयते प्राणबन्धनँ हि सोम्य मन इति ॥ २ ॥

पद०-सः। यथा। शकुनिः। सूत्रेण। प्रबद्धः। दिशं।

दिशं । पतित्वा । अन्यत्र । आयतनं । अलब्ध्वा । बन्धनं । एव । उपश्रयते । एवं । एव । खलु । सोम्य । एतद् । मनः । दिशं । दिशं । पतित्वा । अन्यत्र । आयतनं । अलब्ध्वा । प्राणं । एव । उपश्रयते । प्राणबन्धनं । हि । सोम्य । मनः । इति ।

पदा०-(यथा) जैसे (सः, शकुनिः) वह पक्षी (सूत्रेण, प्रबद्धः) सूत्र से बन्धा हुआ (दिशं,दिशं) चारो ओर (पतित्वा) गिर कर (अन्यत्र, आयतनं, अलब्ध्वा) अन्यत्र स्थान न लाभ करता हुआ (बन्धनं, एव, उपश्रयते) बन्धन को ही आश्रय करता है (एवं, एव) इसी प्रकार (खलु) निश्चय करके (सोम्य) हे सोम्य ! (एतत्, मनः) यह मन (दिशं, दिशं, पतित्वा) चारो ओर जाकर (अन्यत्र, आयतनं, अलब्ध्वा) अन्यत्र स्थान न पाता हुआ (प्राणं, एव, उपश्रयते) प्राण को ही लाभ करता है (हि) क्योंकि (सोम्य) हे सोम्य (मनः) मन (प्राणबन्धनं) प्राणों के अधीन है ।

सं०-अब उद्दालक श्वेतकेतु को भूख और प्यास का तत्व कथन करते हैं:—

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति । यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाऽऽप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनाय पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि । नेदममूलं भविष्यतीति ॥३॥

पद०—अशनापिपासे । मे । सोम्य । विजानीहि । इति । यत्र । एतत् । पुरुषः । अशिशिषति । नाम । आपः । एव । तत् । अशितं । नयन्ते । तत् । यथा । गोनायः । अश्वनायः । पुरुषनायः । इति । एवं । तत् । अपः । आचक्षते । अशनाय । इति । तत्र । एतत् । शुङ्गं । उत्पतितं । सोम्य । विजानीहि । न । इदं । अमूलं । भविष्यति । इति ।

पदा०—(सोम्य) हे सोम्य (अशनापिपासे) भूख और प्यास को (मे) मुझ से (विजानीहि, इति) स्पष्टतया जान (यत्र, एतत्,पुरुषः,अशिशिषति) जिसकाल में यह पुरुष खाने की इच्छा करता है तब उसका (नाम) नाम अशिशिषति होता है (आपः, एव, तत्, आशितं, नयन्ते) जल ही उसके खाये हुए को लेजाता है (तत्) वह (यथा) जैसे (गोनायः) गौओं का नेता (अश्वनायः) घोड़ों का नेता (पुरुषनायः, इति) पुरुषों का नेता होता है (एवं) इसीप्रकार (तत्, अपः) वह जल भक्षण किये हुए अन्न का (अशनाय, इति, आचक्षते) नेता कहलाता है (तत्र) वहां पर (सोम्य) हे सोम्य (एतत्,शुङ्गं, उत्पतितं) यह शरीररूप कार्य्य उत्पन्न हुआ (विजानीहि) जानो (न, इदं, अमूलं, भविष्यति, इति) यह बात मूलरहित नहीं है ।

तस्य क्वमूलꣳस्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ । तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ । सन्मूलाः

सोम्येमाः सर्वाः प्रजा सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ ४ ॥

पद०—तस्य । क । मूलं । स्यात् । अन्यत्र । अन्नात् । एवं । एव । खलु । सोम्य । अन्नेन । शुङ्गेन । अपः । मूलं । अन्विच्छ । अद्भिः । सोम्य । शुङ्गेन । तेजः । मूलं । अन्विच्छ । तेजसा । सोम्य । शुङ्गेन । सत् । मूलं । अन्विच्छ । सन्मूलाः । सोम्य । इमाः । सर्वाः । प्रजाः । सदायतनाः । सत्प्रतिष्ठाः ।

पदा०—(तस्य) उस शरीर का (अन्नात्, अन्यत्र) अन्न से भिन्न (क, मूलं, स्यात्) कहां मूल है (खलु) निश्चयकरके (सोम्य) हे सोम्य (एवं, एव) इसी प्रकार (अन्नेन, शुङ्गेन) अन्नरूप कार्य्य से (अपः, मूलं, अन्विच्छ) जलरूप मूल को जानो (सोम्य) हे सोम्य (अद्भिः) जलरूप (शुङ्गेन) कार्य्य द्वारा (तेजः, मूलं, अन्विच्छ) तेज रूप मूल को जानो (सोम्य) हे सोम्य (तेजसा, शुङ्गेन) तेज रूप कार्य्य से (सत, मूलं, अन्विच्छ) सत रूप मूल को जानो (सोम्य) हे सोम्य (सन्मूलाः, इमाः, सर्वाः, प्रजाः) यह सारी प्रजा सद्रूपमूलवाली (सदायतनाः) सद्रूपआयतन वाली और (सत्प्रतिष्ठाः) उसकी सत में स्थिति है ।

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम । तेज एव तत्पीतं नयते । तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति । तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितꣳसोम्य विजानीहि । नेदममूलं भविष्यतीति ॥५॥

पद०-अथ । यत्र । एतत् । पुरुषः । पिपासति । नाम । तेजः । एत्र । तत् । पीतं । नयते । तत् । यथा । गोनायः । अश्वनायः । पुरुषनायः । इति । एवं । तत् । तेजः । आचष्टे । उदन्य । इति । तत्र । एतत् । एव । शुङ्गं । उत्पतितं । सोम्य । विजानीहि । न । इदं । अमूलं । भविष्यति । इति ।

पदा०-(अथ) अब यह कथन करते हैं कि (यत्र) जिस काल में (एतत्) यह (पुरुषः) पुरुष (पिपासति) प्यासा होता है तब (तेजः, एव) तेज ही (तत्, पीतं) उस पीये हुए को (नयते) यथा स्थान में पहुंचाता है (तत्, यथा) जैसाकि (गोनायः) गौओं का नियन्ता (अश्वनायः) अश्वों का नियन्ता (पुरुषनायः, इति) पुरुषों का नियन्ता होता है (एवं) इसी प्रकार (तत्, तेजः) वह तेज (उदन्य, आचष्टे, इति) उदक का नियन्ता होता है (सोम्य) हे सोम्य (तत्र) वहां (एतत्) यह (शुङ्गं) कार्य्य (उत्पतितं) उत्पन्न हुआ (विजानीहि) जानो (न, इदं, अमूलं, भविष्यति, इति) यह अमूल नहीं है ।

तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ । तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ । सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति

तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते । मनः प्राणे । प्राणस्तेजसि । तेजः परस्यां देवतायाम् । स य एषोऽणिमा ॥ ६ ॥

पद०—तस्य । क । मूलं । स्यात् । अन्यत्र । अद्भ्यः । अद्भिः । सोम्य । शुङ्गेन । तेजः । मूलं । अन्विच्छ । तेजसा । सोम्य । शुङ्गेन । सत् । मूलं । अन्विच्छ । सन्मूलाः । सोम्य । इमाः । सर्वाः । प्रजाः । सदायतनाः । सत्प्रतिष्ठाः । यथा । तु । खलु । सोम्य । इमाः । तिस्रः । देवताः । पुरुषं । प्राप्य । त्रिवृत् । त्रिवृत् । एकैका । भवति । तत् । उक्तं । पुरस्तात् । एव । भवति । अस्य । सोम्य । पुरुषस्य । प्रयतः । वाक् । मनसि । संपद्यते । मनः । प्राणे । प्राणः । तेजसि । तेजः । परस्यां । देवतायां । सः । यः । एषः । अणिमा ।

पदा०—(तस्य) उस कार्य्य का (अन्यत्र, अद्भ्यः) जलों से भिन्न (क, मूलं, स्यात्) क्या मूल है ? (सोम्य) हे सोम्य (अद्भिः, शुङ्गेन) जलरूप कार्य्य से (तेजः, मूलं, अन्विच्छ) तेज रूप मूल को जानो (सोम्य) हे सोम्य (तेजसा, शुङ्गेन, सत्, मूलं, अन्विच्छ) तेजरूप कार्य्य से सद्रूप मूल को जानो (सोम्य) हे सोम्य (इमाः, सर्वाः, प्रजाः) यह सब प्रजा (सन्मूलाः) सद्रूप मूल वाली है (सदायतनाः) सत् आयतन और (सत्प्रतिष्ठाः) सत् ही इसकी प्रतिष्ठा है (सोम्य) हे सोम्य (खलु) निश्चयकरके (यथा) जैसे (इमाः, तिस्रः, देवताः)

उक्त तीनों देवता (पुरुषं, प्राप्य) पुरुष को प्राप्त होकर (त्रिवृत, त्रिवृत, एकैका, भवति) एक २ तीन २ भागों में विभक्त होजाता है (तत्, उक्तं, पुरस्तात्, एव, भवति) यह प्रथम ही कथन कर आये हैं (सोम्य) हे सोम्य (अस्य, पुरुषस्य, प्रयतः) जब यह पुरुष प्रयाण करता है तब (वाक्, मनसि, संपद्यते) वाणी मन में लय होजाती है (मनः, प्राणे) मन प्राण में (प्राणः, तेजसि) प्राण तेज में, और (तेजः, परस्यां, देवतायां) तेज पर देवता में लय होजाता है (सः, यः) वह जो (एषः) यह (अणिमा) अणुरूप जीव शेष रहजाता है, इसका सम्बन्ध आगे के श्लोक से है ॥

ऐतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

पद०-ऐतदात्म्यं । इदं । सर्वं । तत् । सत्यं । सः । आत्मा । तत् । त्वं । असि । श्वेतकेतो । इति । भूयः । एव । मा । भगवान् । विज्ञापयतु । इति । तथा । सोम्य । इति । ह । उवाच ।

पदा०-(ऐतदात्म्यं) इस आत्मा का (इदं, सर्वं) यह पूर्वोक्त सब भाव है और (तत्, सत्यं) वह सब सत्य है (सः, आत्मा) वह आत्मा है और (श्वेतकेतो, इति) हे श्वेतकेतु (तत्, त्वं, असि) वह आत्मा तु है (भगवान्) आप (एव) निश्चय करके (भूयः) फिर (मा) मुझको (विज्ञापयतु, इति) कथन

करें, तब (ह) वह प्रसिद्ध उद्दालक (उवाच) बोले (सोम्य) हे सोम्य (तथा) तथास्तु ।

भाष्य—इस खण्ड में सुषुप्ति अवस्था को वर्णन करते हुए महर्षि उद्दालक ने यह कथन किया कि हे श्वेतकेतो ! जब यह पुरुष सोता है तब वह अपने स्वाभाविक स्वरूप के साथ सम्पन्न होजाता है अर्थात् उस समय जीव के आगन्तुक गुण उसके साथ नहीं रहते एकमात्र उसका स्वरूपभूत ज्ञान उस समय उपस्थित रहता है, इसलिये इस अवस्था का नाम " स्वपिति " है, इस अवस्था का यह महत्व है कि जब जीव को कहीं भी शान्ति नहीं होती तब पक्षी के समान इतस्ततः भ्रमण करता हुआ अपने स्वरूपभूत स्व स्थान में आकर शान्ति उपलब्ध करता है ।

और जो तेज, अप तथा अन्न यह तीनों तत्व हैं इनका भी सत्तारूप से मूल एकमात्र सत् ही है, इसी अभिप्राय से यह कथन किया है कि हे सोम्य ! यह सब प्रजा सन्मूला=सद्रूप मूल वाली और सत् ही इसकी प्रतिष्ठा है,इसीलिये इनका लय=सूक्ष्मरूप होकर ब्रह्म में स्थिर होना कथन किया गया है, जब यह पुरुष प्रयाण करता है तब वाणी मन में लय होजाती है मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज उस परदेवतारूप परब्रह्म में लय होजाता है, और जो शेष अणुरूप जीव रहता है वह आत्मा है,इस विषय में महर्षि उद्दालक ने १५ दिन का व्रत कराके श्वेतकेतु को यह कथन किया कि हे श्वेतकेतु ! जो कुछ तुम्हारा वेदादिकों का पढ़ना और उनको धारण करना, इत्यादि अनेक भाव हैं वह सब इसी आत्मा के भाव हैं, उक्त भावों को पुनः स्मरण कराते हुए उद्दालक ने यह कथन किया कि " ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं "=यह सब

उसी आत्मा के भाव हैं और यह सब सत्य हैं, हे श्वेतकेतु ! "स आत्मा"=वह आत्मा है और "तत्त्वमसि"=वह तु है, इस प्रकार "तत्त्वमसि" के उपदेश द्वारा यहां श्वेतकेतु को जीवात्मा का अस्तित्व बोधन किया है जीवात्मा को ब्रह्मभाव का उपदेश नहीं किया, क्योंकि "तत्" शब्द पूर्व का परामर्शक होता है और पूर्व जीवात्मा का वर्णन स्पष्ट है, इसलिये "तत्त्वमसि" से जीवात्मा के नित्यत्व का उपदेश ही अभिप्रेत है जीव का ब्रह्म बनना अभिप्रेत नहीं ॥

इति अष्टमः खण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब द्वितीय दृष्टान्त कथन करते हैं :—

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति। नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकताꣳ रसं गमयन्ति ॥ १ ॥

पद०-यथा । सोम्य । मधु । मधुकृतः । निस्तिष्ठन्ति । नानात्ययानां । वृक्षाणां । रसान् । समवहारं । एकतां । रसं । गमयन्ति ।

पदा०-(सोम्य) हे सोम्य ! (यथा) जैसे (मधुकृतः) मधु बनाने वाली मक्खियां (मधु) मधु को (निस्तिष्ठन्ति) बनाती हैं अर्थात् (नानात्ययानां) नाना फल वाले (वृक्षाणां) वृक्षों के (रसान्) रसों को (समवहारं) एकत्रित कर (एकतां) एक

बना (रसं) मधुरूप (गमयन्ति) बना देती हैं।

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोस्म्यऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाःसति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ॥ २ ॥

पद०—ते । यथा । तत्र । न । विवेकं । लभन्ते । अमुष्य । अहं । वृक्षस्य । रसः । अस्मि । अमुष्य । अहं । वृक्षस्य । रसः । अस्मि । इति । एवं । एव । खलु । सोम्य । इमाः । सर्वाः । प्रजाः । सति । संपद्य । न । विदुः । सति । संपद्यामहे । इति ।

पदा०—(यथा) जिसप्रकार (तत्र) उस मधुसमूह में (ते) वह रस (विवेकं) विवेक को (न, लभन्ते) प्राप्त नहीं करते कि (अमुष्य, अहं, वृक्षस्य, रसः, अस्मि) इस वृक्ष का मैं रस हूं (अमुष्य, अहं, वृक्षस्य, रसः, अस्मि, इति) इस वृक्ष का मैं रस हूं (एवं, एव, खलु) इसीप्रकार निश्चयकरके (सोम्य) हे सोम्य (इमाः, सर्वाः, प्रजाः) यह सब जनसमूह (सति, सम्पद्य) ब्रह्म के साथ योग होने पर भी (न, विदुः) नहीं जानता कि (सति, सम्पद्यामहे, इति) हमारा उस परमपिता के साथ सम्बन्ध है ॥

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥ ३ ॥

पदा०—ते । इह । व्याघ्रः । वा । सिंहः । वा । वृकः । वा ।

वराहः । वा । कीटः । वा । पतङ्गः । वा । दंशः । वा । मशकः । वा । यत् । यत् । भवन्ति । तत् । आभवन्ति ।

पदा०-(ते) वह जीव (इह) इस संसार में (व्याघ्रः, वा, सिंहः वा) व्याघ्र अथवा सिंह (वृकः, वा, वराहः, वा) बैल अथवा शूकर (कीटः, वा, पतङ्गः, वा) कीट अथवा पतङ्ग (दंशः, वा, मशकः, वा) डांश अथवा मच्छर (यत्, यत्, भवन्ति) जो २ पूर्व थे (तत्, आभवन्ति) वही२ पुनः होते हैं ।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येतिहोवाच ॥ ४ ॥

पद०-सः । यः । एषः । अणिमा । ऐतदात्म्यं । इदं । सर्वं । तत् । सत्यं । सः । आत्मा । तत् । त्वं । असि । श्वेतकेतो । इति । भूयः । एव । मा । भगवान् । विज्ञापयतु । इति । तथा । सोम्य । इति । ह । उवाच ।

पदा०-(सः, यः) वह जो (एषः) यह (अणिमा) सूक्ष्म जीव है (ऐतदात्म्यं) उसी आत्मा का (इदं, सर्वं) यह सब भाव है और (तत्, सत्यं) वह सत्य है (सः, आत्मा) वह आत्मा है (श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतु ! (तत्, त्वं, असि) वह तु है (भगवान्, भूयः, एव, मा) आप मुझको फिर (विज्ञापयतु, इति) उपदेश करें (इति, ह, उवाच) उद्दालक बोले (सोम्य) हे सोम्य (तथा) तथास्तु ॥

भाष्य—इस द्वितीय दृष्टान्त में महर्षि उद्दालक ने मधु के छत्ते का दृष्टान्त देकर यह बतलाया कि जिसप्रकार मधु मखियां नाना प्रकार के फलफूलों का रस लेकर जब मधु बनाती हैं तब वह यह नहीं जानाजाता कि यह किन २ फल फूलों का रस है, इसी प्रकार जब प्रलयकाल में अथवा सुषुप्ति काल में जीव ब्रह्म के साथ मिलजाते हैं तब वह उक्त रसों के समान जाने नहीं जाते फिर जब वही जीव व्याघ्र, सिंह, कीट, पतङ्गादि योनियों को प्राप्त होते हैं उस समय उनका अणुरूप आत्मा सर्वथा भिन्न होता है, वह सत्य है और वह आत्मा है श्वेतकेतु तु है ॥

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब तीसरा दृष्टान्त कथन करते हैं :—

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात् प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात् समुद्रमेवापि यन्ति । स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥ १ ॥

पद०—इमाः ।सोम्य । नद्यः । पुरस्तात् । प्राच्यः ।स्यन्दन्ते ।

पश्चात् । प्रतीच्यः । ताः । समुद्रात् । समुद्रं । एव । अपि । यन्ति । सः । समुद्रः । एव । भवति । ताः । यथा । तत्र । न । विदुः । इयं । अहं । अस्मि । इयं । अहं । अस्मि । इति ॥

पदा०-(सोम्य) हे सोम्य (प्राच्यः) पूर्वदिशा को जाने वाली (इमाः) यह (नद्यः) नदियें (पुरस्तात्) पूर्व की ओर (स्यन्दन्ते) बहती हैं (प्रतीच्यः) पश्चिम की ओर जाने वाली (पश्चात्) पश्चिम की ओर बहती हैं (ताः) वह सब नदियें (समुद्रात्) समुद्र से (समुद्रं, एव) समुद्र को ही (अपि, यन्ति) जाती हैं, और वहां पर (सः, समुद्रः, एव, भवति) वह समुद्र ही होजाती हैं सो (यथा) जैसे (ताः) वह नदियें (तत्र) उस समुद्र को प्राप्त होकर (न, विदुः) यह नहीं जानतीं कि (इयं, अहं, अस्मि) यह मैं हूं (इयं, अहं, अस्मि, इति) यह मैं हूं ॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति। त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥ २ ॥

पद०-एवं । एव । खलु । सोम्य । इमाः । सर्वाः । प्रजाः । सतः । आगम्य । न । विदुः । सतः । आगच्छामहे । इति । ते । इह । व्याघ्रः । वा । सिंहः । वा । वृकः । वा । वराहः । वा । कीटः । वा । पतङ्गः । वा । दंशः । वा । मशकः । वा । यत् । यत् । भवन्ति । तत् । आभवन्ति ।

पदा०—(एवं, एव) इसीप्रकार (खलु) निश्चयकरके (सोम्य) हे सोम्य (इमाः, सर्वाः, प्रजाः) यह सब प्रजा (सतः, आगम्य) सत्स्वरूप ब्रह्म से आकर (न, विदुः) यह नहीं जानती कि (सतः, आगच्छामहे, इति) हम सत् से आये हैं (ते) वह जीव (इह) इस संसार में (व्याघ्रः, वा, सिंहः, वा) व्याघ्र अथवा सिंह (वृकः, वा, वराहः, वा) बैल अथवा शूकर (कीटः, वा, पतङ्गः, वा) कीट अथवा पतङ्ग (दंशः, वा, मशकः, वा) डांस अथवा मच्छर (यत्, यत्, भवन्ति) जो २ पूर्वजन्म में थे (तत्, आभवन्ति) वही पुनः होते हैं ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एवमा भगवान् विज्ञापयत्विति। यथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

पद०—सः। यः। एषः। अणिमा। ऐतदात्म्यं। इदं। सर्वं। तत्। सत्यं। सः। आत्मा। तत्त्वमसि। श्वेतकेतो। इति। भूयः। एव। मा। भगवान्। विज्ञापयतु। इति। यथा। सोम्य। इति। ह। उवाच।

पदा०—(सः, यः) वह जो (एषः) यह (अणिमा) सूक्ष्म जीव है (ऐतदात्म्यं) उसी आत्मा का (इदं, सर्वं) यह सब भाव है और (तत्, सत्यं) वह सत्य है (सः, आत्मा) वह आत्मा है (श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतु (तत्, त्वं, असि) वह तु है (भगवान्) आप (भूयः, एव, मा) मुझको फिर भी (विज्ञाप-

यतु, इति) उपदेश करें (इति, ह, उवाच) उद्दालक बोले (सोम्य) हे सोम्य (तथा) तथास्तु ।

भाष्य–हे श्वेतकेतो ! जिसप्रकार नदियें बहती हुई समुद्र में लीन होती हैं और फिर वृष्टि द्वारा समुद्र से लौटकर यह नहीं जानतीं कि हम वही अमुक २ नदी हैं इसीप्रकार हे सोम्य ! यह सब प्रजा प्रलय तथा सुषुप्ति की अवस्था से उठकर जब अपने २ जन्म को धारण करती हैं तब जीव यह नहीं जानते कि इससे पूर्व हम अमुक २ शरीर में थे ।

भाव यह है कि यहां नदियों का दृष्टान्त जीव ब्रह्म की एकता के अभिप्राय से नहीं, क्योंकि यदि जीव ब्रह्म की एकता के अभिप्राय से होता तो नाना जीवों के जन्मों का दृष्टान्त न दिया जाता, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि नदियों का दृष्टान्त केवल सुषुप्ति अवस्था तथा प्रलय अवस्था में ब्रह्म में सूक्ष्म होकर रहने के अभिप्राय से है एकता के अभिप्राय से नहीं ।

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब चतुर्थ दृष्टान्त कथन करते हैं :—

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जी-

वन् स्रवेत्स एष जीवेनाऽऽत्मनानुप्रभूतःपेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥१॥

पद०—अस्य । सोम्य । महतः । वृक्षस्य । यः । मूले । अभ्याहन्यात् । जीवन् । स्रवेत् । यः । मध्ये । अभ्याहन्यात् । जीवन् । स्रवेत् । यः । अग्रे । अभ्याहन्यात् । जीवन् । स्रवेत् । सः । एषः । जीवेन । आत्मना । अनुप्रभूतः । पेपीयमानः । मोदमानः । तिष्ठति ।

पदा०—(सोम्य) हे सोम्य (अस्य, महतः, वृक्षस्य) इस महान् वृक्ष की (मूले) जड़ में (यः) जो (अभ्याहन्यात्) प्रहार करे तो (जीवन्, स्रवेत्) जीता हुआ ही स्रवित होता रहेगा (यः, मध्ये, अभ्याहन्यात्) जो वृक्ष के मध्य में प्रहार करे तो (जीवन्, स्रवेत्) जीता हुआ ही स्रवित होता रहेगा, इसी प्रकार (यः) जो (अग्रे, अभ्याहन्यात्) वृक्ष के अग्रभाग में कोई प्रहार करे तो (जीवन्, स्रवेत्) जीता हुआ ही स्रवित होता रहेगा, क्योंकि (सः, एषः) वह यह वृक्ष (जीवेन, आत्मना) जीवात्मा द्वारा (अनुप्रभूतः) व्याप्त होकर (पेपीयमानः) पृथिवी से रसरूप जल चूसता हुआ (मोदमानः, तिष्ठति) सहर्ष खड़ा रहता है ॥

अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति । तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति । सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येव-

मेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच॥ २॥

पद०-अस्य। यत्। एकां। शाखां। जीवः। जहाति। अथ। सा। शुष्यति। द्वितीयां। जहाति। अथ। सा। शुष्यति। तृतीयां। जहाति। अथ। सा। शुष्यति। सर्वं। जहाति। सर्वः। शुष्यति। एवं। एव। खलु। सोम्य। विद्धि। इति। ह। उवाच।

पदा०-(अस्य) इस वृक्ष की (एकां, शाखां) किसी एक शाखा को (यत्) जब (जीवः, जहाति) जीव त्याग देता है (अथ, सा, शुष्यति) तब वह शाखा सूख जाती है (द्वितीयां, जहाति) जब द्वितीय शाखा को त्यागता है (अथ, सा, शुष्यति) तब वह सूख जाती है (तृतीयां, जहाति) जब जीव तीसरी शाखा को त्यागता है (अथ, सा, शुष्यति) तब वह सूख जाती है (सर्वं, जहाति) जब सब को त्याग देता है तब (सर्वः, शुष्यति) सम्पूर्ण वृक्ष सूखजाता है (इति, ह, उवाच) उद्दालक बोले कि (सोम्य) हे सोम्य! (एवं) इसीप्रकार (एव, खलु) निश्चयकरके शरीर की दशा (विद्धि) जानो॥

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति। स य एषोऽणिमैतदात्म्य मिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच।३।

पद०-जीवापेतं। वाव। किल। इदं। म्रियते। न। जीवः। म्रियते। इति। सः। यः। एषः। अणिमा। ऐतदात्म्यं। इदं। सर्वं।

तत् । सत्यं । सः । आत्मा । तत् । त्वं । असि । श्वेतकेतो । इति । भूयः । एव । मा । भगवान् । विज्ञापयतु । इति । तथा । सोम्य । इति । ह । उवाच ।

पदा०-(वाव) निश्चयकरके (इदं) यह शरीर (जीवापेतं, किल) जीव रहित होने पर ही (म्रियते) मरता=निश्चेष्ट होजाता है (सोम्य) हे सोम्य (जीवः, न, म्रियते, इति) जीव नहीं मरता (सः, यः) वह आत्मा तु है (शेष पूर्ववत्)

भाष्य-इस श्लोक का शेष पद पदार्थ पीछे कर आये हैं पाठकगण वहीं पर देखलें, महर्षि उद्दालक श्वेतकेतु से बोले कि हे श्वेतकेतु ! जिसप्रकार वृक्ष की एक शाखा को जब जीव छोड़ देता है तब वह सूख जाती है जब दूसरी को छोड़ देता है तब वह सूख जाती है इसीप्रकार जीव से रहित होने पर यह शरीर मृतक कहलाता है जीव के साथ मृतक कदापि नहीं कहाजाता, वह जीव जिसकी सत्ता से शरीर जीवित कहाजाता है वह तु है, अर्थात् शरीर के मरने से जीव नहीं मरता ।

जो लोग " तत् " शब्द के अर्थ पूर्वप्रकृत सत् के करते हैं अर्थात् " तच्छब्द " वाच्य ब्रह्म और " त्वं " पद वाच्य जीव को ठहराते हैं उनको यहां निष्पक्षता की दृष्टि से देखना चाहिये कि इस चतुर्थ अभ्यास अर्थात् इस वृक्ष के दृष्टान्त में कौनसा ऐसा लिङ्ग है जो " तत् " शब्द के अर्थ ब्रह्म बतलाये, कोई नहीं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह प्रकरण जीव को अविनाशी बोधन करता है विनाशी नहीं ।

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब पांचवां दृष्टान्त कथन करते हैं :—

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्धीति। भिन्नं भगव इति। किमत्र पश्यसीत्यराव्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति। भिन्ना भगव इति। किमत्र पश्यसीति। न किञ्चन भगव इति॥ १॥

पद०-न्यग्रोधफलं। अतः। आहर। इति। इदं। भगवः। इति। भिन्धि। इति। भिन्नं। भगवः। इति। किं। अत्र। पश्यसि। इति। अराव्यः। इव। इमाः। धानाः। भगवः। इति। आसां। अङ्ग। एकां। भिन्धि। इति। भिन्ना। भगवः। इति। किं। अत्र। पश्यसि। इति। न। किंचन। भगवः। इति॥

पदा०-(न्यग्रोधफलं, अतः, आहर, इति) इस वट के वृक्ष से फल ला (भगवः) हे भगवन् (इदं, इति) यह ले आया हूं, तब उद्दालक बोले (भिन्धि, इति) इसको तोड़ो (भगवः) हे भगवन् (भिन्नं, इति) तोड़ दिया, उद्दालक बोले (किं, अत्र, पश्यसि, इति) इसके भीतर क्या देखते हो (भगवः) हे भगवन् (अराव्यः, इव, इमाः, धानाः, इति) छोटे दानों के समान बीज हैं (आसां, अङ्ग, एकां, भिन्धि, इति) हे पुत्र इनमें

से एक को फोड़ो (भिन्ना, भगवः, इति) हे भगवन् तोड़ दिया (किं, अत्र, पश्यसि, इति) इसमें क्या देखते हो (भगवः) हे भगवन् ! (किंचन, न, इति) कुछ नहीं ॥

तᳪं होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥ २ ॥

पद०—तं । ह । उवाच । यं । वै । सोम्य । एतं । अणिमानं । न । निभालयसे । एतस्य । वै । सोम्य । एषः । अणिम्नः । एवं । महान्यग्रोधः । तिष्ठति । श्रद्धत्स्व । सोम्य । इति ।

पदा०—(तं, ह, उवाच) उद्दालक फिर श्वेतकेतु से बोले कि (सोम्य) हे सोम्य (यं, वै, एतं, अणिमानं) निश्चय करके तुम जिस इस अणु अंश को (न, निभालयसे) नहीं देखते हो (एतस्य, वै, अणिम्नः) इसी अणुतम बीज का (एषः) यह (महान्यग्रोधः) महान् वट वृक्ष (एवं) शाखा पल्लवादि से भूषित (तिष्ठति) खड़ा है (सोम्य) हे सोम्य (श्रद्धत्स्व, इति) तुम विश्वास करो ।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदᳪं सर्वं तत्सत्यᳪं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

अर्थ–" हे श्वेतकेतु वह आत्मा तु है " (शेष पूर्ववत)॥

भाष्य–जब श्वेतकेतु " तत्त्वमसि " के चतुर्थ अभ्यास से भी जीवात्मा की सूक्ष्मता न समझसका तो महर्षि उद्दालक ने श्वेतकेतु से कहा कि तुम इस बट का बीज हमारे पास लाओ जब वह बट बीज ले आया तब उद्दालक ने श्वेतकेतु से तुड़वाकर कहा कि इसमें कुछ देखते हो उसने कहा कुछ नहीं दीखता तब उद्दालक ने कहा कि जिस सूक्ष्मता को तुम नहीं देखते उसी सूक्ष्मता से बना हुआ यह वट का महान् वृक्ष तुम्हारे सन्मुख है, इसलिये हे सोम्य ! तुम श्रद्धा करो कि वह इसीप्रकार सूक्ष्म जीवात्मा है जिसको तुम नहीं देखसक्ते, और वह जीवात्मा तु है ।

यदि यहां " तत्त्वमसि " से जीव ब्रह्म की एकता अभिप्रेत होती तो वटबीज का दृष्टान्त कदापि न दियाजाता, क्योंकि इस दृष्टान्त का जीव ब्रह्म की एकता में कोई उपयोग नहीं ।

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब छठा दृष्टान्त कथन करते हैं :—

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार । तँहोवाच

यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग । तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद ॥ १ ॥

पद०—लवणं । एतत् । उदके । अवधाय । अथ । मा । प्रातः । उपसीदथाः । इति । सः । ह । तथा । चकार । तं । ह । उवाच । यत् । दोषा । लवणं । उदके । अवाधा । अङ्ग । तत् । आहर । इति । तत् । ह । अवमृश्य । न । विवेद ।

पदा०—(एतत्) इस (लवणं) लवण पिण्ड को (उदके) जल में (अवधाय) रखकर (अथ) तदनन्तर (प्रातः) प्रातः काल (मा) मेरे (उपसीदथाः, इति) समीप आओ (सः, ह) उस प्रसिद्ध श्वेतकेतु ने (तथा, चकार) वैसा ही किया (तं) उसको (ह, उवाच) वह उद्दालक बोले कि (दोषा) रात्रि में (यत्) जो (लवणं) लवण (उदके) जल में (अवाधाः) रखा था (अङ्ग) हे पुत्र (तत्, आहर, इति) उसको लेआओ (तत्, ह) उसको (अवमृश्य) खोजा तो (न, विवेद) नहीं पाया, तब श्वेतकेतु पिता से बोला कि वह लवण पिण्ड नहीं मिलता ॥

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति । कथमिति । लवणमिति । मध्यादाचामेति । कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति । कथमिति । लवणमित्यभिप्राश्यैनदथमोपसीदथा इति । तद्ध तथा

चकार। तच्छश्वत्संवर्त्तते तं होवाचात्र वाव किल तत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ २ ॥

पद०-यथा। विलीनं। एव। अङ्ग। अस्य। अन्तात्। आचाम। इति। कथं। इति। लवणं। इति। मध्यात्। आचाम। इति। कथं। इति। लवणं। इति। अन्तात्। आचाम। इति। कथं। इति। लवणं। इति। अभिप्राश्य। एनत्। अथ। मा। उपसीदथाः। इति। तत्। ह। तथा। चकार। तत्। शश्वत्। संवर्त्तते। तं। ह। उवाच। अत्र। वाव। किल। तत्। सोम्य। न। निभालयसे। अत्र। एव। किल। इति।

पदा०-(अङ्ग) हे प्रिय पुत्र ! (विलीनं, एव) जल में विलीन हुए लवण को (यथा) जिसप्रकार जान सकोगे वह यह है कि (अस्य, अन्तात्, आचाम, इति) इस लवणयुक्त जल के उपरिभाग से जल लेकर आचमन करो, श्वेतकेतु ने वैसा ही किया तब पिता बोला (कथं, इति) यह जल कैसा है (लवणं, इति) लवण युक्त है (मध्यात्, आचाम, इति) इस जल के मध्य में से लेकर आचमन करो (कथं, इति) कैसा है (लवणं, इति) लवणयुक्त है (अन्तात्, आचाम, इति) इसके नीचे का जल लेकर आचमन करो (कथं, इति) कैसा है ? (लवणं, इति) लवणयुक्त है (एनत्) इसका (अभिप्राश्य) आचमन करके (अथ) पश्चात् (मा, उपसीदथाः, इति) मेरे निकट आओ (तत्, ह, तथा, चकार) श्वेतकेतु ने वैसा ही किया (तत्, शश्वत्, संवर्त्तते) वह लवण सर्वदा जल में विद्यमान है (तं, ह, उवाच) फिर उद्दालक

यद्दोषा लवणमुदकेऽबाधा अङ्ग। तदाहरे-
ति तद्धावमृश्य न विवेद ॥ १ ॥

पद०—लवणं। एतत्। उदके। अवधाय। अथ। मा। प्रातः। उपसीदथाः। इति। सः। ह। तथा। चकार। तं। ह। उवाच। यत्। दोषा। लवणं। उदके। अबाधा। अङ्ग। तत्। आहर। इति। तत्। ह। अवमृश्य। न। विवेद।

पदा०—(एतत्) इस (लवणं) लवण पिण्ड को (उदके) जल में (अवधाय) रखकर (अथ) तदनन्तर (प्रातः) प्रातः काल (मा) मेरे (उपसीदथाः, इति) समीप आओ (सः, ह) उस प्रसिद्ध श्वेतकेतु ने (तथा, चकार) वैसा ही किया (तं) उसको (ह, उवाच) वह उद्दालक बोले कि (दोषा) रात्रि में (यत्) जो (लवणं) लवण (उदके) जल में (अबाधाः) रखा था (अङ्ग) हे पुत्र (तत्, आहर, इति) उसको लेआओ (तत्, ह) उसको (अवमृश्य) खोजा तो (न, विवेद) नहीं पाया, तब श्वेतकेतु पिता से बोला कि वह लवण पिण्ड नहीं मिलता॥

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति। कथमिति। लवणमिति। मध्यादाचा-मेति। कथमिति लवणमित्यन्तादा-चामेति। कथमिति। लवणमित्यभि प्रास्यैनदथमोपसीदथा इति। तद्ध तथा

चकार। तच्छश्वत्संवर्त्तते तँ होवाचात्र वाव किल तत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ २ ॥

पद०-यथा। विलीनं। एव। अङ्ग। अस्य। अन्तात्। आचाम। इति। कथं। इति। लवणं। इति। मध्यात्। आचाम। इति। कथं। इति। लवणं। इति। अन्तात्। आचाम। इति। कथं। इति। लवणं। इति। अभिप्राश्य। एनत्। अथ। मा। उपसीदथाः। इति। तत्। ह। तथा। चकार। तत्। शश्वत्। संवर्त्तते। तं। ह। उवाच। अत्र। वाव। किल। तत्। सोम्य। न। निभालयसे। अत्र। एव। किल। इति।

पदा०-(अङ्ग) हे प्रिय पुत्र ! (विलीनं, एव) जल में विलीन हुए लवण को (यथा) जिसप्रकार जान सकोगे वह यह है कि (अस्य, अन्तात्, आचाम, इति) इस लवणयुक्त जल के उपरिभाग से जल लेकर आचमन करो, श्वेतकेतु ने वैसा ही किया तब पिता बोला (कथं, इति) यह जल कैसा है (लवणं, इति) लवण युक्त है (मध्यात्, आचाम, इति) इस जल के मध्य में से लेकर आचमन करो (कथं, इति) कैसा है (लवणं, इति) लवणयुक्त है (अन्तात्, आचाम, इति) इसके नीचे का जल लेकर आचमन करो (कथं, इति) कैसा है ? (लवणं, इति) लवणयुक्त है (एनत्) इसका (अभिप्राश्य) आचमन करके (अथ) पश्चात् (मा, उपसीदथाः, इति) मेरे निकट आओ (तत्, ह, तथा, चकार) श्वेतकेतु ने वैसा ही किया (तत्, शश्वत्, संवर्त्तते) वह लवण सर्वदा जल में विद्यमान है (तं, ह, उवाच) फिर उद्दालक

बोले (सोम्य) हे सोम्य (तव, अत्र, वाव, किल) वह लवण इसी जल में विद्यमान होने पर भी (न, निभालयसे) नहीं देखते हो कि (अत्र, एव, किल, इति) यहां ही है ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

अर्थ–"हे श्वेतकेतु वह आत्मा तु है" (शेष पूर्ववत्)

भाष्य–महर्षि उद्दालक बोले कि हे प्रिय पुत्र जिस प्रकार सूक्ष्मरूप से मिला हुआ नमक जल में ग्रहीत नहीं होता इसीप्रकार जीवात्मा इस शरीर के साथ ग्रहीत नहीं होता पर अपनी सत्ता मात्र से ग्रहीत होता है और वह उसकी सत्ता तीनों कालों में सद्रूप है और वह आत्मा तु है ॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब सातवां दृष्टान्त कथन करते हैं:—

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्र-

त्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥ १ ॥

पद०-यथा । सोम्य । पुरुषं । गन्धारेभ्यः । अभिनद्धाक्षं । आनीय । तं । ततः । अतिजने । विसृजेत् । सः । यथा । तत्र । प्राङ् । वा । उदङ् । वा । अधराङ् । वा । प्रत्यङ् । वा । प्रध्मायीत । अभिनद्धाक्षः । आनीतः । अभिनद्धाक्षः । विसृष्टः ।

पदा०-(सोम्य) हे सोम्य ! (यथा) जैसे (गन्धारेभ्यः) गन्धार देश से (पुरुषं) किसी पुरुष को कोई (अभिनद्धाक्षं) आंखें बांधकर (आनीय) ले आवे और (तं) उसको (ततः) वह (अतिजने, विसृजेत्) निर्जन बन में छोड़दे तो (सः) वह (यथा) जैसे (तत्र) उस बन में (प्राङ्, वा, उदङ्, वा) पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख (अधराङ्, वा, प्रत्यङ्, वा) पश्चिमाभिमुख अथवा नीचे को मुख करके (प्रध्मायीत) चिल्ला उठे कि मैं (अभिनद्धाक्षः, आनीतः) आंखें बांधकर लायागया और (अभिनद्धाक्षः,विसृष्टः) बद्धनेत्र ही छोड़ागया हूं ॥

तस्य यथाऽभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति। स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद । तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथसम्पत्स्य इति ॥ २ ॥

बोले (सोम्य) हे सोम्य (तत्, अत्र, वाव, किल) वह लवण इसी जल में विद्यमान होने पर भी (न, निभालयसे) नहीं देखते हो कि (अत्र, एव, किल, इति) यहां ही है ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

अर्थ–"हे श्वेतकेतु वह आत्मा तु है" (शेष पूर्ववत्)

भाष्य–महर्षि उद्दालक बोले कि हे प्रिय पुत्र जिस प्रकार सूक्ष्मरूप से मिला हुआ नमक जल में ग्रहीत नहीं होता इसीप्रकार जीवात्मा इस शरीर के साथ ग्रहीत नहीं होता पर अपनी सत्ता मात्र से ग्रहीत होता है और वह उसकी सत्ता तीनों कालों में सद्रूप है और वह आत्मा तु है ॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब सातवां दृष्टान्त कथन करते हैं:—

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्र-

त्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनी-
तोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥ १ ॥

पद०-यथा । सोम्य । पुरुषं । गन्धारेभ्यः । अभिनद्धाक्षं । आनीय । तं । ततः । अतिजने । विसृजेत् । सः । यथा । तत्र । प्राङ् । वा । उदङ् । वा । अधराङ् । वा । प्रत्यङ् । वा । प्रध्मायीत । अभिनद्धाक्षः । आनीतः । अभिनद्धाक्षः । विसृष्टः ।

पदा०-(सोम्य) हे सोम्य ! (यथा) जैसे (गन्धारेभ्यः) गन्धार देश से (पुरुषं) किसी पुरुष को कोई (अभिनद्धाक्षं) आंखें बांधकर (आनीय) ले आवे और (तं) उसको (ततः) वह (अतिजने, विसृजेत्) निर्जन वन में छोड़दे तो (सः) वह (यथा) जैसे (तत्र) उस वन में (प्राङ्, वा, उदङ्, वा) पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख (अधराङ्, वा, प्रत्यङ्, वा) पश्चिमाभिमुख अथवा नीचे को मुख करके (प्रध्मायीत) चिल्ला उठे कि मैं (अभिनद्धाक्षः, आनीतः) आंखें बांधकर लायागया और (अभिनद्धाक्षः,विसृष्टः) बद्धनेत्र ही छोड़ागया हूं ॥

तस्य यथाऽभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूया-
देतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति ।
स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधा-
वी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचा-
र्यवान् पुरुषो वेद । तस्य तावदेव चिरं
यावन्न विमोक्ष्येऽथसम्पत्स्य इति ॥ २ ॥

पद०—तस्य । यथा । अभिनहनं । प्रमुच्य । प्रब्रूयात् । एतां । दिशं । गन्धाराः । एतां । दिशं । व्रज । इति । सः । ग्रामात् । ग्रामं । पृच्छन् । पण्डितः । मेधावी । गन्धारान् । एव । उपसम्पद्येत । एवं । एव । इह । आचार्य्यवान् । पुरुषः । वेद । तस्य । तावत् । एव । चिरं । यावत् । न । विमोक्ष्ये । अथ । सम्पत्स्ये । इति ।

पदा०—(यथा) सो जैसे कोई (तस्य) उस पुरुष के (अभिनहनं) बन्धन को (प्रमुच्य) खोलकर (प्रब्रूयात्) कहे कि (एतां, दिशं) इस दिशा को (गन्धाराः) गन्धार देश है (एतां, दिशं) इस दिशा को (व्रज, इति) जाओ (सः) वह यदि (पण्डितः, मेधावी) पण्डित और बुद्धिमान् है तो (ग्रामात्, ग्रामं, पृच्छन्) एक ग्राम से दूसरे ग्राम को पूछता हुआ (गन्धारान्, एव) गन्धार देश को ही (उपसम्पद्येत) प्राप्त होजायगा (एवं, एव) इसीप्रकार (इह) इस लोक में (आचार्य्यवान्, पुरुषः, वेद) आचार्य्यवान् पुरुष ही जानता है (तस्य) उस आचार्य्यवान् पुरुष को (तावत्, एव, चिरं) तभी तक विलम्ब है (यावत्, न, विमोक्ष्ये) जबतक इस शरीर को नहीं छोड़ता (अथ) शरीर त्यागने के अनन्तर (सम्पत्स्ये, इति) ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

अर्थ–" हे श्वेतकेतु वह आत्मा तु है " (शेष पूर्ववत्)

भाष्य–गान्धार देश से जो पुरुष आंखें बांधकर लायागया है और निर्जन जंगल में उसकी आंखें खोलदी गई हैं तो जिसप्रकार वह पुरुष विना उपदेष्टा के अपने पूर्व स्थान को प्राप्त नहीं होसक्ता इसीप्रकार अदृष्टों से बांधा हुआ पुरुष इस पुररूप शरीर में आकर अपने पूर्वरूप को आचार्य्योपदेश के विना प्राप्त नहीं होसक्ता, इसी अभिप्राय से उद्दालक ने कथन किया कि हे श्वेतकेतु ! आचार्य्यवान् पुरुष ही उक्त तत्त्व को जानसक्ता है अन्य नहीं, इस दृष्टान्त से भी यही सिद्ध हुआ कि जीवात्मा अपने यथार्थरूप को गुरु के उपदेश द्वारा ही जान सक्ता है, इससे यह भाव कदापि नहीं निकलता कि गुरु के उपदेश द्वारा जीव ब्रह्म बन जाता है, क्योंकि यदि प्रथम किसी समय में ब्रह्म होता तो भूला हुआ दशमस्त्वमसि के समान सदुपदेष्टा द्वारा ब्रह्म बनसक्ता पर जब वह प्रथम कभी ब्रह्म थाही नहीं तो गुरु के उपदेश द्वारा ब्रह्म कैसे बनसक्ता है, यदि यह कहाजाय कि जीवभाव से प्रथम जीवात्मा ब्रह्म ही था तो फिर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह जीव कैसे बनगया ? यदि कहाजाय कि अविद्या से, तो कठिनाई यह है कि जीव से प्रथम अविद्या किसको लगी ? यदि कहें कि जीव को, तो जीव तो अभी हुआ ही नहीं, शेष रहा ब्रह्म यदि ब्रह्म में अविद्या उत्पन्न होकर जीव बना तो फिर ब्रह्म ज्ञानस्वरूप कैसे ? यदि ज्ञानस्वरूप भी अविद्याग्रस्त होजाता है तो फिर उसको आचार्य्य का उपदेश निष्फल है, इत्यादि तर्कों से स्पष्ट सिद्ध है कि यहां अविद्याग्रस्त ब्रह्म से बने हुए जीव को आचार्य्य का उपदेश नहीं किन्तु अनादिसिद्ध शरीरादिकों

के साथ मिलकर अपने अविनाशीपन से भूले हुए जीव को "तत्त्वमसि" का उपदेश है॥

इति चतुर्दशःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब आठवां दृष्टान्त कथन करते हैं:—

पुरुष॰ सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति। तस्य यावन्नवाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति॥ १॥

पद०—पुरुषं। सोम्य। उत। उपतापिनं। ज्ञातयः। पर्युपासते। जानासि। मां। जानासि। मां। इति। तस्य। यावत्। न। वाक्। मनसि। सम्पद्यते। मनः। प्राणे। प्राणः। तेजसि। तेजः। परस्यां। देवतायां। तावत्। जानाति।

पदा०—(सोम्य) हे सोम्य (उत) और दृष्टान्त यह है कि (पुरुषं,उपतापिनं) पुरुष को ज्वरादि से पीड़ित होने पर उसके (ज्ञातयः, पर्युपासते) बन्धु बान्धवादि चारो ओर बैठकर कहते हैं कि (मां, जानासि, मां, जानासि, इति) तुम मुझको जानते हो, तुम मुझको जानते हो (तस्य) उस मुमूर्षु पुरुष की (यावत्) जबतक (वाक्) वाणी (मनसि) मन में (मनः, प्राणे) मन

प्राण में (प्राणः, तेजसि) प्राण तेज में (तेजः, परस्यां, देवतायां) तेज परादेवता=ब्रह्म में (न, सम्पद्यते) लीन नहीं होता (तावत्, जानाति) तबतक वह जानता है ॥

अथ यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥ २ ॥

पद०–अथ । यदा । अस्य । वाक् । मनसि । सम्पद्यते । मनः । प्राणे । प्राणः । तेजसि । तेजः । परस्यां । देवतायां । अथ । न । जानाति ।

पदा०–(अथ) इसके अनन्तर (यदा) जब (अस्य) उक्त पुरुष की (वाक्, मनसि) वाणी मन में (मनः, प्राणे) मन प्राण में (प्राणः तेजसि) प्राण तेज में (तेजः, परस्यां, देवतायां) तेज परदेवता ब्रह्म में (सम्पद्यते) लीन होजाता है (अथ) तब वह (न, जानाति) किसी को नहीं जानता ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

अर्थ–" हे श्वेतकेतु ! वह आत्मा तु है " (शेष पूर्ववत्)

भाष्य–उद्दालक ने कहा कि हे श्वेतकेतो ! जब यह पुरुष मरणा-

काल में इस शरीर को त्यागता है तब इसके सब सम्बन्धी आकर कहते हैं कि तुम मुझको पहचानते हो, तुम मुझको पहचानते हो, जब तक उसकी वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परदेवतारूप परब्रह्म में प्रविष्ट नहीं होता तब तक वह पुरुष सबको पहचानता है पर जब यह सब क्रमागत एक दूसरे में लय होजाते हैं तब यह किसी को नहीं जानता, वह जो इसका सूक्ष्म स्वरूप है वह जीवात्मा है और हे श्वेतकेतु वह तु है ॥

यहां इस दृष्टान्त से स्पष्ट करादिया कि जीवात्मा को अविनाशी बोधन करने के लिये ही उक्त प्रकरण है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो जीवात्मा के मृत्युकाल का दृष्टान्त देकर उसको अविनाशी सिद्ध न कियाजाता प्रत्युत् ब्रह्म का वर्णन करके फिर यह कथन किया जाता कि " तत्त्वमसि श्वेतकेतो " इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जीव को ब्रह्म बनाने में इस प्रकरण को मायावादियों ने खेंचकर लगाया है और उनके मार्गानुगामी कई एक अन्य टीकाकर भी इस प्रकरण को ब्रह्मपरक ही लगाते हैं जो सर्वथा असङ्गत है ॥

इति पञ्चदशः खण्डः समाप्तः

अथ षोडशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब नवम दृष्टान्त कथन करते हैं:—

पुरुषं सोम्योतहस्तगृहीतमानयन्त्यपहा-

षीत् स्तेयमकार्षीत् परशुमस्मै तपतेति। स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृत-मात्मानं कुरुते। सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनाऽऽत्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रति-गृह्णाति। स दह्यतेऽथ हन्यते॥ १॥

पद०– पुरुषं। सोम्य। उत। हस्तगृहीतं। आनयन्ति। अपहार्षीत्। स्तेयं। अकार्षीत्। परशुं। अस्मै। तपत। इति। सः। यदि। तस्य। कर्ता। भवति। ततः। एव। अनृतं। आत्मानं। कुरुते। सः। अनृताभिसन्धः। अनृतेन। आत्मानं। अन्तर्धाय। परशुं। तप्तं। प्रतिगृह्णाति। सः। दह्यते। अथ। हन्यते।

पदा०–(सोम्य) हे सोम्य (उत) और दृष्टान्त यह है कि राजकर्मचारी (पुरुषं, हस्तगृहीतं, आनयन्ति) पुरुष को हाथ बांधकर राजा के निकट लाते और कहते हैं कि (स्तेयं, अपहार्षीत्, अकार्षीत्) इसने मेरा धन अपहरण किया है अर्थात् चोरी करके ले आया है, तब राजा कहता है कि (अस्मै) इसके लिये (परशुं, तपत, इति) परशुनामा यन्त्र तपाओ (सः, यदि, तस्य, कर्त्ता, भवति) यदि वह उस चोरी का कर्त्ता है तो (ततः, एव) उस चोरी के छिपाने से ही (आत्मानं, अनृतं, कुरुते) अपने को मिथ्यावादी सिद्ध करता और (सः, अनृताभिसन्धः) वह अनृतभाषी पुरुष (अनृतेन) अनृत से (आत्मानं, अन्तर्धाय) अपने आत्मा को छिपाकर (तप्तं,

परशुं, प्रतिगृह्णाति) उस तप्त परशु यन्त्र को पकड़ता है (सः, दह्यते) उससे वह जल जाता है (अथ) और (हन्यते) मरजाता है ।

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते । स सत्याभिसंन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथमुच्यते ॥ २ ॥

पद०—अथ । यदि । तस्य । अकर्ता । भवति । ततः । एव । सत्यं । आत्मानं । कुरुते । सः । सत्याभिसंधः । सत्येन । आत्मानं । अन्तर्धाय । परशुं । तप्तं । प्रतिगृह्णाति । सः । न । दह्यते । अथ । मुच्यते ।

पदा०—(अथ) और (यदि) यदि वह (तस्य, अकर्ता, भवति) उस चोरी का न करने वाला होता है तो (ततः, एव) वह अपनी सत्यता से ही (सत्यं, आत्मानं, कुरुते) अपने को सत्य सिद्ध करता है (सः, सत्याभिसंधः) वह सत्यात्मा पुरुष (सत्येन, आत्मानं, अन्तर्धाय) सत्य से अपने आत्मा को ढ़ाप=दृढ़करके (तप्तं, परशुं, प्रतिगृह्णाति) उस तप्त परशु को पकड़लेता है (सः, न, दह्यते) वह उससे दग्ध नहीं होता (अथ) और (मुच्यते) छूटजाता है ।

स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिद॰ सर्वं तत्सत्य॰ स आत्मा तत्त्वमसि

श्वेतकेतो इति । तद्धास्य विजिज्ञा-
विति विजिज्ञाविति ॥ ३ ॥

पद०–सः । यथा । तत्र । न । अदाह्येत । ऐतदात्म्यं । इदं । सर्वं । तत् । सत्यं । सः । आत्मा । तत् । त्वं । असि । श्वेतकेतो । इति । तत् । ह । अस्य । विजिज्ञौ । इति । विजिज्ञौ । इति ।

पदा०–(यथा) जैसे (सः) वह सत्यात्मक पुरुष (तत्र, न, अदाह्येत)उस परीक्षा में दग्ध नहीं हुआ (ऐतदात्म्यं) उसी आत्मा का (इदं, सर्वं) यह सब भात्र है और(तत्, सत्यं) वह सत्य है (सः, आत्मा) वह आत्मा है (श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतु (तत्, त्वं, असि) वह आत्मा तु है (अस्य, इति, तत्, ह) वह श्वेतकेतु बोला इस विज्ञान को (विजिज्ञौ, इति) मैंने जाना ॥

भाष्य– " विजिज्ञाविति " पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है अर्थात् श्वेतकेतु ने अपने पिता महर्षि उद्दालक से कहा कि मैंने आत्मा का तत्व भलीभांति जाना, तप्त परशु का दृष्टान्त सत्याभिसन्ध के लिये " मोक्ष " और अनृता-भिसन्ध के लिये " बन्ध " की प्राप्ति कथन करता है, एवं जो पुरुष शरीरात्मवादी अनृताभिसन्ध हैं वह बन्धन को प्राप्त होते हैं और जो " न जायते म्रियते वा कदाचन " इत्यादि वाक्यों द्वारा सत्याभिसन्ध हैं वह मुक्ति को प्राप्त होते हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह प्रकरण जीवात्मविषयक सत्यज्ञान का बोधक है जीव को ब्रह्म बनानेरूप मिथ्या ज्ञान का बोधक नहीं ।

भाव यह है कि उक्त नौ प्रकार के दृष्टान्तों में जीवात्मा का स्वरूप बोधन कियागया है जीव को ब्रह्मभाव बोधन नहीं कियागया, यदि यह प्रकरण सद्रूप ब्रह्म के साथ जीवात्मा की एकता बोधन करने के लिये होता तो उक्त नवों अभ्यासों अर्थात् नव वार तत्त्वमसि के उपदेश में जीव ब्रह्म की एकता का उपपादन अवश्य होता परन्तु कहीं नहीं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि महर्षि उद्दालक ने इस प्रपाठक में जिस प्रकार परमात्मा तथा तेज, अप, अन्नरूप प्रकृति का उपपादन किया है इसीप्रकार यहां जीवात्मा के अविनाशी रूप का भी उपपादन किया है, इसमें जीव ब्रह्म की एकता का गन्ध भी नहीं ।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
उपनिषदार्य्यभाष्ये षष्ठः
प्रपाठकः समाप्तः

ओ३म्

अथ सप्तमःप्रपाठकः प्रारभ्यते

सं०—अब नारद के प्रति सनत्कुमार का उपदेश कथन करते हैं:—

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳहोवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥ १ ॥

पद०—अधीहि । भगवः । इति । ह । उपससाद । सनत्कुमारं । नारदः । तं । ह । उवाच । यत् । वेत्थ । तेन । मा । उपसीद । ततः । ते । ऊर्ध्वं । वक्ष्यामि । इति ।

पदा०—(नारदः) नारद (सनत्कुमारं) सनत्कुमार को (उपससाद) प्राप्त होकर (उवाच) बोले कि (भगवः) हे भगवन् ! (अधीहि, इति) आप मुझको अध्ययन करावें (तं) उस नारद से (ह) प्रसिद्ध सनत्कुमार ने कहा कि (यत्) जो (वेत्थ) आप जानते हैं (तेन) वह (मां) मेरे प्रति (उपसीद) कथन करें (ततः) उससे (ऊर्ध्वं) आगे (ते) आपको (वक्ष्यामि, इति) मैं उपदेश करूंगा ।

सं०—अब नारद कथन करते हैं:—

स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं प-

श्वमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳसर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥ २ ॥

पद०—सः । ह । उवाच । ऋग्वेदं । भगवः । अध्येमि । यजुर्वेदं । सामवेदं । आथर्वणं । चतुर्थं । इतिहासपुराणं । पञ्चमं । वेदानां । वेदं । पित्र्यं । राशिं । देवं । निधिं । वाकोवाक्यं । एकायनं । देवविद्यां । ब्रह्मविद्यां । भूतविद्यां । क्षत्रविद्यां । नक्षत्रविद्यां । सर्पदेवजनविद्यां । एतत् । भगवः । अध्येमि ।

पदा०—(सः, ह) वह प्रसिद्ध नारद (उवाच) बोले कि (भगवः) हे भगवन् ! (ऋग्वेदं, यजुर्वेदं, सामवेदं, चतुर्थं, आथर्वणं) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद को (अध्येमि) जानता हूं (पञ्चमं) पांचवें (इतिहासपुराणं) इतिहासपुराण तथा (वेदानां, वेदं) उपनिषद् शास्त्र (पित्र्यं, राशिं, देवं, निधिं) कलाकौशलादि की विद्या, गणितविद्या, चिन्हों द्वारा वृष्टि आदि का ज्ञान, कानों की विद्या (वाकोवाक्यं) तर्क शास्त्र (एकायनं) नीति शास्त्र (देवविद्यां) निरुक्त (ब्रह्मविद्यां) आध्यात्मिक विद्या (भूतविद्यां) तत्वों की विद्या (क्षत्रविद्यां) शस्त्रविद्या=धनुर्विद्या (नक्षत्रविद्यां) नक्षत्र विद्या (सर्पदेवजनविद्यां) सर्पों के विषों का ज्ञान तथा उनके उपायों की विद्या, नृत्यगीतवाद्यादि विद्या, प्राकृत जनों की विद्या

(एतत्) इन सब विद्याओं को (भगवः) हे भगवन् (अध्येमि) जानता हूं।

सं०–अब सनत्कुमार कथन करते हैं :—

सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मिनाऽत्मविच्छ्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति । सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति । तꣳ होवाच–यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥ ३ ॥

पद०–सः । अहं । भगवः । मंत्रवित् । एव । अस्मि । न । आत्मवित् । श्रुतं । हि । एव । मे । भगवद्दृशेभ्यः । तरति । शोकं । आत्मवित् । इति । सः । अहं । भगवः । शोचामि । तं । मा । भगवान् । शोकस्य । पारं । तारयतु । इति । तं । ह । उवाच । यत् । वै । किञ्च । एतत् । अध्यगीष्ठाः । नाम । एव । एतत् ।

पदा०–(भगवः) हे भगवन्! (सः, अहं) वह मैं (मंत्रवित्, एव, अस्मि) मंत्रवेत्ता ही हूं (आत्मवित, न) आत्मवित नहीं (हि) और (भगवद्दृशेभ्यः) आपके समान ब्रह्मवेत्ताओं से (मे) मैंने (श्रुतं, एव) सुना हुआ है कि (आत्मवित, शोकं, तरति, इति) ब्रह्मवित् ही शोक को तरता है (भगवः) हे भगवन्! (सः, अहं) वह मैं (शोचामि) शोकित होने से

आत्मवित नहीं (भगवान्) आप (मा) मुझ (तं) शोकित को (शोकस्य, पारं, तारयतु, इति) शोक से पार उतारें, यह विनय है (तं) उस नारद को (ह, उवाच) वह प्रसिद्ध सनत्कुमार बोले कि (वै) निश्चयकरके (यत्, किञ्च) जो कुछ (एतत्) इस विज्ञान का आपने (अध्यगीष्ठाः) अध्ययन किया है (एतत्, नाम, एव) यह सब नाम ही है ।

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या । भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ॥ ४ ॥

पद०—नाम । वै । ऋग्वेदः । यजुर्वेदः । सामवेदः । आथर्वणः । चतुर्थः । इतिहासपुराणः । पञ्चमः । वेदानां । वेदः । पित्र्यः । राशिः । दैवः । निधिः । वाकोवाक्यं । एकायनं । देवविद्या । ब्रह्मविद्या । भूतविद्या । क्षत्रविद्या । नक्षत्रविद्या । सर्पदेवजनविद्या । नाम । एव । एतत् । नाम । उपास्स्व । इति ।

पदा०—हे नारद ! (वै) निश्चयकरके ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा (चतुर्थः) चतुर्थ अथर्ववेद (नाम) नाम ही है और पञ्चम इतिहासपुराण, उपनिषद् शास्त्र, पित्र्य, राशि, दैव, निधि,

वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या और सर्पदेवजनविद्या (एतत्, एव, नाम) यह सब नाम ही है (नाम, उपास्स्व, इति) नाम की उपासना करो, इनका अर्थ द्वितीय श्लोक में भलेप्रकार कर आये हैं उसीकी आवृत्ति यहां कीगई है ।

सं०-अब उक्त नामोपासक के लिये फल कथन करतेहैं:—

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति। नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ५ ॥

पद०-सः । यः । नाम । ब्रह्म । इति । उपास्ते । यावत् । नाम्नः । गतं । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । नाम । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । नाम्नः । भूयः । इति । नाम्नः । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ।

पदा०-(सः, यः) वह पुरुष जो (नाम, ब्रह्म, इति, उपास्ते) नाम को बड़ा समझकर उपासना करता है वह (यावत्) जहांतक (नाम्नः) नाम की (गतिं) गति है (तत्र) वहां तक (अस्य) यह पुरुष (यथाकामचारः) स्वेच्छाचारी (भवति) होता है "यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के

लिये आया है (भगवः) हे भगवन् ! (नाम्नः) नाम से भी (भूयः, अस्ति, इति) बड़ा कोई पदार्थ है ? (नाम्नः, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां नाम से भी बड़ा पदार्थ है (तत्) वह (मे) मेरे प्रति (भगवान्, ब्रवीतु, इति) आप कथन करें ।

भाष्य–ब्रह्मविद्या के ज्ञानार्थ नारद ने सनत्कुमार से पुनः अध्ययन करने का प्रश्न किया कि हे भगवन् ! मैं ब्रह्मविद्या के रहस्यों को जानना चाहता हूं, तब नारद को अध्ययन कराना स्वीकार करने से पूर्व सनत्कुमार ने उससे पूछा कि प्रथम यह बतलावें कि आपने क्या २ अध्ययन किया है ? इसका उत्तर नारद ने यह दिया कि मैंने ऋगादि चारो वेद, पांचवे इतिहासपुराण और उपनिषद्शास्त्र तथा शिल्पशास्त्रादि विद्याओं का अध्ययन किया है, एवं पूर्व पठित सब विद्यायें गिनकर सुनादीं, जिनमें भूतविद्या और सर्पविद्या का भी वर्णन है, भूतविद्या से तात्पर्य्य यहां तत्वों की विद्या का है किसी अलौकिक भूत पिशाचादि की विद्या से तात्पर्य्य नहीं, सर्पविद्या से तात्पर्य्य वैद्यकविद्या का है और यह विद्या यहां अन्य सब चिकित्साशास्त्र का उपलक्षण है अर्थात् नारद ने कहा कि मैंने चिकित्साशास्त्र को भी पढ़ा है ।

जो कई एक लोग " पञ्चमं वेदानां वेदं " इस वाक्य का विशेषण " इतिहासपुराण " बनाकर यह अर्थ करते हैं कि इतिहासपुराण पांचवा वेद है, यह ठीक नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य का विशेषण इतिहासपुराण नहीं किन्तु इतिहासपुराण का सम्बन्ध पञ्चम के साथ है, जैसाकि पूर्व अथर्वण के साथ चतुर्थ का अन्वय है अर्थात् चतुर्थ अथर्ववेद, इसीप्रकार यहां

पांचवी संख्या पर इतिहासपुराण को गिना है, इन सब विद्याओं के जानने पर भी नारद जो शोकग्रस्त रहा इसका कारण यह है कि नारद ने उक्त विद्यायें शब्दमात्र पढ़ी थीं अनुष्ठानी न था, इसी अभिप्राय से सनत्कुमार ने कहा कि हे नारद ! जो विद्यायें आपने मुझको पढ़कर सुनाई हैं वह नाम हैं, आपको उचित है कि आप प्रथम नाम के तत्व को समझें, यहां जो यह कथन किया है कि नाम की ब्रह्मदृष्टि से उपासना करें, इसका तात्पर्य्य यह है कि नाम को अर्थ की प्रतीति में बड़ा समझकर उसका अनुष्ठान करे और ऐसा अनुष्ठान करने वाला सब अर्थों के समझने में योग्य होजाता है, फिर नारद ने पूछा कि हे भगवन् ! नाम से भी कोई बड़ा है तब सत्कुमार ने कहा कि हां नाम से भी बड़ा है जिसका वर्णन आगे करते हैं ॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब सनत्कुमार नारद के प्रति वाणी की विशेषता कथन करते हैं :—

वाग्वाव नाम्नो भूयसी । वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदँ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पि-

त्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्याम् । दिवञ्च पृथिवीञ्च वायुञ्चाकाशञ्चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च । तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्ग पिपीलकम् । धर्मञ्चाऽधर्मञ्च सत्यञ्चाऽनृत ञ्च साधुचासाधु च हृदयज्ञञ्चाहृदयज्ञञ्च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाऽधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नाऽनृतं न साधु नाऽसाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति । वाचमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

पद०—वाक् । वाव । नाम्नः । भूयसी । वाक् । वै । ऋग्वेदं । विज्ञापयाति । यजुर्वेदं । सामवेदं । आथर्वणं । चतुर्थं । इतिहासपुराणं । पञ्चमं । वेदानां । वेदं । पित्र्यं । राशिं । दैवं । निधिं । वाकोवाक्यं । एकायनं । देवविद्यां । ब्रह्मविद्यां । भूतविद्यां । क्षत्रविद्यां । नक्षत्रविद्यां । सर्पदेवजनविद्यां । दिवं । च । पृथिवीं । च । वायुं । च । आकाशं । च । आपः । च । तेजः । च । देवान् । च । मनुष्यान् । च । पशून् । च । वयांसि । च । तृणवनस्पतीन् ।

श्वापदानि । आकीटपतङ्गपिपीलकं । धर्मं । च । अधर्मं । च । सत्यं । च । अनृतं । च । साधु । च । असाधु । च । हृदयज्ञं । च । अहृदयज्ञं । च । यत् । वै । वाक् । न । अभविष्यत् । न । धर्मः । न । अधर्मः । व्यज्ञापयिष्यत् । न । सत्यं । न । अनृतं । न । साधु । न । असाधु । न । हृदयज्ञः । न । अहृदयज्ञः । वाक् । एव । एतत् । सर्वं । विज्ञापयति । वाचं । उपास्स्व । इति ।

पदा०-(वाक्, वाव, नाम्नः, भूयसि) बाणी ही नाम से बड़ी है, क्योंकि (वाक्, वै) बाणी ही (ऋग्वेदं) ऋग्वेद (यजुर्वेदं) यजुर्वेद (सामवेदं) सामवेद (चतुर्थं) चतुर्थ अथर्ववेद पंचम इतिहासपुराण, वेदानांवेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या (च) और (दिवं) द्युलोक (पृथिवीं, च) पृथिवीलोक (वायुं, च) वायु (आकाशं, च) आकाश (आपः, च) जल (तेजः, च) तेज (देवान्, च) देव (मनुष्यान्, च) मनुष्य (पशून्, च) पशु (वयांसि, च) पक्षी (तृणवनस्पतीन्) तृण वनस्पती (श्वापदानि) हिंसक जीव (आकीटपतङ्गपिपीलकं) कीटपतङ्गादि क्षुद्रजन्तु (धर्मं, च, अधर्मं, च) धर्म और अधर्म (सत्यं, च, अनृतं, च) सत्य और अनृत (साधु, च, असाधु, च) साधु और असाधु (हृदयज्ञं, च, अहृदयज्ञं, च) हृदय को प्रिय और अप्रिय, इन सब को बाणी ही (विज्ञापयति) जतलाती है (वै) निश्चयकरके (यत्) जो (वाक्, न, अभविष्यत्) बाणी न होती तो (न, धर्मः, न, अधर्मः) न धर्म न-अधर्म (न, सत्यं, न, अनृतं) न सत्य न अनृत (न, साधु, न, असाधु) न अच्छा न बुरा (न, हृदयज्ञः, न, अहृदयज्ञः)

न हृदयप्रिय न अप्रिय (व्यज्ञापयिष्यत्) जाना जाता (वाक्, एव) वाणी ही (एतत्, सर्वं) इन सब को (विज्ञापयति) विज्ञापित करती है, इसलिये हे नारद ! (वाचं, उपास्स्व, इति) वाणी की ही उपासना कर ॥

सं०—अब उक्त वाणी के उपासक को फल कथन करते हैं:—

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २॥

पद०—सः । यः । वाचं । ब्रह्म । इति । उपास्ते । यावत् । वाचः । गतं । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । वाचं । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । वाचः । भूयः । इति । वाचः । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ।

पदा०—(सः, यः) वह पुरुष जो (वाचं, ब्रह्म, इति, उपास्ते) बाणी को श्रेष्ठ मानकर उपासना करता है (यावत्, वाचः, गतं) जहां तक बाणी की गति है (तत्र) वहां तक (अस्य) यह पुरुष (यथाकामचारः, भवति) स्वेच्छाचारी होता है "यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (भगवः) हे भगवन् ! (वाचः, भूयः, अस्ति, इति) बाणी से

भी बड़ा कोई पदार्थ है ? (वाचः, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां बाणी से भी बड़ा है (तत्, मे, भगवान्, ब्रवीतु, इति) उसको आप मेरे प्रति कथन करें ।

भाष्य—यहां बाणी को नाम से बड़ा इस अभिप्राय से कथन किया है कि जितने नाम हैं वह सब बाणी से व्याप्त हैं, अधिक क्या जो कुछ धर्माधर्मरूप अर्थजात है वह सब बाणी द्वारा ही ज्ञात होता है, क्योंकि बाणी ही इन सब को जनाती है, जो पुरुष बाणी के तत्व को जानता है वह बाणी के व्यापार में कुशल होने से सर्वप्रिय होता है ॥

इति द्वितीयःखण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब सनत्कुमार बाणी से मन को बड़ा कथन करते हैं :—

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वाऽऽमलके द्वे वा कोले द्वौ वाऽक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचञ्च नाम च मनोऽनुभवति। स यदा मनसा मनस्याति मंत्रानधीयीयेत्यथाधीते। कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते। पुत्रा॑श्च पशू॑श्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमञ्च

लोकममुञ्चेच्छेयेत्यथेच्छते। मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्ममन उपास्स्वेति १

पद०-मनः। वाव। वाचः। भूयः। यथा। वै। द्वे। वा। आमलके। द्वे। वा। कोले। द्वौ। वा। अक्षौ। मुष्टिः। अनुभवति। एवं। वाचं। च। नाम। च। मनः। अनुभवति। सः। यदा। मनसा। मनस्यति। मंत्रान्। अधीयीय। इति। अथ। अधीते। कर्माणि। कुर्वीय। इति। अथ। कुरुते। पुत्रान्। च। पशून्। च। इच्छेय। इति। अथ। इच्छते। इमं। च। लोकं। अमुं। च। इच्छेय। इति। अथ। इच्छते। मनः। हि। आत्मा। मनः। हि। लोकः। मनः। हि। ब्रह्म। मनः। उपास्स्व। इति।

पदा०-(वाचः, भूयः, मनः, वाव) वाणी से मन ही श्रेष्ठ है (यथा) जैसे (मुष्टिः) मुट्ठी (द्वे, वा, आमलके) दो आमलों (द्वे, वा, कोले) दो बेरों (द्वौ, वा, अक्षौ) अथवा दो बहेड़ों को (अनुभवति) अनुभव करती है अर्थात् अपने अन्दर रखती है (एवं) वैसे ही (मनः) मन (वाचं, च, नाम, च) बाणी और नाम इन दोनों को (अनुभवति) अनुभव करता है (सः) कोई पुरुष (यदा, मनसा, मनस्यति) जब मन से मनन करता है कि (मंत्रान्, अधीयीय, इति) मंत्रों का अध्ययन करूं (अथ, अधीते) पश्चात् पढ़ता है (कर्माणि, कुर्वीय, इति) कर्मों को करूं (अथ, कुरुते) पश्चात् करता है (पुत्रान्, च, पशून्, च) पुत्रों और पशुओं की (इच्छेय, इति) इच्छा करता है (अथ, इच्छते) पश्चात् यत्न करता है (इमं, च, लोकं, अमुं, च, इच्छेय, इति) जब पुरुष इस लोक तथा परलोक की इच्छा करता है (अथ, इच्छते) पश्चात् यत्न करता है (हि) निश्चयकरके (मनः, आत्मा, हि)

मन ही आत्मा (मनः, हि, लोकः) मन ही लोक और (मनः, हि, ब्रह्म) मन ही बड़ा है, इसलिये हे नारद (मनः, उपास्स्व, इति) मन की उपासना कर ॥

सं०–अब मन के उपासक को फल कथन करते हैं :—

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति । मनसो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

पद०–सः । यः । मनः । ब्रह्म । इति । उपास्ते । यावत् । मनसः । गतं । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । मनः । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । मनसः । भूयः । इति । मनसः । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ।

पदा०–(सः,यः) वह पुरुष जो (मनः, ब्रह्म, इति) मन को श्रेष्ठ समझकर (उपास्ते) उपासना करता है (यावत्) जितनी (मनसः) मनकी (गतं) गति है (तत्र) वहां तक (अस्य) यह पुरुष (यथाकामचारः, भवति) स्वेच्छाचारी होता है "यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दो वार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (भगवः) हे भगवन् ! (मनसः, भूयः, इति)

मन से भी कोई बड़ा है ? (मनसः, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां मन से भी निश्चय करके बड़ा है (भगवान्) आप (तद्) वह (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु, इति) कथन करें।

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब सनत्कुमार मन से सङ्कल्प को श्रेष्ठ कथन करते हैं :—

सङ्कल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संङ्कल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयाति नाम्नि मंत्रा एकं भवन्ति मंत्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

पद०—सङ्कल्पः। वाव। मनसः। भूयान्। यदा। वै। सङ्कल्पयते। अथ। मनस्यति। अथ। वाचं। ईरयति। तां। उ। नाम्नि। ईरयति। नाम्नि। मंत्राः। एकं। भवन्ति। मंत्रेषु। कर्माणि।

पदा०—(सङ्कल्पः, वाव, मनसः, भूयान्) सङ्कल्प ही मन से बड़ा है, क्योंकि (वै) निश्चयकरके (यदा) जब पुरुष (सङ्कल्पयते) सङ्कल्प करता है (अथ, मनस्यति) उसके अनन्तर मनन करता है(अथ) फिर (वाचं, ईरयति) वाणी से कथन करके (तां, उ, नाम्नि, ईरयति) उसी वाक्य को नाम द्वारा उच्चारण

करता हैं (नाम्नि) नाम में (मंत्राः, एकं, भवन्ति) मंत्र एक होते हैं और (मंत्रेषु, कर्माणि) मंत्रों में कर्म एक होते हैं।

भाष्य—कर्तव्याकर्तव्य विषयों को पृथक् २ समर्थन करने का नाम "सङ्कल्प" है, या यों कहो कि अन्तःकरण की एक वृत्तिविशेष का नाम "सङ्कल्प" है, और यह सङ्कल्प मन से बड़ा है, क्योंकि प्रथम किसी कर्तव्य की मन में इच्छा होती है उसके अनन्तर मनन करता है कि यह कर्म करूं वा न करूं, इत्यादि, फिर मन द्वारा स्थिर कर बाणी को प्रेरणा करता है और फिर बाणी उनको नाम में प्रेरता है, कर्तव्याकर्तव्य के अभिप्राय से यह कहा है कि मंत्रों में कर्म एक होते हैं अर्थात् वेद में कर्तव्य का ही विधान कियागया है अकर्तव्य का नहीं ॥

तानि ह वैतानि सङ्कल्पैकायनानि सङ्कल्पात्मकानि सङ्कल्पे प्रतिष्ठितानि। समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशश्च समकल्पन्ताऽऽपश्च तेजश्च। तेषाꣳसंक्लृप्त्यै वर्षꣳसंङ्कल्पते वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नꣳ सङ्कल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः सङ्कल्पन्ते प्रा-

णाना॑ संक्लृप्त्यै मंत्राः संकल्पन्ते मंत्राणा॑ संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणा॑ संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्व॑ संकल्पते। स एष संकल्पः संकल्पमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

पद०—तानि। ह। वै। एतानि। सङ्कल्पैकायनानि। सङ्कल्पात्मकानि। सङ्कल्पे। प्रतिष्ठितानि। समकॢपतां। द्यावापृथिवी। समकल्पेतां। वायुः। च। आकाशं। च। समकल्पन्त। आपः। च। तेजः। च। तेषां। संकॢप्त्यै। वर्षं। सङ्कल्पते। वर्षस्य। संकॢप्त्यै। अन्नं। सङ्कल्पते। अन्नस्य। संकॢप्त्यै। प्राणाः। सङ्कल्पन्ते। प्राणानां। संकॢप्त्यै। मंत्राः। सङ्कल्पन्ते। मंत्राणां। संकॢप्त्यै। कर्माणि। सङ्कल्पन्ते। कर्मणां। संकॢप्त्यै। लोकः। सङ्कल्पते। लोकस्य। संकॢप्त्यै। सर्वं। सङ्कल्पते। सः। एषः। सङ्कल्पः। सङ्कल्पं। उपास्स्व। इति।

पदा०—(ह, वै) निश्चयकरके (तानि, एतानि) पूर्वोक्त मन आदि (सङ्कल्पैकायनानि) संङ्कल्पाश्रय हैं (सङ्कल्पात्मकानि) सङ्कल्पस्वरूप हैं (सङ्कल्पे, प्रतिष्ठितानि) सङ्कल्प में प्रतिष्ठित हैं (द्यावापृथिवी, समकॢपतां) द्युलोक तथा पृथिवी संकल्प वाले हैं (वायुं, च, आकाशं, च, समकल्पेतां) वायु और आकाश संङ्कल्प से ही प्रतीत होते हैं (आपः, च, तेजः, च) जल और तेज (समकल्पन्त) सङ्कल्प से जानेजाते हैं (तेषां) उक्त

पदार्थों के (संक्लृप्त्यै) सङ्कल्प निमित्त (वर्षं, सङ्कल्पते) वर्षा सङ्कल्प करती है ((वर्षस्य, संक्लृप्त्यै) वृष्टि के सङ्कल्प-निमित्त (अन्नं, सङ्कल्पते) अन्न सङ्कल्प करता है (अन्नस्य, संक्-लृप्त्यै) अन्न के सङ्कल्पनिमित्त (प्राणाः, सङ्कल्पन्ते) प्राण सङ्कल्प करते हैं (प्राणानां, संक्लृप्त्यै) प्राण के सङ्कल्पनिमित्त (मंत्राः, संकल्पन्ते) मंत्र सङ्कल्प करते हैं (मंत्राणां, संक्लृप्-त्यै) मंत्रों के संङ्कल्पनिमित्त (कर्माणि, सङ्कल्पन्ते) सङ्कल्प पूर्वक कर्म किये जाते हैं (कर्मणां, संक्लृप्त्यै) कर्मों के सङ्कल्प निमित्त (लोकः, संकल्पते) लोक सङ्कल्प करते हैं (लोकस्य, संक्लृप्त्यै) लोक के सङ्कल्प निमित्त (सर्वं, सङ्कल्पते) सब सङ्कल्प करते हैं (सः,एषः,सङ्कल्पः) वह यह संकल्प है (सङ्कल्पं, उपास्स्व, इतिं) सङ्कल्प की ही उपासना कर ॥

सं०—अब उक्त सङ्कल्प के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान् वै स लो-कान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽ-व्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्धयति । यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यःसंकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भग-वः संकल्पाद्भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽ-स्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥३॥

पद०—सः । यः । सङ्कल्पं । ब्रह्म । इति । उपास्ते । कॢप्तान् । वै । सः । लोकान् । ध्रुवान् । ध्रुवः । प्रतिष्ठितान् । प्रतिष्ठितः । अव्यथमानान् । अव्यथमानः । अभिसिद्ध्यति । यावत् । सङ्कल्पस्य । गतं । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । संकल्पं । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । संकल्पात् । भूयः । इति । संकल्पात् । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ।

पदा०—(सः, यः) वह पुरुष जो (संकल्पं) संकल्प को (ब्रह्म, इति) बड़ा समझकर (उपास्ते) उपासना करता है (वै) निश्चयकरके (सः) वह (कॢप्तान्) सामर्थ्ययुक्त उत्तम (लोकान्) लोकों को (अभिसिद्ध्यति) प्राप्त होता है (ध्रुवः) दृढ़ संकल्प पुरुष (ध्रुवान्) दृढ़ लोकों को प्राप्त होता है (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित पुरुष (प्रतिष्ठितान्) प्रतिष्ठित लोकों को प्राप्त करता है (अव्यथमानः) क्लेशरहित होकर (अव्यथमानान्) सुखी लोकों को प्राप्त होता है (यावत्, संकल्पस्य, गतं) जहां तक संकल्प की गति है (तत्र, अस्य, यथाकामचारः, भवति) वहां तक यह स्वेच्छाचारी होता है "यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दो वार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये के आया है (भगवः) हे भगवन् ? (संकल्पात् भूयः, अस्ति, इति) संकल्प से भी कोई बड़ा है (संकल्पात्, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां संकल्प से भी बड़ा है (भगवान्) आप (तत्, मे, ब्रवीतु, इति) वह मेरे प्रति कथन करें।

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब सनत्कुमार संकल्प से चित्त को बड़ा कथन करते हैं :—

चित्तं वाव संकल्पा यो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मंत्रा एकं भवन्ति मंत्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

पद०—चित्तं । वाव । संकल्पात् । भूयः । यदा । वै । चेतयते । अथ । संकल्पयते । अथ । मनस्यति । अथ । वाचं । ईरयति । तां । उ । नाम्नि । ईरयति । नाम्नि । मन्त्राः । एकं । भवन्ति । मंत्रेषु । कर्माणि ।

पदा०—(चित्तं, वाव, संकल्पात्, भूयः) चित्त ही संकल्प से बड़ा है (वै) निश्चयकरके (यदा) जब पुरुष किसी पदार्थ का (चेतयते) चिन्तन करता है कि इसको ग्रहण करूं वा त्याग करूं (अथ) उसके अनन्तर (संकल्पयते) संकल्प करता है (अथ) पश्चात् (मनस्यति) मनन करता है (अथ) तब (वाचं) वाणी के उच्चारणार्थ (ईरयति) प्रेरित करता है (तां, उ) उस वाणी को (नाम्नि) नाम निमित्तक (ईरयति) प्रेरता है (नाम्नि, मंत्राः, एकं, भवन्ति) नाम में मंत्र एक होते हैं (मंत्रेषु, कर्माणि) मंत्रों में कर्म एक होते हैं ।

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चि-

त्मकानि चित्ते प्रतिष्ठितानि । तस्मा-द्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति । नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वाऽयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति । तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तꣳ ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठाचित्तमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

पद०—तानि । ह । वै । एतानि । चित्तैकायनानि । चित्तात्मकानि । चित्ते । प्रतिष्ठितानि । तस्मात् । यद्यपि । बहुविद् । अचित्तः । भवति । न । अयं । अस्ति । इति । एव । एनं । आहुः । यत् । अयं । वेद । यत् । वै । अयं । विद्वान् । न । इत्थं । अचित्तः । स्यात् । इति । अथ । यदि । अल्पवित् । चित्तवान् । भवति । तस्मै । एव । उत । शुश्रूषन्ते । चित्तं । हि । एव । एषां । एकायनं । चित्तं । आत्मा । चित्तं । प्रतिष्ठा । चित्तं । उपास्स्व । इति ।

पदा०—(ह, वै) निश्चयकरके (तानि, एतानि) वह पूर्वोक्त संकल्पादि (चित्तकायनानि) चित्त के आश्रित हैं (चित्तात्मकानि) चित्तस्वरूप हैं (चित्ते, प्रतिष्ठितानि) चित्त में ही प्रतिष्ठित हैं (तस्मात्) इस कारण यद्यपि कोई पुरुष (बहुविद्) विविध प्रकार वेदादि का ज्ञाता हो परन्तु (अचित्तः, भवति) स्थिर

चित्त न हों तो (एनं, आहुः) इसको लोग कहते हैं कि (न, अयं, अस्ति, इति) यह नहीं है अर्थात् न होने के बराबर है (यत्) जो (अयं, वेद) यह पुरुष जानता है (वै) निश्चयकरके (यत्) यदि (अयं) यह (विद्वान्) शास्त्रों का ज्ञाता होता तो (न, इत्थं, अचित्तः, स्यात्) ऐसा अस्थिर चित्त न होता (अथ) और (यदि) यदि कोई (अल्पवित्) थोड़ा जानने वाला (चित्तवान्, भवति) अच्छे चित्त वाला है तो (तस्मै, एव) उस पुरुष का (शुश्रूषन्ते) सब सत्कार करते हैं (चित्तं, हि, एषां) उक्त सब का चित्त ही (एकायनं) आश्रय (चित्तं, आत्मा) चित्त ही आत्मा और (चित्तं, प्रतिष्ठा) चित्त ही प्रतिष्ठा है, इस कारण हे नारद ! (चित्तं, उपास्स्व, इति) चित्त की ही उपासना कर ।

सं०-अब उक्त चित्त के ज्ञाता को फल कथन करते हैं :—

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान्प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्ध्यति । यावच्चित्तस्यगतं तत्राऽस्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

पद०-सः। यः। चित्तं। ब्रह्म। इति। उपास्ते। चित्तान्।

वै। सः। लोकान्। ध्रुवान्। ध्रुवः। प्रतिष्ठितान्। प्रतिष्ठितः। अव्यथमानान्। अव्यथमानः। अभिसिद्धयति। यावत्। चित्तस्य। गतं। तत्र। अस्य। यथाकामचारः। भवति। यः। चित्तं। ब्रह्म। इति। उपास्ते। अस्ति। भगवः। चित्तात्। भूयः। इति। चित्तात्। वाव। भूयः। अस्ति। इति। तत्। मे। भगवान्। ब्रवीतु। इति।

पदा०-(सः, यः) वह पुरुष जो (चित्तं, ब्रह्म, इति, चित्तान्, उपास्ते) चित्त को बड़ा समझकर चित्त से उपासना करता है (वै) निश्चयकरके (सः) वह (ध्रुवः) दृढ़ संकल्प पुरुष (ध्रुवान्, लोकान्, अभिसिद्धयति) दृढ़ लोकों को प्राप्त होता है (प्रतिष्ठितः) वह प्रतिष्ठित पुरुष (प्रतिष्ठितान्) प्रतिष्ठित लोकों को प्राप्त होता है (अव्यथमानः, अव्यथमानान्) वह क्लेश रहित पुरुष सुखी लोकों को प्राप्त होता है (यावत्, चित्तस्य, गतं) जहां तक चित्त की गति है (तत्र) वहां तक (अस्य) यह पुरुष (यथाकामचारः, भवति) स्वेच्छाचारी होता है "यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (भगवः) हे भगवन् (चित्तात्, भूयः, अस्ति, इति) चित्त से भी कोई बड़ा है (चित्तात्, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां चित्त से भी बड़ा है (भगवान्, तत्, मे, ब्रवीतु, इति) आप वह मेरे प्रति कथन करें॥

इति पञ्चमःखण्डः समाप्तः

अथ षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब चित्त से ध्यान को बड़ा कथन करते हैं :—

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्याय-न्तीवाऽऽपो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भ-वन्त्यथयेऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवा-दिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ॥१॥

पद०—ध्यानं । वाव । चित्तात् । भूयः। ध्यायति । इव । पृथिवी । ध्यायति । इव । अन्तरिक्षं । ध्यायति । इव । द्यौः । ध्यायन्ति । इव । आपः। ध्यायन्ति । इव । पर्वता । ध्यायन्ति । इव । देवमनु-ष्याः । तस्मात् । ये । इह । मनुष्याणां । महत्तां । प्राप्नुवन्ति । ध्यानापादांशाः । इव । एव । ते । भवन्ति । अथ । ये । अल्पाः । कलहिनः । पिशुनाः । उपवादिनः । ते । अथ । ये । प्रभवः । ध्यानापादांशाः । इव । एव । ते । भवन्ति । ध्यानं । उपास्स्व । इति ।

पदा०-(ध्यानं, वाव, चित्तात्, भूयः) ध्यान ही चित्त से बड़ा है, क्योंकि (ध्यायति, इव, पृथिवी) पृथिवी ध्यानावास्थित सी प्रतीत होती है (ध्यायति, इव, अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष ध्याना-वस्थित सा प्रतीत होता है (ध्यायाति, इव, द्यौः,) द्युलोक ध्या-नावस्थित सा प्रतीत होता है (ध्यायन्ति, इव, आपः) जल ध्यानावस्थित प्रतीत होता है (ध्यायन्ति, इव, पर्वता) पर्वत ध्यानावस्थित प्रतीत होते हैं (ध्यायन्ति, इव, देवमनुष्याः) विद्वान् मनुष्य ध्यानावस्थित प्रतीत होते हैं (तस्मात्) इस कारण (मनुष्याणां) मनुष्यों के मध्य (ये, इह) जो पुरुष इस लोक में (महत्तां, प्राप्नुवन्ति) महत्त्व को प्राप्त होते हैं (ते) वह (एव) निश्चयकरके (ध्यानापादांशाः, इव) ध्यान के एकपाद की न्याईं (भवन्ति) हैं (अथ) और (ये) जो (अल्पाः) अल्प हैं (ते) वह (कलहिनः) कलह करने वाले (पिशुनः, उपवादिनः) दूसरों के दोषों को देखने वाले और परोक्ष में निन्दा करने वाले होते हैं (अथ) और (ये) जो (प्रभवः)मनुष्यों के प्रभु होते हैं (ते) वह (एव) निश्चयकरके (ध्यानापादांशाः, इव) ध्यान के प्रभाव से (भवन्ति) होते हैं, इसलिये हे नारद ! (ध्यानं, उपास्स्व, इति) ध्यान की ही उपासना कर।

सं०-अब ध्यानकर्त्ता को फल कथन करते हैं:—

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत् ध्यान-स्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्या-

नाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति।
तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

पद०—सः। यः। ध्यानं। ब्रह्म। इति। उपास्ते। यावत्। ध्यानस्य। गतं। तत्र। अस्य। यथाकामचारः। भवति। यः। ध्यानं। ब्रह्म। इति। उपास्ते। अस्ति। भगवः। ध्यानात्। भूयः। इति। ध्यानात्। वाव। भूयः। अस्ति। इति। तत्। मे। भगवान्। ब्रवीतु। इति।

पदा०—(सः, यः, ध्यानं, ब्रह्म, इति, उपास्ते) जो पुरुष ध्यान को बड़ा समझकर उपासना करता है (यावत्, ध्यानस्य, गतं) जहां तक ध्यान की गति है (तत्र) वहांतक (अस्य) यह (यथाकामचारः, भवति) स्वेच्छाचारी होता है "यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (भगवः) हे भगवन्! (ध्यानात्, भूयः, अस्ति, इति) ध्यान से भी कोई बड़ा है (ध्यानात्, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां ध्यान से भी बड़ा है (तत्) वह (भगवान्) आप मेरे प्रति (ब्रवीतु, इति) कथन करें॥

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब ध्यान से विज्ञान को बड़ा कथन करते हैं:—

विज्ञानं वाव ध्यानाद्यो विज्ञानेन वा

ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवञ्च पृथिवीञ्च वायुञ्चाकाशञ्चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मञ्चाधर्मञ्च सत्यञ्चानृतञ्च साधुचासाधु च हृदयज्ञञ्चाहृदयज्ञञ्चान्नञ्च रसञ्चेमञ्च लोकममुञ्च विज्ञानेनैव विजानाति। विज्ञानमुपास्स्वेति ॥१॥

पद०—विज्ञानं । वाव । ध्यानात् । भूयः । विज्ञानेन । वै । ऋग्वेदं । विजानाति । यजुर्वेदं । सामवेदं । आथर्वणं । चतुर्थं । इतिहासपुराणं । पञ्चमं । वेदानां । वेदं । पित्र्यं । राशिं । दैवं । निधिं । वाकोवाक्यं । एकायनं । देवविद्यां । ब्रह्मविद्यां । भूतविद्यां । क्षत्रविद्यां । नक्षत्रविद्यां । सर्पदेवजनविद्यां । दिवं । च । पृथिवीं । च । वायुं । च । आकाशं । च । आपः । च । तेजः । च । देवान् । च । मनुष्यान् । च । पशून् । च । वयांसि । च । तृणवनस्पतीन् । श्वाप-

दानि। आकीटपतङ्गपिपीलकं। धर्मं। च। अधर्मं। च। सत्यं। च। अनृतं। च। साधु। च। असाधु। च। हृदयज्ञं। च। अहृदयज्ञं। च। अन्नं। च। रसं। च। इमं। च। लोकं। अमुं। च। विज्ञानेन। एव। विजानाति। विज्ञानं। उपास्स्व। इति।

पदा०-(विज्ञानं, वाव, ध्यानात्, भूयः) विज्ञान ही ध्यान से बड़ा है, क्योंकि (वै) निश्चयकरके (विज्ञानेन) विज्ञान से ही पुरुष ऋग्वेद, * यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, पंचम इतिहास पुराण, वेदानांवेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या इन सब विद्याओं को (विजानाति) जानता है, और द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण-बनस्पती, श्वपदानि, कीट, पतङ्ग, पिपीलिकादि क्षुद्रजन्तुओं का तत्व भी विज्ञान द्वारा ही जाना जाता है, और धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, साधु, असाधु, हृदयप्रिय, हृदयअप्रिय, रस, अन्न, यह लोक और परलोक, इन सब को पुरुष (विज्ञानेन, एव, विजानाति) विज्ञान से ही जानता है, इसलिये हे नारद ! (विज्ञानं, उपास्स्व, इति) विज्ञान की ही उपासना कर ॥

सं०-अब विज्ञानी के लिये फल कथन करते हैं:—

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकान् ज्ञानवतोऽभिसिद्ध्यति। यावद्विज्ञानस्यगतं तत्रास्य यथाकामचारो-

---

* इन सब का अर्थ पीछे छा० ७। १। २ श्लोक में कर आये हैं पाठक वहां देखलें।

भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

पद०—सः। यः। विज्ञानं। ब्रह्म। इति। उपास्ते। विज्ञानवतः। वै। सः। लोकान्। ज्ञानवतः। अभिसिद्धयति। यावत्। विज्ञानस्य। गतं। तत्र। अस्य। यथाकामचारः। भवति। यः। विज्ञानं। ब्रह्म। इति। उपास्ते। अस्ति। भगवः। विज्ञानात्। भूयः। इति। विज्ञानात्। वाव। भूयः। अस्ति। इति। तत्। मे। भगवान्। ब्रवीतु। इति।

पदा०—(सः,यः,विज्ञानं,ब्रह्म,इति,उपास्ते) जो पुरुष विज्ञान को बड़ा समझकर उपासना करता है (सः) वह (वै) निश्चय करके (ज्ञानवतः) ज्ञानवान् होकर (विज्ञानवतः, लोकान, अभिसिद्धयति) ज्ञानवाले लोकों को प्राप्त होता है (यावत्) जहां तक (विज्ञानस्य, गतं) विज्ञान की गति है (तत्र) वहां पर्य्यन्त (अस्य) यह पुरुष (यथाकामचारः, भवति) स्वेच्छाचारी होता है "यो विज्ञानंब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (भगवः) हे भगवन् ! (विज्ञानात्, भूयः, अस्ति, इति) विज्ञान से भी कोई पदार्थ बड़ा है (विज्ञानात्, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां विज्ञान से भी बड़ा है (तत्) वह (मे) मेरे प्रति (भगवान्) आप (ब्रवीतु, इति) कथन करें ॥

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब विज्ञान से बल को बड़ा कथन करते हैं :—

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेकोबलवानाकम्पयते । स यदा बली भवत्यथोत्थाताभवत्युत्तिष्ठन् परिचरिता भवति । परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति । श्रोता भवति । मन्ता भवति । बोद्धा भवति । कर्त्ता भवति । विज्ञाताभवति । बलेन वै पृथिवी तिष्ठति । बलेनान्तरिक्षम् । बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयाᳬसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकम् । बलेन लोकस्तिष्ठति । बलमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

पद०–बलं । वाव । विज्ञानात् । भूयः । अपि । ह । शतं । विज्ञानवतां । एकः । बलवान् । आकम्पयते । सः । यदा । बली । भवति । अथ । उत्थाता । भवति । उत्तिष्ठन् । परिचरिता । भवति । परिचरन् । उपसत्ता । भवति । उपसीदन् । द्रष्टा ।

भवति । श्रोता । भवति । मन्ता । भवति । बोद्धा । भवति । कर्त्ता । भवति । विज्ञाता । भवति । बलेन । वै । पृथिवी । तिष्ठति । बलेन । अन्तरिक्षं । बलेन । द्यौः । बलेन । पर्वता । बलेन । देवमनुष्याः । बलेन । पशवः । च । वयांसि । च । तृणवनस्पतयः । श्वापदानि । आकीटपतङ्गपिपीलकं । बलेन । लोकः । तिष्ठति । बलं । उपास्स्व । इति ॥

पदा०-(ह, वै) निश्चयकरके (बलं, विज्ञानात् अपि, भूयः) बल विज्ञान से भी बड़ा है, क्योंकि (एकः, बलवान्) एक बलवाला (शतं, विज्ञानवतां, आकम्पयते) शतशः विज्ञानी पुरुषों को कंपायमान करदेता है (सः, यदा, बली, भवति) वह पुरुष जब बली होता है (अथ) तब (उत्थाता, भवति) कार्य्य करने को उद्यत होता है (उत्तिष्ठन्) उत्साहपूर्वक (परिचरिता, भवति) सेवा करने के योग्य होता है (परिचरन्) सेवा करता हुआ (उपसत्ता, भवति) समीपता को प्राप्त होता है (उपसीदन्) समीता लाभ करके (द्रष्टा, भवति) द्रष्टा होता है (श्रोता, भवति) श्रोता होता है (मन्ता, भवति) मन्ता=मनन करने वाला होता है (बोद्धा, भवति) ज्ञानवान् होता है (कर्त्ता, भवति) अनुष्ठान करने वाला होता है (विज्ञाता, भवति) विशेषरूप से जाननेवाला होता है (बलेन) बल से (वै) ही (पृथिवी, तिष्ठति) भूलोक स्थित है (बलेन) बल से (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (बलेन) बल से (द्यौः) द्युलोक (बलेन) बल से (पर्वतः) पर्वत (बलेन) बल से (देवमनुष्याः) विद्वान् पुरुष (बलेन) बल से (पशवः) पशु (च) और (वयांसि) पक्षी (च) और (तृणवनस्पतयः) तृण तथा बन-

स्पति (श्वापदानि) हिंसक पशु और (आकीटपतङ्गपिपीलकं) कीट, पतङ्ग, पिपीलकादि सब जीव जन्तु बल से ही स्थित हैं (बलेन) बल से ही (लोकः) सब लोकलोकान्तर (तिष्ठति) स्थित हैं, इसलिये हे नारद ! (बलं, उपास्स्व, इति) बल की ही उपासना कर।

सं०-अब बलवान् पुरुष को फल कथन करते हैंः—

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति । यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

पद०-सः । यः । बलं । ब्रह्म । इति । उपास्ते । यावत् । बलस्य । गतं । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । बलं । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । बलात् । भूयः । इति । बलात् । वाव । भूयः । अस्ति । इतिं । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ।

पदा०-(सः यः) वह पुरुष जो (बलं, ब्रह्म, इति, उपास्ते) बल को बड़ा समझकर उपासना करता है (यावत्) जहांतक (बलस्य, गतं) बल की गति है (तत्र) वहां तक (अस्य) यह (यथाकामचारः, भवति) स्वेच्छाचारी होता है " यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते " पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (भगवः) हे भगवन् (बलात, भूयः, अस्ति, इति) बल से

भी कोई बड़ा है (बलात्, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां बल से भी बड़ा है (तत्) वह (भगवान्) आप (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु, इति) कथन करें।

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब बल से अन्न को बड़ा कथन करते हैं :—

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्त्ताऽविज्ञाता भवत्यथाऽन्नस्याऽऽये द्रष्टा भवति। श्रोता भवति। मन्ता भवति। बोद्धा भवति । कर्ता भवति । विज्ञाता भवत्यन्नमुपस्स्वेति ।१।

पदा०—अन्नं । वाव । बलात् । भूयः । तस्मात् । यद्यपि । दशरात्रीः । न । अश्नीयात् । यदि । उ । ह । जीवेत् । अथवा । अद्रष्टा । अश्रोता । अमन्ता । अबोद्धा । अकर्त्ता । अविज्ञाता । भवति । अथ । अन्नस्य । आये । द्रष्टा । भवति । श्रोता । भवति । मन्ता । भवति । बोद्धा । भवति । कर्त्ता । भवति । विज्ञाता । भवति । अन्नं । उपास्स्व । इति ।

पदा०-(अन्नं, वाव, बलात्, भूयः) अन्न ही बल से बड़ा है (तस्मात्) इसी कारण (यद्यपि) यद्यपि कोई (यदि) यदि (दशरात्रीः, न, अश्नीयात्) दशरात्री अन्न न खाय तो मरजाय (अथवा) अथवा (उ, ह) कोई प्रसिद्ध बलिष्ट पुरुष (जीवेत्) जीवित् भी रहे तो वह (अद्रष्टा) न देखने वाला (अश्रोता) न सुनने वाला (अमन्ता) मनन न करने वाला (अबोद्धा) विचार रहित (अकर्त्ता) काम न करने वाला (अविज्ञाता) न जानने वाला (भवति) होता है (अथ) और जब (अन्नस्य, आये) अन्न की प्राप्ति होजाती है तब (द्रष्टा, भवति) द्रष्टा होता है (श्रोता, भवति) श्रोता होता है (मन्ता, भवति) मन्ता होता है (बोद्धा, भवति) बोद्धा होता है (कर्त्ता,भवति) कर्त्ता होता है (बिज्ञाता, भवति) ज्ञानवान् होता है, इसलिये हे नारद ! (अन्नं, उपास्स्व, इति) अन्न की उपासना कर।

सं०-अब अन्न के उपासक को फल कथन करते हैं:-

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान् पानवतोऽभिसिद्धयति । यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

पद०—सः । यः । अन्नं । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अन्नवतः । वै । सः । लोकान् । पानवतः । अभिसिद्ध्यति । यावत् । अन्नस्य । गतं । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । अन्नं । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । अन्नात् । भूयः । इति । अन्नात् । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ।

पदा०—(सः, यः) वह पुरुष जो (अन्नं, ब्रह्म, इति, उपास्ते) अन्न को बड़ा समझकर उपासना करता है (सः) वह (वै) निश्चयकरके (अन्नवतः, पानवतः, लोकान्, अभिसिद्धयति) अन्न और पान वाले लोकों को प्राप्त होता है (यावत्) जहांतक (अन्नस्य) अन्न की (गतं) गति है (तत्र) वहांतक (अस्य) यह (यथाकामचारः, भवति) स्वेच्छाचारी होता है (यः, अन्नं, ब्रह्म, इति, उपास्ते) जो अन्न को बड़ा समझकर उपासना करता है (भगवः) हे भगवन् (अन्नात्, भूयः, अस्ति, इति) अन्न से भी कोई बड़ा है (अन्नात्, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां अन्न से भी बड़ा है (तत्) वह (भगवान्) आप (मे) मेरे प्रति (ब्रवीतु, इति) कथन करें ॥

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब अन्न से जल को बड़ा कथन करते हैं:—

आपोवावान्नाद्भूयस्यस्तस्माद्यदासुवृ-

ष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टि-र्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु-भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्त्ता येयं पृ-थिवी यदन्तरिक्षं यद्द्यौर्यत्पर्वता यद्देव मनुष्या यत्पशवश्च वया ँ सि च तृ-णवनस्पतयःश्वापदान्याकीटपतङ्गपि-पीलकमाप एवेमामूर्त्ताअप उपास्स्वेति॥१॥

पद०—आपः। वाव। अन्नात्। भूयस्यः। तस्मात्। यदा। सुवृष्टिः। न। भवति। व्याधीयन्ते। प्राणाः। अन्नं। कनीयः। भविष्यति। इति अथ। यदा। सुवृष्टिः। भवति। आनन्दिनः। प्राणाः। भवन्ति। अन्नं। बहु। भविष्यति। इति। आपः। एव। इमाः। मूर्त्ताः। याः। इयं। पृथिवी। यत्। अन्तरिक्षं। यत्। द्यौः। यत्। पर्वताः। यत्। देवमनुष्याः। यत्। पशवः। च। वयांसि। च। तृणवनस्पतयः। श्वापदानि। आकीटपतङ्गपिपीलकं। आपः। एव। इमाः। मूर्त्ताः। अपः। उपास्स्व। इति।

पदा०—(आपः, वाव, अन्नात्, भूयस्यः) जल ही अन्न से बड़ा है (तस्मात्) इसी कारण (यदा) जब (सुवृष्टिः, न, भवति) सुवृष्टि नहीं होती तब (प्राणाः,व्याधीयन्ते) प्राणी दुखित होते हैं कि (अन्नं, कनीयः, भविष्यति, इति) अब के अन्न बहुत

कम होगा (अथ) और (यदा) जब (सुवृष्टिः, भवति) अच्छी वृष्टि होती है तब (प्राणाः, आनन्दिनः, भवन्ति) प्राणी आनन्दित होते हैं कि (अन्नं, बहु, भविष्यति, इति) अन्न बहुत होगा (इमाः) यह (आपः, एव) जल ही (मूर्त्ताः) मूर्त्तिमान् हैं (याः, इयं, पृथिवी) जो यह पृथिवी (यत्, अन्तरिक्षं) जो अन्तरिक्ष (यत्, द्यौः) जो यह द्युलोक (यत्, पर्वताः) जो पर्वत (यत्, देवमनुष्याः) जो यह विद्वान् मनुष्य (यत्, पशवः) जो पशु (च) और (वयांसि) पक्षी (च) और (तृणवनस्पतयः) तृण तथा वनस्पति (श्वापदानि) हिंसक पशु (आकीटपतङ्ग-पिपीलकं) कीट, पतङ्ग, पिपीलकादि क्षुद्रजन्तु (आपः, एव, इमाः, मूर्त्ताः) यह सब जल ही की मूर्त्तियां हैं, हे नारद ! (अपः, उपास्स्व, इति) जल ही की उपासना कर ॥

सं०—अब जल के उपासक को फल कथन करते हैं :—

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्ते आप्नोति सर्वान्कामाँस्तृप्तिमान् भवति । यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २॥

पद०—सः । यः । अपः । ब्रह्म । इति । उपास्ते । आप्नोति । सर्वान् । कामान् । तृप्तिमान् । भवति । यावत् । अपां । गतं ।

तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । अपः । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । अद्भ्यः । भूयः । इति । अद्भ्यः । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ।

पदा०—(सः, यः) वह पुरुष जो (अपः,ब्रह्म, इति, उपास्ते) जल को बड़ा समझकर उपासना करता है वह (सर्वान्, कामान्, आप्नोति) सब कामनाओं को प्राप्त होता और (तृप्तिमान्, भवति) तृप्तिवाला होता है (यावत्) जहांतक (अपां, गतं) जल की गति है (तत्र) वहांतक (अस्य) यह (यथाकामचारः, भवति) स्वेच्छाचारी होता है " योऽपोब्रह्मेत्युपास्ते " पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (भगवः)हे भगवन् (अद्भ्यः, भूयः, अस्ति, इति) जल से भी कोई बड़ा है (अद्भ्यः, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां जल से भी बड़ा है (तत्) वह (भगवान्) आप (मे) मेरे प्रति (ब्रवीतु, इति) कथन करें ॥

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब जल से तेज को बड़ा कथन करते हैं:—

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमुपगृ-ह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नि-तपति वर्षिष्यति वा इति । तेज एव तत्पूर्वं

दर्शयित्वाऽथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्चविद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति । तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तेज उपास्स्वेति ॥ १ ॥

पद०—तेजः । वाव । अद्भ्यः । भूयः । तत् । वै । एतत् । वायुं । उपगृह्य । आकाशं । अभितपति । तत् । आहुः । निशोचति । नितपति । वर्षिष्यति । वै । इति । तेजः । एव । तत् । पूर्वं । दर्शयित्वा । अथ । आपः । सृजते । तत् । एतत् । ऊर्ध्वाभिः । च । तिरश्चीभिः । च । विद्युद्भिः । आह्रादाः । चरन्ति तस्मात् । आहुः । विद्योतते । स्तनयति । वर्षिष्यति । वै । इति । तेजः । एव । तत् । पूर्वं । दर्शयित्वा । अथ । अपः । सृजते । तेजः । उपास्स्व । इति ।

पदा०—(तेजः, वाव, अद्भ्यः, भूयः) तेज ही जल से बड़ा है, क्योंकि (वै) निश्चयकरके (तत, एतत) वह यह तेज (वायुं, उपगृह्य) वायु को साथ लेकर (आकाशं, अभितपति) आकाश को तपाता है (तत, आहुः) तब लोग कहते हैं कि (निशोचति, नितपति) गरम होरहा है तपा रहा है (वर्षिष्यति, वै, इति) निश्चयपूर्वक वर्षा होगी (तेजः, एव) तेज ही (तत, पूर्वं) अपने रूप को प्रथम (दर्शयित्वा) दिखाकर (अथ) अनन्तर (अपः) जलों को (सृजते) बनाता है (तत, एतत) सो यह तेज (ऊर्ध्वाभिः) ऊर्ध्वस्थित (च) और

(तिरश्चीभिः) तिरछीगति वाली (विद्युद्भिः) विद्युत् के साथ (आह्लादाः) गर्जन (चरन्ति) करता है (तस्मात्) इसी कारण (आहुः) कथन करते हैं कि (विद्योतते) विद्युत् चमकता है (स्तनयति) गर्जता है (वर्षिष्यति, वै, इति) निश्चयपूर्वक वर्षा होगी (तेजः,एव, तत्, पूर्वं, दर्शयित्वा) तेज ही उस दृश्य को प्रथम दिखाकर (अथ) अनन्तर (अपः) जल को (सृजते) उत्पन्न करता है सो हे नारद ! (तेजः, उपास्स्व, इति) तेज की ही उपासना कर।

सं०—अब उक्त तेज के उपासक को फल कथन करते हैं:—

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान् भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिद्धयति । यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति । यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

पद०—सः । यः । तेजः । ब्रह्म । इति । उपास्ते । तेजस्वी । वै । सः । तेजस्वतः । लोकान् । भास्वतः । अपहततमस्कान् । अभिसिद्धयति । यावत् । तेजसः । गतं । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । तेजः । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । तेजसः । भूयः । इति । तेजसः । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ।

पदा०-(सः, यः, तेजः, ब्रह्म, इति) वह पुरुष जो तेज को बड़ा समझकर (उपास्ते) उपासना करता है वह (तेजस्वी) तेजस्वी होता है (वै) निश्चयकरके (सः) वह (तेजस्वतः, भास्वतः, अपहततमस्कान्, लोकान्) तेजस्वी, देदीप्यमान्, अज्ञानरूप अन्धकार से रहित लोकों को (अभिसिद्ध्यति) प्राप्त होता है (यावत्) जहां तक (तेजसः, गतं) तेज की गति है (तत्र) वहां तक (अस्य) यह पुरुष (यथाकामचारः, भवति) स्वेच्छाचारी होता है " यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते " पाठ दोबार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (भगवः) हे भगवन् ! (तेजसः, भूयः, अस्ति, इति) तेज से भी कोई बड़ा है (तेजसः, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां निश्चयकरके तेज से भी बड़ा है (तत्) वह (भगवान्) आप (मे) मेरे प्रति (ब्रवीतु, इति) कथन करें ॥

इति एकादशः खण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब तेज से आकाश को बड़ा कथन करते हैं:—

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेनशृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत

त आकाशे जायत आकाशमभिजायते आकाशमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

पद०—आकाशः । वाव । तेजसः । भूयान् । आकाशे । वै । सूर्य्याचन्द्रमसौ । उभौ । विद्युत् । नक्षत्राणि । अग्निः । आकाशेन । आह्वयति । आकाशेन । शृणोति । आकाशेन । प्रतिशृणोति । आकाशे । रमते । आकाशे । न । रमते । आकाशे । जायते । आकाशं । अभिजायते । आकाशं । उपास्स्व । इति ।

पदा०—(आकाशः, वाव, तेजसः, भूयान्) आकाश ही तेज से बड़ा है, क्योंकि (आकाशे) आकाश में (वै) ही (सूर्य्या-चन्द्रमसौ, उभौ) सूर्य्य और चन्द्रमा दोनों (विद्युत्, नक्षत्राणि) विद्युत् तथा नक्षत्र और (अग्निः) आग्नेयशक्ति विद्यमान है (आकाशेन, आह्वयति) आकाश द्वारा ही एक दूसरे को पुकारता है (आकाशेन, शृणोति) आकाश के द्वारा ही सुनता है (आकाशेन, प्रतिशृणोति) आकाश द्वारा ही प्रत्युत्तर देता है (आकाशे, रमते) आकाश में ही क्रीड़ा करता है (आकाशे, न, रमते) आकाश में रमण नहीं करता (आकाशे, जायते) आकाश में ही सब पदार्थ उत्पन्न होते और (आकाशं, अभिजायते) आकाश में ही पुष्ट होते हैं, इसलिये हे नारद ! (आकाशं, उपास्स्व, इति) आकाश की ही उपासना कर ।

सं०—अब आकाश के उपासक को फल कथन करते हैं :—

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाश-
वतो वै स लोकान् प्रकाशवतोऽसम्बा-
धानुरुगायवतोऽभिसिद्ध्यति । याव-
दाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचा-
रो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽ-
स्ति भगव आकाशाद्भूयं इत्याका-
शाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान्
ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

पद०-सः । यः । आकाशं । ब्रह्म । इति । उपास्ते । आकाशवतः । वै । सः । लोकान् । प्रकाशवतः । असम्बाधान् । उरुगायवतः । अभिसिद्ध्यति । यावत् । आकाशस्य । गतं । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । आकाशं । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । आकाशात् । भूयः । इति । आकाशात् । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ।

पदा०-(सः, यः) वह पुरुष जो (आकाशं, ब्रह्म, इति, उपास्ते) आकाश को बड़ा समझकर उपासना करता है (सः) वह (वै) निश्चयकरके (आकाशवतः, प्रकाशवतः, असम्बाधान्, उरुगायतः, लोकान्) आकाशवाले प्रकाशयुक्त, सब बाधाओं से रहित, विस्तीर्ण=खुले हुए लोकों को (अभिसिद्ध्यति) प्राप्त होता है (यावत्) जहांतक (आकाशस्य, गतं) आकाश की

गति है (तत्र) वहांतक (अस्य) यह (यथाकामचारः, भवति) स्वेच्छाचारी होता है "य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोबार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (भगवः) हे भगवन् ! (आकाशात्, भूयः, अस्ति, इति) आकाश से भी कोई बड़ा है (आकाशात्, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां आकाश से भी बड़ा है (तत्) वह (भगवान्) आप (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु,इति) कथन करें ॥

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब आकाश से स्मरण को बड़ा कथन करते हैं:-

स्मरो वावाऽऽकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्न स्मरन्तो नैव ते कञ्चन शृणुयुर्नमन्वीरन्न विजानीरन्। यदा वाव ते स्मरेयुरथशृणुयुरथमन्वीरन्नथ विजानीरन् । स्मरेण वै पुत्रान्विजानातिस्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

पद०-स्मरः।वाव । आकाशात् । भूयः । तस्मात् । यद्यपि । बहवः । आसीरन् । न । स्मरन्तः । न । एव । ते । कञ्चन । शृणुयुः ।

व । मन्वीरन् । न । विजानीरन् । यदा । वाव । ते । स्मरेयुः । अथ । शृणुयुः । अथ । मन्वीरन् । अथ । विजानीरन् । स्मरेण । वै । पुत्रान् । विजानाति । स्मरेण । पशून् । स्मरं । उपास्स्व । इति।

पदा०—(स्मरः, वाव, आकाशात्, भूयः) स्मरण ही आकाश से बड़ा है (तस्मात्) इसी कारण (यद्यपि) यद्यपि (न, स्मरन्तः) स्मरण न करते हुए (बहवः, आसीरन्) किसी स्थान में बहुत आदमी बैठजायं तो (ते) वह (न, एव) न तो (कश्चन) किसी शब्द को (शृणुयुः) सुन सकेंगे (न, मन्वीरन्) न मनन कर सकेंगे (न, विजानीरन्) न जान सकेंगे परन्तु (यदा, वाव) निश्चयकरके जब (ते) वह (स्मरेयुः) स्मरण कर सकेंगे (अथ) तभी (शृणुयुः) सुन सकेंगे (अथ) और तभी (मन्वीरन्) मनन कर सकेंगे (अथ) और तभी (विजानीरन्) जान सकेंगे (स्मरण, वै, पुत्रान्, विजानाति) निश्चयकरके स्मरण से ही पुत्रों को जानता है (स्मरेण, पशून्) स्मरण से पशुओं को जानता है, हे नारद ! (स्मरं, उपास्स्व, इति) स्मरण की ही उपासना कर ॥

सं०—अब उक्त उपासक को फल कथन करते हैं :—

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत् स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वावभूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

पद०—सः । यः । स्मरं । ब्रह्म । इति । उपास्ते । यावत् । स्मरस्य । गतं । तत्र । अस्य । यथाकामचारः। भवति । यः । स्मरं । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । स्मरात् । भूयः । इति । स्मरात् । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ।

पदा०—(सः, यः) वह पुरुष जो (स्मरं, ब्रह्म, इति, उपास्ते) स्मरण को बड़ा समझकर उपासना करता है (यावत्) जहांतक (स्मरस्य, गतं) स्मरण की गति है (तत्र) वहांतक (अस्य) वह (यथाकामचारः, भवति) स्वेच्छाचारी होता है "यः स्मरंब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (भगवः) हे भगवन् (स्मरात्, भूयः, अस्ति, इति) स्मरण से भी कोई बड़ा है (स्मरात्, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां स्मरण से भी बड़ा है (तत्) वह (भगवान्) आप (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु, इति) कथन करें ॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब स्मरण से आशा को बड़ा कथन करते हैं:—

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्राँश्च पशूँश्चेच्छत इमञ्च लोकममुञ्चेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥ १ ॥

पद०—आशा । वाव । स्मराद् । भूयसी । आशेद्धः । वै । स्मरः । मंत्रान् । अधीते । कर्माणि । कुरुते । पुत्रान् । च । पशून् । च । इच्छते । इमं । च । लोकं । अमुं । च । इच्छते । आशां । उपास्स्व । इति ।

पदा०—(आशा, वाव) आशा ही (स्मरात्, भूयसी) स्मरण से बड़ी है, क्योंकि (आशेद्धः) आशा से वर्धित पुरुष (वै) ही (स्मरः) स्मरण करने वाला होता और वही (मंत्रान्, अधीते) मंत्रों का अध्ययन करता है फिर (कर्माणि, कुरुते) कर्म करता है, कर्मों से (पुत्रान्, च) पुत्रों की (च) और (पशून्) पशुओं की (इच्छते) इच्छा करता है (इमं, च, लोकं) इस लोक (च) और (अमुं) परलोक की (इच्छते) इच्छा करता है, इसलिये हे नारद ! (आशां, उपास्स्व, इति) आशा की उपासना कर ॥

सं०—अब आशा के उपासक को फल कथन करते हैं:—

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते आशयाऽस्य सर्वेकामाः समृध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथा-कामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽ-स्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति॥२

पद०—सः । यः । आशां । ब्रह्म । इति । उपास्ते । आशया । अस्य । सर्वे । कामाः । समृध्यन्ति । अमोघाः । ह । अस्य । आशिषः । भवन्ति । यावत् । आशायाः । गतं । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । आशां । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । आशायाः । भूयः । इति । आशायाः । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ।

पदा०—(सः, यः) वह पुरुष जो (आशां, ब्रह्म, इति, उपास्ते) आशा को बड़ा समझकर उपासना करता है (अस्य) इसकी (आशया) आशा के कारण (सर्वे, कामाः) सब कामनायें (समृध्यन्ति) वृद्धि को प्राप्त होती हैं (ह) प्रसिद्ध है कि (अस्य) उस पुरुष की (आशिषः) आशायें (अमोघाः) पूर्ण (भवन्ति) होती हैं (यावत्) जितनी (आशायाः, गतं) आशा की गति है (तत्र) वहां तक (अस्य) यह पुरुष (यथाकामचारः) स्वेच्छाचारी (भवति) होता है "य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (भगवः) हे भगवन् (आशायाः, भूयः, अस्ति, इति) आशा से भी कोई बड़ा है (आशायाः, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां आशा से भी निश्चयकरके बड़ा है (तत्) वह (भगवान्) आप (मे) मेरे प्रति (ब्रवीतु, इति) कथन करें ॥

इति चतुर्दशःखण्डः समाप्तः

पद०–आशा । वाव । स्मरात् । भूयसी । आशेद्धः । वै । स्मरः । मंत्रान् । अधीते । कर्माणि । कुरुते । पुत्रान् । च । पशून् । च । इच्छते । इमं । च । लोकं । अमुं । च । इच्छते । आशां । उपास्स्व । इति ।

पदा०–(आशा, वाव) आशा ही (स्मरात्, भूयसी) स्मरण से बड़ी है, क्योंकि (आशेद्धः) आशा से वर्धित पुरुष (वै) ही (स्मरः) स्मरण करने वाला होता और वही (मंत्रान्, अधीते) मंत्रों का अध्ययन करता है फिर (कर्माणि, कुरुते) कर्म करता है, कर्मों से (पुत्रान्, च) पुत्रों की (च) और (पशून्) पशुओं की (इच्छते) इच्छा करता है (इमं, च, लोकं) इस लोक (च) और (अमुं) परलोक की (इच्छते) इच्छा करता है, इसलिये हे नारद ! (आशां, उपास्स्व, इति) आशा की उपासना कर ॥

सं०–अब आशा के उपासक को फल कथन करते हैं:–

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते आशयाऽस्य सर्वेकामाः समृध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथा-कामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽ-स्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति॥२

पद०–सः। यः। आशां। ब्रह्म। इति। उपास्ते। आशया। अस्य। सर्वे। कामाः। समृध्यन्ति। अमोघाः। ह। अस्य। आशिषः। भवन्ति। यावत्। आशायाः। गतं। तत्र। अस्य। यथाकामचारः। भवति। यः। आशां। ब्रह्म। इति। उपास्ते। अस्ति। भगवः। आशायाः। भूयः। इति। आशायाः। वाव। भूयः। अस्ति। इति। तत्। मे। भगवान्। ब्रवीतु। इति।

पदा०–(सः, यः) वह पुरुष जो (आशां, ब्रह्म, इति, उपास्ते) आशा को बड़ा समझकर उपासना करता है (अस्य) इसकी (आशया) आशा के कारण (सर्वे, कामाः) सब कामनायें (समृध्यन्ति) वृद्धि को प्राप्त होती हैं (ह) प्रसिद्ध है कि (अस्य) उस पुरुष की (आशिषः) आशायें (अमोघाः) पूर्ण (भवन्ति) होती हैं (यावत्) जितनी (आशायाः, गतं) आशा की गति है (तत्र) वहां तक (अस्य) यह पुरुष (यथाकामचारः) स्वेच्छाचारी (भवति) होता है "य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है (भगवः) हे भगवन् (आशायाः, भूयः, अस्ति, इति) आशा से भी कोई बड़ा है (आशायाः, वाव, भूयः, अस्ति, इति) हां आशा से भी निश्चयकरके बड़ा है (तत्) वह (भगवान्) आप (मे) मेरे प्रति (ब्रवीतु, इति) कथन करें ॥

इति चतुर्दशःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चदशःखण्डःप्रारभ्यते

सं०—अब आशा से प्राणों को बड़ा कथन करते हैं :—

प्राणो वावऽऽशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितं। प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति। प्राणायददाति। प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणःस्वसा प्राण आचार्य्यः प्राणो ब्राह्मणः॥ १॥

पद०—प्राणः। वाव। आशायाः। भूयान्। यथा। वै। अराः। नाभौ। समर्पिताः। एवं। अस्मिन्। प्राणे। सर्वं। समर्पितं। प्राणः। प्राणेन। याति। प्राणः। प्राणं। ददाति। प्राणाय। ददाति। प्राणः। ह। पिता। प्राणः। माता। प्राणः। भ्राता। प्राणः। स्वसा। प्राणः। आचार्य्यः। प्राणः। ब्राह्मणः।

पदा०—(प्राणः, वाव, आशायाः, भूयान्) प्राण ही आशा से बड़ा है, (वै) निश्चयकरके (यथा) जैसे (अराः, नाभौ, समर्पिता) रथ की नाभि में आरे लगे रहते हैं (एवं) इसी-प्रकार (अस्मिन्, प्राणे) इस प्राण में (सर्वं, समर्पितं) सब समर्पित हैं (प्राणः, प्राणेन, याति) इन्द्रिय प्राण द्वारा व्यवहार करते हैं (प्राणः, प्राणं, ददाति) प्राण ही सब को प्राणनशक्ति

देता है (प्राणाय, ददाति) प्राण को देता है (प्राणः, ह, पिता) प्राण ही पिता (प्राणः, माता) प्राण ही माता (प्राणः, भ्राता) प्राण ही भ्राता (प्राणः, स्वसा) प्राण ही बहिन (प्राणः, आचार्य्यः) प्राण ही आचार्य्य, और (प्राणः, ब्राह्मणः) प्राण ही ब्राह्मण है ।

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाऽऽचार्य्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चिद्भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्य्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥ २ ॥

पद०—सः । यदि । पितरं । वा । मातरं । वा । भ्रातरं । वा । स्वसारं । वा । आचार्य्यं । वा । ब्राह्मणं । वा । किञ्चित् । भृशं । इव । प्रति । आह । धिक् । त्वा । अस्तु । इति । एव । एनं । आहुः । पितृहा । वै । त्वं । असि । मातृहा । वै । त्वं । असि । भ्रातृहा । वै । त्वं । असि । स्वसृहा । वै । त्वं । असि । आचार्य्यहा । वै । त्वं । असि । ब्राह्मणहा । वै । त्वं । असि । इति ।

पदा०—(सः) वह पुरुष (यदि) यदि (पितरं, वा, मातरं वा) पिता अथवा माता (भ्रातरं, वा, स्वसारं, वा) भ्राता

अथवा बहिन (आचार्य्यं, वा, ब्राह्मणं, वा) आचार्य्य अथवा ब्राह्मण को (किञ्चित्) कुछ (भृशं, इव, प्रति, आह) अनुचित के समान वचन कहे तो (एनं) इसको लोग कहते हैं कि (धिक् , त्वा, अस्तु, इतिं) तुझको धिक्कार है (एव, आहुः) ऐसा ही कहते हैं और (पितृहा, वै, त्वं, असि) निश्चयकरके तु पिता का मारने वाला (मातृहा, वै, त्वं, असि) माता का हनन करने वाला (भ्रातृहा, वै, त्वं, असि) भ्राता का हनन करने वाला (स्वसृहा, वै, त्वं, असि) भगिनी का हनन करने वाला (आचार्य्यहा, वै, त्वं, असि) आचार्य्य का मारने वाला और (ब्राह्मणहा, वै, त्वं, असि, इति) ब्राह्मण का हनन करने वाला है, इस प्रकार इस पुरुष से लोग कहते हैं ॥

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणान् शूलेन समासंव्यतिसंदहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति। न मातृहासीति । न भ्रातृहासीति । न स्वसृहासीति । नाचार्य्यहासीति । न ब्राह्मणहासीति ॥ ३ ॥

पद०—अथ । यद्यपि । एनान् । उत्क्रान्तप्राणान् । शूलेन । समासं । व्यतिसन्देहेत् । न । एव । एनं । ब्रूयुः । पितृहा । असि । इति । न । मातृहा । असि । इति । न । भ्रातृहा । असि । इति । न । स्वसृहा । असि । इति । न । आचार्य्यहा । असि । इति । न । ब्राह्मणहा । असि । इति ।

पदा०—(अथ) इसके अनन्तर (यद्यपि) यद्यपि (उत्क्रान्तप्राणान्) प्राण निकले हुए (एनान्) इन माता पिता आदिकों को (शूलेन, समासं, व्यतिसन्देहेव) शूल से इकट्ठा करके पुत्रादि जलाते हैं तथापि (एनं, एव, न, ब्रूयुः) इनको कोई भी नहीं कहता कि (पितृहा, असि, इति) यह पिता का हनन करने वाला है (न, मातृहा, असि, इति) न माता का हनन करने वाला (न, भ्रातृहा, असि, इति) न भाई का हनन करने वाला (न, स्वसृहा, असि, इति) न भगिनी का हनन करने वाला (न, आचार्य्यहा, असि, इति) न आचार्य्य का हनन करने वाला और (न, ब्राह्मणहा, असि, इति) न ब्राह्मण का हनन करने वाला कोई कहता है, अतएव प्राण ही सब से बड़ा है ।

सं०—अब प्राण को बड़ा मानने वाले के लिये फल कथन करते हैं :—

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति । तञ्चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥४॥

पद०—प्राणः । हि । एव । एतानि । सर्वाणि । भवति । सः । वै । एषः । एवं । पश्यन् । एवं । मन्वानः । एवं । विजानन् । अतिवादी । भवति । तं । चेत् । ब्रूयुः । अतिवादी । असि । इति । अतिवादी । अस्मि । इति । ब्रूयात् । न । अपह्नुवीत ।

पदा०-(हि) निश्चयकरके (प्राणः, एव) प्राण ही (एतानि, सर्वाणि, भवति) यह माता पिता आदि सब होता है (सः, वै, एषः, एवं, पश्यन्) वही यह उक्त प्रकार से देखता हुआ (एवं, मन्वानः) मानता हुआ (एवं, विजानन्) जानता हुआ (अतिवादी, भवति) सत्यवादी होता है (तं, चेत्, ब्रूयुः) यदि उस अतिवादी पुरुष को कोई कहे कि तु (अतिवादी, असि, इति) अतिवादी है तो वह (ब्रूयात्) उत्तर देवे कि मैं (अतिवादी, अस्मि, इति) अतिवादी हूं (न, अपह्नुवीत) कभी न छिपावे ।

इति पंचदशःखण्डः समाप्तः

अथ षोडशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-प्राण को बड़ा वर्णन करने के अनन्तर अब सनत्कुमार नारद को सत्स्वरूप ब्रह्म का उपदेश करते हैं:—

एषतु वा अतिवदति यःसत्येनातिवदति। सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

पद०-एषः । तु । वै । अतिवदति । यः । सत्येन । अतिवदति । सः । अहं । भगवः । सत्येन । अतिवदानि । इति । सत्यं । तु । एव । विजिज्ञासितव्यं । इति । सत्यं । भगवः । विजिज्ञासे । इति ।

पदा०–(वै) निश्चयकरके (तु) परन्तु (एषः) वह (अतिवदति) अतिवादी है (यः) जो (सत्येन) सद्रूप ब्रह्म के साक्षात् द्वारा (अतिवदति) अतिवादी होता है, नारद ने कहा कि (भगवः) हे भगवन् (सः, अहं) वह मैं (सत्येन) सत्य=ब्रह्म से (अतिवदामि, इति) अतिवादी होऊं, सनत्कुमार ने कहाकि (सत्यं, तु, एव) सत्य ही (विजिज्ञासितव्यं, इति) जिज्ञासनीय है, फिर नारद बोले कि (भगवः) हे भगवन् (सत्यं) सत्य की (विजिज्ञासे, इति) मैं जिज्ञासा करता हूं ।

भाष्य–नारद सनत्कुमार से प्राण तक बराबर प्रश्न करते रहे परन्तु जब सनत्कुमार ने कहा कि हे नारद ! प्राण सब से श्रेष्ठ है इसी की उपासना कर, क्योंकि इसी में पूर्वोक्त सब पदार्थ समर्पित हैं, यह सुनकर नारद प्रश्न करने से विरत होगये, फिर सनत्कुमार ने कहा कि हे नारद ! प्राण का ज्ञाता अतिवादी= सत्यवादी होता है, यदि उससे कोई कहे कि तुम अतिवादी हो तो वह यह उत्तर देवे कि मैं अतिवादी हूं वह किसी के प्रति पिछावे नहीं परन्तु वास्तव में सनत्कुमार का अभिप्राय यह है कि केवल प्राण का ज्ञाता ही अतिवादी नहीं होता प्राण से परे जो सत्य है उसके साथ योग करने वाला अतिवादी होता है अर्थात् सब से ऊपर जो परब्रह्म परमात्मा है उसको योग द्वारा जब पुरुष प्राप्त करता है तब वह अतिवादी होता है, जैसाकि मुण्ड० ३ । १ । ४ में वर्णन किया है कि:—

प्राणो ह्येष यःसर्वभूतैर्विभाति विजा-
नन्विद्वान्भवते नातिवादी । आत्म-

क्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्म-विदां वरिष्ठः ॥

अर्थ–वह प्राणस्वरूप परमात्मा सब भूतों द्वारा प्रकट है विद्वान् पुरुष उसको जानता हुआ मिथ्या बोलने वाला नहीं होता अर्थात् वह अतिवादी=सत्यवादी होता है और आत्मा में क्रीड़ा वाला, आत्मा में रति=प्रीति वाला तथा आत्मविषयक अनुष्ठान वाला होता है और ऐसा पुरुष ही ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ कहाजाता है,सो हे नारद! तु उसी सत्यस्वरूप ब्रह्म की जिज्ञासा कर तब नारद ने कहा हे भगवन्! मैं उसी की जिज्ञासा करता हूं आप मुझको उसी सत्यस्वरूप ब्रह्म का उपदेश करें॥

इति षोडशः खण्डः समाप्तः

अथ सप्तदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अब सनत्कुमार नारद को सत्य का उपदेश करते हैं:—

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति । नाविजानन् सत्यं वदति । विजानन्नेव सत्यं वदति । विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति। १।

पद०–यदा । वै । विजानाति । अथ । सत्यं । वदति । न । अविजानन् । सत्यं । वदति । विजानन् । एव । सत्यं । वदति ।

विज्ञानं । तु । एव । विजिज्ञासितव्यं । इति । विज्ञानं । भगवः । विजिज्ञासे । इति ।

पदा०—(वै) निश्चयकरके (यदा) जब (विजानाति) जानता है (अथ) तब (सत्यं, वदति) ब्रह्म को ही कहता है (अविजानन्) न जानता हुआ (न, सत्यं, वदति) सत्य को नहीं कहता (विजानन्, एव) जानता हुआ ही (सत्यं, वदति) सत्य बोलता है, इस कारण (विज्ञानं, एव) विज्ञान ही (विजिज्ञासितव्यं, इति) जानने योग्य है, तब नारद ने कहा कि (भगवः) हे भगवन् ! (विज्ञानं, तु, विजिज्ञासे, इति) विज्ञान की ही जिज्ञासा करता हूं अर्थात् सत्य के लिये विज्ञान अवश्य जानना चाहिये ॥

इति सप्तदशःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब सनत्कुमार मननविषयक कथन करते हैं :—

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति । नामत्वा विजानाति । मत्वैव विजानाति । मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

पद०—यदा । वै । मनुते । अथ । विजानाति । न । अमत्वा ।

विजानाति । मत्वा । एव । विजानाति । मतिः। तु । एव । विजि-ज्ञासितव्या । इति । मतिं । भगवः । विजिज्ञासे । इति ।

पदा०-(वै) निश्चयकरके (यदा) जब पुरुष (मनुते) मनन करता है (अथ) तब (विजानाति) जानता है (अमत्वा) मनन के विना (न, विजानाति) नहीं जानता (मत्वा, इव) मनन करके ही (विजानाति) जानता है (मतिः, तु, एव,) हे नारद ! मनन ही (विजिज्ञासितव्या, इति) विजिज्ञासितव्य है (भगवः) हे भगवन् (मतिं, विजिज्ञासे, इति) मैं मनन की ही जिज्ञासा करता हूं ॥

इति अष्टादशःखण्डः समाप्तः

अथ एकोनविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सनत्कुमार श्रद्धा का उपदेश करते हैं :—

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते । नाश्रद्दधन् मनुते । श्रद्दधदेव मनुते । श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्येति । श्रद्धां भगवो वि-जिज्ञास इति ॥ १ ॥

पदं०-यदा । वै । श्रद्दधाति । अथ। मनुते । न । अश्रद्दधत् । मनुते । श्रद्दधत् । एव । मनुते । श्रद्धा । तु । एव । विजिज्ञासि-तव्या । इति । श्रद्धां । भगवः । विजिज्ञासे । इति ।

पदा०-(वै) निश्चयकरके (यदा) जब (श्रद्दधाति) श्रद्धा होती है (अथ) तभी (मनुते) मनन करता है (अश्रद्दधात्)

अश्रद्धा वाला (न, मनुते) मनन नहीं करता (श्रद्दधत्, एव) श्रद्धा वाला ही (मनुते) मनन करता है, इस कारण हे नारद ! (श्रद्धा, तु, एव, विजिज्ञासितव्या, इति) तु श्रद्धा की ही जिज्ञासा कर, तब नारद बोला (भगवः) हे भगवन् ! (श्रद्धां, विजिज्ञासे, इति) मैं श्रद्धा को विशेषरूप से जानना चाहता हूं।

इति एकोनविंशःखण्डः समाप्तः

अथ विंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब सनत्कुमार निष्ठा का उपदेश करते हैं:—

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति । नानिस्तिष्ठन् श्रद्दधाति। निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति । निष्ठात्वेव विजिज्ञासितव्येति । निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

पद०—यदा । वै । निस्तिष्ठति । अथ । श्रद्दधाति । न । अनिस्तिष्ठन् । श्रद्दधाति । निस्तिष्ठन् । एव । श्रद्दधाति । निष्ठा । तु । एव । विजिज्ञासितव्या । इति । निष्ठां । भगवः । विजिज्ञासे । इति ।

पदा०—(वै) निश्चयकरके (यदा) जब पुरुष (निस्तिष्ठति) निष्ठा करता है (अथ) तभी (श्रद्दधाति) श्रद्धालु होता है

(अनिस्तिष्ठन्) निष्ठा न करने वाला (न, श्रद्दधाति) श्रद्धालु नहीं होता (निस्तिष्ठन्, एव) निष्ठा करने वाला ही (श्रद्दधाति) श्रद्धावान् होता है, इसलिये हे नारद ! (निष्ठा, तु, एव, विजिज्ञासितव्या, इति) निष्ठा ही जिज्ञासनीय है, फिर नारद बोले (भगवः) हे भगवन् (निष्ठां, विजिज्ञासे, इति) मैं निष्ठा के जानने की इच्छा करता हूं।

इति विंशःखण्डः समाप्तः

अथ एकविंशः खण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब सनत्कुमार कृति का उपदेश करते हैंः—

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति। नाकृत्वा निस्तिष्ठति। कृत्वैव निस्तिष्ठति। कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

पद०—यदा। वै। करोति। अथ। निस्तिष्ठति। न। अकृत्वा। निस्तिष्ठति। कृत्वा। एव। निस्तिष्ठति। कृतिः। तु। एव। विजिज्ञासितव्या। इति। कृतिं। भगवः। विजिज्ञासे। इति।

पदा०—(वै) निश्चयकरके (यदा) जब (करोति) श्रद्धा आदि करता है (अथ) तभी (निस्तिष्ठति) नैष्ठिक होता है

(अकृत्वा) न करने वाला (न, निस्तिष्ठति) नैष्ठिक नहीं होता (कृत्वा, एव) करके ही (निस्तिष्ठति) नैष्ठिक होता है, इस लिये हे नारद ! (कृतिः, तु, एव, विजिज्ञासितव्या,इति) कर्तव्य ही का पालन करना चाहिये, तब नारद बोले (भगवः) हे भगवन् ! (कृतिं, विजिज्ञासे, इति) मैं कर्तव्य को विशेषरूप से जानने की इच्छा करता हूं।

इति एकविंशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वाविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सनत्कुमार नारद को सुख का उपदेश करते हैंः-

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति। नासुखं लब्ध्वाकरोति।सुखमेव लब्ध्वा करोति। सुखंत्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

पद०-यदा। वै। सुखं। लभते। अथ । करोति । न । असुखं । लब्ध्वा । करोति। सुखं। एव। लब्ध्वा । करोति। सुखं। तु। एव। विजिज्ञासितव्यं। इति । सुखं । भगवः। विजिज्ञासे । इति।

पदा०-(वै) निश्चयकरके (यदा) जब पुरुष (सुखं,लभते) सुख को लाभ करता है (अथ) तभी (करोति) कर्म करने की

इच्छा करता है (असुखं, लब्ध्वा) सुख पाये बिना (न, करोति) नहीं करता (सुखं, एव, लब्ध्वा) सुख को प्राप्त करके ही (करोति) करता है (सुखं, तु, एव) सुख ही (विजिज्ञासितव्यं, इति) विजिज्ञासनीय है तब नारद बोले (भगवः) हे भगवन् ! (सुखं, विजिज्ञासे, इति) मैं सुख को विशेषरूप से जानने की इच्छा करता हूं।

इति द्वाविंशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब सनत्कुमार भूमा को विजिज्ञासितव्य कथन करते हैंः-

यो वै भूमा तत् सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति । भूमैव सुखम् । भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

पद०-यः । वै । भूमा । तत । सुखं । न । अल्पे । सुखं । अस्ति । भूमा । एव । सुखं । भूमा । तु । एव । विजिज्ञासितव्यः । इति । भूमानं । भगवः । विजिज्ञासे । इति ।

पदा०-(वै) निश्चयकरके (यः) जो (भूमा) भूमा है (तत, सुखं) वही सुख है (न, अल्पे, सुखं, अस्ति) अल्प में सुख नहीं (भूमा, एव, सुखं) भूमा ही सुखस्वरूप है, इसलिये

(भूमा, तु, एव) भूमा ही (विजिज्ञासितव्यः, इति) जिज्ञासनीय है, फिर नारद बोले (भगवः) हे भगवन् ! (भूमानं, विजिज्ञासे, इति) मैं भूमा की जिज्ञासा करता हूं, यहां भूमा नाम परमात्मा का है ॥

इति त्रयोविंशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्विंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब भूमा का स्वरूप कथन करते हैं:—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् यो वै भूमा तदमृतमथयदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥ १ ॥

पद०—यत्र । न । अन्यत् । पश्यति । न । अन्यत् । शृणोति । न । अन्यत् । विजानाति । सः । भूमा । अथ । यत्र । अन्यत् । पश्यति । अन्यत् । शृणोति । अन्यत् । विजानाति । तत् । अल्पं । यः । वै । भूमा । तत् । अमृतं । अथ । यत् । अल्पं । तत् । मर्त्यं । सः । भगवः । कस्मिन् । प्रतिष्ठितः । इति । स्वे । महिम्नि । यदि । वा । न । महिम्नि । इति ।

पदा०-(यत्र) जहां (अन्यत्, न, पश्यति) अन्य को नहीं देखता (अन्यत्, न, शृणोति) अन्य को नहीं सुनता (अन्यत्, न, विजानाति) अन्य को नहीं जानता (सः, भूमा) वह भूमा है (अथ) और (यत्र) जहां (अन्यत्, पश्यति) दूसरे को देखता (अन्यत्, शृणोति) दूसरे को सुनता और (अन्यत्, विजानाति) दूसरे को जानता है (तत्, अल्पं) वह अल्प है (वै) निश्चयकरके (यः, भूमा) जो भूमा है (तत्, अमृतं) वह अमृत है (अथ) और (यत्, अल्पं) जो अल्प है (तत्, मर्त्यं) वह मृत्यु है, नारद कथन करते हैं कि (भगवः) हे भगवन् ! (सः) वह भूमा (कस्मिन्) किसमें (प्रतिष्ठितः, इति) प्रतिष्ठित है ? सनत्कुमार—(स्वे, महिम्नि) अपनी महिमा में (यदि, वा) अथवा (न, महिम्नि, इति) अपनी महिमा में भी प्रतिष्ठित नहीं ॥

सं०-अब महिमा का कथन करते हैं :—

गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यंदासभार्य्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥

पद०-गो । अश्वं । इह । महिमा । इति । आचक्षते । हस्ति । हिरण्यं । दास । भार्य्यं । क्षेत्राणि । आयतनानि । इति । न । अहं । एवं । ब्रवीमि । ब्रवीमि । इति । ह । उवाच । अन्यः । हि । अन्यस्मिन् । प्रतिष्ठितः । इति ।

पदा०-(इह) इस संसार में (गो, अश्वं) गौ, अश्व (हस्ति, हिरण्यं) हाथी तथा सुवर्ण (दास, भार्य्यं) दास तथा भार्या (क्षेत्राणि) क्षेत्र और (आयतनानि, इति) गृहादि को (महिमा, इति, आचक्षते) महिमा कहते हैं परन्तु (न, अहं, एवं, ब्रवीमि) ब्रह्मविषयक उक्त महिमा का मैं कथन नहीं करता (हि) क्योंकि इस महिमा में (अन्यः,अस्मिन्,प्रतिष्ठितः,इति) अन्य अन्य में प्रतिष्ठित हैं (ह) वह प्रसिद्ध सनत्कुमार नारद के प्रति (उवाच) बोले कि अब मैं तुम्हारे प्रति भूमाविषयक महिमा (ब्रवीमि,इति) कथन करता हूं ॥

इति चतुर्विंशःखण्डः समाप्तः

अथ पंचविंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब भूमाविषयक महिमा का कथन करते हैंः—

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहंपुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति ॥ १ ॥

पद०-सः। एव। अधस्तात्। सः। उपरिष्टात् सः। पश्चात्। सः। पुरस्तात्। सः। दक्षिणतः। सः उत्तरतः। सः। एव। इदं। सर्वं। इति। अथ। अतः। अहङ्कारादेशः। एव। अहं। एव। अधस्तात्। अहं। उपरिष्टात्। अहं। पश्चात्। अहं। पुरस्तात्। अहं। दक्षिणतः। अहं। उत्तरतः। अहं। एव। इदं। सर्वं। इति।

पदा०-(सः, एव) वही भूमा (अधस्तात्) नीचे (सः) वही (उपरिष्टात्) ऊपर (सः, पश्चात्) वही पीछे (सः, पुरस्तात्) वही पूर्व में (सः, दक्षिणतः) वही दक्षिण में (सः, उत्तरतः) वही उत्तर में स्थित है (सः, एव) वही (इदं, सर्वं, इति) इस सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक होरहा है (अथ) और (अतः) इसी हेतु जो (अहंकारादेशः, एव) अहंभाव से उपदेश किया है (अथ) अब उसका कथन करते हैं (अहं, एव, अधस्तात्) मैं ही नीचे (अहं, उपरिष्टात्) मैं ही ऊपर (अहं, पश्चात्) मैं ही पीछे (अहं, पुरस्तात्) मैं ही आगे (अहं, दक्षिणतः) मैं ही दक्षिण में (अहं, उत्तरतः) मैं ही उत्तर में (अहं, एव) मैं ही (इदं, सर्वं, इति) इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक हूं ॥

सं०-अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

अथात आत्माऽऽदेश एवात्मैवाऽधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड

आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वाराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवत्यथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाᳪ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥

पद०–अथ । अतः । आत्मादेशः । एव । आत्मा । एव । अधस्ताव । आत्मा । उपरिष्टाव । आत्मा । पश्चाव । आत्मा । पुरस्ताव । आत्मा । दक्षिणतः । आत्मा । उत्तरतः । आत्मा । एव । इदं । सर्वं । इति । सः । वै । एषः । एवं । पश्यन् । एवं । मन्वानः । एवं । विजानन् । आत्मरतिः । आत्मक्रीडः । आत्ममिथुनः । आत्मानन्दः । सः । स्वाराड् । भवति । तस्य । सर्वेषु । लोकेषु । कामचारः । भवति । अथ । ये । अन्यथा । अतः । विदुः । अन्यराजानः । ते । क्षय्यलोका । भवन्ति । तेषां । सर्वेषु । लोकेषु । अकामचारः । भवति ।

पदा०–हे नारद ! (अथ, अतः) अब इसीकारण (आत्मादेशः, एव) ब्रह्मात्मवादी का ही उपदेश तुम्हें कथन करते हैं (आत्मा, एव, अधस्ताव) आत्मा ही नीचे (आत्मा, उपरिष्टाव) आत्मा ही ऊपर (आत्मा, पश्चाव) आत्मा ही पीछे (आत्मा, पुरस्ताव) आमा ही पूर्व में (आत्मा, दक्षिणतः) आत्मा दक्षिण में (आत्मा, उत्तरतः) आत्मा ही उत्तर में (आत्मा, एव) आत्मा ही (इदं, सर्वं, इति) इस सम्पूर्ण ब्रह्मण्ड में व्यापक है

(वै) निश्चयकरके (सः) वह पुरुष जो (एषः) इस परमात्मा को (एवं) उक्त प्रकार से (पश्यन्) देखता हुआ (एवं, मन्वानः) उक्त प्रकार से मनन करता हुआ (एवं, विजानन्) इस प्रकार के भावों वाला जानता है वह (आत्मरतिः) परमात्मा में रमण करता है (आत्मक्रीड) परमात्मा में क्रीडा करता है (आत्ममिथुनः) परमात्मा से योग करता है (आत्मानन्दः) परमात्मा में ही आनन्द भोगता है और (सः, स्वराट्) वह राजा (भवति) होता है (तस्य) वह (सर्वेषु, लोकेषु) सब लोकों में (कामचारः, भवति) स्वेच्छाचारी होता है (अथ) और (ये) जो (अतः) इस विज्ञान से (अन्यथा) विपरीत (विदुः) जानते हैं वह (अन्यराजानः) राजा से भिन्न प्रजा होते हैं (ते) उनको (क्षय्यलोकः, भवन्ति) यह विनश्वर लोक प्राप्त होते हैं और (तेषां) उनको (सर्वेषु, लोकेषु) सब लोकों में (अकामचारः) पराधीनता (भवति) होती है ॥

इति पंचविंशःखण्डः समाप्तः

अथ षड्विंशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उपसंहार में परमात्मा को उक्त सब पदार्थों का आधार कथन करते हैं:—

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वान एवं विजानत आत्मतः प्राण आत्म-

त आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आका-
श आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत
आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्म-
तो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यान-
मात्मतश्चित्तमात्मतः सङ्कल्प आत्मतो
मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो
मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदꣳ
सर्वमिति ॥ १ ॥

पद०-तस्य । ह । वै । एतस्य । एवं । पश्यतः । एवं । म-
न्वानः । एवं । विजानतः । आत्मतः । प्राणः । आत्मतः । आशा ।
आत्मतः । स्मरः । आत्मतः । आकाशः । आत्मतः । तेजः ।
आत्मतः । आपः । आत्मतः । आविर्भावतिरोभावौ । आत्मतः ।
। अन्नं । आत्मतः । बलं । आत्मतः । विज्ञानं । आत्मतः । ध्यानं ।
आत्मतः । चित्तं । आत्मतः । सङ्कल्पः । आत्मतः । मनः ।
आत्मतः । वाक् । आत्मतः । नाम । आत्मतः । मंत्राः । आत्मतः ।
कर्माणि । आत्मतः । एव । इदं । सर्वं । इति ।

पदा०-(ह, वै) निश्चयकरके (एवं, पश्यतः) उक्त प्रकार
से देखने वाले के लिये (एवं, मन्वानः) उक्त प्रकार से मनन करने
वाले के लिये (एवं, विजानतः) उक्त प्रकार से जानने वाले के लिये
(आत्मतः, प्राणः) परमात्मा से प्राण (आत्मतः, आशा)
आत्मा से आशा (आत्मतः, स्मरः) आत्मा से स्मरण (आत्मतः,

आकाशः) आत्मा से आकाश (आत्मतः, तेजः) आत्मा से तेज (आत्मतः, आपः) आत्मा से जल (आत्मतः, अविर्भावतिरोभावौ) आत्मा से उत्पत्ति तथा प्रलय (आत्मतः, अन्नं) आत्मा से अन्न (आत्मतः, बलं) आत्मा से बल (आत्मतः, विज्ञानं) आत्मा से विज्ञान (आत्मतः, ध्यानं) आत्मा से ध्यान (आत्मतः, चित्तं) आत्मा से चित्त (आत्मतः, सङ्कल्पः) आत्मा से सङ्कल्प (आत्मतः, मनः) आत्मा से मन (आत्मतः, वाक्) आत्मा से वाणी (आत्मतः, नाम) आत्मा से नाम (आत्मतः, मन्त्राः) आत्मा से मन्त्र (आत्मतः, कर्माणि) आत्मा से कर्म और (आत्मतः, एव, इदं, सर्वं, इति) आत्मा से ही इन निखिल पदार्थों की प्राप्ति होती है।

सं०—अब उक्त विषय में प्रमाण कथन करते हैं :—

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताॅ सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति। स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशःस्मृतः शतञ्च दशचैकश्च सहस्राणि च विॅशतिः । आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषा-

याय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सन-त्कुमारस्तँ स्कन्द इत्याचक्षते तँ स्कन्द इत्याचक्षते ॥ २ ॥

पद०-तत्र । एषः । श्लोकः । न । पश्यः । मृत्युं । पश्यति । न । रोगं । न । उत । दुःखतां । सर्वं । ह । पश्यः । पश्यति । सर्वं । आप्नोति । सर्वशः । इति । सः । एकधा । भवति । त्रिधा । भवति । पञ्चधा । सप्तधा । नवधा । च । एव । पुनः । च । एकादशः । स्मृतः । शतं । च । दश । च । एकः । च । सहस्राणि । च । विंशतिः । आहारशुद्धौ । सत्त्वशुद्धिः । सत्त्वशुद्धौ । ध्रुवा । स्मृतिः । स्मृतिलम्भे । सर्वग्रन्थीनां । विप्रमोक्षः । तस्मै । मृदितकषायाय । तमसः । पारं । दर्शयति । भगवान् । सनत्कुमारः । तं । स्कन्दः । इति । आचक्षते । तं । स्कन्दः । इति । आचक्षते ।

पदा०-(तत्, एषः, श्लोकः) उक्त ब्रह्मज्ञानी विषयक यह श्लोक प्रमाण है (पश्यः) उस भूमा नाम ब्रह्म को देखने वाला (मृत्युं, न, पश्यति) मृत्यु को नहीं देखता (न, रोगं) न रोग को (न, उत, दुःखतां) न दुःखों को देखता है (पश्यः) वह ब्रह्मदर्शी (सर्वं, ह) निश्चयपूर्वक सब ओर से ब्रह्म को ही (पश्यति) देखता है इस कारण (सर्वशः, इति) सब प्रकार से (सर्वं, आप्नोति) सर्व को ही प्राप्त होता है (सः) वह ब्रह्मवित् पुरुष (एकधा, भवति) एक होता है पश्चात् (त्रिधा, भवति) तीन होता है (पंचधा) पांच (सप्तधा) सात (च) और (नवधा, एव) नौ प्रकार का होता है (च) और (पुनः)

फिर (एकादशः, स्मृतः) एकादश कहलाता है (शतं, च) सौ (दश, च) दश (एकः, च) एक (सहस्राणि, च) सहस्र और (विंशति) बीस होता है (आहारशुद्धौ) आहार के शुद्ध होने पर (सत्त्वशुद्धिः) अन्तःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण की शुद्धि से (ध्रुवा, स्मृतिः) उस भूमा परमात्मा का स्मरण होता है, स्मृति से (सर्वग्रन्थीनां) हृदय की सब ग्रन्थियों का (विप्रमोक्षः) नाश होजाता है, इस प्रकार सम्पूर्ण आख्यायिका को समाप्त करते हुए (भगवान्, सनत्कुमारः) भगवान् सनत्कुमार ने (मृदितकषायाय) शुद्धान्तःकरण (तस्मै) उस नारद को (तमसः) अज्ञानरूप अन्धकार से (पारं) पार परमात्म तत्त्व को (दर्शयति) दर्शाया (तं) उस सनत्कुमार को (स्कन्द, इति) "स्कन्द" नाम से (आचक्षते) कथन करते हैं ॥

भाष्य-"तं स्कन्द इत्याचक्षते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, जब नारद ने सनत्कुमार से कहा कि हे भगवन् ! मुझको अध्ययन कराओ तब सनत्कुमार ने नारद की परीक्षार्थ यह उत्तर दिया कि जो आपने अध्ययन किया है वह प्रथम सुनाओ उससे आगे हम कहेंगे, नारद ने उत्तर दिया कि यद्यपि मैंने ऋगादि सब वेद अन्य तर्क शास्त्रादि सब ग्रन्थ और ब्रह्मविद्यादि का भले प्रकार अध्ययन किया है तथापि मैं शोकातुर हूं तब सनत्कुमार ने कहा कि तुमने नाममात्र से उक्त सब वेदों तथा विद्याओं का अध्ययन किया है इसलिये तुम शोकातुर हो, आप संज्ञासंज्ञीभाव की उपासना करें अर्थात् इस तत्व को विचारें कि ऋगादिवेद किसका स्तवन करते हैं, फिर नारद ने पूछा कि हे भगवन् ! नाम से भी कोई बड़ा है ? सनत्कुमार ने

उत्तर दिया कि जिसमें सब नाम माला के मणकों के समान पुरोये हुए हैं वह बाणी नाम से बड़ी है, इस प्रकार नाम से बाणी बाणी से मन, मन से सङ्कल्प, एवं उत्तरोत्तर श्रेष्ठ का उपदेश करते हुए अन्त में नारद को ब्रह्म का उपदेश किया, यहां सनत्कुमार का नामादिकों की उपासना से तात्पर्य्य नहीं किन्तु सर्वोपरि ब्रह्म की उपासना के लिये विन्यास किया है अर्थात् सब पदार्थों का बलाबल कथन करते हुए अन्त में उसीको सर्वोपरि ठहराया है और उसका स्वरूप यह वर्णन किया है कि वह सर्वत्र व्यापक तथा सर्वाधार है, ज्ञाता, श्रोता, मन्ता तथा बोद्धादि कोई उसके सदृश नहीं और जो श्रवण तथा मनन करने वाला जीव है वह भी उससे भिन्न अल्पज्ञ है, वह परमात्मा किसी महत्व के आश्रित नहीं किन्तु सम्पूर्ण महत्व उसी के आश्रित हैं अर्थात् वही ऊपर वही नीचे वही पूर्व वही पश्चिम और दक्षिण उत्तर में सर्वत्र परिपूर्ण है, जब पुरुष अहंग्रह उपासना करता है तब वह यह कथन करता है कि "अहमेवाधस्तात् अहमुपरिष्टात्"=मैं ही नीचे और मैं ही ऊपर हूं, इसका का तात्पर्य्य यह नहीं कि जीव ब्रह्म होकर यह कथन करता है किन्तु अहंग्रह उपासना के अभिप्राय से इस प्रकार का कथन है और जब उपासक उसका आत्मत्वेन कथन करता है तब यह कहता है कि आत्मा ही ऊपर आत्मा ही नीचे और आत्मा ही सब दिशाओं में है, इस प्रकार जानने वाले पुरुष के लिये यह फल कथन किया है कि वह ब्रह्म में ही क्रीडा करता है और ब्रह्म में ही उसका संयोग होता है, वह सर्वथा स्वतंत्र होकर सब लोकों में स्वच्छन्द विचरता है, प्राणादिक सब उसी से उत्पन्न होते

फिर (एकादशः, स्मृतः) एकादश कहलाता है (शतं, च) सौ (दश, च) दश (एकः, च) एक (सहस्राणि, च) सहस्र और (विंशति) बीस होता है (आहारशुद्धौ) आहार के शुद्ध होने पर (सत्त्वशुद्धिः) अन्तःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण की शुद्धि से (ध्रुवा, स्मृतिः) उस भूमा परमात्मा का स्मरण होता है, स्मृति से (सर्वग्रन्थीनां) हृदय की सब ग्रन्थियों का (विप्रमोक्षः) नाश होजाता है, इस प्रकार सम्पूर्ण आख्यायिका को समाप्त करते हुए (भगवान्, सनत्कुमारः) भगवान् सनत्कुमार ने (मृदितकषायाय) शुद्धान्तःकरण (तस्मै) उस नारद को (तमसः) अज्ञानरूप अन्धकार से (पारं) पार परमात्म तत्त्वं को (दर्शयति) दर्शाया (तं) उस सनत्कुमार को (स्कन्द, इति) "स्कन्द" नाम से (आचक्षते) कथन करते हैं ॥

भाष्य-"तं स्कन्द इत्याचक्षते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है, जब नारद ने सनत्कुमार से कहा कि हे भगवन् ! मुझको अध्ययन कराओ तब सनत्कुमार ने नारद की परीक्षार्थ यह उत्तर दिया कि जो आपने अध्ययन किया है वह प्रथम सुनाओ उससे आगे हम कहेंगे, नारद ने उत्तर दिया कि यद्यपि मैंने ऋगादि सब वेद अन्य तर्क शास्त्रादि सब ग्रन्थ और ब्रह्मविद्यादि का भले प्रकार अध्ययन किया है तथापि मैं शोकातुर हूं तब सनत्कुमार ने कहा कि तुमने नाममात्र से उक्त सब वेदों तथा विद्याओं का अध्ययन किया है इसलिये तुम शोकातुर हो, आप संज्ञासंज्ञीभाव की उपासना करें अर्थात् इस तत्व को विचारें कि ऋगादिवेद किसका स्तवन करते हैं, फिर नारद ने पूछा कि हे भगवन् ! नाम से भी कोई बड़ा है ? सनत्कुमार ने

उत्तर दिया कि जिसमें सब नाम माला के मणकों के समा
पुरोये हुए हैं वह बाणी नाम से बड़ी है, इस प्रकार नाम से बाण
बाणी से मन, मन से सङ्कल्प, एवं उत्तरोत्तर श्रेष्ठ का उपदे
करते हुए अन्त में नारद को ब्रह्म का उपदेश किया, य
सनत्कुमार का नामादिकों की उपासना से तात्पर्य्य नहीं कि
सर्वोपरि ब्रह्म की उपासना के लिये विन्यास किया है अर्थ
सब पदार्थों का बलाबल कथन करते हुए अन्त में उसीको सर्वोप
ठहराया है और उसका स्वरूप यह वर्णन किया है कि वह सर्व
व्यापक तथा सर्वाधार है, ज्ञाता, श्रोता, मन्ता तथा बोद्धा
कोई उसके सदृश नहीं और जो श्रवण तथा मनन करने वा
जीव है वह भी उससे भिन्न अल्पज्ञ है, वह परमात्मा किसी मह
के आश्रित नहीं किन्तु सम्पूर्ण महत्व उसी के आश्रित हैं अर्थ
वही ऊपर वही नीचे वही पूर्व वही पश्चिम और दक्षिण उत्त
में सर्वत्र परिपूर्ण है, जब पुरुष अहंग्रह उपासना करता है त
वह यह कथन करता है कि "अहमेवाधस्तात् अहमुप
ष्टात्"=मैं ही नीचे और मैं ही ऊपर हूं, इसका का तात्पर्य
यह नहीं कि जीव ब्रह्म होकर यह कथन करता है किन्तु अहंग्र
उपासना के अभिप्राय से इस प्रकार का कथन है और जब उप
सक उसका आत्मत्वेन कथन करता है तब यह कहता है
आत्मा ही ऊपर आत्मा ही नीचे और आत्मा ही सब दिशा
में है, इस प्रकार जानने वाले पुरुष के लिये यह फल कथ
किया है कि वह ब्रह्म में ही क्रीडा करता है और ब्रह्म में
उसका संयोग होता है, वह सर्वथा स्वतंत्र होकर सब लो
में स्वच्छन्द विचरता है, प्राणादिक सब उसी से उत्पन्न

और उसी में लय को प्राप्त होते हैं, जब उपासक उसकी निदिध्यासनरूप भक्ति करता है तब उसका ऐसा सामर्थ्य बढजाता है कि वह अकेला ही मुक्ति अवस्था में अनेक शक्तियों को लाभ करता है, इसी अभिप्राय से "एकदा भवति" त्रिधामं भवति इत्यादि कथन किया है परन्तु यह सामर्थ्य उसको तब मिलता है जब आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि और अन्तः करण की शुद्धि से ध्रुवा स्मृति उत्पन्न होती है, उस ध्रुवा स्मृतिरूप कर्मजन्य सामर्थ्य से अन्तःकरण की सब ग्रन्थियें भेद को प्राप्त होकर परमात्मा का दर्शन होता है, इस तत्व का सनत्कुमार ने शुद्धान्तःकरण वाले नारद के प्रति उपदेश किया, श्रेष्ठता के कारण सनत्कुमार को "स्कन्द" नाम से कथन किया गया है ॥

इति श्रीमदर्य्यमुनिनोपनिबद्धे
उपनिषदार्य्यभाष्ये
सप्तमः प्रपाठकः
समाप्तः

ओ३म्

अथ अष्टमःप्रपाठकः प्रारभ्यते

सं०—सप्तम प्रपाठक में भूमा का भले प्रकार वर्णन करके अब इस प्रपाठक में दहराकाश का कथन करते हैं :—

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ १ ॥

पद०—अथ । यत् । इदं । अस्मिन् । ब्रह्मपुरे । दहरं । पुण्डरीकं । वेश्म । दहरः । अस्मिन् । अन्तराकाशः । तस्मिन् । यत् । अन्तः । तत् । अन्वेष्टव्यं । तत् । वाव । विजिज्ञासितव्यं । इति ।

पदा०—(अथ) अब दहराकाश का वर्णन करते हैं कि (अस्मिन्) इस (ब्रह्मपुरे) ब्रह्मपुर नाम शरीर में (यत्) जो (इदं) यह (दहरं) सूक्ष्म (पुण्डरीकं, वेश्म) हृदय कमलरूप गृह है (अस्मिन्) इसमें (दहरः) सूक्ष्म (अन्तराकाशः) मध्यवर्ती आकाश है (तस्मिन्) उस आकाश में (यत्) जो (अन्तः) अन्तर्वर्ती ब्रह्म है (तत्) वह (अन्वेष्टव्यं) खोजने योग्य और (वाव) निश्चय करके (तत्) वही (विजिज्ञासितव्यं, इति) जानने योग्य है ।

सं०–अब जिज्ञासु उक्त अर्थ में आशङ्का करता है :—

तञ्चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ २ ॥

पद०–तं। चेत्। ब्रूयुः। यत्। इदं। अस्मिन्। ब्रह्मपुरे। दहरं। पुण्डरीकं। वेश्म। दहरः। अस्मिन्। अन्तराकाशः। किं। तत्। अत्र। विद्यते। यत्। अन्वेष्टव्यं। यत्। वाव। विजिज्ञासितव्यं। इति।

पदा०–(चेत्) यदि (तं) उस आचार्य्य से (ब्रूयुः) शिष्य पूछे कि (अस्मिन्) इस (ब्रह्मपुरे) शरीर में (यत्) जो (इदं) यह (दहरं) सूक्ष्म (पुंण्डरीकं, वेश्म) हृदयकमलरूप गृह है और (अस्मिन्) इसमें जो (दहरः) सूक्ष्म (अन्तराकाशः) मध्यवर्ती आकाश है (अत्र) इस आकाश में (किं, तत्) कौन पदार्थ (विद्यते) विद्यमान है (यत्) जो (अन्वेष्टव्यं) अन्वेष्टव्य और (वाव) निश्चयकरके (यत्) जो (विजिज्ञासितव्यं, इति) विजिज्ञासितव्य है।

सं०–अब आचार्य्य उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:—

स ब्रूयात्, यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते। उभावग्निश्च

वायुश्च सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्रा-णि । यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तद-स्मिन् समाहितमिति ॥ ३ ॥

पद०—सः । ब्रूयात् । यावान् । वै । अयं । आकाशः । तावान् । एषः । अन्तर्हृदयः । आकाशः । उभे । अस्मिन् । द्यावापृथिवी । अन्तः । एव । समाहिते । उभौ । अग्निः । च । वायुः । च । सूर्य्याचन्द्रमसौ । उभौ । विद्युत् । नक्षत्राणि । यत् । च । अस्य । इह । अस्ति । यत् । च । न । अस्ति । सर्वं । तत् । अस्मिन् । समाहितं । इति ।

पदा०—(सः) आचार्य्य (ब्रूयात्) कथन करे कि (वै) निश्चयकरके (यावान्) जितना (अयं) यह (आ-काशः) आकाश है (तावान्) उतना ही (एषः) यह (अन्तर्हृदयः) हृदयान्तर्वर्ती (आकाशः) ब्रह्म है (अस्मिन्) इस ब्रह्म के (उभे) यह (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी (अन्तः, एव, समाहिते) निश्चयकरके अन्दर स्थित हैं (अग्निः, च, वायुः, च) अग्नि और वायु (उभौ) यह दोनों (सूर्य्या-चन्द्रमसौ) सूर्य्य और चन्द्रमा (उभौ) यह दोनों (विद्युत, नक्ष-त्राणि) विद्युत् और नक्षत्र यह सब उसी ब्रह्म में समाहित हैं (च) और (यत्) जो (अस्य) इस जिज्ञासु का (इह) इस लोक में जो कुछ (अस्ति) है (च) और (यत्) जो (न, अस्ति) नहीं है (तत्, सर्वं) वह सब (अस्मिन्, समाहितं, इति) इस ब्रह्म में स्थित है ॥

सं०—अब जिज्ञासु पुनः आशङ्का करता है :—

तञ्चेद्ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरावाऽऽप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ४ ॥

पद०—तं । चेत् । ब्रूयुः । अस्मिन् । चेत् । इदं । ब्रह्मपुरे । सर्वं । समाहितं । सर्वाणि । च । भूतानि । सर्वे । च । कामाः । यदा । एतत् । जरा । वा । आप्नोति । प्रध्वंसते । वा । किं । ततः । अतिशिष्यते । इति ।

पदा०—(चेत्) यदि (तं) उस आचार्य्य से शिष्य (ब्रूयुः) कहे कि (चेत्) यदि (अस्मिन्, ब्रह्मपुरे) इस ब्रह्मपुर में (इदं, सर्वं, समाहितं) यह सब स्थित है (च) और (सर्वाणि, भूतानि) सब भूतजात (च) और (सर्वे, कामाः) सब कामनायें स्थित हैं तो (यदा) जब (जरा) वृद्धावस्था (वा) अथवा कोई रोग (एतत्) इस शरीर को (आप्नोति) प्राप्त होता है तो (प्रध्वंसते) नष्ट होजाता है (वा) अथवा निर्बल होजाता है (ततः) तब (किं) क्या (अतिशिष्यते, इति) शेष रहजाता है ॥

सं०—अब आचार्य्य कथन करते हैं:—

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न बधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा वि-

जरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपा-
सः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथाह्येवेह
प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं
यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं
क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥

पद०—सः । ब्रूयात् । न । अस्य । जरया । एतत् । जीर्यति । न । बधेन । अस्य । हन्यते । एतत् । सत्यं । ब्रह्मपुरं । अस्मिन् । कामाः । समाहिताः । एषः । आत्मा । अपहतपाप्मा । विजरः । विमृत्युः । विशोकः । विजिघत्सः । अपिपासः । सत्यकामः । सत्य-सङ्कल्पः । यथा । हि । एव । इह । प्रजाः । अन्वाविशन्ति । यथा । अनुशासनं । यं । यं । अन्तं । अभिकामाः । भवन्ति । यं । जनपदं । यं । क्षेत्रभागं । तं । तं । एव । उपजीवन्ति ।

पदा०—(सः) वह आचार्य्य उक्त प्रश्नों का (ब्रूयात्) यह उत्तर देवे कि (अस्य, जरया) इस शरीर की जरावस्था से (एतत्) यह ब्रह्म (न, जीर्यति) जीर्ण नहीं होता (अस्य, बधेन) इसके बध से (न, हन्यते) हनन नहीं होता, क्योंकि (एतत्, ब्रह्मपुरं) यह ब्रह्म (सत्यं) अविनाशी है (अस्मिन्) इस ब्रह्म में (कामाः, समाहिताः) कामनायें सब प्रकार से स्थित हैं (एषः) यह ब्रह्म (आत्मा) सर्वव्यापक है (अपहतपाप्मा) पाप से रहित है (विजरः) जरावस्था रहित (विमृत्युः) मृत्यु से रहित (विशोकः) शोक से रहित (विजिघत्सः) खाने की इच्छा से रहित (अपिपासः) प्यास से रहित (सत्यकामः) सत्यका

और (सत्यसङ्कल्पः) सत्यसङ्कल्प है (इह) इस लोक में (हि) निश्चयकरके (यथा, एव) जिसप्रकार (प्रजाः) प्रजायें (यथा-नुशासनं) राजा की आज्ञानुकूल (अन्वाविशन्ति) चलने वाली होती हैं अर्थात् (यं, यं) जिस २ (अन्तं) सीमा की (यं, जनपदं) जिस २ प्रदेश (यं, क्षेत्रभागं) जिस२ विभाग की (अभिकामाः, भवन्ति) कामना करने वाली होती हैं (तं, तं, एव, उपजीवन्ति) उस २ का ही उपभोग करती हैं ॥

सं०—अब उक्त विषय में दृष्टान्त कथन करते हैं :—

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान् कामाꣳस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान् कामाꣳस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ६ ॥

पद०—तत् । यथा । इह । कर्मजितः । लोकः । क्षीयते । एवं । एव । अमुत्र । पुण्यजितः । लोकः । क्षीयते । तत् । ये । इह । आत्मानं । अननुविद्य । व्रजन्ति । एतान् । च । सत्यान् । कामान् । तेषां । सर्वेषु । लोकेषु । अकामचारः । भवति । अथ । ये । इह । आत्मानं । अनुविद्य । व्रजन्ति । एतान् । च । सत्यान् । कामान् । तेषां । सर्वेषु । लोकेषु । कामचारः । भवति ।

पदा०-(तत्र) उक्त विषय में यह दृष्टान्त है कि (यथा) जिसप्रकार (इह) इसलोक में (कर्मजितः) कृषि वा सेवा आदि से (लोकः) प्राप्त हुआ धन भोग से अथवा अन्य प्रकार से (क्षीयते) क्षय होजाता है (एवं,एव) इसी प्रकार (अमुत्र, पुण्यजितः) परलोक में दानादि पुण्य से उपार्जित (लोकः) भोगसाधन (क्षीयते) क्षय होजाते हैं, इसलिये ब्रह्म की उपासना निष्काम करनी चाहिये (तत्र) उक्त विषय में दूसरा दृष्टान्त यह है कि (इह) इस लोक में (ये) जो अविद्वान् पुरुष (आत्मानं) परमात्मा को (च) और (एतान्, सत्यान्, कामान्) इन सत्यकामनाओं को (अननुविद्य) भले प्रकार न जानते हुए (व्रजन्ति) यहां से प्रस्थान करते हैं (तेषां) उन अज्ञानी पुरुषों का (सर्वेषु, लोकेषु) सब लोकों में (अ-कामचारः, भवति) स्वच्छन्दगमन नहीं होता (अथ) और (ये) जो विद्वान् पुरुष (इह) इस लोक में (आत्मानं) परमात्मा को (च) और (एतान्, सत्यान्, कामान्) इन सत्यकामनाओं को (अनुविद्य) जानकर (व्रजन्ति) यहां से पयान करते हैं (तेषां, सर्वेषु, लोकेषु) उनका सब लोकों में (कामचारः, भवति) कामचार होता है ।

भाष्य-इस खण्ड में दहराकाश * का वर्णन कियागया है कि इस शरीर में जो सूक्ष्म हृदयकमलरूप गृह है उसमें सूक्ष्मता से ब्रह्म व्यापक है, उसमें जो ब्रह्म है वह भले प्रकार खोजने और जानने योग्य है, यदि यहां कोई यह आशङ्का करे कि इस शरीर में जो सूक्ष्म हृदयकमलरूप गृह उसमें जो सूक्ष्म आकाश है उस आ-

* दहराकाश यहां ब्रह्म का नाम है जिसका "वेदान्तार्यभाष्य" ब्र० सू० १ । ३ । १३ में भले प्रकार वर्णन कियागया है ।

काश में कौन सूक्ष्मपदार्थ विद्यमान है जो अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासितव्य है? इसका उत्तर आचार्य्य ने यह दिया कि जितना यह बाह्य आकाश है उतना ही यह हृदयान्तर्वर्त्ति ब्रह्म है, प्रश्न—तो ब्रह्म परिच्छिन्न हुआ? उत्तर–ब्रह्म अपरिच्छिन्न है, यहां आकाश के तुल्य परिमाण का ग्रहण नहीं किन्तु ब्रह्म के समान अन्य दृष्टान्त न मिलने के कारण यहां बाह्याकाश का दृष्टान्त दिया गया है आकाश के परिमाण समान ब्रह्म नहीं, क्योंकि वेद में इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जिसमें आकाश भी सम्मिलित है परमात्मा का एकपादस्थानीय कथन किया है, जैसाकि "पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि" यजु० ३१।३=यह सब ब्रह्माण्ड उस महान् परमात्मा का एकपाद स्थानीय और तीन पाद अमृत हैं, इसलिये आकाश परिमाण के समान ब्रह्म का परिमाण मानना ठीक नहीं, दूसरी बात यह है कि "तस्माद्वाएतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" तैत्ति० ब्रह्मा०अ०१।३इत्यादि वाक्यों में परमात्मा से आकाश की उत्पत्ति कथन कीगई है फिर समानता किस प्रकार होसक्ती है, उसी ब्रह्म में द्युलोक, पृथिवीलोक, अग्नि, वायु, सूर्य्य, चन्द्रमा, विद्युत् और नक्षत्र यह सब समाहित हैं, अधिक क्या जीवात्मा का जो इस लोक में है और जो नहीं है अर्थात् जो कुछ होचुका है वा होगा वह सब परमात्मा में समाहित है, दूसरा प्रश्न यह होता है कि यदि इस ब्रह्मपुर में यह सब स्थित है अर्थात् सब भूतजात और उनकी सब कामनायें स्थित हैं तो जब इस शरीर को वृद्धावस्था प्राप्त होती अथवा नष्ट होजाता है तो क्या शेष रहजाता है अर्थात् ब्रह्म को भी जरा मृत्यु अवश्य

होना चाहिये ? इसका उत्तर आचार्य्य ने यह दिया है कि इस शरीर की जरावस्था मे ब्रह्म जर्जर नहीं होता और नाही इस शरीर के बध से ब्रह्म का हनन होता है, क्योंकि वह अविनाशी है, इसी भाव को कठ० २।१८ में इस प्रकार वर्णन किया है कि :—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजोऽनित्यः शाश्वतोऽयम् पुराणो न हन्यते हन्यमानेशरीरे ॥

अर्थ—परमात्मा न उत्पन्न होता और न मरता है, उसका कोई उपादान कारण नहीं और न यह किसी का उपादान कारण है, यह अजन्मा, नित्य, अनादि और सनातन है, शरीर के नाश होने पर यह नाश नहीं होता, सब कामनायें इसमें स्थित हैं, वह सर्वव्यापक तथा पाप से रहित है, जरावस्था तथा मृत्यु से रहित, शोक से रहित, खाने की इच्छा और पिपासा से रहित है, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है, जो उपासक उस परमपिता परमात्मा की आज्ञापालन करता हुआ जिस २ पदार्थ की कामना करता है वही उसको प्राप्त होजाता है परन्तु जिसप्रकार कृषि अथवा सेवा आदि से प्राप्त किया हुआ धन भोग वा अन्य प्रकार से क्षय होजाता है इसी प्रकार सकामकर्मी के दानादि पुण्य से उपार्जित भोगसाधन क्षय होजाते हैं निष्काम कीहुई उपासना ही फल दायक होती है सकाम नहीं, इसीलिये कहा है कि जो विद्वान्=ब्रह्मवेत्ता परमात्मा तथा सत्य कामनाओं को भले प्रकार जानता हुआ यहां से पयान करता है उस ज्ञानी

पुरुष का सब लोकों में स्वच्छन्दगमन होता है और सकामकर्मी अविद्वान् जिसने परमात्मा और सत्य कामनाओं को नहीं जाना वह बार २ जन्म मरण को प्राप्त होकर अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है ॥

इति प्रथमःखण्डः समाप्तः

अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब उक्त ब्रह्मवेत्ता मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य कथन करते हैंः—

स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ १ ॥

पद०—सः । यदि । पितृलोककामः । भवति । सङ्कल्पात् । एव । अस्य । पितरः । समुत्तिष्ठन्ति । तेन । पितृलोकेन । सम्पन्नः । महीयते ।

पदा०—(सः) वह मुक्त पुरुष (यदि) यदि (पितृलोककामः) पितृलोक की कामना वाला (भवति) होता है तो (अस्य) इसके (सङ्कल्पात्, एव) सङ्कल्प से ही (पितरः, समुत्तिष्ठन्ति) पितर उपस्थित होजाते हैं (तेन, पितृलोकेन) उन पितरों से (सम्पन्नः) सम्पन्न होकर (महीयते) ऐश्वर्य्य को प्राप्त होता है ॥

अथ यदि मातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्यमातरः समुत्तिष्ठन्ति । तेन

मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ २ ॥

पद०—अथ। यदि। मातृलोककामः। भवति। सङ्कल्पात्। एव। अस्य। मातरः। समुत्तिष्ठन्ति। तेन। मातृलोकेन। सम्पन्नः। महीयते।

पदा०—(अथ) और (यदि) यदि वह मुक्त पुरुष (मातृलोककामः) मातृलोक की कामना वाला (भवति) होता है तो (अस्य) इसके (सङ्कल्पात्, एव) सङ्कल्प से ही (मातरः, समुत्तिष्ठन्ति) मातायें उपस्थित होजाती हैं (तेन, मातृलोकेन) उन माताओं से (सम्पन्नः) सम्पन्न होकर (महीयते) पूजा जाता है ॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति। तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ३ ॥

पद०—अथ। यदि। भ्रातृलोककामः। भवति। सङ्कल्पात्। एव। अस्य। भ्रातरः। समुत्तिष्ठन्ति। तेन। भ्रातृलोकेन। सम्पन्नः। महीयते।

पदा०—(अथ) और (यदि) यदि वह (भ्रातृलोककामः) भ्रातृलोक की कामना वाला (भवति) होता है तो (सङ्कल्पात्, एव) सङ्कल्प से ही (अस्य) इसके (भ्रातरः, समुत्तिष्ठन्ति) भ्राता उपस्थित होजाते हैं (तेन, भ्रातृलोकेन) उन भ्राताओं से (सम्पन्नः) सम्पन्न होकर (महीयते) पूज्य होता है ॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन

स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ४ ॥

पद०—अथ । यदि । स्वसृलोककामः । भवति । सङ्कल्पात् । एव । अस्य । स्वसारः । समुत्तिष्ठन्ति । तेन । स्वसृलोकेन । सम्पन्नः । महीयते ।

पदा०—(अथ) और (यदि) यदि वह (स्वसृलोककामः) स्वसृलोक की कामना वाला (भवति) होता है तो (सङ्कल्पात्, एव) सङ्कल्प से ही (अस्य) इसकी (स्वसारः, समुत्तिष्ठन्ति) बहनें उपस्थित होजाती हैं (तेन) उन (स्वसृलोकेन) बहिनों से (सम्पन्नः) सम्पन्न होकर (महीयते) प्रतिष्ठित होता है ॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ५ ॥

पद०—अथ । यदि । सखिलोककामः । भवति । सङ्कल्पात् । एव । अस्य । सखायः । समुत्तिष्ठन्ति । तेन । सखिलोकेन । सम्पन्नः । महीयते ।

पदा०—(अथ) और (यदि) यदि वह (सखिलोककामः) सखिलोक की कामना वाला (भवति) होता है तो (सङ्कल्पात्, एव) सङ्कल्प से ही (अस्य) इसके (सखायः, समुत्तिष्ठन्ति) सखा उपस्थित होजाते हैं (तेन, सखिलोकेन) उन सखाओं से (सम्पन्नः) सम्पन्न होकर (महीयते) ऐश्वर्य्यशाली होता है ॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति

सङ्कल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठत-स्तेनगन्धमाल्यलोकेनसम्पन्नोमहीयते।६।

पद०-अथ। यदि। गन्धमाल्यलोककामः। भवति। सङ्कल्पात्। एव। अस्य। गन्धमाल्ये। समुत्तिष्ठतः। तेन। गन्धमाल्यलोकेन। सम्पन्नः। महीयते।

पदा०-(अथ) और (यदि) यदि वह (गन्धमाल्यलोककामः) गन्ध माला की कामना वाला (भवति) होता है तो (सङ्कल्पात्, एव) सङ्कल्प से ही (अस्य) इसको (गन्धमाल्ये, समुत्तिष्ठतः) गन्धमाला उपस्थित होजाती हैं (तेन, गन्धमाल्यलोकेन) उन गन्धमालाओं से (सम्पन्नः) सम्पन्न होकर (महीयते) पूजा जाता है॥

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन सम्पन्नो महीयते॥७॥

पद०-अथ। यदि। अन्नपानलोककामः। भवति। सङ्कल्पात्। एव। अस्य। अन्नपाने। समुत्तिष्ठतः। तेन। अन्नपानलोकेन। सम्पन्नः। महीयते।

पदा०-(अथ) और (यदि) यदि वह (अन्नपानलोककामः, भवति) अन्न पान की कामना वाला होता है तो (सङ्कल्पात्, एव) सङ्कल्प से ही (अस्य) इसको (अन्नपाने समुत्तिष्ठतः) अन्न पान उपस्थित होजाते हैं (तेन, अन्नपानलोकेन

उस अन्नपान से (सम्पन्नः) सम्पन्न होकर (महीयते) ऐश्वर्य्य-शाली होता है ॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन सम्पन्नो महीयते ८

पद०–अथ । यदि । गीतवादित्रलोककामः । भवति । सङ्कल्पात् । एव । अस्य । गीतवादित्रे । समुत्तिष्ठतः । तेन । गीतवादित्रलोकेन । सम्पन्नः । महीयते ।

पदा०–(अथ) और (यदि) यदि वह (गीतवादित्रलोककामः) गीत तथा वादित्र की कामना वाला (भवति) होता है तो (सङ्कल्पात्, एव) सङ्कल्प से ही (अस्य) इसको (गीतवादित्रे, समुत्तिष्ठतः) गीत तथा वादित्र=बाजा उपस्थित होते हैं (तेन, गीतवादित्रलोकेन) उन गीतवादित्र की प्राप्ति से (सम्पन्नः) सम्पन्न होकर (महीयते) प्रतिष्ठित होता है ॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेनसम्पन्नो महीयते ॥ ९ ॥

पद०–अथ । यदि । स्त्रीलोककामः । भवति । सङ्कल्पात् । एव । अस्य । स्त्रियः । समुत्तिष्ठन्ति । तेन । स्त्रीलोकेन । सम्पन्नः । महीयते ।

पदा०–(अथ) और (यदि) यदि वह (स्त्रीलोककामः, भवति) स्त्री की कामना वाला होता है तो (सङ्कल्पात्, एव)

सङ्कल्प से ही (अस्य) इसको (स्त्रियः) स्त्रियां (समुत्तिष्ठन्ति) प्राप्त होजाती हैं (तेन, स्त्रीलोकेन) उन स्त्रियों से (सम्पन्नः) सम्पन्न होकर (महीयते) प्रतिष्ठित होता है॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते ॥ १० ॥

पद०-यं। यं। अन्तं। अभिकामः। भवति। यं। कामं। कामयते। सः। अस्य। सङ्कल्पात्। एव। समुत्तिष्ठति। तेन। सम्पन्नः। महीयते।

पदा०-वह मुक्त पुरुष (यं, यं) जिस २ (अन्तं) पदार्थ की (अभिकामः, भवति) कामना वाला होता है (यं) उक्त कामनाओं से अतिरिक्त (कामं, कामयते) जिस २ कामना को करता है (सः) वह (अस्य) उसको (सङ्कल्पात्, एव) सङ्कल्प से ही (समुत्तिष्ठति) प्राप्त होजाती हैं (तेन, सम्पन्नः) उन कामनाओं से सम्पन्न होकर (महीयते) पूज्य होता है॥

भाष्य-इस खण्ड में मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य इस प्रकार वर्णन किया है कि वह सब लोकलोकान्तरों में स्वेच्छाचारी होकर विचरता है और उसका ऐसा अपूर्व सामर्थ्य होता है कि उसके लिये सब भोग आत्मभूत होते हैं अर्थात् अपने सामर्थ्य से ही उक्त भोगों को लाभ करलेता है किसी विषयान्तर की उसको आवश्यकता नहीं होती।

इति द्वितीयःखण्डः समाप्तः

अथ तृतीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब जिन कारणों से उक्त ऐश्वर्य्य प्राप्त नहीं होता उनका कथन करते हैं :—

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाᳪ सत्यानाᳬसतामनृतमपिधानं योयो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते।१।

पद०—ते। इमे। सत्याः। कामाः। अनृतापिधानाः। तेषां। सत्यानां। सतां। अनृतं। अपिधानं। यः। यः। हि। अस्य। इतः। प्रैति। न। तं। इह। दर्शनाय। लभते।

पदा०—(ते, इमे, कामाः, सत्याः) वह उक्त सब कामनायें सत्य हैं परन्तु सब को प्राप्त नही होतीं, क्योंकि(अनृतापिधानाः) अनृत रूप ढकने से ढकी हुई हैं अर्थात् (तेषां, सत्यानां) उन सत्य कामनाओं को ढकने वाला (सतां) निरन्तर सब के हृदयों में वर्त्तमान (अनृतं) अनृतरूप अविद्या ही (अपिधानं) ढकना है, इसी कारण (हि) निश्चकरके (इतः) यहां से (अस्य) इसका (यं, यं) जो २ (प्रैति) मरकर जाता है (तं) उसके (दर्शनाय) दर्शन की (इह) यहां इच्छा करता हुआ भी (न, लभते) प्राप्त नहीं करसकता॥

सं०—अब सत्यकामनाओं के ज्ञाता विद्वान् पुरुष को फल कथन करते हैं :—

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्रगत्वा विन्द-

तेऽत्र ह्यस्यैते सत्याःकामा अनृतापिधा-नास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षे-त्रज्ञा उपर्य्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेव मेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः॥२॥

पद०—अथ। ये। च। अस्य। इह। जीवाः। ये। च। प्रेताः। यत्। च। अन्यत्। इच्छन्। न। लभते। सर्वं। तत्। अत्र। गत्वा। विन्दते। अत्र। हि। अस्य। एते। सत्याः। कामाः। अनृतापिधानाः। तत्। यथा। अपि। हिरण्यनिधिं। निहितं। अक्षेत्रज्ञाः। उपरि। उपरि। सञ्चरन्तः। न। विन्देयुः। एवं। एव। इमाः। सर्वाः। प्रजाः। अहः। अहः। गच्छन्त्यः। एतं। ब्रह्मलोकं। न। विन्दन्ति। अनृतेन। हि। प्रत्यूढाः।

पदा०—(अथ) और (अस्य) इस विद्वान् पुरुष के (ये, च) जो सम्बन्धी (इह) इसलोक में (जीवाः) जीवित हैं (च) और (ये) जो (प्रेताः) मरगये हैं (यत्, च, अन्यत्) और जो अन्य पदार्थ हैं उन सबकी (इच्छन्) इच्छा करता हुआ भी (न, लभते) प्राप्त नहीं करसकता, और विद्वान् पुरुष (तत्, सर्वं) इन सब को (अत्र, गत्वा) परमात्मा के निकट जाकर (विन्दते) प्राप्त करता है (हि) क्योंकि (अत्र) ब्रह्म में (अस्य) विद्वान् पुरुष के लिये ही (एते, सत्याः, कामाः) यह सत्य कामनायें हैं जो (अनृतापिधानाः) अनृत से ढ़की हुई हैं (तत्) उक्त विषय में दृष्टान्त है कि (यथा) जैसे (अक्षेत्रज्ञाः) क्षेत्र का स्वामी क्षेत्र को भलेप्रकार न जानने वाला (उपरि, उपरि,

सञ्चरन्तः) ऊपर २ व्यापार करते हुए (अपि) भी (निहिते) क्षेत्र के भीतर गढ़ी हुई (हिरण्यनिधिं) हिरण्यनिधि को (न, विन्देयुः) नहीं जानते (एवं, एव) इसी प्रकार (इमाः, सर्वाः, प्रजाः) यह सब प्रजायें (अहः, अहः) प्रतिदिन (गच्छन्त्यः) ब्रह्म को प्राप्त होती हुई भी (अनृतेन, हि, प्रत्यूढाः) अनृत से ढकी हुई होने के कारण (एतं) इस (ब्रह्मलोकं, न, विन्दन्ति) ब्रह्म को लाभ नहीं करसक्तीं ॥

सं०—अब आत्मा का स्वरूप कथन करते हैं :—

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तꣳहृद्ययमिति तस्माद्धृदयमहर हर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ३ ॥

पद०—सः । वै । एषः । आत्मा । हृदि । तस्य । एतत् । एव । निरुक्तं । हृदि । अयं । इति । अस्मात् । हृदयं । अहः । अहः । वै । एवंवित् । स्वर्गं । लोकं । एति ।

पदा०—(वै) निश्चयकरके (सः, एषः, आत्मा) सो यह आत्मा (हृदि) हृदय देश में है (तस्य, एतत्, एव, निरुक्तं) उसका यही निर्वचन है कि (हृदि, अयं, इति, तस्मात्, हृदयं) हृदय में यह आत्मा है इसी कारण इसको " हृदय " कहते हैं (एवंवित्) ऐसा जानने वाला (वै) निश्चय करके (अहः, अहः) प्रतिदिन (स्वर्गं, लोकं, एति) उच्च अवस्था को प्राप्त होता है ।

भाष्य—हृद्+अयं=हृदयं=हृदय में अयं=आत्मा होने से इसका नाम " हृदय " है, जो पुरुष परमात्मा को अपने हृदय

में निरन्तर विद्यमान मानकर सांसारिक यात्रा करते हैं वह सदा ही उन्नत होते हैं अर्थात् वह परमात्मा के न्यायरूप दण्ड से भयभीत होकर वेदोक्त आज्ञा का पालन करने के कारण पाप के भागी नहीं होते, वह सदा ही सत्य का अवलम्बन करते हैं, इसीलिये कथन किया है कि उनकी उच्च अवस्था होती है॥

सं०-अब उस ब्रह्म का प्रकारान्तर से कथन करते हैं:—

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति। तस्य हवा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति॥ ४॥

पद०-अथ। यः। एषः। सम्प्रसादः। अस्मात्। शरीरात्। समुत्थाय। परं। ज्योतिः। उपसम्पद्य। स्वेन। रूपेण। अभिनिष्पद्यते। एषः। आत्मा। इति। हं। उवाच। एतत्। अमृतं। अभयं। एतत्। ब्रह्म। इति। तस्य। ह। वै। एतस्य। ब्रह्मणः। नाम। सत्यं। इति।

पदा०-(अथ) और (यः) जो (एषः) यह (सम्प्रसादः) जीवात्मा है वह (अस्मात्, शरीरात्, समुत्थाय) इस शरीर को त्याग (परं, ज्योतिः, उपसम्पद्य) परमात्मा को प्राप्त होकर (स्वेन, रूपेण, अभिनिष्पद्यते) अपने निजरूप से वर्त्तमान हुआ२ उसी में विचरता है (इति, हं, उवाच) आचार्य्य बोले कि हे शिष्यो!

(एषः) जिसमें यह जीवात्मा स्थित होता है वही (आत्मा) परमात्मा है (एतत्, अमृतं) वही अमृत (अभयं) अभय (एतत्, ब्रह्म, इति) यही ब्रह्म है (ह, वै) निश्चयकरके (तस्य) उस (एतस्य, ब्रह्मणः, नाम, इति) इस ब्रह्म का नाम सत्य है ॥

सं०—अब ब्रह्म के उक्त "सत्य" नाम की व्याख्या करते हैंः—

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि "स ति यमिति" तद्यत् "सत्" तदमृतमथ यत् "ति" तन्मर्त्यमथ यत् "यम्" तेनोभे यच्छति । यदनेनोभे यच्छति तस्माद् "यम्" अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ५ ॥

पद०—तानि । ह । वै । एतानि । त्रीणि । अक्षराणि । स । ति । यं । इति । तत् । यत् । सत् । तत् । अमृतं । अथ । यत् । ति । तत् । मर्त्यं । अथ । यत् । यं । तेन । उभे । यच्छति । यत् । अनेन । उभे । यच्छति । तस्मात् । यं । अहः । अहः । वै । एवंवित् । स्वर्गं । लोकं । एति ।

पदा०—(ह, वै) निश्चयकरके ब्रह्म के "सत्य" नाम में (स, ति, यं, इति) स, ति, य (तानि, एतानि, त्रीणि, अक्षराणि) यह तीन अक्षर हैं (तत्) इन अक्षरों में (यत्) जो (सत्) सकार है (तत्, अमृतं) वह अमृत है (अथ) और (यत्, ति)

जो तकार है (तत्, मर्त्यं) वह मर्त्य है (अथ) और (यत्, यं) जो यकार अक्षर है (तेन, उभे, यच्छति) यह अक्षर उक्त दोनों को नियम में रखता है (तस्मात्) इसीकारण (यं) " य " कहलाता है (वै) निश्चयकरके (एवंवित्) ऐसा जानने वाला (अहः, अहः) प्रतिदिन (स्वर्गं, लोकं, एति) उच्च अवस्था को प्राप्त होता है।

भाष्य-" सत्य ", पद में स+त+य यह तीन अक्षर हैं " स " का अर्थ अमृत जीवात्मा तथा " त " का अर्थ मर्त्य= प्रकृति और " य " का अर्थ ब्रह्म है अर्थात् जीव और प्रकृति को जो अपने अधीन रखता है उसका नाम " सत्य " है, यहां परिवर्त्तनशील होने से प्रकृति को "मर्त्य" कहागया है, क्योंकि उसके महदादि कार्य्य आविर्भाव तिरोभाव को प्राप्त होते हैं, जो सत्य को भलेप्रकार जानता है वह प्रतिदिन उच्चगति को प्राप्त होता है ॥

इति तृतीयःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्थःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब परमात्मा को सेतु कथन करते हैं :—

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोका-नामसम्भेदायनैतᳩं सेतुमहोरात्रे तरतो न

जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्॥१

पद०—अथ। यः। आत्मा। सः। सेतुः। विधृतिः। एषां। लोकानां। असम्भेदाय। न। एतं। सेतुं। अहोरात्रे। तरतः। न। जरा। मृत्युः। न। शोकः। न। सुकृतं। न। दुष्कृतं।

पदा०—(अथ) और (यः) जो (आत्मा) परमात्मा पूर्व अपहत पाप्मादि विशेषणविशिष्ट कथन कियागया है (सः, सेतुः) वह सेतु है, क्योंकि (एषां, लोकानां) इन लोकलोकान्तरों को (असम्भेदाय) नियम में रखता है (एतं, सेतुं) इस सेतु को (अहोरात्रे, न, तरतः) दिन और रात्रि प्राप्त नहीं करसक्ते (न, जरा) न जरा अवस्था (न, मृत्युः) न मृत्यु (न, शोकः) न शोक (न, सुकृतं) न धर्म और (न, दुष्कृतं) न अधर्म इस सेतु को प्राप्त करसक्ते हैं।

भाष्य—वह परमात्मा जो इस सारे ब्रह्माण्ड को नियम में चलाने वाला है वह अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु और विशोकादि विशेषण युक्त है, वही इस संसार का सेतु है अर्थात् यदि ईश्वर इस जगत् को धारण न करे तो इसमें गड़बड़ होकर यह तत्काल ही नष्ट होजाय, इस संसार की रक्षा के लिये ब्रह्म ही सेतु और विधृति है और उसको अमृत का भी सेतु कथन किया है, जैसाकि:—

"यस्मिन् द्यौःपृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्चसर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः" मुण्ड० २।२।५

अर्थ—जिस अविनाशी ब्रह्म में द्युलोक, पृथिवीलोक,

अन्तरिक्ष लोक और सब इन्द्रियों के साथ मन जिसमें ओतप्रोत है उस आत्मा को जानो, उससे भिन्न अन्य वाणियों को छोड़दो, क्योंकि वही अमृत का सेतु है, इसी भाव को यजु० ३१ । १८ में इसप्रकार वर्णन किया है कि "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"=उसी को जानकर पुरुष मृत्यु का अतिक्रमण करजाता है अन्य कोई मार्ग नहीं, यह दिन और रात्रि जो पुरुष की आयु को क्षीण करके मृत्यु को प्राप्त कराते हैं वह उसको प्राप्त नहीं करसक्ते और न जरा, न मृत्यु, न शोक, न मोह, न धर्म और न अधर्म वहां तक पहुंच सक्ते हैं वह इन सब से परे सत्यस्वरूप है, जैसाकि वर्णन किया गया है, जो पुरुष उसकी आज्ञा का पालन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं वह भी परमात्मा के उक्त गुणों को धारण करके अमृत होजाते हैं ॥

सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकस्तस्माद्वा एतꣳसेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति । तस्माद्वा एतꣳसेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते । सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥

पद०—सर्वे । पाप्मानः । अतः । निवर्त्तन्ते । अपहतपाप्मा ।

हि। एषः। ब्रह्मलोकः। तस्मात्। वै। एतं। सेतुं। तीर्त्वा। अन्धः। सन्। अनन्धः। भवति। विद्धः। सन्। अविद्धः। भवति। उपतापी। सन्। अनुपतापी। भवति। तस्मात्। वै। एतं। सेतुं। तीर्त्वा। अपि। नक्तं। अहः। एव। अभिनिष्पद्यते। सकृद्विभातः। हि। एव। एषः। ब्रह्मलोकः।

पदा०-(अतः) उक्त विशेषण युक्त परमात्मा से (सर्वे, पाप्मानः, निवर्त्तन्ते) सब पाप निवृत्त होजाते हैं (हि) क्योंकि (एषः, ब्रह्मलोकः) यह ब्रह्म (अपहतपाप्मा) पाप से रहित है (तस्मात्) इसीकारण (वै) निश्चयकरके (एतं, सेतुं) इस सेतु से (तीर्त्वा) तरकर (अन्धः, सन्, अनन्धः, भवति) अन्ध नेत्रवाला होता है (विद्धः, सन्, अविद्धः, भवति) दुखी पुरुष सुखी होता है (उपतापी, सन्, अनुपतापी, भवति) रोगी अरोगी=रोगरहित होता है (वै) निश्चयकरके (तस्मात्) इसी कारण (एतं, सेतुं, तीर्त्वा) इस सेतु को प्राप्त करके (नक्तं, अपि) रात्रि भी (अहः, एव) दिन ही (अभिनिष्पद्यते) हो जाती है (हि) क्योंकि (एषः, ब्रह्मलोकः) यह ब्रह्म (सकृत्) सर्वदा (विभातः, एव) प्रकाशस्वरूप है ॥

सं०-अब उक्त ब्रह्म के ज्ञाता को फल कथन करते हैं :—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥

पद०—तत् । ये । एव । एतं । ब्रह्मलोकं । ब्रह्मचर्य्येण । अनुविन्दन्ति । तेषां । एव । एषः । ब्रह्मलोकः । तेषां । सर्वेषु । लोकेषु । कामचारः । भवति ।

पदा०—(तत्) वह पुरुष (ये) जो (एव) निश्चयकरके (ब्रह्मचर्य्येण, ब्रह्मलोकं, अनुविन्दन्ति) ब्रह्मचर्य्य द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करते हैं (तेषां, एव) उन्हीं को (एषः, ब्रह्मलोकः) यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता और (तेषां) उन्हीं का (सर्वेषु, लोकेषु) सब लोकों में (कामचारः, भवति) स्वच्छन्द गमन होता है ॥

इति चतुर्थःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब ब्रह्मचर्य्य को यज्ञरूप से वर्णन करते हैं :—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मानमनुविन्दते ॥ १ ॥

पद०—अथ । यत् । यज्ञः । इति । आचक्षते । ब्रह्मचर्य्यं । एव । तत् । ब्रह्मचर्य्येण । हि । एव । यः । ज्ञाता । तं । विन्दते । अथ । यत् । इष्टं । इति । आचक्षते । ब्रह्मचर्य्यं । एव । तत् । ब्रह्मचर्य्येण । हि । एव । इष्ट्वा । आत्मानं । अनुविन्दते ।

पदा०-(अथ) अब यह कथन करते हैं कि (यत्)जिसको (यज्ञः, इति, आचक्षते) यज्ञ कहते हैं वह (ब्रह्मचर्य्य, एव) ब्रह्मचर्य्य ही है (हि) क्योंकि (तत्, एव, ब्रह्मचर्य्येण) उस ब्रह्मचर्य्य से ही (यः, ज्ञाता) जो ज्ञाता होता है (तं) वही ब्रह्म को (विन्दते) प्राप्त होता है (अथ) और (यत्) जिसको (इष्टं, इति, आचक्षते) इष्ट कहते हैं (तत्, ब्रह्मचर्य्य, एव) वह ब्रह्मचर्य्य ही है (हि) क्योंकि (ब्रह्मचर्य्येण, एव) ब्रह्मचर्य्य द्वारा ही (इष्ट्वा, आत्मानं, अनुविन्दते) यजन करके ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

भाष्य-वेद तथा शास्त्रों में ब्रह्मप्राप्ति के अनेक साधन कथन किये हैं परन्तु मुख्य साधन ब्रह्मचर्य्य ही है और इसी कारण इसको महर्षियों ने यज्ञरूप से वर्णन किया है अर्था जिसके द्वारा जानाजाय उसको "यज्ञ" कहते हैं, सो यहां यज्ञनाम ब्रह्मचर्य्य का है, क्योंकि ब्रह्मचर्य्य द्वारा ही उस परम पिता परमात्मा का ज्ञान होता है, जैसाकि :—

ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्वराभरत ॥
अथर्व० ११ । ३ । १९

अर्थ-ब्रह्मचर्य्य के प्रभाव से ही विद्वान् मृत्यु को जय करके दीर्घायु होते हैं और परमात्मा भी ब्रह्मचारी विद्वानों कोही प्राप्त होता और उनको सम्पूर्ण सुख देता है ॥

अथ यत्सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं

विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्य मेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येवाऽऽत्मानमनुविद्य मनुते ॥ २ ॥

पद०–अथ। यत्। सत्रायणं। इति। आचक्षते। ब्रह्मचर्य्यं। एव। तत्। ब्रह्मचर्य्येण। हि। एव। सतः। आत्मनः। त्राणं। विन्दते। अथ। यत्। मौनं। इति। आचक्षते। ब्रह्मचर्य्यं। एव। तत्। ब्रह्मचर्य्येण। हि। एव। आत्मानं। अनुविद्य। मनुते।

पदा०–(अथ) और (यत्) जिसको (सत्रायणं, इति, आचक्षते) सत्रायण यज्ञ * कहते हैं (तत्, ब्रह्मचर्य्यं, एव) वह ब्रह्मचर्य्य ही है (हि) क्योंकि (ब्रह्मचर्य्येण, एव) ब्रह्मचर्य्य से ही (सतः, आत्मनः) अविनाशी जीव की (त्राणं, विन्दते) रक्षा होती है (अथ) और (यत्, मौनं, इति, आचक्षते) जिसको मौन कहते हैं (तत्, ब्रह्मचर्य्यं, एव) वह ब्रह्मचर्य्य ही है (हि) क्योंकि (ब्रह्मचर्य्येण, एव) ब्रह्मचर्य्य से ही (आत्मानं, अनुविद्य, मनुते) परमात्मा को भले प्रकार जानकर मनन करता है ॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तदेषह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्या-

---

* सत्रायण यज्ञ का वर्णन "मीमांसार्य्यभाष्य" में विस्तार पूर्वक किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें, और "मौन" शब्द का अर्थ "गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्य" में देखें।

चक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितोदिवि तदैरं मदीयँ सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणःप्रभुविमितँ हिरण्मयम्॥३

पद०—अथ । यत् । अनाशकायनं । इति । आचक्षते । ब्रह्मचर्य्यं । एव । तत् । एषः । हि । आत्मा । न । नश्यति । यं । ब्रह्मचर्य्येण । अनुविन्दते । अथ । यत् । अरण्यायनं । इति । आचक्षते । ब्रह्मचर्य्यं । एव । तत् । अरः । च । ह । वै । ण्यः । च । अर्णवौ । ब्रह्मलोके । तृतीयस्यां । इतः । दिवि । तत् । ऐरं । मदीयं । सरः । तत् । अश्वत्थः । सोमसवनः । तत् । अपराजिता । पूः । ब्रह्मणः । प्रभुविमितं । हिरण्मयम् ।

पदा०—(अथ) और (यत्) जिसको (अनाशकायनं) इति, आचक्षते) अनाशकायन यज्ञ कहते हैं (तत्, ब्रह्मचर्य्यं, एव) वह ब्रह्मचर्य्य ही है (हि) क्योंकि (एषः, आत्मा, न, नश्यति) यह आत्मा नष्ट नहीं होता (यं) जिसको (ब्रह्मचर्य्येण, अनुविन्दते) ब्रह्मचर्य्य से प्राप्त करते हैं (अथ) और (यत्, अरण्यायनं, इति, आचक्षते) जिसको अरण्यायन यज्ञ कहते हैं (तत्, ब्रह्मचर्य्यं, एव) वह ब्रह्मचर्य्य ही है (ह, वै)निश्चयकरके (ब्रह्मलोके) ब्रह्मप्राप्ति निमित्त (अरः, च) अर=कर्मकाण्ड (च) और (ण्यः) ण्य=ज्ञानकाण्ड रूप (अर्णवौ) दो समुद्र हैं (इतः) यहां से (तृतीयस्यां, दिवि) तीसरास्थान जो द्युलोक है (तत्) वहां (ऐरं, मदीयं, सरः) अन्न से पूर्ण हर्ष दायक सर है (तत्) वहां (सोमसवनः) अमृत चूता हुआ (अश्वत्थः) अश्वत्थ

वृक्ष है ऐसी जो (प्रभुविमितं) प्रभुनिर्मित (हिरण्मयं) ज्योतिर्मय (ब्रह्मणः, पूः) ब्रह्मपुरी है (तत्, अपराजिता) उसको ब्रह्मचर्य के बिना कोई नहीं पासक्ता ॥

भाष्य-जिस यज्ञ में उपवास विधान किये गये हैं उसका नाम " **अनशनायन** " यज्ञ है, जिसका वर्णन " **मीमांसा-र्य्यभाष्य** " में किया गया है, जो उक्त यज्ञ है वह ब्रह्मचर्य्य ही है, क्योंकि जिस प्रकार उक्त यज्ञ का फल चिरकाल स्थायी होता है इसी प्रकार ब्रह्मचर्य्य रूप साधन द्वारा पुष्ट हुआ आत्मा नष्ट नहीं होता किन्तु अतुल बलवाला होता है और " अरण्या-यन " नामक जो यज्ञ है वह भी ब्रह्मचर्य्य ही है, क्योंकि ब्रह्म-प्राप्ति निमित्त जो कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड यह दो बड़े समुद्र हैं इन समुद्रों को ब्रह्मचारी ही तरकर अपने लक्ष्य पर पहुंचता है अन्य नहीं, इसी ब्रह्मचर्य्य की पुष्टि में अलङ्कार द्वारा यों वर्णन किया है कि यहां से तृतीय स्थान जो द्युलोक है वहां ब्रह्मानन्दरूप भोगों से पूर्ण हर्षदायक एक सर=सरोवर है और वहीं अमृत चूता हुआ एक अश्वत्थ वृक्ष है, और अपराजिता=जिसको कोई जीत न सके अर्थात् जिसके बराबर कोई नहीं ऐसा जो प्रभुनिर्मित देदीप्यमान ब्रह्मपुरी=ब्रह्म का स्थान उसको भी ब्रह्मचारी ही प्राप्त कर आनन्दित होता है अन्य नहीं ।

सं०-अब उक्त ब्रह्मचारी के लिये फल कथन करते हैं :—

तद्य एवैतावरं च ण्यञ्चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलो-

कस्तेषां सर्वेषुलोकेषुकामचारो भवति।४।

पद०—तत्। ये। एव। एतौ। अरं। च। ण्यं। च। अर्णवौ। ब्रह्मलोके। । ब्रह्मचर्य्येण। अनुविन्दन्ति। तेषां। एव। एषः। ब्रह्मलोकः। तेषां। सर्वेषु। लोकेषु। कामचारः। भवति।

पदा०—(तत्) वह (ये) जो कोई (ब्रह्मलोके) ब्रह्मप्राप्ति के साधन (अरं, च) कर्मकाण्ड (च) और (ण्यं) ज्ञानकाण्ड (एतौ) इन दोनों (अर्णवौ) समुद्रों को (ब्रह्मचर्य्येण) ब्रह्मचर्य द्वारा (अनुनिन्दन्ति) प्राप्त करते हैं (तेषां, एव, एषः, ब्रह्म लोकः) उन्हीं का यह ब्रह्मलोक है अर्थात् उन्हीं को ब्रह्मप्राप्ति होती है, और (तेषां) उन्हीं का (सर्वेषु, लोकेषु) सब लोकों में (कामचारः) स्वच्छन्दगमन (भवति) होता है।

इति पञ्चमःखण्डः समाप्तः

अथ षष्ठःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब जीव की गति कथन करते हैं :—

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥ १ ॥

पद०-अथ । याः । एताः । हृदयस्य । नाड्यः । ताः । पिङ्गलस्य । अणिम्नः । तिष्ठन्ति । शुक्लस्य । नीलस्य । पीतस्य । लोहितस्य । इति । असौ । वै । आदित्यः । पिङ्गलः । एषः । शुक्लः । एषः नीलः । एषः । पीतः । एषः । लोहितः ।

पदा०-(अथ) अब यह कथन करते हैं कि (याः) जो (एताः) यह (हृदयस्य, नाड्यः) हृदय की नाड़ियें हैं (ताः) वह (पिङ्गलस्य) पिङ्गल=भूरे वर्णवाली (अणिम्नः) अतिसूक्ष्म (तिष्ठन्ति) स्थिर हैं (शुक्लस्य) श्वेत (नीलस्य) नीली (पीतस्य) पीतवर्ण की (लोहितस्य) रक्तवर्ण की (इति) यह सब नाड़ियें (वै) निश्चयकरके (असौ, आदित्यः) यह सूर्य्य (पिङ्गलः) पिङ्गल वर्ण है (एषः, शुक्लः) यही शुक्ल (एषः, नीलः) यही नील (एषः,पीतः) यही पीत और (एषः, लोहितः) यही लोहित है॥

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमञ्चामुंचैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमञ्चामुञ्चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते । ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते । तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ २ ॥

पद०-तत् । यथा । महापथः । आततः । उभौ । ग्रामौ । गच्छति । इमं । च । अमुं । च । एवं । एव । एताः । आदित्यस्य । रश्मयः । उभौ । लोकौ । गच्छन्ति । इमं । च । अमुं । च ।

अमुष्मात् । आदित्यात् । प्रतायन्ते । ताः । आसु । नाडीषु । सृप्ताः । आभ्यः । नाडीभ्यः । प्रतायन्ते । ते । अमुष्मिन् । आदित्ये । सृप्ताः ।

पदा०-(तत्) वह आदित्य (यथा) जैसे (आततः) दूर तक फैलाहुआ (महापथः) महान् विस्तीर्णमार्ग (इमं, च) समीपस्थ (च) और (अमुं) दूरस्थ (उभौ, ग्रामौ) इन दोनों ग्रामों को (गच्छति) प्राप्त होता है (एवं, एव) इसीप्रकार (आदित्यस्य, एताः, रश्मयः) सूर्य्य की यह किरणें (इमं, च, अमुं, च,) इसलोक=पृथिवी, परलोक=सूर्य्य (उभौ, लोकौ) इन दोनो लोकों को (गच्छन्ति) प्राप्त होती हैं (ताः) वह किरणें (अमुष्मात्, आदित्यात्, प्रतायन्ते) उस आदित्य से निकलकर चारो ओर विस्तीर्ण होकर (आसु, नाडीषु) इन नाड़ियों में (सृप्ताः) प्रविष्ट होती हैं (ते) वह किरणें (आभ्यः, नाडीभ्यः) इन नाड़ियों से निकल कर (प्रतायन्ते) बाहर शरीर में फैलती हैं और फिर (अमुष्मिन्, आदित्ये) उस आदित्य में (सृप्ताः) प्रविष्ट होती हैं ॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति । तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति ॥ ३ ॥

पद०-तत् । यत्र । एतत् । सुप्तः । समस्तः । सम्प्रसन्नः । स्वप्नं । न । विजानाति । आसु । तदा । नाडीषु । सृप्तः । भवति ।

तद् । न । कश्चन । पाप्मा । स्पृशति । तेजसा । हि । तदा । सम्पन्नः । भवति ।

पदा०-(तत्) वह जीवात्मा (यत्र) जिसकाल में (एतत्) इस (सुप्तः) सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होकर (समस्तः) सम्पूर्ण इन्द्रियवृत्तियों को अपने में संहार करलेता है तब (सम्प्रसन्नः) भलेप्रकार प्रसन्नचित्त हुआ २ (स्वप्नं, न, विजानाति) स्वप्न नहीं देखता (तदा) उस काल में (आसु, नाडीषु) इन नाड़ियों में (सृप्तः, भवति) प्रविष्ट हुआ होता है उस समय (कश्चन, पाप्मा) कोई पाप (तत्, न, स्पृशति) उसको स्पर्श नहीं करता (हि) क्योंकि (तदा) तब (तेजसा) अपने तेज से (सम्पन्नः, भवति) सम्पन्न होता है ।

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति । स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥ ४ ॥

पद०-अथ । यत्र । एतत् । अबलिमानं । नीतः । भवति । तं । अभितः । आसीनाः । आहुः । जानासि । मां । जानासि । मां । इति । सः । यावत् । अस्मात् । शरीरात् । अनुत्क्रान्तः । भवति । तावत् । जानाति ।

पदा०-(अथ) इसके अनन्तर (यत्र) जिसकाल में (एतत्) यह जीवात्मा (अबलिमानं) मृत्युजनक निर्बलता को (नीतः, भवति) प्राप्त होता है उस काल में (तं, अभितः,

आसीनाः आहुः) उसके चारो ओर सम्बन्धी लोग बैंठकर कहते हैं (मां, जानासि, मां जानासि, इति) मुझको जानते हो, मुझको जानते हो (यावत्) जबतक (अस्मात्, शरीरात्) इस शरीर से (अनुत्क्रान्तः, भवति) जीव नहीं निकलता (तावत्) तब तक (सः) वह (जानाति) जानता है ॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरुर्ध्वमाक्रमते । स ओमिति वा होद्वा मीयते । स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५ ॥

पद०-अथ । यत्र । एतत् । अस्मात् । शरीरात् । उत्क्रामति । अथ । एतैः । एव । रश्मिभिः । ऊर्ध्वं । आक्रमते । सः । ओ३म् । इति । वै । ह । उत् । वा । मीयते । सः । यावत् । क्षिप्येत् । मनः । तावत् । आदित्यं । गच्छति । एतत् । वै । खलु । लोकद्वारं । विदुषां । प्रपदनं । निरोधः । विदुषां ।

पदा०-(अथ) और (यत्र) जिसकाल में (एतत्) यह जीव (अस्मात्, शरीरात्, उत्क्रामति) इस शरीर से निकलता है (अथ) तब (एतैः, एव) इन्हीं (रश्मिभिः) रश्मियों द्वारा (ऊर्ध्वं, आक्रमते) ऊपर को जाता है, यह साधारण पुरुषों की गति है और (सः) विद्वान् पुरुष (ह, वै) निश्चयकरके (ओ३म्, इति) ब्रह्म का ध्यान करता हुआ (उत्, वा, मीयते) ऊपर को जाता है (यावत्) जबतक (मनः, क्षिप्येत्) मन का क्षय नहीं

होता (तावत्) तबतक (सः) वह (आदित्यं, गच्छति) आदित्य को प्राप्त होता है, क्योंकि (खलु, वै) निश्चयकरके (लोकद्वारं) यही ब्रह्मलोक का द्वार (विदुषां, प्रपदनं) विद्वानों के लिये खुला हुआ है और (अविदुषां, निरोधः) अविद्वानों के लिये बंद है ॥

सं०—अब उक्त विषय में प्रमाण कथन करते हैं :—

तदेषश्लोकः शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ ॥ ६ ॥

पद०—तत् । एषः । श्लोकः । शतं । च । हृदयस्य । नाड्यः । तासां । मूर्धानं । अभिनिसृता । एका । तया । ऊर्ध्वं । आयन् । अमृतत्वं । एति । विष्यङ् । अन्याः । उत्क्रमणे । भवन्ति । उत्क्रमणे । भवन्ति ।

पदा०—(तत्) उक्त विषय में (एषः, श्लोकः) यह श्लोक प्रमाण है (हृदयस्य) हृदय की (शतं, च, एका, च) एकसो एक (नाड्यः) नाड़ियें हैं (तासां) उन नाड़ियों में से (एका) एक नाडी (मूर्धानं, अभिनिःसृता) मूर्धा की ओर निकली हुई है (तया) उस नाडी द्वारा (उर्ध्वं, आयन्) ऊपर को जाता हुआ (अमृतत्वं, एति) अमृत को प्राप्त होता है और जो (अन्यः, विष्वङ्) अन्य विविधप्रकार की नाडियें हैं वह (उत्क्रमणे, भवन्ति) केवल उत्क्रमण के लिये हैं।

भाष्य-" उत्क्रमणे भवन्ति " पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, हृदय की एकसौ एक नाड़ियें हैं उन नाड़ियों में से एक सुषुम्णा नाड़ी है जो ऊपर मूर्द्धा की ओर निकली हुई है, मुक्त पुरुष का आत्मा उसी नाडी द्वारा उत्क्रमण करता है और जो अन्य नाडियें हैं वह केवल साधारण पुरुषों के उत्क्रमण के लिये हैं, प्रश्नोपनिषद् में शरीरवर्त्ती कुल बहत्तर करोड बहत्तर लाख दश हज़ार दो सौ एक नाडियें गिनी हैं जिन का वर्णन वहां विस्तारपूर्वक किया गया है ॥

इति षष्ठःखण्डः समाप्तः

अथ सप्तमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से पृथक् ब्रह्म का स्व स्वरूप वर्णन करने के लिये प्रजापति का उपदेश कथन करते हैं :—

य आत्माऽपहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥ १॥

पद०-यः। आत्मा। अपहतपाप्मा। विजरः। विमृत्युः। विशोकः। अविजिघत्सः। अपिपासः। सत्यकामः। सत्यसङ्कल्पः। सः। अन्वेष्टव्यः। सः। विजिज्ञासितव्यः। सः। सर्वान्। च। लोकान्। आप्नोति। सर्वान्। च। कामान्। यः। तं। आत्मानं। अनुविद्य। विजानाति। इति। ह। प्रजापतिः। उवाच।

पदा०-(ह) प्रसिद्ध (प्रजापतिः, उवाच) प्रजापति आचार्य बोले कि हे शिष्यो! (यः) जो (आत्मा) परमात्मा (अपहतपाप्मा) पाप रहित है, फिर कैसा है (विजरः) जरावस्था रहित (विमृत्युः) मृत्यु से रहित (विशोकः) शोक से रहित (अविजिघत्सः) क्षुधा रहित (अपिपासः) पिपासा रहित (सत्यकामः) सत्य की कामना वाला और (सत्यसङ्कल्पः) सत्यसङ्कल्प है (सः, अन्वेष्टव्यः) वही खोजने योग्य और (सः, विजिज्ञासितव्यः) वही जिज्ञासा योग्य है (यः) जो (तं) उस (आत्मानं) परमात्मा को (अनुविद्य, विजानाति, इति) खोज कर जानते हैं (सः) वह (सर्वान्, च, लोकान्) सब लोकों (च) और (सर्वान्, कामान्) सब कामनाओं को (आप्नोति) प्राप्त होते हैं।

सं०-अब उक्त उपदेश श्रवण कर देवता और असुरों का ब्रह्मप्राप्त्यर्थ परस्पर विचार कथन करते हैं:—

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति

सर्वा ँश्च कामानितीन्द्रो हैव देवाना-मभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासं विदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाश-माजग्मतुः ॥ २ ॥

पद०—तत् । ह । उभये । देवासुराः । अनुबुबुधिरे । ते । ह । ऊचुः । हन्त । तं । आत्मानं । अन्विच्छामः । यं । आत्मानं । अन्विष्य । सर्वान् । च । लोकान् । आप्नोति । सर्वान् । च । कामान् । इति । इन्द्रः । ह । एव । देवानां । अभि । प्रवव्राज । विरोचनः । असुराणां । तौ । ह । असंविदानौ । एव । समित्पाणी । प्रजापतिसकाशं । आजग्मतुः ।

पदा०—(ह) प्रसिद्ध है कि (तत्) उक्त प्रजापति के उपदेश को (देवासुराः) देव और असुर (उभये) दोनों ने (अनुबुबुधिरे) जाना (ते, ह) उन दोनों ने (ऊचुः) कथन किया कि (हन्त) यदि सब की सम्मति हो तो (तं, आत्मानं, अन्विच्छामः) उस परमात्मा का अन्वेषण करें (यं, आत्मानं, अन्विष्य) जिसको खोजकर पुरुष (सर्वान्, च, लोकान्) सब लोकों (च) और (सर्वान्, कामान्, इति) सब कामनाओं को (आप्नोति) प्राप्त होता है (देवानां) देवों में से (एव) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (इन्द्रः) इन्द्र और (असुराणां) असुरों में से (विरोचनः) विरोचन प्रजापति के (अभिप्रवव्राज) निकट गये (तौ, ह) वह प्रसिद्ध दोनों (असंविदानौ) परस्पर विवाद

न करते हुए (समित्पाणी) हाथ में समिधा लेकर (प्रजापतिसकाशं) प्रजापति के समीप (आजग्मतुः) आये॥

तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्य्यमूषतुस्तौह प्रजापतिरुवाचकिमिच्छन्ताववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सयत्सङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाँ् श्च लोकानाप्नोति सर्वाँ् श्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति।३।

पद०—तौ। ह। द्वात्रिंशतं। वर्षाणि। ब्रह्मचर्यं। ऊषतुः। तौ। ह। प्रजापतिः। उवाच। किं। इच्छन्तौ। अवास्तं। इति। तौ। ह। ऊचतुः। यः। आत्मा। अपहतपाप्मा। विजरः। विमृत्युः। विशोकः। अविजिघत्सः। अपिपासः। सत्यकामः। सत्यसङ्कल्पः। सः। अन्वेष्टव्यः। सः। विजिज्ञासितव्यः। सः। सर्वान्। च। लोकान्। आप्नोति। सर्वान्। च। कामान्। यः। तं। आत्मानं। अनुविद्य। विजानाति। इति। भगवतः। वचः। वेदयन्ते। तं। इच्छन्तौ। अवास्तं। इति।

पदा०—(तौ, ह) उन दोनों ने (द्वात्रिंशतं, वर्षाणि) बत्तीस वर्ष (ब्रह्मचर्यं, ऊषतुः) ब्रह्मचर्य्य पूर्वक प्रजापति के समीप वास

किया तब (तौ, ह, प्रजापतिः, उवाच) उन दोनों से प्रजापति बोले कि (किं, इच्छन्तौ) किस इच्छा से (अवास्तं, इति) आपने मेरे निकट बास किया है (तौ, ह, ऊचतुः) वह दोनों बोले कि (यः) जो (आत्मा) परमात्मा (अपहतपाप्मा) पाप रहित (विजरः) जरावस्था रहित (विमृत्युः) मृत्यु से रहित (विशोकः) शोक से रहित (अविजिघत्सः) क्षुधा रहित (अपिपासः) पिपासा रहित (सत्यकामः) सत्य की कामना वाला और (सत्यसङ्कल्पः) सत्यसङ्कल्प है (सः, अन्वेष्टव्यः) वही खोजने योग्य और (सः, विजिज्ञासितव्यः) वही जिज्ञासा योग्य है (यः) जो (तं) उस (आत्मानं) आत्मा को (अनुविद्य, विजानाति, इति) खोजकर जानते हैं (सः) वह (सर्वान्, च, लोकान्) सब लोकों (च) और (सर्वान्, कामान्) सब कामनाओं को (आप्नोति) प्राप्त होते हैं (भगवः, वचः, वेदयन्ते) आपके इस उपदेश को विद्वान् लोग कथन करते हैं (तं, इच्छन्तौ, अवास्तं, इति) इसी परमात्मा के जानने की इच्छा से हम दोनों ने यहां आपके समीप निवास किया है ॥

सं०—अब आचार्य्य कथन करते हैं :—

तौ ह प्रजापतिरुवाच—य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष

इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत इति होवाच ॥ ४ ॥

पद०-तौ । ह । प्रजापतिः । उवाच । यः । एषः । अक्षिणि । पुरुषः । दृश्यते । एषः । आत्मा । इति । ह । उवाच । एतत् । अमृतं । अभयं । एत् । ब्रह्म । इति । अथ । यः । अयं । भगवः । अप्सु । परिख्यायते । यः । च । अयं । आदर्शे । कतमः । एषः । इति । एषः । उ । एव । एषु । सर्वेषु । एतेषु । परिख्यायते । इति । ह । उवाच ।

पदा०-(तौ, ह) उन दोनों से (प्रजापतिः, उवाच) प्रजापति बोले कि (यः) जो (एषः) यह (पुरुषः) पुरुष (अक्षिणि) अक्षि में (दृश्यते) दीखता है (एषः, आत्मा, इति) यही परमात्मा है (एतत्, अमृतं) यही अमृत (अभयं) अभय (ब्रह्म, इति) ब्रह्म है (अथ) इसके अनन्तर (ह, उवाच) वह प्रसिद्ध दोनों बोले कि (भगवः) हे भगवन् ! (यः, अयं) जो यह (अप्सु) जलों में (च) और (यः, अयं) जो यह (आदर्शे) दर्पण में (परिख्यायते) दृष्टिगत होता है (कतमः, एषः, इति) कौन यह आत्मा है ? तब (इति, ह, उवाच) प्रजापति बोले कि (एतेषु, एषु, सर्वेषु) इन सब पदार्थों में परमात्मा (परिख्यायते) भलेप्रकार देख पड़ता है (एषः, उ, एव) निश्चयकरके वही आत्मा अपहतपाप्मादि गुणविशिष्ट है ॥

इति सप्तमःखण्डः समाप्तः

अथ अष्टमः खण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब प्रजापति प्रकारान्तर से कथन करते हैं :—

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतामिति तौ होदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते । तौह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति तौ होचतुःसर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥ १ ॥

पद०—उदशरावे । आत्मानं । अवेक्ष्य । यत् । आत्मनः । न । विजानीथः । तत् । मे । प्रब्रूतं । इति । तौ । ह । उदशरावे । अवेक्षाञ्चक्राते । तौ । ह । प्रजापतिः । उवाच । किं । पश्यथः । इति । तौ । ह । ऊचतुः । सर्वं । एव । इदं । आवां । भगवः । आत्मानं । पश्यावः । आलोमभ्यः । आनखेभ्यः । प्रतिरूपं । इति ।

पदा०—प्रजापति पुनः बोले कि (उदशरावे, आत्मानं, अवेक्ष्य) जलपात्र में आत्मा को देखो (यत्) जो उसमें (आत्मनः, न, विजानीथः) आत्मा को न जानसको (तत्) तो (मे, प्रब्रूतं, इति) मुझसे आकर कहो (तौ, ह) वह दोनों (उदशरावे, अवेक्षाञ्चक्राते) जलपात्र में आत्मा को देखने लगे, फिर (तौ, ह) उन दोनों से (प्रजापतिः, उवाच) प्रजापति बोले कि (किं,

पश्यथ, इति) इसमें क्या देखते हो ? (तौ, ह, ऊचतुः) वह दोनों बोले (भगवः) हे भगवन् (आवां) हम दोनों (आलोमभ्यः, आनखेभ्यः) शिर से लेकर पैर तक (सर्वं, एव, इदं) यह सब ही (आत्मानं, प्रतिरूपं, इति, पश्यावः) आत्मा का प्रतिरूप देखते हैं ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते । तौ ह प्रजापति रुवाच किं पश्यथ इति ॥ २ ॥

पद०-तौ । ह । प्रजापतिः । उवाच । साधु । अलंकृतौ । सुवसनौ । परिष्कृतौ । भूत्वा । उदशरावे । अवेक्षेथां । इति । तौ । ह । साधु । अलंकृतौ । सुवसनौ । परिष्कृतौ । भूत्वा । उदशरावे । अवेक्षाञ्चक्राते । तौ । ह । प्रजापतिः । उवाच । किं । पश्यथः । इति ।

पदा०-(तौ, ह, प्रजापतिः, उवाच) उन दोनों से प्रजापति बोले कि तुम (सुवसनौ, परिष्कृतौ, साधु, अलंकृतौ, भूत्वा) विमल वस्त्रों से भलेप्रकार अलङ्कृत होकर (उदशरावे, अवेक्षेथां, इति) जलपात्र में आत्मा को देखो (तौ, ह) वह दोनों (साधु, अलंकृतौ, सुवसनौ, परिष्कृतौ, भूत्वा) विमल उत्तमवस्त्रों से अलङ्कृत होकर (उदशरावे, अवेक्षाञ्चक्राते) जलपात्र में देखने लगे (तौ, ह) उन दोनों से (प्रजापतिः, उवाच) प्रजापति बोले (किं, पश्यथः, इति) क्या देखते हो ? ॥

सं०-अब इन्द्र तथा विरोचन कथन करते हैं :—

तौ होचुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृताविस्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः॥३॥

पद०-तौ। ह। ऊचुः। यथा। एव। इदं। आवां। भगवः। साधु। अलंकृतौ। सुवसनौ। परिष्कृतौ। स्वः। एवं। एव। इमौ। भगवः। साधु। अलंकृतौ। सुवसनौ। परिष्कृतौ। इति। एषः। आत्मा। इति। ह। उवाच। एतत्। अमृतं। अभयं। एतत्। ब्रह्म। इति। तौ। ह। शान्तहृदयौ। प्रवव्रजतुः।

पदा०-(तौ, ह, ऊचुः,) इन्द्र और विरोचन बोले कि (यथा, एव, इदं) जैसे यह शरीर साफ सुथरा प्रथम था वैसा ही अब देखते हैं (भगवः) हे भगवन्! जैसे (आवां) हम दोनों (साधु, अलंकृतौ, सुवसनौ, परिष्कृतौ) विमल उत्तम वस्त्रों से भलेप्रकार अलंकृत (स्वः) हैं (एवं, एव) इसी प्रकार (इमौ) हम दोनों दर्पण में (साधु, अलंकृतौ, सुवसनौ, परिष्कृतौ, इति) विमल उत्तम वस्त्रों से अलंकृत देख पड़ते हैं (ह, उवाच) वह प्रजापति बोले (एषः, आत्मा, इति) यही आत्मा है (एतत्, अमृतं) यही अमृत (अभयं) यही अभय है और (एतत्, ब्रह्म) यही ब्रह्म है (इति) यह सुनकर (तौ, ह) वह दोनों (शान्तहृदयौ, प्रवव्रजतुः) शान्त हृदय वहां से चलेआये॥

सं०-अब विरोचन अपना निश्चय असुरों के प्रति कथन करते हैं :—

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचाऽनुपलभ्या- त्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनि- षदो भविष्यन्ति । देवा वाऽसुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुरान् जगाम । तेभ्यो हैता- मुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं प- रिचरन्नुभौ लोकाव वाप्नोतीमञ्चामु ञ्चेति ॥ ४ ॥

पद०-तौ । ह । अन्वीक्ष्य । प्रजापतिः । उवाच । अनुप- लभ्य । आत्मानं । अननुविद्य । व्रजतः । यतरे । एतत् । उपनिषदः । भविष्यन्ति । देवाः । वा । असुराः । वा । ते । परा । भविष्यन्ति । इति । सः । ह । शान्तहृदयः । एव । विरोचनः । असुरान् । जगाम । तेभ्यः । ह । एतां । उपनिषदं । प्रोवाच । आत्मा । एव । इह । महय्यः । आत्मा । परिचर्य्यः । आत्मानं । एव । इह । महयन् । आत्मानं । परिचरन् । उभौ । लोकौ । अवाप्नोति । इमं । च । अमुं । च । इति ।

पदा०-(प्रजापतिः) प्रजापति (तौ, ह) उन दोनों को (अन्वीक्ष्य) जाता हुआ देख (उवाच) बोले कि (आत्मानं) आ-

त्मा को (अनुपलभ्य) न पाकर (अननुविद्य) न जानकर (व्रजतः) जाते हैं (यतरे) जो (देवाः, वा, असुराः,वा) देवता अथवा असुर (एतत्, उपनिषदः, भविष्यन्ति) इस ज्ञान वाले होंगे (ते) वह (परा, भविष्यन्ति, इति) नष्ट होवेंगे (सः, ह, शान्तहृदय) वह प्रसिद्ध शान्तहृदय (विरोचनः) विरोचन (एव) निश्चयकरके (असुरान्, जगाम) असुरों के निकट पहुंचा और (तेभ्यः, ह) उन असुरों से (एतां, उपनिषदं) इस ज्ञान को (प्रोवाच) कहा कि (इह) इस लोक में (आत्मा, एव) शरीर ही (महय्यः) पूजनीय और (आत्मा, परिचर्य्यः) शरीर ही सेवनीय है (इह) यहां (आत्मानं, एव) शरीर को ही (महयन्) पूजता हुआ (आत्मानं, परिचरन्) शरीर का ही सेवन करता हुआ (इमं, च) इस लोक (च) और (अमुं) परलोक (उभौ, लोकौ) दोनो लोकों को (अवाप्नोति) प्राप्त होता है ॥

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणां ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेणेति संस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्त इति ॥ ५ ॥

पद०—तस्मात् । अपि । अद्य । इह । अददानं । अश्रद्दधानं । अयजमानं । आहुः । आसुरः । बत । इति । असुराणां । हि । एषा । उपनिषत् । प्रेतस्य । शरीरं । भिक्षया । वसनेन । अलङ्का-

रेण । इति । संस्कुर्वन्ति । एतेन । हि । अमुं । लोकं । जेष्यन्तः । मन्यन्ते । इति ।

पदा०-(तस्मात्) इसी कारण (अद्य, अपि) आजकल भी (इह) यहां असुरों का सम्प्रदाय चला आरहा है जो (अद-दानं) दान न देते हुए (अश्रद्दधानं) परलोक विषयक श्रद्धा न करते हुए (अयजमानं) यज्ञ न करते हुए को (बत) खेद से शिष्ट पुरुष (आहुः) कहते हैं कि (आसुरः, इति) यह असुर हैं (हि) क्योंकि (एषा) यह (उपनिषद्) ज्ञान (असुराणां) असुरों का है, ऐसे लोग ही उक्त कर्म नहीं करते (प्रेतस्य,शरीरं) वह मृत शरीर को ही (भिक्षया) गन्धमाला (वसनेन) वस्त्रों और (अलङ्कारेण,इति) भूषणों से (संस्कुर्वन्ति, इति) अलंकृत करते हैं (हि) निश्चयकरके (एतेन) इससे ही (अमुं, लोकं) इस लोक को (जेष्यन्तः) जीत लेवेंगे (इति) ऐसा (मन्यन्ते) मानते हैं ॥

इति अष्टमःखण्डः समाप्तः

अथ नवमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब विचार करते हुए इन्द्र का पुनः प्रजापति के पास जाना कथन करते हैं :—

अथ हैन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते

साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाऽहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥१॥

पद०—अथ । ह । इन्द्रः । अप्राप्य । एव । देवान् । एतत् । भयं । ददर्श । यथा । एव । खलु । अयं । अस्मिन् । शरीरे । साधु । अलंकृते । साधु । अलंकृतः । भवति । सुवसने । सुवसनः । परिष्कृते । परिष्कृतः । एवं । एव । अयं । अस्मिन् । अन्धे । अन्धः । भवति । स्रामे । स्रामः । परिवृक्णे । परिवृक्णः । अस्य । एव । शरीरस्य । नाशं । अनु । एषः । नश्यति । न । अहं । अत्र । भोग्यं । पश्यामि । इति ।

पदा०—(अथ) इसके अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (इन्द्रः) इन्द्र ने विचार करते हुए (देवान्) देवों को (अप्राप्य, एव) प्राप्त न होकर (एतत्) इस (भयं) भय को (ददर्श) देखा कि (खलु, एव) निश्चय करके (यथा) जैसे (अस्मिन्, शरीरे) इस शरीर के (साधु, अलंकृते) भले प्रकार अलंकृत होने पर (अयं) यह छाया पुरुष भी (साधु, अलंकृतः, भवति) सु अलंकृत होता है (सुवसने) उत्तम वस्त्रधारी होने से (सुवसनः) छाया भी सुभूषित होता है (परिष्कृते) इस शरीर का परिष्कार होने से (परिष्कृतः) छाया भी परिष्कृत होता है (एवं, एव) वैसे ही

(स्रामे) काना होने से (अयं) यह छायापुरुष भी (स्रामः) काना (भवति) होता है (अस्मिन्) इस शरीर के (अन्धे, अन्धः) अन्धे होने पर यह भी अन्धा होता है (परिवृक्णे, परिवृक्णः) इस शरीर के छिन्न भिन्न होने पर छायापुरुष भी छिन्न भिन्न होता है (अस्य, एव, शरीरस्य) इस शरीर के (नाशं, अनु) नष्ट होने पर (एषः) यह भी (नश्यति) नाश होजाता है, इस कारण (अत्र) यहां पर (अहं) मैं (न, भोग्यं, पश्यामि, इति) कल्याण नहीं देखता हूं ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय । तꣳह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्द्धं विरोचनेन किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाऽहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥२॥

पद०—सः । समित्पाणिः । पुनः । एयाय । तं । ह । प्रजापतिः । उवाच । मघवन् । यत् । शान्तहृदयः । प्राव्राजीः ।

सार्द्ध । विरोचनेन । किं । इच्छन् । पुनः । आगमः । इति । सः । ह । उवाच । यथा । एव । खलु । अयं । भगवः । अस्मिन् । शरीरे । साधु । अलङ्कृते । साधु । अलङ्कृतः । भवति । सुवसने । सुवसनः । परिष्कृते । परिष्कृतः । एवं । एव । अयं । अस्मिन् । अन्धे । अन्धः । भवति । स्रामे । स्रामः । परिवृक्णे । परिवृक्णः । अस्य । एव । शरीरस्य । नाशं । अनु । एषः । नश्यति । न । अहं । अत्र । भोग्यं । पश्यामि । इति ।

पदा०-(सः) वह इन्द्र (समित्पाणिः) हाथ में समिधा लेकर (पुनः, एयाय) फिर प्रजापति के समीप आये (तं, ह) उस प्रसिद्ध इन्द्र को देख (प्रजापतिः, उवाच) प्रजापति बोले कि (मघवन्) हे इन्द्र ! (विरोचनेन, सार्द्धं) विरोचन के साथ (शान्तहृदयः) शान्तहृदय होकर (यत्) आप जो (प्राव्राजीः) चलेगये थे (पुनः) फिर (किं,इच्छन्) किस इच्छा से (आगमः, इति) आये हैं (सः, ह, उवाच) वह प्रसिद्ध इन्द्र बोला कि (भगवः) हे भगवन् ! (खलु, एव) निश्चयकरके (यथा) जैसे (अस्मिन्, शरीरे) इस शरीर के (साधु, अलंकृते) सु अलंकृत होने पर (अयं) यह छायापुरुष भी (साधु, अलंकृतः, भवति) सु अलंकृत होता है (सुवसने) शुद्ध वस्त्रों के धारण करने से (सुवसनः) छाया भी सुभूषित होता है (परिष्कृते, परिष्कृतः) परिष्कृत होने से छाया भी परिष्कृत होता है (एवं, एव) वैसे ही (अस्मिन्, अन्धे) इस शरीर के अन्धे होने पर (अयं, अन्धः, भवति) यह छायापुरुष भी अन्ध होता है (स्रामे) काना होने पर (स्रामः) छायापुरुष भी काना होता है (परिवृक्णे, परिवृक्णः) इसके छिन्नभिन्न होने पर छायापुरुष भी छिन्नभिन्न

होता है (अस्य, एव, शरीरस्य, नाशं, अनु) इस शरीर के नाश होने पर (एषः) यह छायापुरुष भी (नश्यति) नाश होजाता है, इस कारण (अत्र) यहां पर (अहं) मैं (न, भोग्यं, पश्यामि, इति) कल्याण नहीं देखता हूं ॥

सं०—अब प्रजापति कथन करते हैं :—

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेवं ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि । वसाऽपराणि द्वात्रिंꣳशतं वर्षाणीति ; स हापराणि द्वा-त्रिंꣳशतं वर्षाण्युवास । तस्मै होवाच ॥३॥

पद०—एवं । एव । एषः । मघवन् । इति । ह । उवाच । एतं । तु । एवं । ते । भूयः । अनुव्याख्यास्यामि । वस । अपराणि । द्वात्रिंशतं । वर्षाणि । इति । सः । ह । अपराणि । द्वात्रिंशतं । वर्षाणि । उवास । तस्मै । ह । उवाच ।

पदा०—(मघवन्) हे इन्द्र ! (एषः) यह आत्मा (एवं, एव) ऐसा ही है जैसा आप कथन करते हैं (इति, ह, उवाच) फिर प्रजापति बोले (एतं, तु, एव) इसी आत्मा का तो (ते) आपसे (भूयः) फिर (अनुव्याख्यास्यामि) व्याख्यान करूंगा, हे इन्द्र (द्वात्रिंशतं, वर्षाणि, इति, अपराणि, वस) बत्तीस वर्ष मेरे निकट और वासकर (सः, ह,) वह प्रसिद्ध इन्द्र (अपराणि, द्वात्रिंशतं, वर्षाणि, उवास) बत्तीस वर्ष फिर प्रजापति के निकट वास करने लगा (तस्मै) उस इन्द्र से (ह, उवाच) वह प्रसिद्ध प्रजापति बोले कि :—

इति नवमःखण्डः समाप्तः

अथ दशमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब प्रजापति उस आत्मा का कथन करते हैं :—

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज । सहाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यपीदꣳशरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो न वैषोऽस्य दोषेण दुष्यति। १।

पद०-यः । एषः । स्वप्ने । महीयमानः । चरति । एषः । आत्मा । इति । ह । उवाच । एतत् । अमृतं । अभयं । एतत् । ब्रह्म । इति । सः । ह । शान्तहृदयः । प्रवव्राज । सः । ह । अप्राप्य । एव । देवान् । एतत् । भयं । ददर्श । तत् । यदि । अपि । इदं । शरीरं । अन्धं । भवति । अनन्धः । सः । भवति । यदि । स्रामं । अस्रामः । न । वा । एषः । अस्य । दोषेण । दुष्यति ।

पदा०-(एषः,यः) यह जो (स्वप्ने) स्वप्न में (महीयमानः, चरति) अपनी महिमा का अनुभव करता हुआ विचरता है (एषः, आत्मा, इति) यही आत्मा है इतना कथन करके (ह,

उवाच) फिर बोले कि (एतत्, अमृतं) यही अमृत है (अभयं) यही अभय है और (एतत्, ब्रह्म, इति) यही ब्रह्म है (सः, ह) वह प्रसिद्ध इन्द्र (शान्तहृदयः) शान्तहृदय होकर (प्रवव्राज) चला-आया (सः, ह) उस प्रसिद्ध इन्द्र ने (देवान्) देवों को (अप्राप्य, एव) प्राप्त न होकर ही (एतत्, भयं) इस भय को (ददर्श) देखा कि (यदि, अपि) यद्यपि (तत्) उस स्वप्नावस्था में (इदं, शरीरं) यह शरीर (अन्धं, भवति) अन्ध होता है तथापि (सः) वह आत्मा (अनन्ध, भवति) अनन्ध होता है (यदि, स्रामं) यदि यह शरीर काना होता है तो वह आत्मा (अस्रामः) काना नहीं होता (अस्य, दोषेण) इस शरीर के बाह्य दोष से (न, वा, एषः, दुष्यति) यह आत्मा कदापि दूषित नहीं होता ॥

न बधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामोघ्नन्तित्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २॥

पद०—न । बधेन । अस्य । हन्यते । न । अस्य । स्राम्येण । स्रामः । घ्नन्ति । तु । इव । एनं । विच्छादयन्ति । इव । अप्रियवेत्ता । इव । भवति । अपि । रोदिति । इव । न । अहं । अत्र । भोग्यं । पश्यामि । इति ॥

पदा०—(अस्य) इस शरीर के (बधेन) बध से (न, हन्यते) वह आत्मा नहीं मरता (अस्य) इसके (स्राम्येण) काना होने से (न, स्रामः) वह आत्मा काना नहीं होता (तु)

परन्तु (एनं) इस आत्मा को (घ्नन्ति, इव) मानो कोई मार रहे हैं (विच्छादयन्ति, इव) मानो कोई भगा रहे हैं (अप्रिय-वेत्ता, इव, भवति) यह मानो अप्रिय देखता और (अपि, रोदिति, इव, भवति) रोता हुआ सा भी प्रतीत होता है (अत्र) इस विषय में (अहं) मैं (न, भोग्यं, पश्यामि, इति) कल्याण को नहीं देखता हूं ॥

सं०—अब इन्द्र का पुनः प्रजापति के पास जाना कथन करते हैं :—

स समित्पाणिः पुनरेयाय । तꣳह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदय प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति । स होवाच—तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः । स भवति । यदि स्राममस्रामोनैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ ३ ॥

पद०—सः । समित्पाणिः । पुनः । एयाय । तं । ह । प्रजापतिः । उवाच । मघवन् । यत् । शान्तहृदयः । प्राव्राजीः । किं । इच्छन् । पुनः । आगमः । इति । सः । ह । उवाच । तत् । यदि । अपि । इदं । भगवः । शरीरं । अन्धं । भवति । अनन्धः । सः । भवति । यदि । स्रामं । अस्रामः । न । एव । एषः । अस्य । दोषेण । दुष्यति ॥

पदा०—(सः) वह इन्द्र (समित्पाणिः) हाथ में समिधा लेकर (पुनः, एयाय) फिर प्रजापति के निकट आये (तं, ह)

उस इन्द्र को (प्रजापतिः, उवाच) प्रजापति बोले कि (मघवन्) हे इन्द्र ! (यत्, शान्तहृदयः) जो आप शान्तहृदय होकर (प्रात्राजीः) चले गये थे अब (किं, इच्छन्, पुनः, आगमः, इति) फिर किस इच्छा से आये हो ? (सः, ह, उवाच) वह इन्द्र बोला (भगवः) हे भगवन् ! (यदि, अपि) यद्यपि (तत्, इदं) वह यह (शरीरं) शरीर (अन्धं) अन्ध (भवति) होता है परन्तु (सः) वह आत्मा (अनन्धः, भवति) अन्ध नहीं होता (यदि, स्रामं) यदि शरीर का कोई अंग भंग होजाता है पर वह आत्मा (अस्रामः) पूर्ण होता है (अस्य, दोषेण) इस शरीर के दोष से (एषः) यह आत्मा (न, एव, दुष्यति) कदापि दूषित नहीं होता ॥

न बधेनास्य हन्यते नाऽस्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनंविच्छादयन्तीवाऽप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव । नाऽहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतन्त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि । वसाऽपराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाणीति । स हाऽपराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाण्युवास । तस्मै होवाच ॥ ४ ॥

पद०-न । बधेन । अस्य । हन्यते । न । अस्य । स्राम्येण । स्रामः । घ्नन्ति । तु । इव । एनं । विच्छादयन्ति । इव ।

अभियेवेत्ता । इव । भवति । अपि । रोदिति । इव । न । अहं । अत्र । भोग्यं । पश्यामि । इति । एवं । एव । एषः । मघवन् । इति । ह । उवाच । एतं । तु । एव । ते । भूयः । अनुव्याख्यास्यामि । वस । अपराणि । द्वात्रिंशतं । वर्षाणि । इति । सः । ह । अपराणि । द्वात्रिंशतं । वर्षाणि । उवास । तस्मै । ह । उवाच ।

पदा०-(अस्य) इस शरीर के (वधेन) वध से (न, हन्यते) उस आत्मा का हनन नहीं होता (अस्य) इसके (स्राम्येण) काना होने से (न, स्रामः) वह आत्मा काना नहीं होता (तु) परन्तु (एतं) इस आत्मा को (घ्नन्ति, इव) मानो कोई मार रहे हैं (विच्छादयन्ति, इव) मानो कोई भगारहे हैं (अप्रियवेत्ता, इव) यह मानो अप्रिय देखता और (अपि, रोदिति, इव, भवति) रोता हुआ सा भी प्रतीत होता है (अत्र) इस विषय में (अहं) मैं (न, भोग्यं, पश्यामि, इति) कोई फल नहीं देखता, तब प्रजापति बोले कि (मघवन्) हे इन्द्र ! (एषः) यह आत्मा (एवं, एव) ऐसा ही है (इति, ह, उवाच) फिर प्रजापति बोले, हे इन्द्र (एतं, तु, एव) इसी आत्मा का तो (ते) तेरे प्रति (भूयः) फिर (अनुव्याख्यास्यामि) व्याख्यान करूंगा (द्वात्रिंशतं, वर्षाणि, अपराणि, इति) आप ३२ वर्ष मेरे निकट और (वस) वास करें (सः, ह) वह इन्द्र (द्वात्रिंशतं, वर्षाणि, अपराणि, उवास) ३२ वर्ष उनके समीप और वास करने लगे (तस्मै) उससे (ह, उवाच) प्रजापति बोले कि:—

इति दशमःखण्डः समाप्तः

अथ एकादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०–अत्र प्रजापति कथन करते हैं:—

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज । स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श । नाह खल्वयमेवꣳसंप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि । विनाशमेवापीतो भवति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

पद०–तत् । यत्र । एतत् । सुप्तः । समस्तः । सम्प्रसन्नः । स्वप्नं । न । विजानाति । एषः । आत्मा । इति । ह । उवाच । एतत् । अमृतं । अभयं । एतत् । ब्रह्म । इति । सः । ह । शान्तहृदयः । प्रवव्राज । सः । ह । अप्राप्य । एव । देवान् । एतत् । भयं । ददर्श । नाह । खलु । अयं । एवं । सम्प्रति । आत्मानं । जानाति । अयं । अहं । अस्मि । इतिं । नो । एव । इमानि । भूतानि । विनाशं । एव । अपीतः । भवति । न । अहं । अत्र । भोग्यं । पश्यामि । इति ।

पदा०–(तत्, एतत्) वह आत्मा (यत्र) जिस अवस्था में (सुप्तः) सोया हुआ (समस्तः) अपने स्वरूप में स्थित

(संप्रसन्नः) भले प्रकार आनन्द का अनुभव करता हुआ (स्वप्नं, न, विजानाति) स्वप्न को नहीं जानता (एषः, आत्मा, इति) यही आत्मा अपहतपाप्मादि धर्मों वाला है, (ह, उवाच) फिर प्रजापति बोले (एतत्, अमृतं) यही अमृत (अभयं) यही अभय और ((एतत्, ब्रह्म, इति) यही ब्रह्म है (सः, ह, शान्तहृदय) वह प्रसिद्ध शान्तहृदय (प्रवव्राज) चला आया पर (सः, ह) उसने (अप्राप्य, एव, देवान्) देवताओं को प्राप्त होने से पूर्व ही (एतत्, भयं, ददर्श) इस भय को देखा कि (खलु) निश्चयकरके (अयं) सुषुप्तात्मा (अयं, अहं, अस्मि) यह मैं हूं (एवं) इस प्रकार (सम्प्रति) सम्प्रति (आत्मानं) अपने को (नाह) नहीं (जानाति) जानता (नो, एव) नाही (इमानि, भूतानि) इन भूतों को जानता है (विनाशं, एव, अपीतः, भवति) विनाश को ही प्राप्त हुए की भांति होता है (अत्र) इस सिद्धान्त में भी (न, अहं, भोग्यं, पश्यामि) कोई अच्छा फल नहीं देखता (इति) इस प्रकार सोचकर फिर लौट आया ॥

सं०—अब इन्द्र का पुनः प्रजापति के समीप जाना कथन करते हैंः—

स समित्पाणिः पुनरेयाय । तꣳह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदय प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति सहोवाच—नाह खल्वयं भगव एवꣳसम्प्रत्या-

त्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवे-
मानि भूतानि। विनाशमेवापीतो भवति।
नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

पद०-सः। समित्पाणिः। पुनः। एयाय। तं। ह। प्रजापतिः। उवाच। मघवन्। यत्। शान्तहृदयः। प्राव्राजीः। किं। एव। इच्छन्। पुनः। आगमः। इति। सः। ह। उवाच। नाह। खलु। अयं। भगवः। एवं। सम्प्रति। आत्मानं। जानाति। अयं। अहं। अस्मि। इति। नो। एव। इमानि। भूतानि। विनाशं। एव। अपीतः। भवति। न। अहं। अत्र। भोग्यं। पश्यामि। इति ॥

पदा०-(सः) वह इन्द्र (समित्पाणिः) हाथ में समिधा लेकर (पुनः, एयाय) फिर प्रजापति के पास आये (तं, ह, प्रजापतिः, उवाच) उनको प्रजापति बोले कि (मघवन्) हे इन्द्र (यत्, शान्तहृदयः) जो तुम शान्तहृदय होकर (प्राव्राजीः) यहां से चलेगये थे फिर (किं, एव, इच्छन्) किस इच्छा से (पुनः, आगमः, इति) पुनः आये हैं (सः, ह, उवाच) वह इन्द्र बोले (भगवः) हे भगवन् ! (खलु) निश्चयकरके (अयं) यह आत्मा (अयं, अहं, अस्मि) यह मैं हूं (एवं) इस प्रकार (सम्प्रति) सम्प्रति (आत्मानं) अपने को (नाह) नहीं (जानाति) जानता (नो, एव) नाही (इमानि, भूतानि) इन भूतों को (अस्मि, इति) जानता है (विनाशं, एव, अपीतः, भवति) विनाश को ही प्राप्त होता है यह देखता हूं (अत्र) इस सिद्धान्त में भी (न, अहं, भोग्यं, पश्यामि) कोई अच्छा फल नहीं

देवता (इति) इस प्रकार सोचकर फिर लौट आया हूं ॥

सं०—अब प्रजापति कथन करते हैं:—

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतंत्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि । नो एवान्यत्रैतस्माद्वसाऽपराणि पञ्चवर्षाणीति । सहापराणि पञ्च वर्षाण्युवास । तान्येकशतꣳ सम्पेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतꣳ ह वै वर्षाणि मघवन्प्रजापतौ ब्रह्मचर्य्यमुवास । तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

पद०—एवं । एव । एषः । मघवन् । इति । ह । उवाच । एतं । तु । एव । ते । भूयः । अनुव्याख्यास्यामि । नो । एव । अन्यत्र । एतस्मात् । वस । अपराणि । पञ्च । वर्षाणि । इति । सः । ह । अपराणि । पञ्च । वर्षाणि । उवास । तानि । एकशतं । सम्पेदुः । एतत् । तत् । यत् । आहुः । एकशतं । ह । वै । वर्षाणि । मघवन् । प्रजापतौ । ब्रह्मचर्यं । उवास । तस्मै । ह । उवाच ॥

पदा०—(मघवन्) हे इन्द्र ! (एषः) यह आत्मा (एवं, एव) ऐसा ही है (इति, ह, उवाच) फिर प्रजापति बोले (ते) आपके प्रति (एतं, तु, एव) इसका ही (भूयः) फिर (अनुव्याख्यास्यामि) व्याख्यान करूंगा, क्योंकि (एतस्मात्) इस आत्मज्ञान से (अन्यत्र) भिन्न और कोई पुरुषार्थ (नो, एव) नहीं है (अपराणि, पञ्च, वर्षाणि, वस, इति) पांच वर्ष मेरे

समीप और वास कर (सः, ह) वह इन्द्र (अपराणि, पञ्च, वर्षाणि, उवास) पांचवर्ष और वास करता रहा (तानि) यह सब मिलकर (एकशतं, सम्पेदुः) एकसौवर्ष हुए (तत्, एतत्, यत्, आहुः) वह सब जो शिष्ट पुरुष हैं ऐसा ही कहते हैं कि (ह, वै) निश्चयकरके (एकशतं, वर्षाणि) एकसौ वर्ष (मघवन्) इन्द्र ने (प्रजापतौ) प्रजापति के निकट (ब्रह्मचर्य्यं, उवास) ब्रह्मचर्य्यपूर्वक निवास किया तब (तस्मै) उस इन्द्र को प्रजापति (ह, उवाच) बोले किः—

इति एकादशःखण्डः समाप्तः

अथ द्वादशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब प्रजापति इन्द्र को विशेषरूप से उपदेश करते हैंः—

मघवन्मर्त्यं वा इदꣳशरीरमात्तं मृत्युना। तदस्यमृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ १ ॥

पद०—मघवन् । मर्त्यं । वै । इदं । शरीरं । आत्तं । मृत्युना । तत् । अस्य । अमृतस्य । अशरीरस्य । आत्मनः । अधिष्ठानं ।

आत्तः । वै । सशरीरः । प्रियाप्रियाभ्यां । न । वै । सशरीरस्य । सतः । प्रियाप्रिययोः । अपहतिः । अस्ति । अशरीरं । वाव । सन्तं । न । प्रियाप्रिये । स्पृशतः ।

पदा०-(मघवन्) हे इन्द्र ! (इदं, शरीरं) यह शरीर (वै) निश्चयकरके (मर्त्यं) मरणधर्मा (मृत्युना) मृत्यु से (आत्तं) ग्रसा हुआ है (तत्) वह शरीर (अस्य) इस (अमृतस्य) अविनाशी (अशरीरस्य, आत्मनः, अधिष्ठानं) अशरीरी जीवात्मा का अधिष्ठान है (वै) निश्चयकरके (सशरीरः) सशरीर आत्मा (प्रियाप्रियाभ्यां) प्रिय और अप्रिय से (आत्तः) ग्रसित है, (वै) निश्चयकरके जबतक यह (सशरीरस्य, सतः) सशरीर है तबतक इसके (प्रियाप्रिययोः) प्रिय और अप्रिय का (अपहतिः) नाश (न, अस्ति) नहीं होता (अशरीरं, सन्तं) अशरीरी आत्मा को (प्रियाप्रिये) प्रिय और अप्रिय (वाव) निश्चयकरके (न, स्पृशतः) स्पर्श नहीं करसक्ते ॥

सं०-अब उक्त भाव को दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट करते हैं: —

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि । तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

पद०-अशरीरः । वायुः । अभ्रं । विद्युत् । स्तनयित्नुः । अशरीराणि । एतानि । तत् । यथा । एतानि । अमुष्मात् । आकाशात् । समुत्थाय । परं । ज्योतिः । उपसम्पद्य । स्वेन । स्वेन । रूपेण । अभिनिष्पद्यन्ते ।

पदा०-(वायुः, अशरीरः) वायु अशरीर है, (अभ्रं, विद्युत्, स्तनयित्नुः) मेघ, विजुली तथा गर्जन (एतानि) यह सब (अशरीराणि) अशरीरी=शरीर रहित हैं (तत्, यथा) वह जैसे (अमुष्मात्, आकाशात्, समुत्थाय) उस आकाश से उठकर (परं, ज्योतिः, उपसम्पद्य) परज्योति= स्वकारण को प्राप्त हो (स्वेन, स्वेन, रूपेण) निज २ रूप से (अभिनिष्पद्यन्ते) अपने कारण में स्थित होते हैं ।

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमःपुरुषः । स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳ स्मरन्निदꣳशरीरꣳस यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणोयुक्तः ॥ ३ ॥

पद०-एवं । एव । एषः । सम्प्रसादः । अस्मात् । शरीरात् । समुत्थाय । परं । ज्योतिः । उपसम्पद्य । स्वेन । रूपेण । अभिनिष्पद्यते । सः । उत्तमः । पुरुषः । सः । तत्र । पर्य्येति । जक्षन् । क्रीडन् । रममाणः । स्त्रीभिः । वा । यानैः । वा । ज्ञातिभिः । वा । न । उपजनं । स्मरन् । इदं । शरीरं । सः । यथा । प्रयोग्यः । आचरणे । युक्तः । एवं । एव । अयं । अस्मिन् । शरीरे । प्राणः । युक्तः ।

पदा०—(एवं, एव) वैसे ही (एषः) यह (सम्प्रसादः) आत्मा (अस्मात्, शरीरात्, समुत्थाय) इस शरीर से उठ (परं, ज्योतिः, उपसम्पद्य) परज्योति ब्रह्म को प्राप्त होकर (स्वेन, रूपेण) अपने रूप से (अभिनिष्पद्यते) स्थित होता है (सः, उत्तमः, पुरुषः) वह उत्तम पुरुष (तत्र) उस अवस्था में (इदं, शरीरं) यह शरीर (उपजनं) जिसमें वह जन्मा था (स्मरन्, न) उसको स्मरण न करता हुआ (सः) वह (जक्षन्) प्रसन्न होकर (स्त्रीभि,ः वा, यानैः, वा, ज्ञातिभिः, वा) स्त्रियों अथवा विविध यानों अथवा निज बान्धव इष्ट मित्रादिकों के साथ (क्रीडन्) क्रीड़ा तथा (रममाणः) रमण करता हुआ (पर्य्येति) सर्वत्र विचरता है, हे इन्द्र ! (यथा) जैसे (आचरणे) रथ में (प्रयोग्यः) घोड़ा (युक्तः) जुड़ा हुआ होता है (एवं, एव) वैसे ही (सः, अयं) वह यह (प्राणः) जीव (अस्मिन्, शरीरे) इस शरीर में (युक्तः) युक्त=जुड़ा हुआ है ॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा। गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदꣳ शृणवानीति स आत्मा। श्रवणाय श्रोत्रम् ॥४॥

पद०—अथ। यत्र। एतत्। आकाशं। अनुविषण्णं। चक्षुः। सः। चाक्षुषः। पुरुषः। दर्शनाय। चक्षुः। अथ। यः। वेद।

इदं । जिघ्राणि । इति । सः । आत्मा । गन्धाय । घ्राणं । अथ । यः । वेद । इदं । अभिव्याहराणि । इति । सः । आत्मा । अभिव्याहाराय । वाक् । अथ । यः । वेद । इदं । शृणवानि । इति । सः । आत्मा । श्रवणाय । श्रोत्रं ।

पदा०-(अथ) और (यत्र) जहां (एतत्, चक्षुः) यह चक्षु (आकाशं, अनुविषण्णं) आकाश में अनुगत है (सः, चाक्षुषः, पुरुषः) वह चाक्षुष पुरुष है (दर्शनाय, चक्षुः) उस आत्मा के दर्शन के लिये चक्षु (अथ) और (यः) जो (इदं, जिघ्राणि, इति) इसको सूंघूं, यह (वेद) जानता है (सः, आत्मा) वह जीवात्मा है (गन्धाय) उस गन्ध के ग्रहणार्थ (घ्राणं) घ्राणेन्द्रिय है (अथ) और (यः) जो (इदं, अभिव्याहराणि, इति) इसको बोलूं, यह (वेद) जानता है (सः, आत्मा) वह जीवात्मा है (अभिव्याहाराय, वाक्) उस आत्मा के भाषणार्थ वागिन्द्रिय होता है (अथ) और (यः) जो (इदं, शृणवानि, इति) इसको श्रवण करूं, यह (वेद) जानता है (सः, आत्मा) वह आत्मा है (श्रवणाय, श्रोत्रं) उस जीवात्मा के श्रवणार्थ श्रोत्र है ॥

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा । मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ५ ॥

पद०—अथ । यः । वेद । इदं । मन्त्रानि । इति । सः । आत्मा । मनः । अस्य । दैवं । चक्षुः । सः । वै । एषः । एतेन । दैवेन । चक्षुषा । मनसा । एतान् । कामान् । पश्यन् । रमते ।

पदा०—(अथ) और (यः) जो (इदं, मन्त्रानि, इति) इसका मनन करूं, यह (वेद) जानता है (सः, आत्मा) वह आत्मा है (अस्य) इस आत्मा का (मनः) मन ही (दैवं, चक्षुः) दिव्य चक्षु है (सः, एषः) वह यह आत्मा (एतेन) इस (दैवेन, चक्षुषा) दिव्य चक्षु रूप (मनसा) मन से (वै) ही (एतान्) इन (कामान्) कामनाओं को (पश्यन्) देखता हुआ (रमते) रमण करता है ॥

य एते ब्रह्मलोके, तं वा एतं, देवा आत्मानमुपासते । तस्मात्तेषाᳩ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः । स सर्वाᳩश्च लोकानाप्नोति सर्वाᳩश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥

पद०—ये । एते । ब्रह्मलोके । तं । वै । एतं । देवाः । आत्मानं । उपासते । तस्मात् । तेषां । सर्वे । च । लोकाः । आत्ताः । सर्वे । च । कामाः । सः । सर्वान् । च । लोकान् । आप्नोति । सर्वान् । च । कामान् । यः । तं । आत्मानं ।

अनुविद्य । विजानाति । इति । ह । प्रजापतिः । उवाच । प्रजापतिः । उवाच ॥

पदा०-(ह, प्रजापतिः, उवाच) वह प्रसिद्ध प्रजापति बोले कि (ये, एते) जो यह (देवाः) विद्वान् (वै) निश्चयकरके (तं, एतं) उस (ब्रह्मलोके) ब्रह्मलोक में (आत्मानं, उपासते) परमात्मा की उपासना करते हैं (तस्मात्) इसी कारण (तेषां) उन विद्वानों को (सर्वे, च, लोकाः) सब लोक (च) और (सर्वे, कामाः) सब कामनायें (आत्ताः) प्राप्त होती हैं (सः) वह मुक्त पुरुष (सर्वान्, च, लोकान्) सब लोकलोकान्तरों (च) और (सर्वान्, कामान्) सब कामनाओं को (आप्नोति) प्राप्त होता है (यः) जो (तं) उस (आत्मानं) आत्मा को (अनुविद्य) खोजकर (विजानाति) जानता है, (प्रजापतिः, उवाच) यह प्रजापति ने उपदेश किया ॥

इति द्वादशःखण्डः समाप्तः

अथ त्रयोदशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब आत्मज्ञानी प्रसन्नचित्त होकर कथन करता है:—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरम-

कृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामी-त्यभिसम्भवामीति ॥ १ ॥

पद०—श्यामात् । शबलं । प्रपद्ये ।शबलात् । श्यामं । प्रपद्ये । अश्वः । इव । रोमाणि । विधूय । पापं । चन्द्रः । इव । राहोः । मुखात् । प्रमुच्य । धूत्वा । शरीरं । अकृतं । कृतात्मा । ब्रह्मलोकं । अभिसम्भवामि । इति । अभिसम्भवामि । इति ।

पदा०—(श्यामात्, शबलं, प्रपद्ये) हार्दब्रह्म से विराट् ब्रह्म को प्राप्त होता हूं, और (शबलात्, श्यामं, प्रपद्ये) विराट् ब्रह्म से हार्द ब्रह्म को प्राप्त होता हूं (अश्वः, इव, रोमाणि) जैसे घोड़ा अपने लोमों को कम्पाकर निर्मल होजाता है, और (राहोः, मुखात्, इव) जैसे राहु के मुख से (प्रमुच्य) मुक्त होकर (चन्द्रः) चन्द्रमा निर्मल होजाता है, इसीप्रकार (पापं, विधूय) पापों से पृथक् होकर (कृतात्मा) कृतार्थ हुआ (शरीरं, धूत्वा) शरीर को त्यागकर (अकृतं) नित्य (ब्रह्मलोकं) ब्रह्मलोक को (अभिसम्भवामि, इति) प्राप्त होता हूं, " अभिसम्भवामीति " पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है ॥

इति त्रयोदशःखण्डः समाप्तः

अथ चतुर्दशःखण्डः प्रारभ्यते

सं०-अब ब्रह्म का महत्व वर्णन करते हुए उसके प्रति जीव की प्रार्थना कथन करते हैं :—

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता । ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतꣳस आत्मा। प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम् । यशोऽहमनुप्रापत्सि । स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्कꣳश्येतं लिन्दुमाभिगां लिन्दुमाभिगाम् ॥ १ ॥

पद०-आकाशः । वै । नाम । नामरूपयोः । निर्वहिता । ते । यदन्तरा । तत् । ब्रह्म । तत् । अमृतं । सः । आत्मा । प्रजापतेः । सभां । वेश्म । प्रपद्ये । यशः । अहं । भवामि । ब्राह्मणानां । यशः । राज्ञां । यशः । विशां । यशः । अहं । अनुप्रापत्सि । सः । ह । अहं । यशसां । यशः । श्येतं । अदत्कं । अदत्कं । श्येतं । लिन्दु । मा । अभिगां । लिन्दु । मा । अभिगाम् ।

पदा०-(वै) निश्चयकरके (आकाशः, नाम) ब्रह्म ही (नामरूपयोः) नाम और रूप का (निर्वहिता) निर्वाहक= प्रकाशक है (ते) वह नाम रूप (यदन्तरा) जिसके मध्य में

वर्त्तमान हैं (तत्, ब्रह्म) वह ब्रह्म है (तत्, अमृतं) वह अमृत है (सः, आत्मा) वही सब जगत् का आत्मा=ब्रह्म सर्वव्यापक है, (अहं) मैं (प्रजापतेः, सभां, वेश्म, प्रपद्ये) उस सम्पूर्ण प्रजा के स्वामी सर्वपालक ब्रह्म की शरण को प्राप्त होऊं (यशः, अहं, भवामि) मैं यशस्वी होऊं (ब्राह्मणानां, यशः) ब्राह्मणों के मध्य यश को (राज्ञां, यशः) क्षत्रियों में यश को (विशां, यशः) वैश्यों के मध्य यश को (अनुप्रापत्सि) प्राप्त होऊं (सः, ह, अहं) वह मैं (यशसां, यशः) यशस्वियों के बीच यशस्वी होऊं, हे भगवन्! (श्येतं) श्वेत=रक्त (अदत्कं) दन्तरहित अर्थात् यश, बल, वीर्य्य का नाश करने वाली (श्येतं, लिन्दु) रक्त योनि को (मा, अभिगां) प्राप्त न होऊं, " लिन्दुमाभिगाम् " पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है ॥

इति चतुर्दशःखण्डः समाप्तः

अथ पञ्चदशःखण्डःप्रारभ्यते

सं०—अब अन्त में मुक्ति के साधन कथन करते हुए इस उपनिषदर्थ का उपसंहार करते हैं:—

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच । प्रजापतिर्मनवे । मनुः प्रजाभ्यः । आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ-

देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विद-धदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्या-हिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स ख-ल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिस-म्पद्यते । नच पुनरावर्त्तते । नच पुनरा-वर्त्तते ॥ १ ॥

पद०-तत् । ह । एतत् । ब्रह्मा । प्रजापतये । उवाच । प्रजापतिः । मनवे । मनुः । प्रजाभ्यः । आचार्यकुलात् । वेदं । अधीत्य । यथाविधानं । गुरोः । कर्म । अतिशेषेण । अभिसमावृत्य । कुटुम्बे । शुचौ । देशे । स्वाध्यायं । अधीयानः । धार्मिकान् । विदधत् । आत्मानि । सर्वेन्द्रियाणि । सम्प्रतिष्ठाप्य । अहिंसन् । सर्वभूतानि । अन्यत्र । तीर्थेभ्यः । सः । खलु । एवं । वर्तयन् । यावदायुषं । ब्रह्मलोकं । अभिसम्पद्यते । न । च । पुनः । आवर्त्तते । न । च । पुनः । आवर्त्तते ।

पदा०-(तत्, ह, एतत्) वह इस उपनिषद् सम्बन्धी ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश (ब्रह्मा) ब्रह्मा नामक ऋषि ने (प्रजापतये) प्रजापति=कश्यप को (उवाच) कथन किया (प्रजापतिः, मनवे) प्रजापति ने मनु को (मनुः, प्रजाभ्यः) मनु ने प्रजाओं को उपदेश किया कि (आचार्यकुलात्, यथाविधानं, वेदं, अधीत्य) आचार्यकुल से विधिपूर्वक वेद का अध्ययन (गुरोः) गुरु की (अतिशेषेण) शुश्रूषा आदि (कर्म) कर्म करके (अभिसमावृत्य)

समावर्त्तन संस्कार कर (कुटुम्बे) अपने कुटुम्ब में रहता हुआ (शुचौ, देशे) पवित्र देश में (स्वाध्यायं) स्वाध्याय (अधीयानः) करता हुआ (धार्मिकान्, विदधत्) अन्य मनुष्यों को धार्मिक बनाता हुआ (आत्मनि) आत्मा में (सर्वेन्द्रियाणि) सब इन्द्रियों को (सम्प्रतिष्ठाप्य) स्थिरकरके (तीर्थेभ्यः, अन्यत्र) तीर्थों से अन्यत्र भी (सर्वभूतानि, अहिंसन्) सब प्राणियों की हिंसा न करता हुआ जो विचरता है (सः) वह (खलु) निश्चयकरके (एवं) उक्त प्रकार से (यावदायुषं) यावदायुष (वर्तयन्) वर्त्तता हुआ (ब्रह्मलोकं, अभिसम्पद्यते) ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है (न, च, पुनः, आवर्त्तते) फिर उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् नियत कालतक मुक्ति में रहता है ॥

भाष्य—सप्तम खण्ड से लेकर यहां समाप्ति पर्य्यन्त महर्षि प्रजापति और इन्द्र तथा विरोचन की आख्यायिका द्वारा ब्रह्म का स्वरूप निरूपण करते हुए यह वर्णन किया है कि जो पुरुष ब्रह्मचर्य्यादि व्रतों तथा यज्ञादि कर्मों द्वारा उसको भले प्रकार खोजकर साक्षात्कार करते हैं वह सब कामनाओं को प्राप्त होकर मुक्त होते हैं, यह गाथा इस प्रकार है कि एक समय प्रजापति आचार्य्य अपने शिष्यों को यह शिक्षा दे रहे थे कि वह परमपिता परमात्मा जिसको जानकर पुरुष सब दुःखों से छूट परमपद को प्राप्त होता है वह पाप से रहित, जरावस्था रहित, मृत्यु से रहित, शोक से रहित, क्षुधारहित और पिपासा से रहित,

अमृतस्वरूप है, फिर कैसा है सत्य की कामना वाला और सत्य सङ्कल्प है, उसी को जानकर पुरुष अमृत होता है, इस उपदेश को देवता और असुर दोनों ने श्रवण किया और वह विचार करने लगे कि यदि सब की सम्मति होतो उस परमात्मा का अन्वेषण करें जिसको खोजकर पुरुष अमृत होता है, विचारानन्तर देवों में से " इन्द्र " और असुरों में से " विरोचन " हाथ में समिधा लेकर जिज्ञासुभाव से प्रजापति आचार्य्य के निकट आये और उनके समीप ३२ वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्यपूर्वक सम्पूर्ण विद्याओं का अध्ययन किया, अध्ययनानन्तर आचार्य्य बोले कि आप समावर्त्तन कराके अपने २ गृह को जायं परन्तु यह दोनों समावर्त्तन कराने में कुछ संकोच करने लगे तब प्रजापति ने उनके मानसिकभाव को जानने के लिये पुनः जिज्ञासा कर उनके प्रति बोले कि आपने किस इच्छा से मेरे निकट वास किया है ? वह दोनों बोले कि जो परमात्मा पापरहित, मृत्यु से रहित इत्यादि विशेषणों वाला है उसको जानकर ही पुरुष सब कामनाओं को प्राप्त होते हैं, आपके इस उपदेश को विद्वान् लोग कथन करते हैं, उसी अमृतस्वरूप ब्रह्म के जानने की इच्छा से हम दोनों ने यहां आपके समीप निवास किया है सो कृपाकरके हम लोगों को उस ब्रह्म[illegible] उपदेश करें, यह हमारी प्रार्थना है तब उन दोनों को उपदेश करते हुए प्रजापति बोले कि अक्षि में जो दीखता है वही परमात्मा है, यहां अक्षिगत कथन करना उपलक्षण है जिसका भाव यह है कि वह पूर्ण परमात्मा शरीरगत सब इन्द्रियों, सब अङ्गों और रोम २ में व्यापक होरहा है,

वही अमृत अभयादि गुणविशिष्ट ब्रह्म है, इतना सुनकर वह दोनों बोले कि हे भगवन् ! यह जो जलों और दर्पण में दृष्टि गत होता है वह कौन है ! प्रजापति ने उत्तर दिया कि संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में परमात्मा व्यापक है, जो अजर, अमर, अभय तथा अपहतपाप्मादि गुणविशिष्ट है, फिर प्रजापति बोले कि जलपात्र में आत्मा को देखो, जो उसमें आत्मा को न जानसको तो फिर मुझ से आकर पूछो, वह दोनों जलपात्र में आत्मा को देखने लगे तो प्रजापति बोले कि इसमें क्या देखते हो ? तब उन दोनों ने कहा कि नख से लेकर शिखा पर्य्यन्त यह आत्मा का प्रतिरूप देखते हैं, फिर प्रजापति ने कहा कि उत्तम वस्त्र और आभूषण पहनकर दर्पण में आत्मा को देखो, वह दोनों अलङ्कृत होकर देखने लगे तब उनसे प्रजापति बोले क्या देखते हो ? उन्होंने कहा कि जैसा यह शरीर अलङ्कृत है वैसा ही दर्पण में देखते हैं, फिर प्रजापति ने कहा कि यही आत्मा है और यही अजर, अमर, अमृत तथा अभय है, यह सुनकर दोनों शान्तहृदय वहां से चले आये, प्रजापति के उक्त कथन का तात्पर्य्य यह है कि यह प्राकृति शरीर जिसको तुम जलपात्र वा दर्पण में देखते हो यह परिवर्त्तनशील होने से विनाशी है जैसी शरीर की आकृति होती है वैसाही छाया पुरुष दृष्टिगत होता है और वह आत्मा अपरिवर्तनशील होने से सदा एकरस रहता है वह बाहर की बनावट से सुशोभित नहीं होता और नाहीं शरीरगत व्याधि से उसमें कोई विकार उत्पन्न होता है वह शरीर में व्यापक होने पर भी इससे भिन्न है और वही अमृत तथा अभय है, इस प्रकार दृष्टान्तों द्वारा बार २

समझाने पर भी वह दोनों इस भाव को न समझकर उलटा यह समझे कि यह शरीर ही आत्मा है, इस प्रकार आत्मविषयक अन्यथा समझकर वहां से चले आये, उन दोनों को जाता हुआ देख प्रजापति अपने मन में विचारने लगे कि यह दोनों आत्मविषयक यथार्थज्ञान सम्पादन न कर निज २ गृह को जाते हैं, या यों कहो कि आत्मा को न जानकर विना प्राप्त किये हुए ही जाते हैं, इनके उपदेश से जो देवता और असुर इस अन्यथा ज्ञान वाले होंगे वह नष्ट होंगे अस्तु, वह शान्तहृदय विरोचन असुरों के निकट पहुंचा और उन असुरों से इस ज्ञान को कहा कि इस लोक में शरीर ही पूजनीय तथा सेवनीय है, यहां शरीर को ही पूजता हुआ, शरीर का ही सेवन करता हुआ इस लोक और परलोक को प्राप्त होता है, इसी निश्चय वाले असुरों का सम्प्रदाय आजकल भी यहां दृष्टिगत होता है जो न दान देते न परमात्मा तथा वेदों पर श्रद्धा रखते, न परलोक को मानते और न यज्ञ करते हैं, यह लोग गन्धमाला, वस्त्रों तथा अभूषणों से शरीर को ही अलङ्कृत रखते हुए संसार में विचरते हैं और इसी कर्तव्य से इस लोक को जीत लेवेंगे ऐसा मानते हैं।

इन्द्र देवों को प्राप्त न होकर स्वयं ही विचारने लगा कि इस शरीर के अलङ्कृत होने से यह छाया पुरुष भी सुअलंकृत होता है, इस शरीर का परिष्कार होने से छाया भी परिष्कृत होता है वैसेही काना होने से छाया पुरुष भी काना होता और अन्धा होने से अन्ध होता है, इस शरीर के छिन्नभिन्न होने पर छायापुरुष भी छिन्नभिन्न होता और इस शरीर के नष्ट होने से नष्ट होजाता है, इस कारण यह

छाया पुरुष आत्मा नहीं, यह विचार करता हुआ हाथ में समिधा लेकर पुनः प्रजापति के समीप आया, इन्द्र को आता हुआ देख प्रजापति बोले कि हे इन्द्र! तुम तो विरोचन के साथ शान्तहृदय होकर चलेगये थे फिर किस इच्छा से आये हो ? इन्द्र ने अपना उक्त विचार प्रजापति के सन्मुख प्रकट किया तब प्रजापति बोले कि स्वप्न का साक्षी जो जीवात्मा है वही ब्रह्म है और वही अजर, अमर, अभय तथा अमृत है, यह निश्चयकर शान्तहृदय इन्द्र फिर चला आया और देवताओं को प्राप्त न होकर स्वयं ही विचारने लगा की उस स्वप्नावस्था में यह शरीर अन्ध होता है तो आत्मा अनन्ध ही होता है, यदि शरीर काना होता है तो आत्मा काना नहीं होता अर्थात् इस शरीर के वाह्यदोष से यह आत्मा दूषित नहीं होता और न इस शरीर के बध से वह आत्मा मरता है परन्तु इस आत्मा को मानो कोई मार रहे हैं, कोई भगा रहे हैं, यह मानो अप्रिय देखता और रोता हुआ सा भी प्रतीत होता है, अतएव यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं ।

भाव यह है कि इस द्वितीयवार इन्द्र ने स्वप्नावस्था के तैजस जीवात्मा को ब्रह्म समझा और उसमें भी उक्त दोष देखता हुआ फिर प्रजापति के निकट आकर कहा कि हे भगवन्! मैं ब्रह्म को पूर्ण प्रकार से नहीं समझा, प्रजापति बोले कि तुम ३२ वर्ष मेरे समीप और वास करो, वह इन्द्र फिर वास करने लगा, उसके पश्चात् प्रजापति बोले कि जिस अवस्था में सोया हुआ अपने स्वरूप में स्थित भलेप्रकार आनन्द का अनुभव करता हुआ स्वप्न को नहीं जानता वही आत्मा अपहतपाप्मादि

धर्मों वाला है, वही अमृत, अभय और वही ब्रह्म है, ऐसा निश्चय कर वह इन्द्र चला आया और देवताओं को प्राप्त होने से पूर्व ही विचार करते हुए इस भय को देखा कि सुषुप्तात्मा यह मैं हूं इस प्रकार अपने को नहीं जानता और नाही इन भूतों को जानता है,यह भी विनाश को ही प्राप्त हुए की भांति होता है,अतः यह भी ब्रह्म नहीं, यह विचार कर फिर प्रजापति के पास लौट आया और हाथ में समिधा लेकर प्रजापति को प्राप्त हो बोला कि हे भगवन् ! सुषुप्तात्मा ब्रह्म नहीं, क्योंकि उसमें पूर्वोक्त दोष आते हैं, इसलिये फिर लौट आया हूं, प्रजापति बोले कि हे इन्द्र ! आपके प्रति इसका ही फिर व्याख्यान करूंगा, क्योंकि इस आत्मज्ञान से भिन्न और कोई पुरुषार्थ नहीं, पांचवर्ष मेरे समीप और वास कर फिर वह पांच वर्ष वास करने लगा, यह सब मिलकर १०० वर्ष इन्द्र ने प्रजापति के निकट ब्रह्मचर्य्य पूर्वक निवास किया तब उस इन्द्र को प्रजापति बोले कि हे इन्द्र ! यह शरीर निश्चयकरके मरणधर्मा मृत्यु से ग्रसा हुआ जीवात्मा का अधिष्ठान है और यह सशरीर आत्मा प्रिय और अप्रिय से ग्रसित है परन्तु अशरीरी आत्मा को प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करसक्ते, जैसाकि वायु अशरीरी है उसको सुख दुःख स्पर्श नहीं करसकते, वैसे ही मेघ, विजुली और गर्जन यह सब शरीर रहित हैं, वह जैसे उस आकाश से उठकर स्वकारण को प्राप्त हो अपने२रूप से स्व२ कारण में स्थित होते हैं वैसे ही यह जीवात्मा इस शरीर से उठ परंज्योति ब्रह्म को प्राप्त होकर अपने रूप से स्थित होता है और उस समय वह उत्तम पुरुष कहलाता है, उस अवस्था में वह उत्तम पुरुष यह शरीर जिसमें वह जन्मा था

उसको स्मरण नहीं करता और वह प्रसन्न होकर अनेक प्रकार के आनन्द भोगता है जैसाकि मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य पीछे इसी प्रपाठक में वर्णन कर आये हैं, हे इन्द्र ! जैसे रथ में घोड़ा जुड़ा हुआ होता है वैसे ही यह जीव इस शरीर में जुड़ा रहता है और जहां यह चक्षु आकाश में अनुगत है वह चाक्षुष पुरुष है उस आत्मा के दर्शनार्थ चक्षु है अर्थात् इस सारे ब्रह्माण्ड में जो व्यापक पुरुष परमात्मा है उसके सूर्य्य और चन्द्रमा नेत्र स्थानीय हैं जैसाकि " **चन्द्रसूर्य्यौ च नेत्रे** "=उस परमात्मा के चन्द्र और सूर्य्य नेत्र हैं, या यों कहो कि चन्द्र सूर्य्य, पृथिवी तथा आकाशादि सम्पूर्ण पदार्थ उस परमात्मा की महिमा को सब लोगों पर प्रकट करते हुए स्थिर हैं इन्हीं के द्वारा उस सर्वरक्षक परमपिता परमात्मा का साक्षात्कार होता है, और जो इसको सूंघूं, इसको देखुं, इत्यादि ज्ञानवाला है वह जीवात्मा है और उस गन्ध के ग्रहणार्थ घ्राणेन्द्रिय, भाषणार्थ वागिन्द्रिय और श्रवणार्थ श्रोत्रेन्द्रिय है और जो इसका मनन करूं यह जानता है वह आत्मा है, इस आत्मा का मन ही दिव्यचक्षु है, यह जीवात्मा इस दिव्यचक्षुरूप मन से ही इन कामनाओं को देखता हुआ उनमें रमण करता है, फिर प्रजापति बोले कि जो विद्वान् ब्रह्मलोक में परमात्मा की उपासना करते हैं उन्हीं को सब कामनायें प्राप्त होती हैं अर्थात् मुक्त पुरुष ही सब कामनाओं को प्राप्त होता है जो परमात्मा को खोजकर जानता है; मुक्त पुरुष का यह महत्व है कि वह ब्रह्म को प्राप्त होकर स्वेच्छाचारी होजाता है और ब्रह्म को सर्वव्यापक जानकर इस निश्चय वाला होता है कि जो पूर्ण परमात्मा सारे ब्रह्माण्ड में

व्यापक है वही मेरे हृदय में विराजमान है, इस भाव को पूर्ण रीति से जानता हुआ पवित्रान्तःकरण पापवासनाओं को सर्वथा त्यागकर शुद्ध होजाता है अर्थात् जिस प्रकार घोड़ा अपने लोमों को कम्पाकर निर्मल होजाता है और जैसे चन्द्रमा राहु के मुख से निकलकर निर्मल होजाता है इसी प्रकार मुक्त पुरुष पापों से छूटकर कृतार्थ हुआ यह अनुभव करता है कि ब्रह्म ही नाम रूप का प्रकाशक है और वह नाम रूप जिसके मध्य में वर्त्तमान हैं वह ब्रह्म है वही अमृत और वही सम्पूर्ण जगत् में व्यापक सब का आत्मा ब्रह्म है, हे परमात्मन् ! मैं आपकी कृपा से ही मुक्त पुरुषों की सभा को प्राप्त होऊं, यशस्वी होऊं, ब्राह्मणों के मध्य यश को प्राप्त होऊं, क्षत्रियों के मध्य यश को प्राप्त होऊं, वैश्यों के मध्य यश को प्राप्त होऊं और यशस्वियों के बीच यशस्वी होऊं, हे मुक्ति दाता परमपिता परमात्मन्! आप ऐसीकृपा करें कि मैं बारम्बार जन्म मरण को प्राप्त न होकर एकमात्र आपही की शरण का अवलम्बन करूं यह मेरी आपसे प्रार्थना है ।

अब अन्त में इस सम्पूर्ण उपनिषद् का उपसंहार करते हुए महर्षि कथन करते हैं कि जो पुरुष इस संसार के दुःखों से छूटकर उस परमशान्ति को प्राप्त होना चाहे उसका यह कर्तव्य है कि वह नियमानुकूल नियत आयु में आचार्य्यकुल को प्राप्त होकर गुरु की शुश्रूषापूर्वक यथाविधि साङ्गोपाङ्ग वेदों का अध्ययन करके समावर्त्तन संस्कार कर अपने कुटुम्ब में आवे, और गृह में रहता हुआ किसी एकान्त पवित्रदेश में अग्निहोत्रादि कर्मों का नियमपूर्वक पालन करे, क्योंकि इन कर्मों का नियम

पूर्वक पालन करने वाला ही पवित्र होता है, जैसाकि गी०१८।५ में भी वर्णन किया है कि :—

यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

अर्थ—स्वाध्याय तथा सन्ध्या अग्निहोत्रादि यज्ञ, दान और तप=तितिक्षा इन कर्मों का कदापि त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि इन कर्मों के करने से पुरुष पवित्र होता है, इसी निश्चय वाला पुरुष धार्मिक होता और उसी की सद्गती होती है, इस प्रकार वैदिक कर्म करता हुआ अपनी सन्तति तथा अन्य कुटु-म्बियों और इष्ट मित्रादिकों में भी उक्त कर्मों का प्रचार करके उनको भी धार्मिक बनावे, अपने आत्मा में सब इन्द्रियों को स्थिर कर उनका भलेप्रकार निरोध करे अर्थात् किसी देश काल में भी हिंसा न करता हुआ सब प्राणियों को अभय दान दे, यहां हिंसा शब्द सब पापों का उपलक्षण है जिसका आशय यह है कि कोई पाप न करता हुआ अपने को पवित्र करे, या यों कहो कि सदा ही वैदिक कर्म करता हुआ अपनी आयु को बितावे, इस प्रकार यावदायुष कर्म करने वाला पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और फिर उसको आवृत्ति=वारंवार श्रवणादि नहीं करने पड़ते अर्थात् ऐसा पुरुष नियतकाल तक मुक्ति का आनन्द भोगता हुआ महाकल्प के पश्चात् फिर संसार में आता है।

यह पूर्वोक्त ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी उपदेश प्रथम ब्रह्मा नामक ऋषि ने महर्षि कश्यप को किया, कश्यप ने मनु को और मनु ने सब प्रजाओं को उक्त ज्ञान का उपदेश किया, जो मनु भगवान् के कथनानुसार अपने जीवन को व्यतीत करते हैं वह संसार में

सब प्रकार के ऐश्वर्य्य भोगते हुए अन्ततः उस परमपद को प्राप्त होकर अमृत होजाते हैं, "नचपुनरावर्त्तते" पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आया है अर्थात् उक्त नियमानुसार कर्म करने वाले अवश्य मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
उपनिषदार्य्यभाष्ये छान्दो-
ग्योपनिषत् समाप्ता

ओ३म्

अथ बृहदारण्यकोपनिषदार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते

सं०—अब परमात्मा को अश्वरूप से वर्णन करते हैं:—

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः सूर्यश्च-क्षुर्वातः प्राणोऽव्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संव-त्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य द्यौःपृष्ठम-न्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मा-साश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्रीणि प्रति-ष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभोमा॑ंसानि ऊवध्य॑ँसिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लो-मानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि उद्यन्पूर्वार्धोनिम्लोचन् जघना-र्धोयद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते-तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागे-वास्यवाक् ॥ १ ॥

अर्थ—निश्चयकरके उस पूजा योग्य परमात्मा का ब्राह्ममुहूर्त्त काल शिरस्थानीय=सर्वोपरि मुख्य अङ्ग, सूर्य्य चक्षुस्थानीय, वायु प्राणस्थानीय, वैश्वानर अग्नि विस्तृत मुख के समान और संवत्सर देहस्थानीय है, उस पूज्य अश्व का प्रकाशलोक पृष्ठस्थानीय, अन्तरिक्षलोक उदरस्थानीय, पृथिवीपादस्थानीय, पूर्वादि दिशायें पासे और आग्नेयादि=बीच की दिशायें पसलियें हैं, ऋतुयें अङ्ग स्थानीय, महीने तथा पक्ष सन्धियें, दिन और रात्रि ठहरने का स्थान और नक्षत्र अस्थियें हैं, बादलों से परिपूरित आकाश मांसस्थानीय, बालू=रेत चबाये हुए अन्न के समान, नदियें नाडी स्थानीय, पर्वत यकृत् और क्लोम=पिपासास्थान स्थानीय, ओषधियें तथा बनस्पतियें लोम स्थानीय, उदय होता हुआ सूर्य्य उसका पूर्वार्ध और मध्यान्ह से ढलता हुआ सूर्य्य उसके पीछे का भाग है जो जंभाई लेता है वह विजुली का चमकना जो उसके प्रकृतिरूप शरीर का हिलाना है वह बादल का कड़कना है, जो उसके प्रकृतिरूप शरीर से सूक्ष्म धातुओं का बहना है वही वर्षा और इस विराट् में जो गर्जना है वही उसके शब्द समान है ॥

सं०—अब उक्त अश्वरूप परमात्मा की विभूति-वर्णन करते हैं:—

अहर्वा अश्वंपुरस्तान्महिमान्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रेयोनीरात्रिरेनं पश्चान्महिमान्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः संबभूवतुः हयो

भूत्वा देवानवहद्वाजीगन्धर्वानर्वाऽसुरा-नश्वोमनुष्यान् समुद्रएवास्य बन्धुः स-मुद्रो योनिः ॥ २ ॥

अर्थ-निश्चयकरके उक्त अश्वरूप परमात्मपुरुष को विभूषित करने वाला दिनरूप महत्व प्रथम उत्पन्न हुआ, जिसका कारण प्रकृति सम्बन्धी सत्त्वगुण था और पश्चात् इसके महत्व को गायन करने वाली रात्रि उत्पन्न हुई जिसका योनि=कारण तमोगुण था, यह दिन और रात्रि दोनों उस परमपुरुष की महिमारूप हैं, उक्त महिमा वाला परमात्मा ज्ञानरूप से देवताओं को मन्दज्ञान से गन्धर्वों को, नीचज्ञान से असुरों को और सामान्य ज्ञान से मनुष्यों को चलाता है, सृष्टि रचना में प्रकृति ही इसकी सहायक=इसके साथ सम्बन्ध रखने वाली अर्थात् उपादान कारण है ॥

भाष्य-बड़ा होने से "बृहत्" तथा आरण्य=वन में बनाये जाने के कारण इसका नाम "बृहदारण्यक" है, और जिस से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो उसको "उपनिषद्" कहते हैं।

शङ्करमत में "उपनिषद्" शब्द के अर्थ यह हैं कि संसार का हेतु जो अज्ञान उसके सहित संसार के नाश करने वाले को "उपनिषद्" कहते हैं, क्योंकि इनके मत में कारण सहित संसार का नाश ही परमानन्द की प्राप्ति है, यह अर्थ इस लिये ठीक नहीं कि उपनिषद् शब्द का प्रयोग संसार के नाश में कहीं भी नहीं आया प्रत्युत ब्रह्मविद्या का वाचक

अनेक स्थानों में आया है, जैसाकि "उपनिषदंभोब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति" केन० ४।७=शिष्य कहता है कि हे गुरो आप! मेरे प्रति ब्रह्मविद्या कहें, गुरु कहते हैं कि तेरे लिये उपनिषद्=ब्रह्मविद्या कही गई, इस उपनिषद् में इस वाक्य से आगे पीछे संसार के नाश की कोई चर्चा नहीं किन्तु ब्रह्मविद्या के साधन शमदमादिकों का कथन है, यदि संसार के मिथ्याबोधक ज्ञान का नाम "उपनिषद्" होता तो इस स्थल में इन्द्रियसंयम वर्णन न करके संसार को मिथ्याबोधन किया जाता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि यह अर्थ ठीक नहीं, और जो इस उपनिषद् की भूमिका में यह लिखा है कि धर्माधर्म से पुरुष जन्म मरण को प्राप्त होता है सो धर्माधर्म अविद्या रूप है उस अविद्या की निवृत्ति के लिये यह उपनिषद् प्रारम्भ किया जाता है, यह भी ठीक नहीं क्योंकि यदि ऐसा होता तो धर्मनाश के लिये ही इस उपनिषद् का प्रारम्भ होता नकि धर्मप्रद "अश्वमेध" यज्ञ का वर्णन इस उपनिषद् के प्रारम्भ में किया जाता जैसाकि अन्यत्र वर्णन कियागया है कि जो अश्वमेध से यजन करता है वह सब पापों को तैर जाता है, इस प्रकार अश्वमेध यज्ञ को धर्मवृद्धि का कारण मानागया है।

ननु—अश्वमेध यज्ञ के अर्थ तो यज्ञ में घोड़े का बध करना है, फिर इस यज्ञ से धर्मोत्पत्ति कैसे होसक्ती है? उत्तर—यह पौराणिक अर्थ हैं, वैदिक यज्ञों में पशुबध कहीं नहीं पायाजाता,

इसके वैदिक अर्थ यह हैं कि " अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगदिति अश्वः"=जो सब जगत् को अपने में व्याप्त करले अथवा जो सर्वव्यापक हो उसका नाम " अश्व " है, इस प्रकार यहां अश्व परमात्मा का नाम है " अश्वोमेध्यते यत्र स अश्वमेधः "=जिस यज्ञ में परमात्मा की उपासना कीजाय उसका नाम " अश्वमेध " है, इस स्थल में परमात्मा की विराट्रूप से विभूति वर्णन कीगई है कि ब्राह्ममुहूर्त्त उस परमात्मा का शिर स्थानी और सूर्य्य चन्द्र नेत्र स्थानी हैं, इत्यादि, या यों कहो कि इस विराट्रूप विभूति को कालरूप परमात्मा के महत्व बोधनार्थ वर्णन कियागया है, जैसाकि :—

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः। तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्राभुवनानि विश्वा ॥ अथर्व० १९ । ६ । ५३ । १

इस मंत्र में अश्व और काल परमात्मा के नाम कथन कियेगये हैं कि सबमें व्यापक होने के कारण परमात्मा का नाम " अश्व " और सब को अपने ज्ञान में रखने के कारण उसका नाम "काल" है, प्रकृत में उषादि काल बोधक शब्द उक्त ब्रह्म की उपासनार्थ वर्णन किये गये हैं किसी अन्य पदार्थ के वर्णन के लिये नहीं, जो लोग इस प्रकरण में अश्व के अर्थ घोड़ा करके उक्त स्थल को पशुवध में लगाते हैं वह अर्थ का अनर्थ करके इस आध्यात्मिक उपनिषद् के महत्व को घटाते हैं, इस उपनिषद् के किसी स्थल में पशुवध का वर्णन नहीं आया प्रत्युत समष्टिरूप से विराट् को

ईश्वर ज्ञान का साधन मानागया है, इसलिये विराट् के उषादि प्रधान अंङ्ग परमात्मा के शिरादि अवयव वर्णन कियेगये हैं पशु-बध वा साकार वर्णन के अभिप्राय से नहीं।

ननु—आपतो परमात्मा को निराकार मानते हैं फिर विराट् को उसके अवयव रूप से क्यों वर्णन कियागया है? उत्तर—"**पादोस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि**" यजु० ३१। २ जिसप्रकार इस मंत्र में सम्पूर्ण विराट् को उपचाररूप से उसका पादस्थानी वर्णन कियागया है इसी प्रकार उषा आदि उपचार से परमात्मा के अंग वर्णन किये गये हैं किसी अन्यभाव से नहीं, इसलिये कोई दोष नहीं।

"**समुत्पद्यन्ते भूतानि संद्रवन्ति भूतानि लयं गच्छन्ति अस्मिन्निति समुद्रः**"=जिससे यह कार्य्यजात प्राणी पुंज उत्पन्न हो और जिसमें लय हो उसको "**समुद्र**" कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से समुद्र के अर्थ "**प्रकृति**" के हैं, इसी अभिप्राय से "**ततः समुद्रो अर्णवः**" ऋ० ८।८। ४८। १ इस मंत्र में समुद्र शब्द आया है, जो लोग यहां समुद्र के अर्थ परमात्मा करते हैं वह ठीक नहीं, क्योंकि एक ओर समुद्र के अर्थ परमात्मा करना और दूसरी ओर यह अर्थ करना कि वह यज्ञ का उपयोगी घोड़ा हय होकर देवों को, वाजी होकर गन्धर्वों को, अर्वा होकर असुरों को तथा अश्व होकर मनुष्यों को उठाता है, और उस घोड़े का जन्मस्थान समुद्र=परमेश्वर है, यह अर्थ सर्वथा असङ्गत हैं, क्योंकि यहां "हय" आदि शब्दों से लक्षणावृत्ति

द्वारा ज्ञान अभिप्रेत है और वह यथाधिकार मनुष्यादिकों में पाया जाता है अर्थात् परमात्मा की सृष्टि में जो विद्यादि सद्गुणों द्वारा उत्तम ज्ञान उपलब्ध करते हैं वह "देवता" उनसे निकृष्ट ज्ञानवाले "गंधर्व" तामस प्रकृति वाले जो केवल सांसारिक विषयों में आसक्त रहते हैं वह "असुर" और सामान्य ज्ञान वाले "मनुष्य" कहलाते हैं, इस अश्वमेध ब्राह्मण में अश्व के अर्थ घोड़ा अवैदिक अश्वमेध का ध्यान धर के लोगों ने किये हैं अन्यथा इस ब्रह्मविद्या में ऐसे घोड़े का क्या उपयोग था, यदि यह कहा जाय कि अश्वमेध यज्ञ में जो घोड़ा डाला जाता था उसका माहात्म्य वर्णन करने के लिये "उषा" आदि पवित्र पदार्थों को उसके अंगरूप से वर्णन किया है तोभी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वोक्त उषा आदि पदार्थों का आरोप यदि पशु में होता तो उक्त पदार्थों की घटना घोड़े में कदापि नहीं घटसक्ती जैसे "सहस्रशीर्षा पुरुषः" इत्यादि मंत्रों में वर्णन किये हुये सहस्र शिरादि अवयवों की घटना किसी पुरुषविशेष में नहीं घट सक्ती, फिर उषा आदि दिव्य पदार्थों की घटना तुच्छ घोड़ा व्यक्ति में कैसे घट सक्ती है, यदि यह कहाजाय कि उस परमात्मा में अध्यारोप से जिसप्रकार जगत् की घटना घट सकती है इसी प्रकार अध्यारोप से उषा आदि पदार्थों की घटना घोड़े में भी घट सक्ती है? इसका उत्तर यह है कि उक्त प्रकार का मायावादियों का अध्यारोप इस ब्राह्मण में नहीं, जैसाकि स्वा० शं० चा० ने लिखा है कि "काललोकदेवतात्वाध्यारोपश्च प्रजापतित्वकरणं पशोः। एवंरूपो हि प्रजा-

पतिः विष्णुत्वादिकरणमिव प्रतिमादौ "=उषा आदि काल और द्यौ आदि लोकों की जो घोड़े के अंगों में कल्पना कीगई है वह घोड़े को प्रजापति बनाने के लिये कीगई है, जैसाकि जड़मूर्त्ति आदिकों को परमात्मा बनाने के लिये परमात्मा के भावों की उसमें कल्पना कीजाती है, यह भाव पौराणिक हैं इस भाव का गन्ध भी इस अश्वमेध ब्राह्मण में नहीं, जो लोग इस भाव से भूलकर यज्ञ के उपयोगी घोड़े का भाव इस ब्राह्मण से निकालते हैं वह "अश्वः प्रधानतया मेध्यते हिंस्यतेऽत्र इत्यश्वमेधः"=जिस यज्ञ में घोड़ा माराजाय उसका नाम "अश्वमेध" है, इसकी नक़ल करते और कहते हैं कि इस यज्ञ में २१ यूप=खम्भे होते हैं और इनमें जो बीच का यूप होता है उसमें १७ पशु बांधे जाते हैं, एवं यूपों से बांधकर पशुओं का विशेषरूप से हनन करना इस अवैदिक अश्वमेध में पायाजाता है जिसका वर्णन अवैदिक यज्ञ की पद्धतिओं में स्पष्ट है परन्तु यह पशुवध सर्वथा अवैदिक है, जैसाकि "मुग्धादेवाउतशुनायजन्त" अथर्व० ७।१।५ इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि निश्चयकरके पशुओं से यज्ञ करने वाले मूर्ख हैं, इससे स्पष्टतया पशुयज्ञ का निषेध पायाजाता है, इसलिये इस ब्राह्मण को यज्ञ के उपयोगी घोड़े में लगाना सर्वथा वेदविरुद्ध है, और युक्ति यह है कि आगे के अग्नि ब्राह्मण में जो यह लिखा है कि "नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्" ऋ० ८।१७।१७=पहिले कुछ नहीं था यह सब मृत्यु से आच्छादित था, इत्यादि मंत्रों में सृष्टि

उत्पत्ति के भाव को वर्णन किया है, इसीलिये "स्वा० सुरेश्वराचार्य्य" भी लिखते हैं कि:—

नामरूपादिनाये येमविद्या प्रथतेऽसती।
माया तस्याः परं सौक्ष्म्यं मृत्युनैवेति भण्यते ।

अर्थ-नामरूपादि कार्य्य से यह अविद्या विस्मृत होती है और इसके परम सूक्ष्म रूप को ही यहां "मृत्यु" शब्द से कथन कियागया है, इत्यादि प्रमाणों से पायाजाता है कि यह सृष्टि उत्पत्ति का प्रकरण है, इसमें पशुमेध की क्या कथा, रही यह बात कि मायावादी सुरेश्वराचार्य्य ने जो मृत्यु शब्द के अर्थ यहां माया के किये हैं वह कहां तक ठीक हैं, हमारे विचार में मृत्यु शब्द के अर्थ यहां नाश के हैं अर्थात् उस समय यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपने कारण में लीन होने से कहागया है कि मृत्यु से आच्छादित था, अस्तु इस विचार का विस्तार हम अगले ब्राह्मण के भाष्य में करेंगे, यहां इतना ही कथन उपयुक्त है कि यह सृष्टि उत्पत्ति का प्रकरण है, पशुयज्ञ का नहीं ॥

इति प्रथमंब्राह्मणं समाप्तं

अथ द्वितीयंब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब अश्व=परमात्मा के विराट्रूप शरीर का वर्णन करते हैं:-

नैवेह किञ्चनाग्रआसीन्मृत्युनैवेदमावृत-

मासीत् अशनायया अशनाया हि मृत्युः तन्मनोकुरुतात्मन्वी स्यामिति सोर्चन्न चरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम् कं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥ १ ॥

अर्थ—इस सृष्टिरचना से पूर्व कुछ भी नहीं था, इस जगत् का सूक्ष्म कारण जो प्रकृति है वह भी अशनारूप मृत्यु से ढकी हुई थी, उस अशनारूप मृत्यु ने मन को बनाया कि मैं मन वाला होऊं, उसने विचारा कि मेरी पूजा के लिये जल हों, फिर उसने अर्चन्=पूजा करते हुए चेष्टा की जिससे जल उत्पन्न हुए, यही उस मृत्युरूप अग्नि का अग्निपन है, निश्चयकरके वह पुरुष सुखी होता है जो उक्त प्रकार से इस अग्नि के अग्निपन को जानता है।

भाष्य—इस श्लोक में "मृत्यु" के अर्थ अग्नि के हैं अर्थात् जिस प्रलय की अग्नि से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का वियोग होकर प्रलय हुआ उसको यहां मृत्यु शब्द से कहागया है तथा सब का भक्षणकर्त्ता होने से उसी को "अशना" कथन किया है, और मन के उत्पन्न करने का तात्पर्य्य यह है कि प्रकाशरूप प्रकृति के सात्त्विक भावों से इस रचना में "बुद्धिसत्त्व" उत्पन्न होता है फिर उस अग्नि से जल उत्पन्न होते हैं, जैसाकि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" तैत्ति० ३।१।३ इस वाक्य में जल की

उत्पत्ति अग्नि द्वारा कथन कीगई है, यही अग्नि का अग्निपन है, इस रहस्य के जानने वाले को सुख की प्राप्ति इसलिये कहीगई है कि सृष्टिविद्या के तत्त्व जानने से मोहनिवृत्तिद्वारा पुरुष को सुख होता है।

स्वामी शं० चा० ने इस ब्राह्मण को इस प्रकार लगाया है कि जो यह कहागया है कि "सृष्टि से पूर्व कुछ नहीं था" यह कथन शून्यवाद को सिद्ध नहीं करता किन्तु यह सिद्ध करता है कि मृत्यु से जो ढका हुआ था वह "सत्" पदार्थ था,इस प्रकरण में स्वामी ने सत्कार्य्यवाद की फ़िलासफ़ी को बड़े बलपूर्वक लिखा है और मृत्यु के अर्थ हिरण्यगर्भ के किये हैं, हिरण्यगर्भ इनके मत में वह कहलाता है जो सृष्टि की आदि में प्रथम जीव होता है, जैसाकि स्वा० सुरेश्वराचार्य्य ने लिखा है कि:—

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदि कर्त्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥

अर्थ—वह सबसे पहला शरीरी पुरुष है जो सब भूतों का आदि कर्त्ता है और सृष्टि से प्रथम वह ब्रह्मा था, हिरण्यगर्भ को यह ब्रह्मा कहते हैं और "**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे०**" यजु० २१।४। इस मंत्र को यह अपने हिरण्यगर्भ ईश्वर में लगाते हैं पर वास्तव में इसके अर्थ यह हैं कि हिरण्य नाम सूर्य्यादि ज्योति जिसके भीतर हों उसको "**हिरण्यगर्भ**" कहते हैं, इस प्रकार मंत्र में हिरण्यगर्भ के अर्थ ईश्वर के हैं पर इस द्वितीय ब्राह्मण को इन्होंने पौराणिक भावों में लगाकर आगे यह लिखा है कि उस हिरण्यगर्भ के लिये जल उत्पन्न हुए, और इस ब्राह्मण को पूर्व ब्राह्मण के साथ इस प्रकार संगत किया है

कि इस ब्राह्मण में जो अग्नि की उत्पत्ति कथन कीगई है वह अश्वमेध यज्ञ के उपयोगी होने से की है, इनका यह अर्थ इसलिये संगत नहीं कि अश्वमेध के अर्थ यहां अग्नि में पशु डालने के नहीं किन्तु ईश्वरोपासना के हैं, जैसाकि " एषा वा अश्वमेधो य एष तपति " इत्यादि वक्ष्यमाण वाक्यों में सर्वात्मवाद से परमात्मा के महत्व कथन करने का नाम "अश्वमेध" है इसलिये यह प्रकरण परमात्मा का महत्व वर्णन करके सृष्टि उत्पत्ति का है केवल अग्नि की उत्पत्ति का नहीं ॥

सं०—अब भूतों की उत्पत्ति का प्रकार कथन करते हैं :—

आपो वा अर्कस्तद्यदपाꣳशर आसीत् तत्समहन्यत । सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो-निरवर्ततान्निः ॥ २ ॥

अर्थ—अथवा जलों को भी अर्क कहते हैं, भूतों के साथ मिले हुए उन जलों की जो झाग थी वह जमकर पृथिवी बनी, उस कार्य्य ब्रह्माण्ड में मृत्युरूप ईश्वर की इच्छा ने श्रम किया और उस ईक्षणरूप ईश्वर की इच्छा से तेजरूप अग्नि उत्पन्न हुई ।

भाष्य—जलों के उत्पन्न होने से तात्पर्य्य केवल जल का ही नहीं किन्तु जल यहां अन्य भूतों का उपलक्षण है अर्थात् अन्य भूत भी उससे उत्पन्न हुए, और जो यह कहा है कि " अथवा जलों को भी अर्क कहते हैं " इसका भाव यह है कि अग्नि का कार्य्य होने से जलों को भी अर्क कहागया है उन जलों के

स्थूल अंशों से पृथिवी की उत्पत्ति इस अभिप्राय से कथन की गई है कि सृष्टि के आरम्भ में प्रथम द्रव्य की अवस्था द्रवीभाव= ढलीहुई होती है फिर वह द्रव्य जमकर स्थूलावस्था में आजाता है जिसको पृथिवी कहते हैं, और जड़ द्रव्य में श्रम करना उपचार से कहागया है, जैसाकि " तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त" छा० ६। २। ३ इत्यादि स्थलों में उपचार से जड़ पदार्थों में ईक्षण=इच्छा कथन कीगई है वास्तव में नहीं ॥

सत्रेधात्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीयवायुं तृतीयं स एष प्राणस्त्रेधाविहितः तस्य प्राचीदिक् शिरोसौचासौचेमौ अथास्य प्रतीचीदिक् पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणाचोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्त-रिक्षमुदरमियमुरः स एषोप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्वचैतितदेवप्रतिष्ठत्येवं विद्वान्॥ ३॥

अर्थ-उसने अग्नि, सूर्य्य तथा वायु भेद से अपने को तीनप्रकार का किया, सो यह प्राण अग्नि आदि भेद से तीन प्रकार का हुआ, पूर्वदिशा उसका शिर, ईशान तथा आग्नेयी यह दोनों दिशायें भुजा और पश्चिमदिशा पुच्छ=कटिभाग हुआ, वायव्य और नैऋत्य यह दोनों दिशायें उरु हुए, दक्षिण तथा उत्तर दिशा पार्श्व हुए, द्युलोक पीठ हुई, अन्तरिक्ष उदर हुआ और यह पृथिवी छाती हुई, यह विराट् जलों में स्थित है, ऐसा जानने वाला

विद्वान् जहां कहीं जाता है वहां ही प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है ।

भाष्य–" **सः त्रेधा आत्मानं** " इस श्लोक में जो यह कथन कियागया है कि फिर उस विराट् में ईश्वर की इच्छा से वायु, अग्नि और आदित्य यह तीन रूप उत्पन्न हुए, इसका भाव यह है कि प्रकृति का एकभाग वायु, दूसरा अग्नि और तीसरा आदित्यरूप हुआ अर्थात् ईश्वर की ईक्षण=इच्छा से एवंविध प्रकृति की तीन अवस्था हुईं ।

मायावादी यह ईक्षण अपने छोटे ईश्वर हिरण्यगर्भ में हुआ मानते हैं जैसाकि स्वामी सुरेश्वराचार्य्य ने लिखा है कि :—

अनुपाख्यतनुः सोऽयं व्यवहार प्रसिद्धये ।
आत्मानं व्यभजत्स्थूलैस्त्रिधा वाय्वग्निभानुभिः॥

अर्थ–उक्त शरीर वाला हिरण्यगर्भ जिसके शरीर का कथन नहीं किया जासक्ता उसने व्यवहार की सिद्धि के लिये अपने आपको तीन स्थूल रूपों में बांट दिया जोकि वायु, अग्नि और आदित्यरूप से कथन कियेगये हैं, इस प्रकार मायावाद के आचार्यों ने हिरण्यगर्भ का ही तीन प्रकार से होजाना माना है, अस्तु जब इनके मत में शुद्ध ब्रह्म चराचर जगत् रूप बन सक्ता है तो हिरण्यगर्भ की तो कथा ही क्या, फिर उसने इच्छा की कि मेरा दूसरा आत्मा उत्पन्न हो, जिसका तात्पर्य्य यह है कि सृष्टि के भोक्तावर्ग को कथन करके अब भोग्यवर्ग को कथन करते हैं अर्थात् संवत्सर की उत्पत्ति द्वारा अन्नादिकों की उत्पत्ति कथन कीजाती है, और जो यह कथन कियागया है कि उसने मन से

बाणी के जोड़े को उत्पन्न किया, इसका तात्पर्य्य यह है कि उस परमात्मा ने जिसका यह चराचर कार्य्य है वेदोक्त पद्धति को विविध प्रकार की जगत् रचना के लिये विचारा और इस विचार से उसने सम्पूर्ण कार्य्य जगत् को उत्पन्न किया, सृष्टि रचना की यही प्रक्रिया मनु आदिकों में लीगई है ॥

सोऽकामयत द्वितीयोम आत्माजायेतेति स मनसा वाचं मिथुनꣳ समभवदशनायां मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्ससंवत्सरोऽभवत् । न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं कालमबिभः । यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत । तं जातमभिव्याददात् स भाणकरोत्सैववागभवत् ॥४॥

अर्थ—उसने संकल्प किया कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो, यह संकल्प करके उसने मनद्वारा वेदरूप बाणी को शब्दार्थ भाव से उत्पन्न किया अर्थात् वेदविहित सृष्टिक्रम को मन से आलोचन किया जो ईश्वर की प्रलयरूप इच्छा थी और जिसमें पूर्व सृष्टि के अनुसार सृष्टि उत्पन्न करने की शक्ति थी वही कालरूप संवत्सर हुआ, उससे पूर्व संवत्सर नहीं था जितना लोक में संवत्सर प्रसिद्ध है उतने काल पर्य्यन्त उस ब्रह्माण्ड को ईश्वर ने गर्भ में प्रलयकाल में धारण किया और प्रलय के इतने काल पीछे उस परमात्मा ने ब्रह्माण्ड को रचा, या यों कहो कि उत्पन्न हुए

उस ब्रह्माण्ड के मुख को खोला और उसने " भाण " ऐसा शब्द किया वही वाणी हुई ।

भाष्य-" सः, अकामयत् "=फिर उसने कामना की कि मेरा दूसरा आत्मा उत्पन्न हो, जिसका भाव यह है कि मैं अपने आत्मभूत वेद को उत्पन्न करूं, अतएव उस विराट् शरीर वाले परमात्मा ने अपने आत्मभूत वेद को उत्पन्न किया, और जो यह कहा है कि " संवत्सर उत्पन्न हुआ क्योंकि उससे पूर्व संवत्सर न था " इसका तात्पर्य्य यह है कि काल का व्यवहार वेदोत्पत्ति से उत्तर काल में हुआ है अर्थात् वेद के ज्ञाता लोगों ने ही भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इस प्रकार काल का व्यवहार किया उससे पूर्व नहीं था ॥

स ऐक्षत यदिवाइममभिमꣳस्येकनीयोन्नं-करिष्य इति स तया वाचा तेनात्मनेदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किंचर्चोयजूꣳषिसामा-निच्छन्दाꣳसियज्ञान्प्रजाःपशून् । सयद्यदे-वासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वꣳ सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदिति-त्वं वेद ॥ ५ ॥

अर्थ-उस ईश्वर ने संकल्प किया कि यदि इस सृष्टि को ही पूर्ण मानुंगा तो अन्न=प्रलयकाल में संहार करने योग्य सृष्टि

को अल्प करूंगा, इस संकल्पद्वारा उसने अपनी इच्छारूप वाणी से इस सब को उत्पन्न किया अर्थात् ऋग्, यजु, साम और अथर्व, उनसे होनेवाले यज्ञ, यज्ञों को करनेवाली प्रजा और उन के लिये घृतादि पदार्थ देने वाले गौ आदि पशुओं को उत्पन्न किया, उसने जिस २ को उत्पन्न किया उस २ को प्रलयकाल में संहार करने के लिये संकल्प किया, जो सब का संहार कर लेता है यही अविनाशी ईश्वर का अदितिपन है, जो इसप्रकार अदिति के इस अदितिपन को जानता है वह इस सब का "अत्ता" होता है अर्थात् इस प्रकार जानने वाले का यह सब अन्न होता है ॥

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयोयजेयेति। सोऽश्राम्यत्सतपोतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशोवीर्यमुदक्रामत्। प्राणावैयशोवीर्यं तत् प्राणेषूत्क्रान्तेषुशरीरꣳश्वयितुमाध्रियत तस्य शरीरएवमन आसीत्।६

अर्थ-उसने संकल्प किया कि इस बड़े उपासनारूप यज्ञ से फिर भी यज्ञ करूं अर्थात इस सृष्टि में पूर्व सृष्टि के अनुसार उपासना द्वारा जीव मेरा यजन करें, यह विचारकर उसने श्रम किया फिर श्रम और विचार वाले उस परमात्मा की सृष्टि में यश तथा वीर्य्य उत्पन्न हुए, निश्चयकरके प्राण ही यश और वही शरीर में बल है, प्राणों के निकलने पर शरीर के फूलजाने का संकल्प किया अर्थात् प्राणों के निकलने पर शरीर फूलकर अमेध्य होजाता है उस

समय ईश्वर का शरीर में ही मन था, या यों कहो कि ईश्वर ने यह संकल्प किया कि जैसे निष्प्राण शरीर अमेध्य होजाता है इसीप्रकार मेरी उपासना से रहित मन भी विषयों से फूलकर अमेध्य होजाता है ॥

सोकामयतमेध्यं मइद७स्यादात्मन्व्यनेन-स्यामिति । ततोऽश्वः समभवत् यदश्व-त्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमे-धत्वम् । एष हवा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद तमनवरुध्यैवामन्यत । त७संवत्सरस्य परस्तादात्मनआलभत । पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत् । तस्मात्सर्वदेवत्यंप्रोक्षितं प्राजा-पत्यमालभन्त एषहवा अश्वमेधो य एषत-पति तस्यसंवत्सरआत्मायमग्निरर्कः तस्ये-मेलोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ । सोपुनरेकैव देवताभवतिमृत्युरेवापपुनर्मृ-त्युंजयति नैवंमृत्युराप्नोति मृत्युरस्या-त्माभवत्येतासांदेवतानामेकोभवति ॥७॥

अर्थ—उसने संकल्प किया कि मेरा=मेरे जीवों का यह शरीर और मन मेध्य=पवित्र हो, इस शरीर तथा मन से आत्मा

वाला=शरीर और उपासना के संकल्प वाला होऊं अर्थात् इस सृष्टि में जीव प्राणों के साथ शरीरवाले और मेरी उपासना से पवित्र मन वाले हों इस संकल्प के अनन्तर वह ईश्वर शरीर तथा मन में व्याप्त हुआ, जिस २ शिरीर और मन में व्याप्त हुआ वह शरीर और मन मेध्य=पवित्र हुआ, इस प्रकार ईश्वर में प्रविष्ट होना ही अश्वमेध का अश्वमेधपन है, जो इस प्रकार अश्वमेध को जानता है वही उसका ज्ञाता है, ईश्वर ने उस उपासक को सृष्टि में अवरोध माना अर्थात् ऐसी उपासना करनेवाला जीव अव्याहतगति=स्वेच्छाचारी होता है,उस शरीर तथा मन को अधिककाल पश्चात् जीवों के लिये प्राप्त कर इन्द्रियों के लिये गोलक समर्पण किये अर्थात् इन्द्रियों को अपने २ गोलक में प्रविष्ट किया, इस कारण ईश्वर जिसका नियन्ता है उस सब इन्द्रियों वाले पवित्र शरीर को जीवों ने प्राप्त किया जो प्रकाशता है अथवा यह प्रसिद्ध ईश्वर ही अश्वमेध है और उस व्यापक तथा पवित्र परमात्मा का स्वरूप ही संवत्सर है, या यों कहो कि सब चराचर उसी में वास करते हैं वही प्रकाशस्वरूप तथा अर्चन करने योग्य और यह भू आदि सब लोक उसके अपने हैं, यह जो अर्क तथा अश्वमेध शब्द हैं इन दोनों शब्दों से प्रतिपाद्य एक ही ईश्वर उपासना योग्य देवता है सब को संहार करने वाले ईश्वर का उपासक ही जन्म मरण रूप संसार को जीतकर मुक्त होता है, यह उपासक मृत्यु को प्राप्त नहीं होता वह इसका अपना होजाने से शत्रु नहीं रहता और ऐसा होने से इन सब विद्वानों के मध्य वह एक=मुख्य होता है।

भाष्य-स्वामी शङ्कराचार्य्य ने इस ब्राह्मण के यह अर्थ किये हैं कि उस मृत्यु ने यह विचारा कि यदि मैं इस कुमार को

अभिमंस्ये=हिंसा करूं तो यह ठीक नहीं अर्थात् इस बालरूप विराट् की उसने हिंसा न करना चाहा,पर जब इससे अश्व उत्पन्न हुआ तो उस अश्व को अश्वमेध यज्ञ के लिये हनन किया और अन्य पशुओं को और २ देवताओं के लिये दिया, इस प्रकार उन्होंने इस ब्राह्मण को यज्ञ विषयक पशुवध में लगाया है जो सर्वथा वेदविरुद्ध है ।

इस ब्राह्मण का तात्पर्य्य यह है कि जब परमात्मा ने इस विराट् स्वरूप को उत्पन्न किया तो उसको अल्प रचना से ही संतोष नहीं हुआ किन्तु सम्पूर्ण कार्य्यजात को विस्तारपूर्वक बनाया और इसको बनाकर सब से श्रेष्ठ प्राणों को बनाया, जिस प्रकार प्राणों के निकलजाने से यह शरीर अमंगल होजाता है इसी प्रकार ईश्वरोपासना से विहीन पुरुष का मन भी अमंगल होजाता है, इसलिये कहा है कि अश्वमेध का यही अश्वमेधपन है जो इसप्रकार जानता है अर्थात् अपने मनरूप शरीर में ईश्वरोपासना रूपी प्राणों को डालता है, ऐसी उपासना करने से यह जीव परमात्मा को लाभ करता और अपने इन्द्रियों के गोलकों के लिये इन्द्रियों का लाभ करता है अर्थात् इस प्रकार के यथार्थज्ञान को पाने से ही उसके सब इन्द्रिय सफल होते हैं, ऐसा पुरुष अपमृत्यु को जीत लेता अर्थात् फिर उसको मृत्यु प्राप्त नहीं होती, क्योंकि मृत्यु उसका आत्मा होजाता है, या यों कहो कि जब वह अपने को परमात्मा के अर्पण कर देता है फिरउसको मृत्यु से क्या भय, ऐसा पुरुष सब विद्वानों में मुख्य गिनाजाता है अर्थात् ब्रह्मविद्या का ज्ञाता होने से

ऐसा उपासक अन्य सब प्रकार की विद्या जानने वालों में मुख्य होता है ॥

इति द्वितीयंब्राह्मणं समाप्तं

अथ तृतीयंब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब इस ब्राह्मण में उत्तम वृत्तियों को देवतथा नीच वृत्तियों को असुररूप से वर्णन करते हुए उनका परस्पर विवाद कथन करते हैं:—

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः त एषु-लोकेष्वस्पर्द्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरा-न्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥ १ ॥

अर्थ-इस सृष्टि में प्रजापति की देवता और असुर दो प्रकार की सन्तति थी अर्थात् दैवीसम्पत्ति वाले देवता और आसुरी सम्पत्ति वाले असुर थे, आसुरी सम्पत्ति वाले अधिक और दैवी-सम्पत्ति वाले न्यून थे, असुरों से तिरस्कृत हुए देवताओं ने विचार किया कि हम यज्ञ में उद्गीथ=प्रणवोपासना द्वारा अवश्य असुरों को जीतेंगे ॥

सं०-अब देवता असुरों के विजयार्थ वाणी को अपना उद्गाता बनाते हैं :—

तेह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत । यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायत् यत्कल्याणं वदति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् सयः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपंवदतिसएवसपाप्मा ।२।

अर्थ—देवता बाणी के प्रति बोले कि तू हमारे लिये उद्गाता=प्रणवरूप उपासना कर्म का उपदेष्टा बन, बाणी तथास्तु कहकर अपने को न विचारती हुई उनके लिये उद्गाता बनी, जो वाक् इन्द्रिय में भोग है वह देवताओं के लिये दिया और जो अच्छा वक्तव्य था वह अपने लिये रख लिया, उन असुरों ने जाना कि निश्चयपूर्वक देवता इस उद्गाता से हमको अतिक्रमण करेंगे, यह विचार कर उन असुरों ने उस उद्गाता को विषयासक्तिरूप पाप से बोधन किया अर्थात् अयोग्य बोलना रूप बुराई से उसको बेधनकर पाप में प्रवृत्त किया, जो अनृतादि का बोलना है वही बाणी के लिये पाप है ।

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण उदगायत् यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायत् यत्कल्याणं जिघ्राति तदात्मने, ते विदुरनेन वैन उद्गात्रात्येष्यन्तीति

तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् सयः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥ ३ ॥

अर्थ–फिर वह देवता घ्राण इन्द्रिय से बोले कि तू हमारा उद्गाता बन, तब वह तथास्तु, कहकर उनका उद्गाता बना, जो घ्राणेन्द्रिय द्वारा भोग होता है वह देवताओं के लिये दिया और जो उसका सुगन्ध का ग्रहण करना है वह अपने लिये रखलिया, उन असुरों ने जाना कि निश्चयपूर्वक इस उद्गाता से देवता हमको अतिक्रमण करेंगे, इस विचारानन्तर असुरों ने उसको विषयासक्तिरूप पाप से बेधन किया, वह पाप जो लोगों में देखा जाता है अर्थात् शास्त्रनिषिद्ध जो सूंघना है वही इसके लिये पाप है ॥

सं०–अब देवता चक्षु को उद्गाता बनाते हैं :—

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायत। यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ॥ ४ ॥

अर्थ—देवता चक्षुरिन्द्रिय से बोले कि तू हमारा उद्गाता बन उसने तथास्तु कहकर उद्गाता बनना स्वीकार किया, जो चक्षुरिन्द्रिय द्वारा शरीर को सुखविशेष था उसको देवताओं के लिये दिया और जो उसका सुन्दररूप का ग्रहण करना है वह अपने लिये रखलिया, उन असुरों ने जाना कि निश्चयकरके इस उद्गाता द्वारा देवता हमको अतिक्रमण करेंगे, ऐसा विचारकर उन असुरों ने आक्रमणपूर्वक इस उद्गाता को विषयासक्तिरूप पाप से बेधन किया, यह वह पाप है जो लोगों में देखा जाता है अर्थात् शास्त्रविरुद्ध देखना ही पाप है ॥

सं०—अब देवता श्रोत्र को अपना उद्गाता बनाते हैं:—

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य अगायद्यत्कल्याणꣳ शृणोति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ शृणोति स एव स पाप्मा ।५

अर्थ—देवता श्रोत्रेन्द्रिय से बोले कि तू हमारा उद्गाता बन उसने तथास्तु कहकर स्वीकार किया, जो श्रोत्र द्वारा शरीर को सुखविशेष होता है वह देवताओं को दिया और जो उत्तम श्रवण है उसको अपने लिये रखलिया, उन असुरों ने जाना कि निश्चयपूर्वक इस उद्गाता द्वारा देवता हमको अतिक्रमण करेंगे,

इस विचारानन्तर आक्रमण करके असुरों ने उस उद्गाता को विषयासक्तिरूप पाप से वेधन किया, वह पाप जो लोगों में देखाजाता है अर्थात् जिस पाप से प्रयुक्त हुआ श्रोत्रेन्द्रिय शास्त्रविरुद्ध सुनता है वही वह पाप है ।

सं०-अब देवता मन को अपना उद्गाता बनाते हैं:—

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उदगायद्योमनसिभोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणꣳसंकल्पयति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्यपाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा य देवेदमप्रतिरूपं संकल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवता पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन् ॥ ६ ॥

अर्थ-वह देवता मन को बोले कि तू हमारा उद्गाता बन, उसने तथास्तु कहकर उनका उद्गाता बनना स्वीकार किया, जो मन द्वारा शरीर को सुख विशेष होता है उसको देवताओं के लिये दिया और जो उसका उत्तम सङ्कल्प है वह अपने लिये रखलिया, उन असुरों ने जाना कि निश्चयपूर्वक इस उद्गाता से देवता हमको अतिक्रमण करेंगे, इस विचारानन्तर असुरों ने आक्रमणपूर्वक उक्त उद्गाता को विषयासक्तिरूप पाप से वेधन किया, वह पाप जो लोगों में देखाजाता है अर्थात् जिस पाप से प्रयुक्त हुआ मन

शास्त्रविरुद्ध सङ्कल्प करता है, इस प्रकार वागादि सब इन्द्रिय विषयासक्त होने से पापिष्ट होगये और यह सब पापी होने से असुर=आसुरी वृत्तियों को विजय न करसके ॥

सं०—अब देवता प्राण को अपना उद्गाता बनाते हैंः—

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत् ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तदभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यत्सन्सयथाऽश्मानमृत्वा लोष्टो-विध्वꣳसेतैवꣳहैव विध्वꣳसमाना विष्वञ्चोवि-नेशुस्ततो देवा अभवन् पराऽसुराभवत्या-त्मना पराऽस्यद्विषन् भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

अर्थ—वागादि सब इन्द्रियों के अनन्तर देवता शरीर को चेष्टा देने वाले मुख्य प्राण से बोले कि आप हमारा उद्गाता बनना स्वीकार करें, प्राण ने तथास्तु कहकर उनका उद्गाता बनना स्वीकार किया तब उन असुरों ने जाना कि इस उद्गाता द्वारा देवता हम-को अवश्य अतिक्रमण करेंगे, इस विचारपूर्वक असुरों ने इन्द्रियों की भांति इसको भी पाप से वेधन करने की चेष्टा की परन्तु जिस प्रकार मिट्टी का ढेला पाषाण पर गिरते ही चूर २ होजाता है इसी प्रकार वह आसुरी वृत्तियें विखिरकर नष्टभ्रष्ट होगईं और दैवीसम्पत्ति वाले वागादि इन्द्रिय प्रणवोपासक प्राण के आश्रय

से असुरों पर विजयी हुए, जैसे असुर नाश को प्राप्त हुए ऐसे ही प्रणवोपासना करने वाले पुरुष से द्वेष करने वाला नाश को प्राप्त होता है, जो इस प्रकार प्रणव के महत्व को जानता है वह परमात्मा को प्राप्त होकर स्वेच्छाचारी होता है ॥

भाष्य–इस आख्यायिका का तात्पर्य्य यह है कि प्रत्येक पुरुष के अन्तःकरण में दो प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न होती रहती हैं, एक धर्म=परोपकारादि की वृत्तियां और दूसरी पापमय स्वार्थ की वृत्तियां हैं, यह वृत्तियें इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होती हैं इसीलिये इन्द्रियों को देव तथा असुर भाव से वर्णन किया है, स्वार्थपरायणवृत्तियें मनुष्य के साथ ही जन्मती हैं इसलिये वह बड़ी और धार्मिक वृत्तियें शास्त्र के अभ्यास तथा आचार्य्य के प्रसाद द्वारा कठिनता से उत्पन्न होती हैं इसलिये वह छोटी हैं, जब धार्मिक वृत्तियां उदय होती हैं तब वह स्वार्थपरायण वृत्तियों को दबाना चाहती हैं और दूसरी ओर आसुरी वृत्तियां जिन्होंने जन्म से ही पुरुष के अन्दर गृह बनाया हुआ है वह दैवीवृत्तियों को निकालने की चेष्टा करती हैं, यही देवासुर संग्राम है, इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का वर्णन गीता अध्याय १६ में विस्तारपूर्वक कियागया है, जैसाकि :—

अभयं सत्त्व संशुद्धिर्ज्ञान योग व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
गी० १६ । १–२

अर्थ—सन्मार्ग में किसी से न डरना, मन को शुद्ध रखना, सत्या-सत्य के विचारपूर्वक वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करना, उक्त कर्मों के अनुष्ठान में दृढ़ता रखनी, पात्र को दान देना, इन्द्रियों का निग्रह करना, निष्कामकर्म करना, अर्थ सहित वेद का विचार करना, ब्रह्मचर्य्यादि व्रतों से शरीरादिकों को वश में रखना और निष्कपट रहना ।

किसी प्राणीको दुःख न देना, सत्य=जैसा हृदय में हो वैसा ही प्रकाश करना, क्रोध न करना, उदारता रखना, सहनशील रहना, अपरोक्ष में किसी के दोष प्रकट न करना, दुःखी प्राणियों पर दया करना, विषयों का सम्बन्ध होने पर भी इन्द्रियों को अवि-कारी रखना, क्रूरस्वभाव न रखना, मन्दकर्मों में लोकलाज से डरना और व्यर्थ चपलता से हाथ पांव आदि को न हिलाना, इत्यादि गुण दैवी सम्पत्ति वालों के हैं ॥

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधःपारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥

गी० १६ । ४

अर्थ—अपने अपगुणों को छिपाकर महात्मापन प्रकट करना, अपने अभिमानरूप गर्व से श्रेष्ठों का अपमान करना, अपने में पूज्य बुद्धि रखना, द्वेषाग्नि से अन्तःकरण में दाहरूप बु-द्धि का उत्पन्न होना, किसी को दुखाने के लिये कटुवचन बोलना, उलटी बुद्धि रखना और अधृति आदि दोषों से पूर्ण होना, इत्यादि आसुरी सम्पत्ति वालों के गुण हैं, इनमें से मुक्ति के लिये दैवी सम्पद् और बन्धन के लिये आसुरी सम्पद् है ॥

इन आसुरी वृत्तियों को छिन्न भिन्न करने के लिये देवताओं ने यज्ञ का आश्रय लिया, क्योंकि स्वार्थी जीवन को परोपकारी बनाने के लिये यज्ञ के समान अन्य कोई साधन नहीं, अतएव देवों ने अग्निष्टोम यज्ञ प्रारम्भ कर प्रथम बाणी को अपना उद्गाता बनाया, पर बाणी इस दोष से दूषित होगई कि उसने अच्छा बोलना अपना कर्तव्य नहीं समझा किन्तु यश मानलिया, जैसे लोक में स्वार्थपरता के लिये अनेक सत्यवादी देखे जाते हैं, इस स्वार्थ से वह असुरों पर विजय प्राप्त न करसकी, इसीप्रकार अन्य इन्द्रियों का भी यही हाल हुआ कि वह अपने २ स्वार्थ में फस जाने के कारण कृतकार्य्य न होसके, अन्ततः देवों ने सम्मति कर प्राण को अपना उद्गाता बनाया जो अपने कर्तव्य का पालन करने में कभी भी त्रुटि नहीं करता, इसमें स्वार्थपरता का गन्ध भी नहीं, असुरों ने इसको भी आक्रमण करना चाहा पर यहां उनका क्या बस चल सक्ता था जिसमें स्वार्थ की रेखा भी नहीं, इस पर असुर आक्रमण करके इसप्रकार नष्ट भ्रष्ट होगये जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर को प्राप्त होकर चूर २ होजाता है ॥

सार यह है कि जिसप्रकार शरीर में प्राण निस्स्वार्थ होकर अपने कर्तव्य का पालन करते हैं इसीप्रकार पुरुष को निस्स्वार्थ होकर जगत् में कार्य्य करना चाहिये, स्वार्थ परायण पुरुष वाक् आदि इन्द्रियों की न्यांई कृतकार्य्य नहीं होसक्ता और जो परोपकार परायण पुरुष हैं वह प्राण की न्यांई अपने कर्तव्य में सदा ही कृतकार्य्य होते हैं ॥

सं०-अब प्राणविषयक अन्य महत्व वर्णन करते हैं :—

ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्य- यमास्येऽन्तरिति सोऽयास्यआङ्गिरसोऽ- ङ्गानाᳪहि रसः ॥ ८ ॥

अर्थ-वह प्रसिद्ध वागादि इन्द्रिय बोले कि जिसने हमें देव-भाव को प्राप्त कराया है वह कहां रहता है, इसप्रकार विचारने पर ज्ञात हुआ कि वह मुख के भीतर जो आकाश उसमें रहता है, इसी कारण उसको "अयास्य" कहते हैं, और वह शरीर के सब अङ्गों में सारभूत है, क्योंकि इसके निकल जाने से शरीर सूख जाता है, इसीलिये इसका नाम "आङ्गिरस" है ॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरᳬह्यस्यामृत्युर्दू- रᳪह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद॥९॥

अर्थ-वह प्राण "दूर" नाम वाला है, क्योंकि इन्द्रियों की अपेक्षा दूर है, इन्द्रियों की भांति विषयासक्त न होने से शुद्ध है, और प्रणवोपासना में प्रवृत्त मृत्यु से भी दूर है, जो उक्त प्रकार से प्रणवोपासना के तत्व को जानता हुआ प्राण की असङ्गता को जानता है वह मृत्यु से दूर होजाता है ॥

सा वा एषा देवता एतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्राऽऽसां दिशामन्तस्तद्गम- याञ्चकार तदासां पाप्मनो विन्यदधात्तस्मा- न्नजनमियान्नान्तमियान्नेत् पाप्मानं मृत्यु- मन्ववायानीति ॥ १० ॥

अर्थ-उस प्रसिद्ध प्राण ने वागादि इन्द्रियरूप देवताओं के विषयासक्तिरूप पाप को हनन करके जहां इन दिशाओं का अन्त है वहां पहुंचा दिया अर्थात् वह पाप जो प्रणवोपासना से पूर्व वागादि इन्द्रियों में प्रतीत होता था वह प्रणवोपासना द्वारा चित्त की एकाग्रता से इन्द्रिय वशीभूत होजाने के कारण फिर असंस्कृत जनों में ही दृष्टि आने लगा, प्राण ने इन्द्रियरूप देवों के पाप को असंस्कृत जनों में इसलिये स्थापन किया कि वह विषयी जनों से भाषणादि संसर्ग न करें, या यों कहो कि वह विषयी जनों से भय करें कि यदि हम उक्त जनों से संसर्ग करेंगे तो विषयासक्तिरूप मृत्यु को प्राप्त होवेंगे ॥

भाष्य-यह प्राचीन मर्य्यादा है कि धर्म से पतित लोगों को ग्राम वा नगर की सीमा पर वास दिया जाता था और धार्मिक पुरुष उनसे पृथक् रहते थे, क्योंकि पतित पुरुषों के संसर्ग से उनके स्वभाव में जो पाप हैं वह उन्हें भी न लगजायं, वास्तव में पाप में प्रवृत्त होना ही मृत्यु और जितेन्द्रिय रहना ही अमृत है, इसलिये पुरुष को उचित है कि वह सदा ही जितेन्द्रिय धार्मिक पुरुषों का संग करे पतितों का नहीं ॥

सं०-अब प्राण के उपदेश द्वारा वागादि इन्द्रियों की कृतकार्य्यता कथन करते हैं :—

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैनामृत्युमत्यवहत् ॥ ११॥

अर्थ-उस प्रसिद्ध प्राण ने इन वागादि देवताओं के विषयाशक्तिरूप पाप को हनन करके मृत्यु से परे पहुंचाकर अपने २ अग्नि आदि भावों को प्राप्त कराया ॥

स वै वाचमेव प्रथमा मत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यतसोग्निर भवत्सोयमग्निःपरेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥ १२ ॥

अर्थ–उस प्राण देवता ने सब से प्रथम बाणी को मुक्त किया, क्योंकि यही सब में मुख्य है, जब उस बाणी ने मिथ्या भाषणादि पापरूपकर्मों से मुक्ति पाई तब वह अग्निरूप होगई अर्थात् सत्यभाषणादि करने से प्रकाशस्वरूप होगई, सो यह प्रकाशस्वरूप वाक् मृत्यु से अतिक्रान्त हुआ प्रकाशता है, या यों कहो कि वेद के यथार्थ कथनरूप प्रकाश से अज्ञानरूप अन्धकार को छिन्नभिन्न करने में समर्थ होता है ॥

अथ प्राणमत्यवहत्स यदामृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्सोयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥ १३ ॥

अर्थ–बाणी के पश्चात् घ्राणेन्द्रिय को पाप से मुक्त किया और वह विषयासक्तिरूप पाप से मुक्त हुआ वायुरूप होगया अर्थात् शास्त्रविरुद्ध गन्धग्रहण करने से रहित हो अभिमानशून्य होकर केवल गन्ध के ज्ञान वाला हुआ ॥

अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्यो भवत्सोसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥ १४ ॥

अर्थ-घ्राणेन्द्रिय के अनन्तर चक्षुरिन्द्रिय को पाप से मुक्तकिया, और जब वह विषयासक्तिरूप पाप से मुक्त हुआ तब वह आदित्य होगया अर्थात् सूर्य्य की न्याईं असङ्ग होकर चमकने लगा, सो यह चक्षुरूप आदित्य विषयासक्तिरूप मृत्यु से अतिक्रान्त हुआ प्रकाशमान होता है ॥

अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यतता दिशोभवꣳस्ता इमादिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥ १५ ॥

अर्थ-चक्षु के अनन्तर श्रोत्रेन्द्रिय को पाप से मुक्त किया, वह विषयासक्तिरूप पाप से मुक्त होकर दिशारूप हुआ अर्थात् जिसप्रकार दिशायें असङ्ग होती हैं इसी प्रकार वह भी असङ्ग हुआ २ विषयासक्तिरूप पाप से अतिक्रान्त होगया ॥

अथ मनोत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्सोसौचन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवꣳह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥ १६ ॥

अर्थ-श्रोत्रेन्द्रिय के अनन्तर मन को अतिवहन=मुक्त किया, जब वह विषयासक्तिरूप पाप से मुक्त होगया तब वह चन्द्रमा हुआ अर्थात् जिसप्रकार चन्द्रमा शीतल तथा आल्हादक है इसी प्रकार मन हुआ, यह मनरूप चन्द्रमा विषयासक्तिरूप पाप से मुक्त हुआ प्रकाशता है, जो इस भाव को पूर्ण प्रकार से जानता

है वह भी विषयासक्तिरूप पाप से मुक्त हुआ विचरता है, और ऐसे गुण सम्पन्न को ही प्राण धारण करता है अर्थात् जो पुरुष प्रणवोपासना में प्राणवायु के देवभाव को अनुभव करता है वह भी विषयासक्तिरूप पाप से मुक्त होजाता है ॥

भाष्य—इन श्लोकों का भाव यह है कि विषयासक्त इन्द्रिय इस शरीर को पापी बनाकर स्वयं नष्ट होजाती हैं अर्थात् जिसप्रकार अग्नि स्पर्श करने वाले अङ्ग को दग्ध करदेती है इसी प्रकार विषयासक्तिरूप पाप इन्द्रियों को मृत्यु की ओर लेजाते हैं, जितेन्द्रिय पुरुष इन्द्रियों के संयम द्वारा विषयासक्ति-रूप पाप से मुक्त हो संसार में निर्भय होकर विचरता है और उसकी इन्द्रियों का वास्तविकरूप प्रकट होता है, जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं कि वाणी का वास्तविकरूप अग्नि, प्राण का वायु, नेत्र का आदित्य, श्रोत्र का दिशायें और मन का चन्द्रमा है, ऐसा पुरुष ही प्राणों का धारक कहा-जाता है, इसलिये उचित है कि पुरुष जितेन्द्रिय होकर संसार में विचरें, ऐसे पुरुष के इन्द्रिय ही अग्नि, आदित्यादिरूप से चमकते हैं और ऐसा पुरुष ही मनुष्य जन्म के फलचतुष्टय को प्राप्त करता है अन्य नहीं ॥

सं०—अब प्राण को अन्न का भोक्ता कथन करते हैंः—

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किंचान्नमद्य-तेऽनेनैवतदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥ १७ ॥

अर्थ—प्राण ने अन्नाद्य=अन्न की पाचन क्रिया को अपने ही अधीन रखा, क्योंकि जो कुछ अन्न खाया जाता है वह

प्राण द्वारा ही खाया जाता है अर्थात् प्राण का अन्नभक्षण वागादि की न्यांई स्वार्थसिद्धि के लिये नहीं किन्तु उसका भक्षण इस अभिप्राय से होता है कि वह इस शरीर में प्रतिष्ठा पाकर अन्य इन्द्रियों को जीवन देसके ॥

सं०-अब अन्नार्थी इन्द्रियों की प्राण के प्रति प्रार्थना कथन करते हैं :—

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इद्ँसर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनुनोऽस्मिन्नन्नआभजस्वेति ते वै माभिसंविशतेति तथेति तँसमन्तं परिण्यविशन्त । तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्त्येवँह वा एनँस्वा अभिसंविशन्ति भर्तास्वानाँश्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उहैवंविदँस्वेषु प्रति प्रतिर्बुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैतमनुभवति यो वै तमनु भार्यान् बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥ १८ ॥

अर्थ-वह वागादि इन्द्रिय प्राण के प्रति बोले कि हे प्राण! यह जो इतना सब अन्न है उसको आपने अपने ही लिये रखलिया, अपने लिये स्वीकार किये हुए अन्न में से हमको भी भाग दें, प्राण ने कहा कि तुम अन्नार्थी मुझ में चारो ओर से प्रवेश कर-

है वह भी विषयासक्तिरूप पाप से मुक्त हुआ विचरता है, और ऐसे गुण सम्पन्न को ही प्राण धारण करता है अर्थात् जो पुरुष प्रणवोपासना में प्राणवायु के देवभाव को अनुभव करता है वह भी विषयासक्तिरूप पाप से मुक्त होजाता है ॥

भाष्य–इन श्लोकों का भाव यह है कि विषयासक्त इन्द्रिय इस शरीर को पापी बनाकर स्वयं नष्ट होजाती हैं अर्थात् जिसप्रकार अग्नि स्पर्श करने वाले अङ्ग को दग्ध करदेती है इसी प्रकार विषयासक्तिरूप पाप इन्द्रियों को मृत्यु की ओर लेजाते हैं, जितेन्द्रिय पुरुष इन्द्रियों के संयम द्वारा विषयासक्ति-रूप पाप से मुक्त हो संसार में निर्भय होकर विचरता है और उसकी इन्द्रियों का वास्तविकरूप प्रकट होता है, जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं कि वाणी का वास्तविकरूप अग्नि, प्राण का वायु, नेत्र का आदित्य, श्रोत्र का दिशायें और मन का चन्द्रमा है, ऐसा पुरुष ही प्राणों का धारक कहा-जाता है, इसलिये उचित है कि पुरुष जितेन्द्रिय होकर संसार में विचरे, ऐसे पुरुष के इन्द्रिय ही अग्नि, आदित्यादिरूप से चमकते हैं और ऐसा पुरुष ही मनुष्य जन्म के फलचतुष्टय को प्राप्त करता है अन्य नहीं ॥

सं०–अब प्राण को अन्न का भोक्ता कथन करते हैं:–

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किंचान्नमद्य-तेनेनैवतदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥ १७ ॥

अर्थ–प्राण ने अन्नाद्य=अन्न की पाचन क्रिया को अपने ही अधीन रखा, क्योंकि जो कुछ अन्न खाया जाता है वह

प्राण द्वारा ही खाया जाता है अर्थात् प्राण का अन्नभक्षण वागादि की न्यांई स्वार्थसिद्धि के लिये नहीं किन्तु उसका भक्षण इस अभिप्राय से होता है कि वह इस शरीर में प्रतिष्ठा पाकर अन्य इन्द्रियों को जीवन देसके ॥

सं०–अब अन्नार्थी इन्द्रियों की प्राण के प्रति प्रार्थना कथन करते हैं :—

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इद*ँ*सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनुनोऽस्मिन्नन्नआभजस्वेति ते वै माभिसंविशतेति तथेति त*ँ*समन्तं परिण्यविशन्त । तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्त्येव*ँ*ह वा एन*ँ*स्वा अभिसंविशन्ति भर्तास्वाना*ँ*श्रेष्ठः पुर एताभवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उहैवंविद*ँ*स्वेषु प्रति प्रतिर्बुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैतमनुभवति यो वै तमनु भार्यान् बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥ १८ ॥

अर्थ–वह वागादि इन्द्रिय प्राण के प्रति बोले कि हे प्राण ! यह जो इतना सब अन्न है उसको आपने अपने ही लिये रखलिया, अपने लिये स्वीकार किये हुए अन्न में से हमको भी भाग दें, प्राण ने कहा कि तुम अन्नार्थी मुझ में चारो ओर से प्रवेश कर-

जाओ, प्राण के इस प्रकार कथन करने पर वह सब इन्द्रिय चारो ओर से उसको प्राप्त हुए, जिसका आशय यह है कि प्राणी प्राण द्वारा जो अन्न का भक्षण करता है उससे यह वागादि इन्द्रिय तृप्त होते हैं, जो पुरुष उक्त प्रकार से प्राण की समता को जानता है उसके सब सम्बन्धी इस पुरुष के आश्रित होजाते हैं और वह प्राण की भांति अपने सम्बन्धियों का पालन करने वाला होने से पूज्य होता है, सब का अग्रगामी होता है, अन्न का भोक्ता तथा अधिपति होता है,जो प्राण की न्यांई समता जाननेवाले पुरुष के सम्बन्धियों में स्पर्धा करता है वह उनका तिरस्कार नहीं करसक्ता, जो इस प्राण का अनुयायी हुआ अपने सम्बन्धियों का पालन करता है वही अपने सम्बन्धियों को पालकर पवित्र होता है॥

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गाना॑ँहि रसः प्राणो वा अङ्गाना॑ँरसः प्राणो हि वा अङ्गाना॑ँ रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेवतच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गाना॑ँ रसः॥ १९॥

अर्थ-अयास्य=मुख में होने वाला प्राण निश्चयकरके अङ्गों के मध्य रसरूप है, इसी कारण जिस अङ्ग से प्राण निकल जाता है वही अङ्ग सूख जाता है, इसीलिये प्राण को अङ्गों का रस वर्णन कियागया है॥

सं०-अब प्राण को ऋग्वेदरूप वर्णन करते हैं:—

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष

पतिस्तस्माद्धु बृहस्पतिः ॥ २० ॥

अर्थ–इसी कारण प्राण को "बृहस्पति" और ऋचारूप वाणी को "बृहती" कहते हैं अर्थात् प्राण वाणी का पति=पालक होने से "बृहस्पति" कहलाता है ॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्माद्धु ब्रह्मणस्पतिः ॥ २१ ॥

अर्थ–इसी प्राण को "ब्रह्मणस्पति" भी कहते हैं, क्योंकि यजुर्वेदरूप वाणी ब्रह्म है उसका यह पति होने के कारण इसको "ब्रह्मणस्पति" कहा है ॥

सं०–अब प्राण को साम कथन करते हैं:—

एष उ एव साम वाग्वै सामैष सा चाऽमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् । यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समानेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यꣳसलोकतां य एवमेतत्साम वेद ॥ २२ ॥

अर्थ–यह प्राण ही साम है, क्योंकि वाणी "सा" तथा "अम" प्राण है और यह दोनों मिलकर "साम" बनता है, यही साम का सामपन है अर्थात् वाणी प्राण के अधीन होने से मुख्य सामत्व प्राण में और वाणी में गौण है अथवा जिस कारण

यह प्राण=सूत्रात्मा लिङ्गशरीर तथा मच्छर और हस्ति इन तीनों लोकों के समान तथा इस सम्पूर्ण विराट् शरीर के तुल्य है इस कारण भी यह प्राण साम कहाता है, जो उक्त प्रकार से प्राण के समभाव को जानता है वह प्राण के सायुज्य और सालोक्य को भोगता है, या यों कहो कि प्राण के समान उसकी महिमा होती है॥

भाष्य—इस श्लोक का भाव यह है कि प्राण और जीवन का अव्यभिचारी सम्बन्ध है अर्थात् जहां प्राण है वहीं जीवन और जहां जीवन है वहीं प्राण है, इसीलिये कथन किया है कि वह छोटे से छोटे और बड़े से बड़े प्राणधारी के समान है, परमात्मा की सृष्टि में जो यह सम्पूर्ण प्रजा बस रही है वह सारी प्राणाश्रित होने से प्राण के समान है, जो प्राण के इस भाव को जानता है वह प्राण के समान भाव वाला तथा उसके समान प्रकाश वाला होता है॥

सं०—अब प्राण को उद्गीथरूप से वर्णन करते हैं:—

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदꣳसर्वमुत्तब्धं वागेव गीथोच्चगीथा चेति स उद्गीथः॥२३॥

अर्थ—यह प्राण ही उद्गीथ है, क्योंकि यह सम्पूर्ण प्रपंच प्राण से ही धारण कियेजाने के कारण इसको "उत्" कहते हैं और वाणी गीथा=गीत है, क्योंकि वाणी द्वारा ही गाया जाता है, इसलिये "उत्" और "गीथा" के मिलने से प्राण का वाचक "उद्गीथ" शब्द सिद्ध होता है॥

सं०-अब उक्त विषय में इतिहास वर्णन करते हैं:—

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायंत्यस्य राजामूर्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य आङ्गिरसोन्येनोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥ २४ ॥

अर्थ-चैकितानेय=चिकितान के युवा पौत्र ब्रह्मदत्त ने यज्ञ में सोम भक्षण करते हुए राजा के प्रति कहा कि यदि उद्गाता प्राण से भिन्न किसी इन्द्रिय द्वारा उद्गान करता है, इसप्रकार कोई मिथ्या कहे तो यह राजा उसके सिर को गिरादे अर्थात् उसको सभा में लज्जित करदे, निश्चयकरके उद्गाता बाणी और प्राण से ही उद्गान करता है, इसलिये प्राण को ही उद्गीथ कहते हैं किसी अन्य इन्द्रिय को नहीं ॥

सं०-अब साम के ज्ञाता को फल कथन करते हैं:—

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसंपन्नयाऽऽर्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव। अथो यस्य स्वं भवति भवति हास्य स्वं य

एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥ २५ ॥

अर्थ-जो पुरुष उस प्रसिद्ध साम=प्राण के धन को जानता है वह निश्चय इस पुरुष का धन होता है, क्योंकि उस प्राण का स्वर ही धन है, इस कारण उचित है कि ऋत्विक् कर्म करने वाला वाणी में स्वर की इच्छा करे अर्थात् जिस पुरुष को भलेप्रकार सामगान आता हो वही उस स्वर वाली वाणी से ऋत्विक् कर्म करे, क्योंकि जिसका धन=स्वर होता है यज्ञ में सब उसी को देखना चाहते हैं, जो साम के इस स्वररूप धन को जानता है वह धनवान् होता है ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥ २६ ॥

अर्थ-जो पुरुष इस प्रसिद्ध प्राण=साम के सुवर्ण=सुन्दर अक्षरोच्चारण को जानता है वह सुवर्ण वाला होता है अर्थात् उस प्राण का स्वर ही सुवर्ण है, जो साम के स्वर को जानता है वह धनाढ्य होता है ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥ २७ ॥

अर्थ–जो पुरुष उस साम की प्रतिष्ठा=जिह्वामूलादि आठ स्थानों को जानता है वह सभा में प्रतिष्ठित होता है, उस प्राण की वाणी ही प्रतिष्ठा है, क्योंकि यह प्राण वाणी में प्रतिष्ठित हुआ ही गाया जाता है, कई एक आचार्यों का कथन है कि अन्न में प्रतिष्ठित हुआ भी गाया जाता है ॥

सं०–अब प्रस्तोता की अपने तथा यजमान के लिये प्रार्थना कथन करते हैं :—

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत् । असतोमासद्गमय तमसोमाज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति स यदा हासतोमासद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाहतमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमोज्योतिरमृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं माकुर्वित्येवै तदाह मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति । अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयते तꣲस एष एवं-

विद्वुद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवा लोक्यताया आशास्ति य एवमेतत्साम वेद ॥ २८ ॥

अर्थ–प्राणविज्ञान कथन करने के अनन्तर प्राणवेत्ता देवभाव के लिये अभ्यारोह के फल को प्राप्त हो, इस कारण पवमानों की अभ्यारोह नामक उपासना का वर्णन करते हैं कि वह प्रसिद्ध प्रस्तोता यज्ञ में साम को प्रस्तुत करता है, जिस काल में वह साम का आरम्भ करे उस काल में प्रथम इन मंत्रों का जप करे कि " हे भगवन् ! आप अपनी कृपा से मुझको असत् से सत् प्राप्त करायें, जिसका अर्थ यह है कि आप अपनी कृपा से अमृत को प्राप्त करायें, अन्धकार से ज्योति की ओर लेजायें अर्थात् मृत्यु से छुड़ाकर अमृत प्राप्त करायें, और जो अन्य स्तोत्र हैं उनमें उद्गाता गान द्वारा परमपिता परमात्मा से यह प्रार्थना करे कि हे पिता ! आप हमें अन्न दें अर्थात् भोग्य पदार्थ हमारे लिये सदा ही प्रस्तुत करें, इसी प्रकार वह प्राणवेत्ता उद्गाता अपने लिये अथवा यजमान के लिये जिस पदार्थ की इच्छा हो उसी को उन स्तुति कर्मों में परमात्मा से मांगे, उस परमपिता से जिस पदार्थ की प्रार्थना करता है निश्चय उसी को प्राप्त करलेता है, यह नवविध स्तोत्र कर्म लौकिक पदार्थों की प्राप्ति का साधन है अलौकिक मोक्ष के लिये नहीं, जो उक्त प्रकार से इस साम को जानता है

वह लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के फलों को प्राप्त होता है अर्थात् सकामकर्मों से लौकिक फल को और निष्काम कर्मों द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि से मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

इति तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ चतुर्थं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब उस विराट् पुरुष का वर्णन करते हैं :—

आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्सोहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहंनामाभवत्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोहमयमित्येवाग्र उक्त्वाथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति। स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान् पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुष औषति ह वै सतं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद॥१॥

अर्थ-सृष्टि से पूर्व यह सब आत्मा ही था, उस पुरुषाकार आत्मा ने चारो ओर आलोचन किया तो अपने से भिन्न कुछ न देखकर मैं ही सर्वात्मा हूं इस प्रकार कथन किया, इसी कारण वह "अहं" नामा हुआ, इसी से बुलाया हुआ यह पुरुष भी प्रथम "अहं" "अयं" कहकर पश्चात् जो इसके मातापिताकृत अन्य नाम

होता है उसे कहता है, जिसकारण इस सम्पूर्ण प्रपञ्च से पूर्व उस आत्मा ने सब पापों को दग्ध किया अर्थात् जो सृष्टि से पूर्व भी शुद्ध और अपापविद्ध था इस कारण भी उसको पुरुष कहते हैं, जो इस प्रपञ्च से पूर्व पुरुष की भांति होने की इच्छा करता हुआ इस आत्मा की शुद्धता को जानता है वह पुरुष भी पाप को दग्ध करके सुखी होता है ॥

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति सहाऽय मीक्षां चक्रेयन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नुबिभे मीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्य- भेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥ २ ॥

अर्थ–फिर वह विराट् भय को प्राप्त हुआ, क्योंकि एकाकी भयभीत होता है, उस विराट् ने आलोचन किया कि मेरे से भिन्न कुछ नहीं है फिर मैं क्यों डरता हूं, इस प्रकार विचार करने से उसका भय नष्ट होगया ॥

सं०–अब सृष्टि की उत्पत्ति कथन करते हैं :—

स वै नैवरेमेतस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् । स हैतावानास यथा स्त्री- पुमाꣳसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्चपत्नी चाभवतां त- स्मादिदमर्द्धबृगलमिव स्व इति हस्माऽऽह- याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रियापूर्यत

एव ताᳬसमभवत्ततोमनुष्या अजायन्त॥३॥

अर्थ-पर वह प्रसन्न नहीं हुआ, क्योंकि अकेला प्रसन्न नहीं रहता, फिर उसने अपने से भिन्न दूसरे का सङ्कल्प किया, वह विराट् इतना बड़ा था जितने रमणकाल में स्त्री पुरुष एकत्रित हुए होते हैं अर्थात् पौरुष तथा प्राकृतशक्ति से मिला हुआ था, उस विराट् ने अपने स्वरूप को दो भागों में विभक्त किया जिस से पति और पत्नीभाव प्रकट हुआ. इसी कारण सीप के आधे दल की न्याईं पुरुष का शरीर होता है, ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा कि पुरुष का आधा शरीर विवाह के अनन्तर स्त्री से पूर्ण होता है, उस विराट् का उक्त पत्नी के साथ सङ्ग होने से मनुष्य उत्पन्न हुए॥

भाष्य-भय का कारण अन्य कोई न था परन्तु एकाकी को प्रसन्नता नहीं होती, या यों कहो कि दो मिलकर ही आनन्द का अनुभव करते हैं एक नहीं, इसी कारण विराट् पुरुष को भी अपने जोड़े की इच्छा हुई, तदनन्तर पौरुष तथा प्राकृतशक्ति के संयोग से यह सब सृष्टि उत्पन्न हुई, इसी कारण नर नारी का भेद सब में पायाजाता है, इस विराट् का आधा देह नर और आधा नारी बना, जैसाकि विवाह के अनन्तर पुरुष का शरीर स्त्री से पूर्ण होता है और विवाहित स्त्री पुरुष की अर्धाङ्गी कहलाती है, अधिक क्या उक्त जोड़े के संयोग से ही कीट पतङ्गादि से लेकर मनुष्य पर्य्यन्त सब प्रकार की सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई॥

सा हेयमीक्षां चक्रे कथं नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा स भवति हन्त तिरोसानीति सा

गौरभवदृषभ इतरस्ताꣳ स मेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त । वडवेतराभवदश्ववृष इतरोगर्दभीतरागर्दभ इतरस्ताꣳ स मेवाभवत्तत एकशफमजायताऽजेतराभवद्बस्त इतरोऽविरितरामेष इतरस्ताꣳ स मेवाभवत्ततोऽजाऽवयोऽजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुनमापिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ।४।

अर्थ—उस विराट् की उक्त स्त्री ने विचारा कि किस प्रकार मुझे अपने से ही उत्पन्न करके भोग की इच्छा से प्राप्त होता है इसलिये मैं रूपान्तर से लीन होजाऊं तब वह गौ होगई और दूसरा वृषभ=सांड बनगया, वह दोनों सङ्ग को प्राप्त हुए तब गौयें उत्पन्न हुईं, फिर वह घोड़ी बनगई और दूसरा घोड़ा, वह गधी होगई और दूसरा गधा बनगया, जब उनका आपस में सम्बन्ध हुआ तो उनसे घोड़ा, गधा तथा खच्चर आदि एक खुर वाले उत्पन्न हुए, फिर वह बकरी बनगई और दूसरा बकरा, वह भेड़ बनगई और दूसरा मेंढ़ा बनगया, उनका आपस में संयोग होने से भेड़ बकरियें उत्पन्न हुईं, इसी प्रकार चींटी पर्य्यन्त जो कुछ चर जगत् है उस सब को परमात्मा ने उत्पन्न किया ॥

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहꣳ हीदꣳ सर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याꣳ हाऽस्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

अर्थ–उक्त सृष्टि को उत्पन्न करके परमात्मा ने विचार किया कि सब प्रपञ्च अर्थात् इस सब का कर्त्ता मैं ही हूं मेरे से अन्य कोई नहीं,क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् मैंने ही उत्पन्न किया है तब वह सृष्टि=सृष्टिकर्त्ता होगया, जो उक्त प्रकार से विराट् को सृष्टिकर्त्ता जानता है वह परमात्मा की इस सृष्टि में प्रसिद्ध होकर चिरजीवी होता है ॥

अथेत्यऽभ्यमन्थत्समुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः । तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैवसाविसृष्टिरेष उह्येव सर्वे देवाः । अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसो ऽसृजत तदुसोम एतावद्वा इदꣳ सर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः सैषा ब्रह्मणोतिसृष्टिः । यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्या हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

अर्थ–इसके अनन्तर उस परमात्मा ने प्रकृति को पुनः संचालन द्वारा तैजस कारण से अग्नि को उत्पन्न किया, या यों कहो कि मुख और हाथों से अग्नि को रचा, इसीलिये यह दोनों

बिना लोमों के हैं, एवं प्रकृति कारणावस्था में अलोमक=कोमल= कार्य्यशून्य थी, इसलिये प्रकृति में पूर्वोक्त संचालन कियागया, जो कार्य्यावस्था में परिणत हुई प्रकृति को कहते हैं कि उसकी पूजा करो, उसकी पूजा करो, यह प्रकृतिवर्ग का ही कार्य्यजात विकार है, निश्चयकरके यह विराट् ही सब देवताओं का स्वरूप है, और यह जो कुछ आर्द्र=द्रवरूप है उसको रसतन्मात्रा= जलीय परमाणुओं से उत्पन्न किया और वह सोम है, बस एता- वन्मात्र यह सम्पूर्ण प्रपंच अन्न और अन्नादस्वरूप है अर्थात् सोम अन्नरूप और अग्नि अन्नाद है, सो यह अग्निषोमात्मक जगत् विराट् की सृष्टि है उसने अपने उत्तम भाग से देवताओं को उत्पन्न कर उनको मुक्ति के योग्य किया, इसीलिये वह अतिसृष्ट कहाता है, जो इस प्रकार विराट् को जानता है वह निश्चयकरके विभूतिमान् होता है।

सं०—अब नाम रूप का व्याकरण कथन करते हैं :—

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपा- भ्यामेव व्याक्रियतासौ नामायमिदꣳरूप इति तदिदमप्येतर्हिनामरूपाभ्यामेव व्या- क्रियते सौनामायमिदꣳरूप इति स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्योयथाक्षुरः क्षुर- धानेऽवहितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभर कुलाये तं न पश्यन्ति अकृत्स्नोहि स प्राण-

न्नेव प्राणो नाम भवति वदन्वाक् पश्यंश्चक्ष
शृण्वञ् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैत
निकर्मनामान्येव । स योऽतएकैकमुपास्ते
न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्य
त्मेत्येवोपासीतात्रह्येत सर्व एकं भवन्ति
तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमा
त्माऽनेन ह्येतत्सर्वं वेद । यथा ह वै पदे
नानुविन्देदेवं कीर्तिᳲश्लोकं विन्दते
एवं वेद ॥ ७ ॥

अर्थ-यह अव्याकृत जगत् उत्पत्ति से पूर्व नाम रूप से शून्य
फिर उस विराट् ने यह देवदत्त,यह यज्ञदत्त,यह शुक्ल और यह कृ
है इस प्रकार जगत् को नाम और रूप से अलङ्कृत किया, जैसा
इस काल में भी देखाजाता है कि यह पदार्थ इस नाम
इस रूप वाला है, यह आत्मा नख शिख पर्यन्त शरीर
प्रविष्ट है, जैसाकि क्षुरा क्षुरधान=मियान में रखा हुआ हो
है और जिसप्रकार अग्नि काष्ठ में होने पर भी दृष्टिगत नहीं हो
इसीप्रकार जीवात्मा को देख नहीं सक्ते, वह प्राणन क्रि
करता हुआ प्राण, बोलता हुआ वाणी, देखता हुआ चक्षु, सुन
हुआ श्रोत्र, मनन करता हुआ मन नाम होता है, सो यह सब
आत्मा के कर्म नाम=गौण नाम हैं, जो इनमें से एक २

उपासना करता है वह उसको नहीं जानता, क्योंकि वह एक २ कर्म से पूर्ण नहीं होता, इसलिये उचित है कि उक्त विशेषणों में व्याप्त हुए आत्मा की ही उपासना करे, क्योंकि आत्मा में यह सारे कर्म एक होजाते हैं, सो प्रत्येक पुरुष को इसी आत्मा की खोज करनी चाहिये, इसी द्वारा पुरुष को प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान होता है, जैसे पुरुष खोज करने से खोये हुए पशु आदि को पालेता है इसी प्रकार प्राण वाणी आदि खोज से जो पुरुष उस आत्मा को जानता है वह कीर्ति तथा स्तुति को प्राप्त होता है।

भाष्य—जब कोई नया पदार्थ उत्पन्न होता है तब उसमें केवल नाम और रूप की ही विचित्रता होती है वास्तव में कुछ नहीं, जैसाकि सुवर्ण के भूषण अब भी सुवर्णरूप ही हैं पर सुवर्ण की अवस्था में यह नाम और रूप न थे जो अब हैं इसीप्रकार यह जगत् भी प्रथम एकही अव्यक्तरूप में था जब यह व्यक्त हुआ तो इसमें नाम रूप की ही विशेषता हुई और जिस ईक्षण कर्त्ता द्वारा नामरूप की विशेषता पाई जाती है वही आत्मा नाम रूप द्वारा अन्वेषण करने योग्य है और वही सब का अन्तरात्मा है, और यह वाणी आदि सब उसी से शक्ति लाभ करते हैं परन्तु वह काष्ठ में अग्नि की न्यांई छिपा हुआ दृष्टिगत नहीं होता, जो उक्त रीति से नाम रूप द्वारा उसका अन्वेषण करते हैं उन्हीं को ब्रह्मानन्द का लाभ होता है अन्य को नहीं।

सं०—अब परमात्मा को प्रियतम कथन करते हैं:—

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मा-

त्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा । स यो-न्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात्प्रियꣳरो-त्स्यतीति ईश्वरो ह तथैव स्यादात्मान-मेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्यप्रियं प्रमायुकं भवति।८।

अर्थ—वह आत्मा पुत्र, वित्त तथा अन्य सब पदार्थों से प्रिय-तम है सो जो इस आत्मा से अन्य पुत्रादिकों को प्रिय मानता है उसके प्रति आत्मवेत्ता का कथन है कि यदि आत्मातिरिक्त उक्त पदार्थों को ही तु प्रिय समझता है तो निश्चय अज्ञानी है, अतएव उचित है कि पुत्रादिकों में प्रियता का अभिमान छोड़कर आनन्दस्वरूप आत्मा की ही उपासना करे, सो जो आत्मा को प्रिय जानता हुआ उपासना करता है उसके लिये कोई अनात्म पदार्थ दुःखदाई नहीं होता ।

सं०—अब उपासना के लक्ष्यभूत ब्रह्म का स्वरूप कथन करते हुए विद्या तथा अविद्या का फलभेद वर्णन करते हैं :—

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो म-नुष्यामन्यन्ते। किमुतद् ब्रह्मावेद्यस्मात्त-त्सर्वमभवदिति ॥ ९ ॥

अर्थ—मनुष्य जिस ब्रह्मविद्या द्वारा सर्वात्मभाव का चिन्
करता है उस ब्रह्म का क्या स्वरूप है और वह किस प्रक
सङ्कल्प करके सर्वरूप होजाता है अर्थात् किस सङ्कल्पद्वारा जग
को उत्पन्न करके सर्वान्तर्यामीरूप से नियमन करता है।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवा-
वेत् । अहं ब्रह्मास्मीति । तस्मात्तत्सर्व
मभवत् तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स
एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां
तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं म-
नुरभवꣳसूर्यश्चेति तदिदमप्येतर्हि य
एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳसर्वं भवति
तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते आत्मा-
ह्येषाꣳस भवति अथ योऽन्यां देवतामुपा-
स्तेऽन्योऽसावन्योहमस्मीति न स वेद यथा
पशुरेवꣳस देवानाम् यथा ह वै बहवः प-
शवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो दे-
वान्भुनक्ति एकस्मिन्नेव पशावादीयमा-
नेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न

प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ १० ॥

अर्थ-सृष्टि से पूर्व एकमात्र ब्रह्म ही था और वह अपने आप को जानता था कि मैं ब्रह्म हूं, उसी से सब कुछ उत्पन्न हुआ, देव, ऋषि और मनुष्यों के मध्य जिस२ ने उपासना द्वारा ब्रह्म को जाना वही ब्रह्मवत् हुआ, उसी ब्रह्म के अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करके ऋषि वामदेव ने कहा कि मैं ही मनु और मैं ही सूर्य हुआ, अब भी जो इस प्रकार समझता है कि मैं ब्रह्म हूं वह सर्वात्मभाव=सब का आत्मवत् प्रिय होता है, ऐसे पुरुष का ऐश्वर्य्य दूर करने में देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह इन देवताओं का आत्मा=आत्मवत् प्रिय होजाता है, और जो परमात्मा से भिन्न अन्य देवता की उपासना करता है किंवा यह नहीं जानता कि ब्रह्म अन्य और मैं अन्य हूं वह इन्द्रियों का पशु है, जैसे बहुत पशु दोहन वाहन आदि से एक २ मनुष्य का पालन करते हैं इसी प्रकार बहु पशु स्थानीय एक २ अज्ञानी पुरुष विषय भोगद्वारा इन्द्रियों का पोषण करते हैं, यदि किसी का एक भी पशु लेलिया जाय तो उसको अप्रिय होता है तो क्या बहुत पशु लेलेने पर वह अप्रिय नहीं होता किन्तु अधिक होता है, इसलिये केवल कर्मी वा पामर पुरुषों के इन्द्रियों को यह प्रिय नहीं कि पुरुष ब्रह्मज्ञानी बने।

भाष्य-उक्त श्लोकों का भाव यह है कि अनित्य तथा एक रस न रहने के कारण सम्पूर्ण अनात्म पदार्थ दुःखरूप हैं, और जो इनके सम्बन्ध द्वारा सुख की प्रतीति होती है वह आत्मा के ही सम्बन्ध से होती है परन्तु अज्ञानी पुरुष भ्रान्ति से विषयों को

सुख का हेतु मानते हैं ज्ञानवान् नहीं, इसी अभिप्राय से अज्ञानी के प्रति तत्ववेत्ता का कथन है कि आत्मा से भिन्न अन्य सब पदार्थ नाशवान् हैं, इसलिये अनित्य में नित्य और दुःख में सुख बुद्धि करने वाले पुरुषों को अविद्या संसारचक्र में नित्य ही भ्रमण कराती रहती है और जो पुरुष आचार्य्य के उपदेश द्वारा पदार्थ मात्र में आत्मा की प्रियता का अनुभव करता है उसके लिये कोई पदार्थ अप्रिय नहीं होता, क्योंकि निरातिशय प्रियरूप एक मात्र ब्रह्म ही है, जैसाकि तैत्ति० ब्रह्मानन्द वल्ली श्लोक १७ में मनुष्यादि आनन्दों को उत्तरोत्तर कथन करते हुए यह वर्णन किया है कि "ते ये शतं प्राजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः०"=चक्रवर्ती राजा के सौ आनन्द एकत्रित किये जायं तो वह एक परमात्मा का आनन्द है अर्थात् साधारण मनुष्य से लेकर चक्रवर्ती पर्य्यन्त सब आनन्द सातिशय हैं सर्वोपरि एकमात्र निरतिशय ब्रह्म का ही आनन्द है जिसको ब्रह्मवेत्ता अनुभव करके आनन्दित होता है, इसी अभिप्राय से "आनन्दमयोऽभ्यासात्" ब्र०सू० १।१।१२ में वर्णन किया है कि आनन्दमय केवल परमात्मा ही है, और सृष्टि से पूर्व एक मात्र वही था, उसने अनुभव किया कि मैं ब्रह्म हूं अर्थात् जीव और प्रकृति का ईशन करने वाला हूं, यह सङ्कल्प करके ब्रह्माण्ड को उत्पन्न कर उसका अन्तरात्मा होकर नियन्ता बना ॥

और जो "तत्सर्वमभवत्" पद से मायावादी ब्रह्म का ही सर्व रूप होजाना कथन करते हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि

ऐसा मानने से ब्रह्म परिणामी सिद्ध होता है, और "ईक्षतेर्ना-शब्दम्" ब्र० सू० १।१।५ में ब्रह्म को जगत् का निमित्तकारण माना है और उसी में ईक्षण=सृष्टिरचना का सङ्कल्प कथन कियागया है, यदि ब्रह्म ही सर्व रूप होता तो महर्षि व्यास उक्त सूत्र द्वारा ब्रह्म में इच्छापूर्वक कर्तृत्व कथन न करते और नाही "प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" ब्र० सू० १।४।२३ में प्रकृति को जगत् का उपादान कारण वर्णन करते,पर किया है इससे सिद्ध है कि उक्त पद से ब्रह्म का सर्व रूप होजाना अभिप्रेत नहीं ॥

और जो "अहम्ब्रह्मास्मि"=मैं ब्रह्म हूं, इस पद से मायावादी जीव ब्रह्म की एकता मानते हैं यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकरण में जीव ब्रह्म की एकता का गन्ध भी नहीं पायाजाता, प्रत्युत यह प्रकरण तद्धर्मतापत्ति को बोधन करता है, जैसाकि "अहं वै त्वमसिभगवो देवते त्वंवाऽहमस्मि" इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है अर्थात् जब योगी समाधिस्थ होकर ब्रह्म के अपहत-पाप्मादि गुणों को धारण करलेता है तब ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई लक्ष्य उसके सन्मुख न होने से उसी में मग्न हुआ कहता है कि "मैं ब्रह्म हूं" और ऐसा पुरुष सब का आत्मवत् प्रिय होने से उसकी दृष्टि में रागद्वेष का कोई विषय नहीं रहता, इसी अभिप्राय से ऋषि वामदेव ने कथन किया है कि मैं ही मनु और मैं ही सूर्य्य हुआ सर्वथा ब्रह्म बनजाने के अभिप्राय से नहीं, इसी

भाव को " शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् " ब्र० सू० १।१।३० में यों वर्णन किया है कि परमात्मा के अपहतपाप्मादिगुणों के धारण करने से सर्वात्मभाव का उपदेश है जीव के ब्रह्म बनने का नहीं, यदि उक्त वाक्य से जीव ब्रह्म की एकता अभिप्रेत होती तो महर्षि व्यास " अधिकन्तु भेदनिर्देशात् " ब्र० सू० २।१।२२ में ब्रह्म को जीव से अधिक=बड़ा कथन न करते और नाही "भेदव्यपदेशाच्च" ब्र० सू १।१।१७ में स्पष्टतया जीव ब्रह्म का भेद वर्णन करते, " अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति " ब्र० सू० १।१।१९ में यह कथन किया है कि जीव ब्रह्मनिष्ठ होकर आनन्द लाभ करता है और जिससे आनन्द लाभ करता है वह जीव से भिन्न है, इससे सिद्ध है कि उक्त वाक्य तद्धर्मतापत्ति को बोधन करता है जीव ब्रह्म की एकता को नहीं, उक्त सामर्थ्य प्रयुक्त पुरुष का कोई तिरस्कार नहीं करसक्ता, क्योंकि वह सब का आत्मवत् प्रिय होजाता है यही ब्रह्मविद्या का फल है, और जो पुरुष अविद्यावशात् ब्रह्म से भिन्न अन्य किसी देवता की उपासना करते हैं, या यों कहो कि ब्रह्म को छोड़कर नाना देवताओं को उपास्य मानते हैं अथवा स्वयं ब्रह्म बनकर अपने से भिन्न किसी को उपास्यदेव न मानते हुए विषय भोग में लम्पट हैं वह देव=इन्द्रियों के पशु हैं अर्थात् जो अनेकविध विषयों का सेवन करते हुए इन्द्रियों को पुष्ट करते रहते हैं उनके इन्द्रिय कदापि विषयों से उपरत नहीं होते,इसी भाव को " तन्नाप्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः " इस वाक्य द्वारा यों वर्णन किया है कि

ऐसे पामर पुरुषों के इन्द्रियों को यह प्रिय नहीं कि पुरुष ब्रह्म-ज्ञानी बने ऐसे पुरुष अविद्यान्धकार में पड़े हुए निरन्तर दुःख ही दुःख देखते हुए संसार चक्र में भ्रमण करते रहते हैं, ऐसे पुरुषों की गति यजु० ४०।९ में इस प्रकार वर्णन की है कि:–

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ रताः ॥

अर्थ–जो पुरुष अविद्या=शुचि में अशुचि बुद्धि आत्मा में अनात्म बुद्धि इत्यादि विपरीतज्ञान में रत हैं वह अन्धतम को प्राप्त होते हैं और जो केवल विद्या=ज्ञानमात्र के अभिमान में रहकर कर्मा-नुष्ठान से सर्वथा वर्जित रहते हैं वह उनसे भी अधिक अन्धतम को प्राप्त होते हैं, इसलिये उचित है कि पुरुष सांसारिक विषयों से विरक्त होकर ब्रह्मानन्द के लाभार्थ प्रयत्न करे ॥

सं०–अब ब्रह्मवित् पुरुष के प्रकरण में ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण की उत्कृष्टता कथन करते हुए शेष वर्णों का परिचय भी वर्णन करते हैं:–

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेक ँ सन्न-व्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत क्षत्रम्, यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति । तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये

क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म। तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्त उपनिश्रयति स्वां योनिम्। य उ एनꣳ हिनस्ति स्वाꣳ स योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयाꣳ सꣳ हिꣳ सित्वा॥ ११॥

अर्थ—सृष्टि के उत्पन्न होने से पूर्व भी परमात्मा विद्यमान था, उसने एक ब्राह्मण जाति को ही सृष्टि की विभूति के लिये पर्य्याप्त न समझकर कल्याणरूप क्षत्रिय जाति को भी उत्पन्न किया जिनके विद्वानों में यह प्रसिद्ध भेद हैं कि ऐश्वर्य्यवाला होने से "इन्द्र" शत्रुओं को अपने वश में रखने से "वरुण" साम आदि शान्तिप्रधान उपायों के जानने से "सोम" शत्रुओं पर क्रोध करने से "रुद्र" अर्थीजनों की कामना पूर्ण करने से "पर्जन्य" प्रजा को नियम में रखने से "यम" शत्रुओं का संहार करने से "मृत्यु" और प्रजा पर प्रभुत्व करने से "ईशान" कहाते हैं, पूर्वोक्त गुणों वाला होने के कारण क्षत्रिय से उत्तम कोई नहीं, इसी कारण राजसूय यज्ञ में उपरिस्थित क्षत्रिय का नीचे स्थित ब्राह्मण सत्कार करता हुआ ब्रह्मत्वरूप यश को क्षत्रिय में स्थापन करता है, क्योंकि जो यह ब्राह्मण जाति है वह क्षत्रत्व का भी कारण है, यद्यपि राजसूय यज्ञ के अभिषेक काल में राजा ब्रह्मत्व गुण को प्राप्त होता है तथापि कर्म समाप्ति के

समय अपने ब्रह्मत्व के कारण ब्राह्मण जाति काही आश्रय लेता है, जो इस ब्रह्मत्व के हेतुभूत ब्राह्मण को बल वा अभिमान आदि से मारता है वह अपने कारण ब्रह्मत्व काही नाश करता है और ऐसा करने से वह पापी बनता है, जैसाकि लोक में कल्याणतर पदार्थ के नाश करने से पापी होता है ॥

स नैवव्यभवत्सविशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥ १२ ॥

अर्थ-जब उसने क्षत्रियों को रचकर भी पूर्णता न समझी तब वैश्यजाति को उत्पन्न किया, उनमें यह वैश्य जाती दिव्य मानी गई है, जैसाकि बहुधनी होने से "वसु" अधिक तामसी वृत्ति वाला होने से "रुद्र" अधिक राजसी वृत्ति से "आदित्य" अधिक अध्ययन करने से "विश्वेदेव" और वायुवत संचरण करने से "मरुत" कहाते हैं, यह सब देवकोटिगत वैश्यों के भेद हैं ॥

स नैव व्यभवत्सशौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वैपूषेय हीद सर्वं पुष्यति यदिदं किं च ॥ १३ ॥

क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म। तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्त उपनिश्रयति स्वां योनिम्। य उ एनँ हिनस्ति स्वाँ स योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयाँ सँ हिँ सित्वा॥ ११॥

अर्थ—सृष्टि के उत्पन्न होने से पूर्व भी परमात्मा विद्यमान था, उसने एक ब्राह्मण जाति को ही सृष्टि की विभूति के लिये पर्य्याप्त न समझकर कल्याणरूप क्षत्रिय जाति को भी उत्पन्न किया जिनके विद्वानों में यह प्रसिद्ध भेद हैं कि ऐश्वर्य्यवाला होने से "इन्द्र" शत्रुओं को अपने वश में रखने से "वरुण" साम आदि शान्तिप्रधान उपायों के जानने से "सोम" शत्रुओं पर क्रोध करने से "रुद्र" अर्थीजनों की कामना पूर्ण करने से "पर्जन्य" प्रजा को नियम में रखने से "यम" शत्रुओं का संहार करने से "मृत्यु" और प्रजा पर प्रभुत्व करने से "ईशान" कहाते हैं, पूर्वोक्त गुणों वाला होने के कारण क्षत्रिय से उत्तम कोई नहीं, इसी कारण राजसूय यज्ञ में उपरिस्थित क्षत्रिय का नीचे स्थित ब्राह्मण सत्कार करता हुआ ब्रह्मत्वरूप यश को क्षत्रिय में स्थापन करता है, क्योंकि जो यह ब्राह्मण जाति है वह क्षत्रत्व का भी कारण है, यद्यपि राजसूय यज्ञ के अभिषेक काल में राजा ब्रह्मत्व गुण को प्राप्त होता है तथापि कर्म समाप्ति के

समय अपने ब्रह्मत्व के कारण ब्राह्मण जाति काही आश्रय लेता है, जो इस ब्रह्मत्व के हेतुभूत ब्राह्मण को बल वा अभिमान आदि से मारता है वह अपने कारण ब्रह्मत्व काही नाश करता है और ऐसा करने से वह पापी बनता है, जैसाकि लोक में कल्याणतर पदार्थ के नाश करने से पापी होता है ॥

स नैवव्यभवत्सविशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥ १२ ॥

अर्थ-जब उसने क्षत्रियों को रचकर भी पूर्णता न समझी तब वैश्यजाति को उत्पन्न किया, उनमें यह वैश्य जाती दिव्य मानी गई है, जैसाकि बहुधनी होने से "वसु" अधिक तामसी वृत्ति वाला होने से "रुद्र" अधिक राजसी वृत्ति से "आदित्य" अधिक अध्ययन करने से "विश्वेदेव" और वायुवत संचरण करने से "मरुत" कहाते हैं, यह सब देवकोटिगत वैश्यों के भेद हैं ॥

स नैव व्यभवत्सशौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वैपूषेय ँ हीद ँ सर्वं पुष्यति यदिदं किं च ॥ १३ ॥

अर्थ—उस विराट्रूप ब्रह्म ने वैश्य की उत्पत्ति से भी सृष्टि व्यवहार को पुष्कल न माना तब उसने पूषण=इतर वर्णों के सेवक शूद्र वर्ण को उत्पन्न किया, यह पृथिवी ही पूषा है, क्योंकि यह सम्पूर्ण प्राणिजात को अन्नादि से पुष्ट करती है, तद्वत् ही सेवादि धर्म से शूद्र उक्त तीनों वर्णों को पुष्ट करने के कारण "पूषा" कहाते हैं॥

सं०—अब सब धर्मों के नियन्ता क्षात्रधर्म की उत्पत्ति कथन करते हैं:—

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान्बलीया ँ समाश ँसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्त ँ सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति॥१४॥

अर्थ—वह विराट् चार वर्णों को उत्पन्न करके भी समर्थ न हुआ तब उसने सब के कल्याणकारी क्षात्रधर्म को उत्पन्न किया, क्योंकि क्षात्रधर्म से ही सब धर्मों की रक्षा होती है, जो सब धर्मों का नियन्ता क्षात्रधर्म है उससे उत्तम अन्य कोई धर्म नहीं, क्योंकि क्षात्रधर्म रूप बल से निर्बल भी बली को जीतलेता है,जैसा कि राजा के बल से निर्बल भी समर्थ होता है, जो धर्म है वही

सत्य है, इसी कारण सत्यवक्ता को "धर्मवादी" और धर्मोपदेशक को "सत्यवादी" कहते हैं, निश्चयकरके सत्य और धर्म यह दोनों एक ही हैं॥

सं०—अब कर्मानुसार वर्णव्यवस्था कथन करते हैं:—

तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्रह्मणे मनुष्येष्वेताभ्याᳪ हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो हवा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वाप्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदोवाऽननूक्तोन्यद्वा कर्माकृतं यदि हवा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एव आत्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते॥ १५॥

अर्थ—वह पूर्वोक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति कर्म से ही है, ईश्वर से कर्मद्वारा ही विद्वानों की ब्राह्मणजाति

प्रसिद्ध हुई, फिर वर्णव्यवस्था के अनन्तर ब्राह्मण से ब्राह्मण, क्षत्रिय से क्षत्रिय, वैश्य से वैश्य और शूद्र से शूद्र उत्पन्न हुए इसीकारण लोग विद्वान् पुरुषों के मध्य ब्रह्मज्ञ होने पर ही ईश्वरविषयक ज्ञान की इच्छा करते हैं, या यों कहो कि ब्रह्मवेत्ता विद्वान् से ही ब्रह्मविषयक ज्ञान प्राप्त होता है, क्योंकि वह परमात्मा ब्रह्मवित्त्व और देवत्व इन दोनों रूपों द्वारा ही प्राप्त होता है, निश्चयकरके जो पुरुष परमात्मा को न जानकर यहां से पयान करता है उसका परमात्मा पालन नहीं करता अर्थात् उसके शोकमोहादि दोष निवृत्त नहीं करता, इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे विना पढ़े ज्ञान द्वारा वेद रक्षा नहीं करता और विना किये खेती आदि कर्मफल दाता नहीं होते इसीप्रकार परमात्मा के विना जाने शोक मोह निवृत्त नहीं होते, यद्यपि इस संसार में ईश्वर का न जानने वाला भी बड़े कर्म को करता है परन्तु अज्ञानावस्था में किया हुआ कर्म अन्त में नाश को प्राप्त होजाता है, इसलिये पुरुष को उचित है कि वह ज्ञानस्वरूप परमात्मा की ही उपासना करे, जो पुरुष उक्त परमात्मा की उपासना करता है निश्चयकरके उसका कर्म नष्ट नहीं होता और वह जिस २ इष्ट पदार्थ की इच्छा करता है वही उसको प्राप्त होता है ॥

अथो अयं वा आत्मासर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पि- तृभ्योनिपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पि-

तॄणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदावया ँ स्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथाह वैस्वायलोकायारिष्टिमिच्छेदेव ँ हैवं विदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमा ँ सितम्॥ १६ ॥

अर्थ–वही परमात्मा सब भूतों का प्रकाशक=सबको सामर्थ्य देने वाला है, इस कारण वह उपासक भी जो कुछ होम वा यज्ञ करता है उससे देवों=विद्वानों का प्रकाशक, जो स्वाध्याय करता है उससे ऋषियों का प्रकाशक, जो पितरों को अन्न देता तथा विधिपूर्वक सन्तान उत्पन्न करता है उससे पितरों का प्रकाशक होता है, और जो अर्थी मनुष्यों को गृहादि देकर बसाता अथवा उनका अन्नादि से पालन करता है वह इन दोनों प्रकार के कर्मों से मनुष्यों का प्रकाशक होता है, और जो पशुओं को चारा वा जल देता है उससे पशुओं का प्रकाशक होता है, इस गृहस्थ के घर में जो मार्जार=बिल्ला, श्वापद=हिंसक जीव और शुक आदि पक्षी तथा चींटी पर्यन्त जीव अन्न पाते हैं उससे गृहस्थ इन सब का प्रका-

शक होता है, जिसप्रकार यह सत्कर्मी अपने प्राणरक्षा निमित्त अन्नादि से हित करके देह की रक्षा करता है इसीप्रकार अन्य जीवों की रक्षा करने वाले को आत्मवत् जानकर सब जीव हित करते हैं, सो यह बात पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में विदित है और इस पर मीमांसा भी कीगई है ॥

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सो कामयत जायामेस्यादथ प्रजायेयाथवित्तं मेस्यदथ कर्मकुर्वीयेत्येतावान्वैकामोनेच्छ९श्चनातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जायामेस्यादथ प्रजायेयाथवित्तं मेस्यादथ कर्मकुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्यात्मावाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैव९श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्माऽऽत्मना हि कर्म करोति स एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पाङ्क्तः पुरुषः पाङ्क्तमिद९सर्वं यदिदं किंच तदिद९ सर्व-

माप्नोति य एवं वेद ॥ १७ ॥

अर्थ-विवाह से पूर्व ब्रह्मचारी एकाकी था, उसने इच्छा की कि मेरी स्त्री हो और मैं उसमें प्रजारूप से उत्पन्न होऊं; मुझे धन प्राप्त हो जिससे मैं कर्म करूं, उसका इतना ही सङ्कल्प होना योग्य है इससे भिन्न सङ्कल्प करता हुआ भी अधिक विषयों की इच्छा न करे, एकाकी रमण न करता हुआ भी सङ्कल्प करता है कि मेरी स्त्री हो, प्रजा हो, धन हो और मैं कर्म करूं, सो जबतक इनमें से एक २ को प्राप्त नहीं होता तबतक अपने आपको अपूर्ण मानता है, ब्रह्मचर्य्याश्रम में ब्रह्मचारी की पूर्णता इस प्रकार होती है कि मन ही उसका आत्मा, वेदाध्ययन में तत्पर वाणी ही स्त्री, प्राण ही प्रजा और चक्षु ही मानुष धन है, क्योंकि चक्षु से ही धन को लाभ करता है, विद्वानों का धन श्रोत्र है, क्योंकि श्रोत्रों से ही उपदेश सुनता है, इस ब्रह्मचारी का शरीर कर्म है, क्योंकि शरीर से कर्म करता है, इस प्रकार उस ब्रह्मचारी की पूर्णता सिद्ध होती है, यह प्रसिद्ध दर्शनीय ब्रह्मचारी यज्ञ की न्यांई पूर्वोक्त पांचों से पूर्ण है पांच से ही पशु, पांच से ही पुरुष और यह सब कुछ पांच से ही बना है अर्थात् यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् भी पाङ्क्त=पांच भूतों से निष्पन्न है, जो अपने आपको इस प्रकार पाङ्क्त यज्ञरूप से जानता है वह सब सुखों को प्राप्त होता है ॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ पंचमं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—चतुर्थ ब्राह्मण में गृहस्थ का वर्णन करके अब इस ब्राह्मण में सप्त अन्नों का कथन करते हैं:—

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता। एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत्। त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। कस्मात् तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा। यो वैतामक्षितिं वेदसोन्नमत्ति प्रतीकेन। स देवानापि गच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥ १ ॥

अर्थ—जगत्पालक परमात्मा ने धारणावाली बुद्धि से आलोचन कर सात प्रकार के अन्न उत्पन्न किये, जिनमें से एक क्षुधा निवर्त्तक जो सब भोक्तृवर्ग के लिये साधारण है, हुत, आहुत नामक दो अन्न देवताओं के लिये, मन बाणी तथा प्राणरूप तीन अन्न अपने लिये रखे अर्थात् मनुष्यों के मन आदिकों को अपनी उपासना के लिये नियत किया और दुग्धघृतरूप सातवां अन्न पशुओं को दिया, जो प्राणी चेष्टा करते और जो नहीं करते वह सब दुग्धरूप अन्न के आधार पर हैं, उक्त अन्न प्रतिदिन खाये जाने से भी क्यों नहीं नाश को

प्राप्त होते, जो इस अन्न के नाश न होने के कारण को जानता है वही मुख्य भोक्ता होता और वही देवभाव को प्राप्त होकर अमृत को भोगता है, उक्त विषय में यह श्लोक प्रमाण है:—

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि तपसाजनयत्पिता। एकमस्य साधारणमितीदमेवास्य साधारणमन्नं यदिदमद्यते स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्र ꣳ ह्येतत् द्वे देवान भाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्रजुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति। तस्मान्नेष्टि याजुकः स्यात्। पशुभ्य एकं प्राच्छादिति तत्पयः। पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात्कुमारं जातं घृतं वै वाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वानुधापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयांसि हीद ꣳ सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। तद्यदिदमाहुः संवत्सरं

पयसाजुह्वदपपुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेवजुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्सर्वꣳ हि देवेभ्योन्नाद्यं प्रयच्छति। कस्मात्तानिन क्षीयन्ते ऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते। यो वैतामाक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात् क्षीयेत ह। सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्। स देवानपि गच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशꣳसा।२।

अर्थ—परमपिता परमात्मा ने धारणवती बुद्धि से आलोचन करके सातप्रकार के अन्न उत्पन्न किये, जो सब प्राणी प्रतिदिन खाते हैं वह सब का साधारण अन्न है, प्राणियों के इस साधारण अन्न में जो अपना स्वामित्व मानकर किसी को नहीं देता वह पाप से निवृत्त नहीं होता, क्योंकि वह अन्न सब का साधारण है, उक्त मंत्रोक्त दो अन्न हुत=होम और अहुत=बलिवैश्वदेव हैं इसी कारण अब भी गृहस्थ लोग होम के अनन्तर बलिवैश्वकर्म करते हैं, कई आचार्य्य दर्श पूर्णमास यज्ञ को ही देवान्न कहते हैं, इसलिये गृहस्थ को उचित है कि कामनासहित यज्ञ न करे

किन्तु ईश्वरार्पण बुद्धि से करे, परमात्मा ने जो द्विपाद् मनुष्य और चतुष्पाद् पशुओं के लिये अन्न नियत किया है वह दुग्ध घृत है; क्योंकि जन्म होते ही मनुष्य तथा पशुओं का दुग्ध से ही जीवन होता है इसी कारण उत्पन्न होते ही बालक को प्रथम घृत तथा स्तन पिलाते और उत्पन्न हुए बछड़े के लिये कहते हैं कि यह अभी अतृणाद=दुग्धाहारी है, अधिक क्या सम्पूर्ण चराचर दुग्ध के ही आधार पर हैं, और जो कई एक आचार्य्यों का यह कथन है कि पुरुष वर्षपर्य्यन्त दुग्ध घृतादि से होम करता हुआ मृत्यु को जीत लेता है, यह ठीक नहीं, हां यह ठीक है कि जिस दिन होम करता है उसी दिन मृत्यु को जीत लेता है अर्थात् मृत्यु के जीतने के लिये उसी दिन से मार्ग बनाता है, इसप्रकार जानने वाला सब देवताओं को सोमरूप भोजन देता है, और जो यह प्रश्न किया था कि वह अन्न प्रतिदिन भक्षण करने पर भी क्यों नहीं समाप्त होजाते? इसका उत्तर यह है कि भोक्ता ही अन्न के नाश न होने में कारण है, क्योंकि वही अग्निहोत्र द्वारा वार २ अन्न को उत्पन्न करता है, इस श्लोक में "पुरुषोः वा अक्षितिः" वाक्य द्वारा भोक्ता पुरुष को ही "अक्षिति" शब्द से कहा है, क्योंकि वही उक्त सप्तविध अन्न को लौकिक तथा वैदिक बुद्धि से कर्मों द्वारा उत्पन्न करता है, यदि वह इस अन्न को उत्पन्न न करे तो निश्चयकरके यह अन्न प्रतिदिन भोगने से नष्ट होजाय, जो पुरुष अग्निहोत्र करके अन्न खाता है वह प्रधानता से भोक्ता होता है।

सं०–अब मन बाणी तथा प्राण को परमात्मा का अन्न कथन करते हैं:—

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽ कुरुताऽन्यत्रमना अभूवं नाऽदर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति । यः कश्च शब्दो वागेव सा एषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न । प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥ ३ ॥

अर्थ—उस परमात्मा ने जीवों के मन, वाणी तथा प्राण को अपने लिये अन्न बनाया अर्थात् अपनी उपासना के लिये नियत किया, उस मन में यह प्रमाण है कि जैसे लोक में पुरुष कहता है कि मेरा मन अन्यत्र होने से मैंने नहीं देखा और न सुना, इससे ज्ञात होता है कि पुरुष मन से ही सुनता और मन से ही देखता है, स्त्रीविषयक कामना, निश्चयात्मक बुद्धि, संशयात्मकज्ञान, आस्तिक्यबुद्धि, नास्तिक्यबुद्धि, धैर्य्य, अधैर्य्य, लज्जा, बुद्धि और भय यह सब वृत्तियें मन ही से उत्पन्न होती और पृष्ठभाग में किये हुए

स्पर्श को भी पुरुष मन से ही जानता है,इससे भी मन का होना स्पष्ट है,वाक् ही सम्पूर्ण अर्थ के प्रकाशक वर्णावर्णात्मक शब्दों का स्वरूप है,क्योंकि वाणी ही पदार्थ के निर्णय तक पहुंचती है,इसलिये प्रकाश स्वरूपा है, और प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान इस भेद से प्राण पांच प्रकार का है,यह सब प्राणात्मक वृत्तियें प्राण स्वरूप ही हैं, क्योंकि प्राण से ही शरीर में श्वास प्रश्वासादि क्रिया पाई जाती हैं और यह कार्य्यकारणसंघातरूप देह वाणी, मन तथा प्राण का ही विकार है ॥

सं०-अब उक्त वागादिकों को तीनलोक रूप से कथन करते हैं:—

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥४॥

अर्थ-अथवा यह वाक्, मन और प्राण ही तीन लोक हैं वाणी ही भूलोक=सत्तामात्र की प्रकाशक, मन अन्तरिक्ष लोक=रहस्य का प्रकाशक और प्राण स्वरलोक=जीवन रूप सुख का प्रकाशक है ॥

सं०-अब इन्हीं तीनों को तीन वेदरूप से कथन करते हैं:-

त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥ ५ ॥

अर्थ-उक्त वागादि ही तीन वेद हैं, जो मनुष्य जीवन के आधार हैं अर्थात् वाणी ऋग्वेद है, क्योंकि ऋग्वेद के विना पुरुष मूक समान होता है,मन यजुर्वेद है,क्योंकि यजुर्वेद के विना पुरुष नष्ट मन

के समान होता है, और प्राण ही सामवेद है, क्योंकि सामवेद के विना पुरुष मृतसमान होता है ॥

सं०—अब वागादि तीनों को देव, पितर तथा मनुष्य कथन करते हैं :—

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥ ६ ॥

अर्थ—यह वागादि तीनों देव पितर और मनुष्यरूप हैं, जैसा कि सत्यभाषण करने वाली बाणी देवता, सत्यसङ्कल्प करने वाला मन पितर और सत्कर्म का हेतु प्राण मनुष्य है अर्थात् सफल जीवी है ॥

सं०—अब मनादिकों को पिता, माता तथा प्रजा कथन करते हैं:—

पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा ॥ ७ ॥

अर्थ—मन, वाक् तथा प्राण ही क्रमशः पिता, माता और प्रजा रूप हैं, जैसाकि सत्यसङ्कल्प वाला मन ही पिता है अर्थात् सत्यभाषण करने वाले का मन पालक होता है तथा सत्यभाषण करने वाली वाणी मातृवत् हित करने से माता और सत्कर्म का हेतु प्राण प्रजा=प्रजावत् प्रिय होता है ॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत्किंच विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति ॥ ८ ॥

अर्थ-यह मन, वाक् तथा प्राण क्रमशः विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात रूप हैं, क्योंकि जो कुछ विज्ञात है वह वाणी का ही स्वरूप है अर्थात् वाक् ही अर्थ का प्रकाशक होने से उसका स्वरूप है, इसीलिये वाणी को विज्ञाता=अर्थों का प्रकाशक कहा है और प्रकाशस्वरूप वाणी ही वक्ता की अन्नरूप से रक्षा करती है ॥

यत्किंच विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वाऽवति।९।

अर्थ-जो कुछ विचारने योग्य है वह मन का स्वरूप है, क्योंकि मन से ही अर्थ का विचार होता है,अतएव विचार का साधन मन ही विचारकर्त्ता के लिये अन्न है अर्थात् विचार द्वारा उसका रक्षक है ॥

यत्किंचाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति ॥१०॥

अर्थ-जो कुछ अविज्ञात है वह प्राण का स्वरूप है, क्योंकि जो मन वाणी का विषय ज्ञातव्य है वही प्राण के लिये अज्ञात है, क्योंकि प्राण में केवल क्रियाशक्ति है ज्ञानशक्ति नहीं, इसीलिये कहा है कि निश्चयकरके प्राण ज्ञानशक्ति से शून्य है और क्रियाशक्ति द्वारा रक्षक होने से प्राण को इसका अन्न कहा है ॥

तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निः तद्यावत्येव वाक् तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥ ११ ॥

अर्थ–उस वाणी का पृथिवी शरीर है अर्थात् वह पृथिवी के सदृश अति विस्तृत है, और प्रकाशस्वरूप होने से अग्नि है, जितनी पृथिवी है उतनी ही वाणी और उतनी ही अग्नि है ॥

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यः तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनꣳसमैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

अर्थ–और इस मन का शरीर द्युलोक है अर्थात् द्युलोक की न्यांई मन विशद है तथा इन्द्रियों का प्रकाशक होने से इसी को आदित्य भी कहते हैं,जितना मन है उतना ही द्युलोक है, क्योंकि अन्तरिक्ष की भांति मन भी सब विषयों की ओर फैला हुआ है, जितना द्युलोक है उतना ही सूर्य्यलोक है, या यों कहो कि अन्तारिक्ष में सूर्य्य विस्तृत है, जब अन्तरिक्ष और सूर्य्य मिथुनभाव की भांति संगत होते हैं अर्थात् जब अन्तरिक्ष में सूर्य्य की उष्णता फैल जाती है तब उससे मातरिश्वा उत्पन्न होती है जिसको इन्द्र कहते हैं और वह असपत्न है अर्थात् उसके समान अन्य कोई वायु नहीं, क्योंकि अन्य वायु सपत्न हैं जो प्राण के इस भाव को पूर्ण प्रकार से जानता है उसका कोई शत्रु नहीं होता ॥

अथैतस्य प्राणस्याऽऽपःशरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रः तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रः त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तꣳस लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तꣳस लोकं जयति ॥ १३ ॥

अर्थ—और इस प्राण का शरीर जल है अर्थात् प्राण जल की भांति सारे शरीर में व्यापक है, और यही शरीर में जीवनप्रद होने से चन्द्रमा है, जितना प्राण है उतना ही जल है जिसका अर्थ यह है कि जल की भांति प्राण शरीर में व्यापक और जल के आधार पर है, जितना जल है उतना ही चन्द्रमा है, क्योंकि जहां २ जल है वहां २ ही शीतलता है, यह वागादि सब आपस में समान और अनन्त हैं, जो इनको अल्प जानता है उसका ज्ञान भी अल्प होता है और जो बड़ा जानता है उसका ज्ञान भी बड़ा होता है ॥

सं०—अब पुरुष को षोडशकल कथन करते हैं :—

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवाऽऽच

पूर्यतेऽपचक्षीयते सोऽमावास्याᳬरात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेताᳬरात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥ १४ ॥

अर्थ—इस लिङ्गशरीर में निवास करने वाला पुरुष षोडशकल सम्पन्न है, उसके सुखसाधन ज्ञानेन्द्रिय आदि पन्द्रा कला हैं तथा इसकी चिद्रूपा १६वीं कला नित्या है, वह पुरुष उक्त १५ कलाओं से कभी पूर्ण कभी न्यून होता है और १६वीं चिद्रूपा कला के साथ वर्त्तमान हुआ इस लिङ्गशरीर में प्रवेश करके फिर सुषुप्ति के अन्त में स्वप्न वा जाग्रत को प्राप्त होता है, अतएव इस पुरुष की रक्षा करे, सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होने वाले जीव के प्राणों का घात न करे किन्तु छिपकली का भी हनन न करे, यहां छिपकली सब जीवों का उपलक्षण है अर्थात् मनुष्य से लेकर छोटे से छोटे जीव का भी हनन न करे।

यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवाऽऽच पूर्यतेऽपचक्षीयते

तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं तस्मा-द्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयत आत्मना चे-ज्जीवति प्रधिनाऽगादित्येवाहुः ॥ १५ ॥

अर्थ—जो पूर्वोक्त षोडशकल पुरुष संवत्सररूप प्रजापति कथन कियागया है उसका जानने वाला पुरुष भी संवत्सर रूप प्रजापति होता है, क्योंकि उसका गौ आदि धन पन्द्रा कला के समान और इसका शरीर १६वीं कला है, वह कभी धन से पूर्ण होता और कभी क्षीण होजाता है, इसका शरीर नभ्य=नाभिचक्र की पिण्डी के समान और इसका धन परिधि=पिण्डीचक्र के ऊपर नेमी के समान है, यद्यपि यह पुरुष सर्वस्व नाश से नष्ट होजाता है परन्तु यदि शरीर से बचा है तो उसको जीवित ही कहते हैं, जैसाकि नेमी आदि के नाश होजाने से चक्र की पिण्डी को शेष माना जाता है ॥

सं०—अब तीन लोकों का कथन करते हैं:—

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पि-तृलोको देवलोक इति सोयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानाᳬश्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति॥ १६॥

अर्थ—मनुष्य लोक, पितृलोक और देवलोक यह तीन लोक हैं, सन्तानोत्पत्ति से मनुष्य लोक बना रहता है, क्योंकि यह लोक पुत्र साध्य है, अग्निहोत्रादि कर्मों से पितृलोक प्राप्त होता है अर्थात् उक्त कर्म करने वाला रक्षक होने से पितर होता है और विद्या से ही देवलोक प्राप्त होता है अर्थात् विद्यासम्पन्न पुरुष ही देवता कहाता है, सब लोकों के मध्य देव-लोक ही श्रेष्ठ है इसी कारण विद्या की प्रशंसा कीगई है ॥

सं०—अब सम्प्रत्ति कर्म का कथन करते हैं:—

अथातः संप्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेथ पुत्र-माह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोहं लोक इति यद्वै किं चानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येक-ता। ये वै केच यज्ञास्तेषाꣳ सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषाꣳ सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इदꣳ सर्वमेतन्मा सर्वꣳ सन्नयमितोऽभुनजादिति तस्मात्पुत्र मनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशास-ति स यदैवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति। स यद्यनेन किंचिदक्ष्णयाऽकृतं भवति तस्मादेन ꣳ

सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते दैवाःप्राणाः अमृता आविशन्ति ॥१७॥

अर्थ-जब पुरुष संन्यास ग्रहण करे अथवा आसन्नमृत्यु हो तब पुत्र के प्रति यह उपदेश करे कि हे पुत्र ! तुही ब्रह्म, यज्ञ तथा लोक है,तब पुत्र कहे कि हे पितः ! हां मैं ही ब्रह्म,यज्ञ और लोक हूं अर्थात् पिता का जो शेष अध्ययन उसका नाम यहां "ब्रह्म" है, पिता के कथन का तात्पर्य्य यह है कि हे पुत्र ! मेरे पीछे मेरे समान ही नित्यप्रति स्वाध्याय करते रहना, यही तेरा ब्रह्मरूप होना है, जिन यज्ञों का मैं अनुष्ठान करता रहा हूं उनको तूभी बराबर करते रहना, यही तेरा यज्ञरूप होना है और जो मेरे लौकिक व्यवहार हैं उनको पूर्ण करना ही तेरा लोकरूप होना है।

भाव यह है कि इस प्रकरण में जो ब्रह्मादि शब्द कथन किये गये हैं उनको पिता के अनन्तर पुत्र निरन्तर करता रहे, क्योंकि वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान तथा लोकवृत्तरूप कर्म ही गृहस्थ का कर्तव्य है, पिता का सन्तान के लिये यह शुभचिन्तन होता है कि यह वेदाध्ययनादि सब कर्म जो मेरे अधीन थे उनको मेरा पुत्र करेगा और इसी कारण शिक्षित पुत्र को पिता का हित करने वाला कहते हैं और इसी से पिता पुत्र को शिक्षा देता है, इस प्रकार का शिक्षक पिता जब इस लोक से प्रयाण करता है तब इन वागादिकों के साथ पुत्र में प्रवेश करता है अर्थात् शिक्षित पुत्र के स्वरूप से विद्यमान रहता है और उस पिता

का जो कुछ शेष कार्य्य है उसको पूर्ण करने से पिता को एक प्रकार के दुःख से छुड़ा देता है, इसी कारण उसको पुत्र कहते हैं,और ऐसे आज्ञाकारी पुत्र को प्राप्त होकर ही पिता पुत्ररूप से इस लोक में विद्यमान रहता है, ऐसे अनुष्ठान करने वाले पुरुष को दिव्य तथा अमृतरूप वागादि इन्द्रिय और प्राण प्राप्त होते हैं।

पृथिव्यैचैनमग्नेश्च दैवीवागाविशति सा वै दैवीवाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति।१८।

अर्थ- उक्त सम्प्रत्ति कर्म करने वाले पिता को पृथिवी तथा अग्नि से विशद और सत्यार्थ के प्रकाश करने वाली दैवी वाणी प्राप्त होती है, जिससे जो कुछ कहता है वही होता है अर्थात् अनृतादि दोषों से रहित को दैवी वाणी कहते हैं।

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनोयेनाऽऽनन्द्येव भवत्यथो न शोचति॥ १९ ॥

अर्थ-और इसको द्युलोक तथा आदित्य से भी उत्तम दिव्य मन प्राप्त होता है, शोकरहित आनन्द वाले को दिव्य मन कहते हैं।

अद्भयश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणोयः संचरꣳश्चासंचरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एवंवित्सर्वेषां भूतानात्मा भवति।

यथैषा देवतैवꣳस यथैतां देवताꣳसर्वाणि भूतान्यवन्त्येव हैवं विदꣳसर्वाणि भूतान्यवान्ति यदु किं चेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवाऽऽसां तद्भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति ॥२०॥

अर्थ-जल और चन्द्रमा से भी दिव्य प्राण इसको प्राप्त होते हैं, जङ्गम तथा स्थावरों में विचरता वा न विचरता हुआ जो पीड़ा को प्राप्त नहीं होता यही प्राण की दिव्यता है और न नष्ट होता है, इस प्रकार प्राणत्व के जाननेवाला संन्यासी सब का आत्मा होता है, जैसे यह प्राण जीवन का हेतु होने से देवता है इसी प्रकार यह संन्यासी भी देवता है जैसे अन्नदान से इस प्राण देवता की सब लोग रक्षा करते हैं वैसे ही प्राणत्व के जानने वाले संन्यासी के भी सब जीव रक्षक होते हैं और जो इन संसारी लोगों को दुःख होता है वह उन्हीं के साथ रहता है संन्यासी को स्पर्श नहीं करता, संन्यासी को तो पुण्य=सुख ही प्राप्त होता है, क्योंकि देवताओं को पाप=दुःख स्पर्श नहीं करता ॥

सं०-अब वाणी आदि के व्रत की मीमांसा करते हैं:-

अथातो व्रतमीमाꣳसा प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यऽन्योन्येनास्पर्द्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे

द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्ता-न्याप्त्वा मृत्युरवारुन्द्ध तस्माच्छ्राम्य-त्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाप्नोद्योयं मध्यमः प्राणः तानि ज्ञातुं दधिरे अयं वैनः श्रेष्ठोयः संचरꣳश्चा ऽसंचरꣳश्च न व्यथते ऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवꣳस्तस्मादेत एतेनाऽऽख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनु शुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततोम्रियत इत्य-ध्यात्मम् ॥ २१ ॥

अर्थ–प्रजापति परमात्मा ने वागादि इन्द्रियों को अपने २ कर्म के लिये उत्पन्न किया, वह परस्पर ईर्षापूर्वक एक दूसरे के कर्म में निस्सहायता से वर्त्तने लगे, मैं कथन ही करूंगी यह वाणी

ने व्रत किया, मैं देखुंगा यह चक्षु ने व्रत किया, श्रोत्र ने सुनने का व्रत किया, इसी प्रकार इतर इन्द्रियों ने भी अपने २ व्यापार का व्रत किया, परन्तु उनको श्रम ने मृत्युरूप होकर अपने कर्म से गिरा दिया अर्थात् उन्हें श्रम ने व्याप्त किया और व्याप्त करके कर्म से रोक लिया, इसी कारण वाणी आदि इन्द्रिय अपने २ व्यापार में लगे हुए श्रान्त होजाते हैं, जो यह शरीरान्तर्वर्ती प्राण है उसको श्रम व्याप्त करके न रोक सका तब उक्त इन्द्रियों ने प्राण का आश्रय लिया, इन्द्रियों ने विचारा कि यह प्राण ही हम में श्रेष्ठ है, क्योंकि यह जंगम तथा स्थावरों में विचरता हुआ व्यथा को प्राप्त नहीं होता अर्थात् यह अपने कर्म से उपरत नहीं होता और नाही नष्ट होता है इसलिये इसी के रूप को प्राप्त होना चाहिये, फिर वह सब इन्द्रिय इसी के रूप को प्राप्त हुए, इसी कारण सब इन्द्रिय प्राण नाम से कहे जाते हैं, यद्यपि वागादि इन्द्रियों में अपने २ व्यापार की सामर्थ्य है परन्तु प्राण के विना इनका सामर्थ्य अकिञ्चित्कर है, इस प्रकार प्राण के दृढ़ व्रत का ज्ञाता जिस कुल में होता है उसी के नाम से वह कुल प्रसिद्ध होता है, जो इस प्रकार के सत्यसङ्कल्प पुरुष के साथ ईर्षा करता है वह नष्ट होजाता है अर्थात् वह ईर्षालु चित्त में दग्ध होता हुआ अन्त को मरजाता है, इस प्रकार वागादि इन्द्रियों द्वारा आध्यात्मिक कर्म का कथन किया है ॥

सं०-अब देवता सम्बन्धी व्रत कर्म कथन करते हैं:-

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यहमित्यादित्यो भास्या-

म्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथा-दैवत ँ स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुः म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः ॥ २२ ॥

अर्थ—अग्नि ने जलानारूप व्रत धारण किया, सूर्य्य ने तपाना और चन्द्रमा ने आल्हादकरूप व्रत को धारण किया, इसी प्रकार अन्य देवताओं ने भी अपने २ व्यापारानुसार व्रत किया, जिसप्रकार वागादि इन्द्रियों के मध्य शरीरान्तःसंचारी प्राण दृढ़ व्रती है इसी प्रकार इन देवताओं के मध्य वायु भी श्रम से रहित दृढ़ व्रती है अर्थात् अन्य देवता अपने २ व्यापार से उपरत होजाते हैं परन्तु वायु नहीं, क्योंकि यह वायु देवता अविनाशी व्रत वाला है ॥

सं०—अब उक्त विषय में प्रमाण कथन करते हैं:—

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्यो-स्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मँ स एवाद्य स उश्व इति यद्वा एतेऽमुर्ह्यधियन्त तदे-वाप्यद्य कुर्वन्ति तस्मादेकमेव व्रतं चरे-

त्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्यु-राप्नुवदिति यद्युचरेत्समापिपयिषेत्तेनो एत-स्यै देवतायै सायुज्यꣳ सलोकतां जयति॥२३॥

अर्थ-पूर्वोक्त अर्थ में यह श्लोक प्रमाण है जिसका अर्थ यह है कि प्राण=शरीरान्तःसंचारी वायु तथा महाप्राण=मातरिश्वा वायु से यथाक्रम प्रबोधकाल में अध्यात्म चक्षु और प्रातःकाल में अधिदैवत सूर्य्य उदय होता है, वागादि इन्द्रिय तथा अग्नि आदि देवताओं ने उस धर्म को अर्थात् प्राणव्रत तथा वायुव्रत को जो अवश्य कर्तव्य है आजतक धारण किया हुआ है और भविष्यत् काल में भी इसी प्रकार धारण किये रहेंगे अथवा वागादि इन्द्रियों ने तथा अग्नि आदि देवताओं ने जिस व्रत को धारण किया था आजतक भी उसी को धारण किये हुए हैं,इसी प्रकार ईश्वरोपासक को भी उचित है कि वह भी प्राणापान गति के निरोधरूप व्रत को धारण करता हुआ भय करे कि पापरूपमृत्यु मुझको कभी प्राप्त न हो, जिस प्राणव्रत का आरम्भ करे उसको अवश्य ही समाप्त करे, इस प्राणव्रत के धारण करने से ईश्वरोपासक प्राण देवता की समानता को प्राप्त होता है अर्थात् प्राण की भांति दृढ़व्रती होता है ॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ षष्ठं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब नाम रूप तथा कर्म का कारण कथन करते हैं :—

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म, तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥ १ ॥

अर्थ–यह जो नाम रूप तथा कर्म हैं इन तीनों के मध्य यह वाणी देवदत्त आदि नामों का कारण है, क्योंकि सब नाम वाणी से ही निकलते हैं और यही शब्दरूप वाणी इन नामों का साम है, क्योंकि सामान्य शब्दरूप बाणी सब विशेष नामों के सम=उनमें व्यापक है और यही देवदत्तादि विशेष नामों का आत्मा है, क्योंकि यही सब नामों को धारण करती है ॥

सं०–रूप का कारण कथन करते हैं:–

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्ति एतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥ २ ॥

अर्थ–चक्षु सब सामान्य रूपों का कारण है, क्योंकि इसी से सब रूप निकलते हैं, इन रूपों का यह चक्षु साम=सम है अर्थात् सब में व्यापक है और यही इन रूपों का आत्मा है क्योंकि यह सब रूपों को धारण करता है ॥

सं०-अब कर्म का कारण कथन करते हैं:-

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्ति एतदेषाᳬसामै-तद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति । तदेतत्त्रयᳬ सदेकमयमात्माऽऽत्मो एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतंसत्येनच्छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः॥३॥

अर्थ-सामान्य क्रिया ही सब कर्मों का कारण है, क्योंकि इसी से सब कर्म उत्पन्न होते हैं तथा यही सब का साम है अर्थात् यह सामान्य क्रिया ही सब कर्मों में व्यापक होरही है और यही इन का आत्मा है, क्योंकि यही सब को धारण करती है, यह नामादिक तीनों ही कार्य्य कारणरूप एक प्रपंच है, यह प्रपंच इन तीनों का रूप है, प्राण का नाम अमृत और नाम रूप को सत्य कहते हैं, यह अमृत सत्य से आवृत है अर्थात् विराट् तथा स्थूल शरीर से लिङ्गरूप आत्मा आच्छादित है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
बृहदारण्यकार्य्यभाष्ये
प्रथमाध्यायःसमाप्तः

ओ३म्

अथ द्वितीयःअध्यायः प्रारभ्यते

सं०–अब बालाकि की आख्यायिका द्वारा ब्रह्म का स्वरूप निरूपण करते हैं:—

दृप्तबालाकिर्हाऽनूचानोगार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनकइति वै जनाधावन्तीति।१।

अर्थ–गर्गगोत्रोत्पन्न ब्रह्मविद्याभिमानी बालाकि नाम ब्राह्मण काशी के राजा अजातशत्रु के निकट जाकर बोला कि मैं तेरे लिये ब्रह्म का उपदेश करता हूं, यह सुनकर नम्रभाव से अजातशत्रु ने कहा कि हे भगवन् ! जनकराजा दानशील है और वही एकमात्र ब्रह्मविद्या का अभिलाषी है यह समझकर प्रायः ब्राह्मण लोग ब्रह्मनिर्वचन, ब्रह्मश्रवण तथा दानार्थ जनक के समीप जाते हैं और आप भी इसी अभिलाषा से मेरे पास आये हैं, अतएव मैं आपको सहस्र गौयें देता हूं आप मुझ को ब्रह्म का उपदेश करें।

सं०–अब बालाकि ब्रह्म का उपदेश करते हैं:—

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचा-

जातशत्रुर्मामैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति।२।

अर्थ-बालाकि बोले कि जो आदित्य में पुरुष है मैं उसीको ब्रह्म जानता और उपासता हूं, आप भी उसी को ब्रह्म समझकर उपासना करें, अजातशत्रु ने कहा कि आप यह अभिमान न करें कि मैं ब्रह्मवेत्ता हूं, क्योंकि मैं जानता हूं कि यह आदित्य सब भूतों में श्रेष्ठ, सब का मूर्द्धास्थानी तथा प्रकाशमान पदार्थ है और इसी के प्रकाश से सम्पूर्ण लोक लोकान्तर प्रकाशित होते हैं, जो इस प्रकार आदित्य को जानकर उपासना करता है वह सब से बड़ा और तेजस्वी होता है ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते ॥३॥

अर्थ-बालाकि ने कहा कि जो चन्द्रमा में पुरुष दृष्टिगत होता है वही ब्रह्म है मैं उसी की उपासना करता हूं,राजा ने कहा

कि यह चन्द्रमा सब ओषधियों को रस देने वाला होने से ब्रह्म है और मैं भी ऐसा ही जानता हूं तथा जो चन्द्रमा को इस प्रकार जानता है वह अन्नरस से सदा ही पुष्ट होता है।

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वीह भवति तेजस्विनीहास्य प्रजा भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—फिर बालाकि ने कहा कि जो बिजुली में पुरुष दृष्टिगत होता है वही ब्रह्म है मैं उसी की उपसना करता हूं, तब राजा बोले कि बिजुली तेजस्वी पदार्थ होने से ब्रह्म है जिसको मैं प्रथम ही जानता हूं और जो इस प्रकार बिजुली को तेजस्वी समझकर उपासना करता है उसकी प्रजा तेजस्वी होती है ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥ ५ ॥

अर्थ–बालाकि ने कहा कि जो आकाश में पुरुष दृष्टिगत होता है मैं उसी को ब्रह्म जानता हूं, तब राजा बोले कि हां आकाश पूर्ण होने से ब्रह्म है, जो इसको ब्रह्म जानकर उपासता है वह प्रजा तथा पशुओं से पूर्ण होता और उसकी सन्तति का कभी विच्छेद नहीं होता ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी ॥ ६ ॥

अर्थ–इसके अनन्तर फिर बालाकि ने कहा कि जो वायु में पुरुष दृष्टिगत होता है वही ब्रह्म है और मैं उसी को उपासता हूं, फिर राजा बोले कि हां अभ्याहत गति होने से वायु ब्रह्म है जिसको मैं भलेप्रकार जानता हूं, जो वायु को ब्रह्म समझकर उपासना करता है वह किसी से पराजित नहीं होता ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमु-

पास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हा-
स्य प्रजा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ–फिर बालाकि ने कहा कि जो अग्नि में पुरुष दृष्टिगत होता है वही ब्रह्म है और मैं उसी की उपासना करता हूं, फिर राजा बोले कि हां सब का भक्षणकर्त्ता होने से अग्नि ब्रह्म है जिसको मैं भलेप्रकार जानता हूं, जो इस प्रकार अग्नि को ब्रह्म समझकर उपासना करता है वह सहनशील होता है ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजा-तशत्रुर्मामैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपꣳ हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरू-पमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥ ८ ॥

अर्थ–बालाकि ने फिर कहा कि जो जलों में पुरुष दृष्टिगत होता है मैं उसी को ब्रह्म समझकर उपासना करता हूं. राजा बोले कि हां सबको शान्तिदायक होने से जल ब्रह्म है जिसको मैं भलेप्रकार जानता हूं, और जो इस प्रकार जलों को ब्रह्म सम-झकर उपासना करता है वह भी सब को शान्तिदायक होता है किसी के प्रतिकूल नहीं होता ।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः संनिगच्छति सर्वाꣳस्तानति रोचते ॥ ९ ॥

अर्थ-बालाकि ने फिर कहा कि जो हृदय में पुरुष दृष्टिगत होता है मैं उसी को ब्रह्म समझकर उपासना करता हूं, राजा बोले कि हां शुद्धस्वभाव होने से हार्द पुरुष भी ब्रह्म है जिसको मैं भले प्रकार समझकर उपासना करता हूं और जो पुरुष हार्द ब्रह्म की उपासना करता है वह अपने समान गुणों वाले पुरुषों में प्रतिष्ठा पाता और उसकी प्रजा प्रतिभाशाली होती है ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳहैवास्मिꣳल्लोक आयुरेति नैनं पुराकालात्प्राणो जहाति ॥ १० ॥

अर्थ-बालाकि ने फिर कहा कि जो चलते हुए पुरुष के पीछे शब्द उत्पन्न होता है अर्थात् गमनादि क्रिया का हेतु जो प्राण है मैं उसी को ब्रह्म समझता हूं, यह सुनकर राजा बोले कि हां जीवन का हेतु होने से प्राण ब्रह्म है, मैं भी ऐसा ही समझता हूं, जो इस प्रकार प्राण को ब्रह्म समझकर उपासना करता है वह अपमृत्यु को प्राप्त न होकर पूर्ण आयु भोगता है ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति सहोवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन्संवादिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान्ह भवति नास्माद्गणश्छिद्यते ॥ ११ ॥

अर्थ-बालाकि ने कहा कि जो दिशाओं में पुरुष दृष्टिगत होता है उसी को मैं ब्रह्म समझकर उपासना करता हूं, तब राजा ने कहा कि हां व्यापक होने से दिशा ब्रह्म हैं, जो इनकी इस प्रकार उपासना करता है वह अपने समुदाय से विमुक्त नहीं होता।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन्संवादिष्ठा मृत्यु-

रिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिꣳल्लोक आयुरेति नैनं पुराकालान्मृत्युरागच्छति ॥ १२ ॥

अर्थ-फिर बालाकि ने कहा कि जो छायागत पुरुष है उसी को मैं ब्रह्म समझता हूं, तब राजा बोले कि हां आवरणस्वभाव होने से छाया ब्रह्म है मैं भी ऐसा ही जानता हूं और जो उक्त छाया को ब्रह्म समझकर उपासना करते हैं वह इस लोक में पूर्ण आयु को भोगते हैं, अपने समय से पूर्व मृत्यु को प्राप्त नहीं होते और न किसी रोग से पीड़ित होते हैं।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वीह भवति आत्मन्विनीहास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः ॥ १३ ॥

अर्थ-बालाकि ने फिर कहा कि जो बुद्धि में पुरुष दृष्टिगत होता है मैं उसी को ब्रह्म समझता हूं तब राजा बोले कि हां विवेकरूप होने से बुद्धि ब्रह्म है, जो इसकी उक्त प्रकार से उपासना करता है वह और उसकी प्रजा आत्मिक बलवाले=विवेकी होते हैं,इतना कथन करने के पश्चात् बालाकि चुप होगया।

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू ३ इत्येतावद्धीति नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उपत्वायानीति ॥ १४॥

अर्थ-बालाकि के चुप होने पर राजा ने कहा कि क्या आप इतना ही जानते हैं अथवा इससे अधिक भी ज्ञान है तब उसने कहा कि हां मैं एतावन्मात्र ही जानता हूं, फिर राजा बोले कि इतना जानने से मुख्य ब्रह्म नहीं जानाजाता, क्योंकि उक्त ज्ञान ब्रह्म को विषय नहीं करता, तब उस प्रसिद्ध बालाकि ने कहा कि मैं आपका शिष्य होता हूं मेरे लिये आप ब्रह्म का उपदेश करें ।

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुष ँ सुप्तमाजग्मतुस्त मेतैर्नामभिरामन्त्रयांचक्रे बृहन्पाण्डरवासः सोम राजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिनापेषं बोधयांचकार स होत्तस्थौ ।१५।

अर्थ-तब राजा ने उत्तर दिया कि यह विपरीत है कि ब्राह्मण क्षत्रिय का शिष्य बने,इसलिये हे बालाकि ! मैं आपको पूज्य मानता हुआ ही उस उपदेश को आपके अर्पण करूंगा

जिसके जानने पर फिर कुछ ज्ञातव्य नहीं रहता,इस प्रकार कथन करके राजा उसका हाथ पकड़कर उठ खड़ा हुआ, और वह दोनों राजमन्दिर में सोये हुए किसी पुरुष के समीप आये, और हे श्वेत वस्त्रों वाले सोम राजन् ! कहकर उसको राजा ने जगाया परन्तु वह नहीं उठा फिर उसको हाथ से हिला २ कर जगाया तब वह पुरुष उठ खडा हुआ।

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागादादिति तदुहनमेने गार्ग्यः।१६।

अर्थ–फिर राजा बोले कि हे बालाकि ! जिस अवस्था में यह पुरुष सोया हुआ था उस अवस्था में यह प्रसिद्ध विज्ञानमय पुरुष कहां था और फिर हाथ से हिलाकर जगाने पर कहां से आया ? राजा के इस भाव को बालाकि ने नहीं समझा ।

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतꣳ श्रोत्रं गृहीतं मनः॥१७॥

अर्थ–तब अजातशत्रु ने कहा कि जिस अवस्था में यह पुरुष सोया हुआ था, या यों कहो कि जिस अवस्था में यह विज्ञानमय पुरुष सोजाता है उस अवस्था में वागादि इन्द्रियों की सामर्थ्य को बुद्धि के साथ ही लेकर जो यह हृदयान्तर्वर्त्ती आकाश=ब्रह्म है उसमें सोता है तब इस पुरुष का नाम "स्वपिति" और अवस्था का नाम "सुषुप्ति" होता है, उस समय घ्राण गन्ध को नहीं लेसक्ता न बाणी बोलसक्ती, न चक्षु देखसक्ता, न श्रोत्र सुनसक्ता और न मन सङ्कल्प विकल्प करसक्ता है।

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्यलोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महाराजो जानपदान्गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्त्ततैवमेवैष एतत्प्राणान्गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते।१८।

अर्थ–और जिस अवस्था में यह पुरुष स्वप्नवृत्ति के साथ विचरता है तब उसकी अवस्था यह होती है कि वह कभी महाराजा, कभी महाब्राह्मण और कभी देवता आदि होजाता है अर्थात् अनेक प्रकार के रूप धारण करता है परन्तु उसके यह सब रूप कल्पनामात्र हैं, या यों कहो कि जैसे कोई चक्रवर्ती राजा पलङ्ग पर सोया हुआ अपने जनपद में मन्त्री, अमात्य तथा नगरवासी लोगों के साथ इच्छापूर्वक उन्हीं भोगों को भोगता हुआ अपने

आपको देखता है जिनको उसने जाग्रतावस्था में कई वार भोगा है परन्तु उसके वह भोग कल्पित हैं, इसी प्रकार यह विज्ञानमय आत्मा जागरित स्थानों से अपने वागादि इन्द्रियों को साथ लेकर स्वेच्छापूर्वक शरीर के भीतर ही नाना रूपों को देखता है, और यही उसकी स्वप्नावस्था कहलाती है ।

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्य च न वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ १९ ॥

अर्थ-और जब वही जाग्रत् तथा स्वप्न का द्रष्टा सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है तब किसी बाह्य विषय को नहीं जानता किन्तु परमात्मा के साथ मिल जाता है अर्थात् हितनामक बहत्तर हज़ार नाड़ियें जो हृदय देश से पुरीतत् को प्राप्त हैं उनके द्वारा जाग्रत् विषयाकार बुद्धि से इन्द्रियों को हटाकर उसी पुरीतत् देश में इस प्रकार शयन करता है जैसे कोई बालक, महाराज अथवा महाब्राह्मण निर्भय होकर सोता है ॥

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः

सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ।२०।

अर्थ-जिस प्रकार ऊर्णनाभि=मकड़ी अपने मुख से निकाले हुए तन्तुओं द्वारा ऊपर आती है, अथवा जिसप्रकार एकही अग्नि से छोटे २ चिनगारे निकलकर चारो ओर फैलजाते हैं इसी प्रकार उस आत्मा से सारे प्राण=वागादि इन्द्रिय, भूरादि लोक, देवता और सब भूत उत्पन्न होते हैं, उसी ब्रह्म को बोधन करने वाली यह उपनिषद् है अर्थात् मुमुक्षु जीव प्रतिदिन जिसके आनन्द में मग्न होते हैं वही मुख्य ब्रह्म और वही सत्य का सत्य है, निश्चयकरके वागादि इन्द्रिय सत्य कहाते हैं परन्तु उनको सत्ता देने वाले परमात्मा का नाम ही सत्य है ॥

भाष्य-यह ब्राह्मण जिसमें बालाकी और अजातशत्रु राजा के सम्वाद द्वारा ब्रह्म का निर्णय किया गया है, इसका आशय यह है कि किसी काल में बालाकि जिसको गार्ग्य भी कहते हैं वह ब्रह्मविद्या का बड़ा अभिमानी था, उसने काशी के राजा अजातशत्रु के निकट उपस्थित होकर कहा कि मैं ब्रह्मवित् हूं, राजा बोले कि आप मुझको ब्रह्म का उपदेश करें, तब बालाकि ने उनको उपदेश किया कि जो आदित्य में पुरुष दृष्टिगत होता है वही ब्रह्म है और इसी की उपासना करनी चाहिये, तब राजा ने कहा कि यद्यपि प्रकाशक होने से यह ब्रह्म=बड़ा है परन्तु उपास्य नहीं, इसी प्रकार बालाकि ने चन्द्र, विद्युत, आकाश, वायु, अग्नि, जल, आदर्श, प्राण, दिशा, छाया और

बुद्धि इन सब को क्रमशः ब्रह्म कथन किया परन्तु राजा ने इन सब का यही उत्तर दिया कि यह सब अपने २ असाधारण गुणों से ब्रह्म=बड़े कहाते हैं मुख्य ब्रह्म नहीं, क्योंकि यह सब पदार्थ जड़ तथा उत्पत्ति विनाश वाले हैं, इनको ब्रह्म इसी प्रकार कथन किया है जैसाकि मुण्ड० १।१।९ में वर्णन किया है कि "तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नञ्च जायते"=सूर्य्यादि लोक लोकान्तर तथा अन्नरूप ब्रह्म परमात्मा से उत्पन्न हुआ, इस उत्तर को सुनकर बालाकि तूष्णीं=चुप होगया और कहने लगा कि कृपा करके आप ही ब्रह्म का उपदेश करें, तब राजा बालाकि को ब्रह्म का उपदेश करने के लिये एक सोये हुए पुरुष के पास लेगया और उस सुप्त पुरुष को राजा ने उन सोमादि पदार्थों के वाचक शब्दों द्वारा सम्बोधन किया जिनको बालाकि ने ब्रह्म समझा हुआ था, जब वह पुरुष न जागा तब राजा ने उसको हिलाकर जगाया और बालाकि को निर्देश किया कि आप समझे यह सुप्त पुरुष कहां था और कहां से आया, बालाकि ने उत्तर दिया कि मैं नहीं समझा तब अजातशत्रु ने सुषुप्ति तथा स्वप्नावस्था के उपदेश से विज्ञानमय आत्मा को पृथक् दिखलाकर यह कथन किया कि यह आत्मा सुषुप्ति अवस्था में हृदयाकाश-वर्ति ब्रह्म के साथ मिला हुआ था जिसके आनन्द में मग्न होने से उस अवस्था में उसको स्वपिति कहते हैं, जैसाकि "सता-सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति" छा० ६।८।१ में वर्णन किया है कि हे श्वेतकेतु! जब पुरुष गाढ निद्रा में सोजाता है उस समय सत् के साथ मिलकर अपने स्वरूप से स्थित रहता है, और फिर जाग्रतावस्था में आकर उन्हीं वाणीादि

सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ।२०।

अर्थ-जिस प्रकार ऊर्णनाभि=मकड़ी अपने मुख से निकाले हुए तन्तुओं द्वारा ऊपर आती है, अथवा जिसप्रकार एकही अग्नि से छोटे २ चिनगारे निकलकर चारो ओर फैलजाते हैं इसी प्रकार उस आत्मा से सारे प्राण=वागादि इन्द्रिय, भूरादि लोक, देवता और सब भूत उत्पन्न होते हैं, उसी ब्रह्म को बोधन करने वाली यह उपनिषद् है अर्थात् मुमुक्षु जीव प्रतिदिन जिसके आनन्द में मग्न होते हैं वही मुख्य ब्रह्म और वही सत्य का सत्य है, निश्चयकरके वागादि इन्द्रिय सत्य कहाते हैं परन्तु उनको सत्ता देने वाले परमात्मा का नाम ही सत्य है ॥

भाष्य-यह ब्राह्मण जिसमें बालाकी और अजातशत्रु राजा के सम्वाद द्वारा ब्रह्म का निर्णय किया गया है, इसका आशय यह है कि किसी काल में बालाकि जिसको गार्ग्य भी कहते हैं वह ब्रह्मविद्या का बड़ा अभिमानी था, उसने काशी के राजा अजातशत्रु के निकट उपस्थित होकर कहा कि मैं ब्रह्मवित् हूं, राजा बोले कि आप मुझको ब्रह्म का उपदेश करें, तब बालाकि ने उनको उपदेश किया कि जो आदित्य में पुरुष दृष्टिगत होता है वही ब्रह्म है और इसी की उपासना करनी चाहिये, तब राजा ने कहा कि यद्यपि प्रकाशक होने से यह ब्रह्म=बड़ा है परन्तु उपास्य नहीं, इसी प्रकार बालाकि ने चन्द्र, विद्युत, आकाश, वायु, अग्नि, जल, आदर्श, प्राण, दिशा, छाया और

बुद्धि इन सब को क्रमशः ब्रह्म कथन किया परन्तु राजा ने इन सब का यही उत्तर दिया कि यह सब अपने २ असाधारण गुणों से ब्रह्म=बड़े कहाते हैं मुख्य ब्रह्म नहीं, क्योंकि यह सब पदार्थ जड़ तथा उत्पत्ति विनाश वाले हैं, इनको ब्रह्म इसी प्रकार कथन किया है जैसाकि मुण्ड० १।१।९ में वर्णन किया है कि **"तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नञ्च जायते"**=सूर्य्यादि लोक लोकान्तर तथा अन्नरूप ब्रह्म परमात्मा से उत्पन्न हुआ, इस उत्तर को सुनकर बालाकि तूष्णीं=चुप होगया और कहने लगा कि कृपा करके आप ही ब्रह्म का उपदेश करें, तब राजा बालाकि को ब्रह्म का उपदेश करने के लिये एक सोये हुए पुरुष के पास लेगया और उस सुप्त पुरुष को राजा ने उन सोमादि पदार्थों के वाचक शब्दों द्वारा सम्बोधन किया जिनको बालाकि ने ब्रह्म समझा हुआ था, जब वह पुरुष न जागा तब राजा ने उसको हिलाकर जगाया और बालाकि को निर्देश किया कि आप समझे यह सुप्त पुरुष कहां था और कहां से आया, बालाकि ने उत्तर दिया कि मैं नहीं समझा तब अजातशत्रु ने सुषुप्ति तथा स्वप्नावस्था के उपदेश से विज्ञानमय आत्मा को पृथक् दिखलाकर यह कथन किया कि यह आत्मा सुषुप्ति अवस्था में हृदयाकाश-वर्ति ब्रह्म के साथ मिला हुआ था जिसके आनन्द में मग्न होने से उस अवस्था में उसको स्वपिति कहते हैं, जैसाकि **" सता-सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति "** छा० ६।८।१ में वर्णन किया है कि हे श्वेतकेतु ! जब पुरुष गाढ निद्रा में सोजाता है उस समय सत् के साथ मिलकर अपने स्वरूप से स्थित रहता है, और फिर जाग्रतावस्था में आकर उन्हीं वाणादि

इन्द्रियों से वाह्य विषयों का अनुभव करता है, इस प्रकार यह विज्ञानमय पुरुष प्रतिदिन जिस आनन्द को अनुभव करता है वही ब्रह्म है, उसी ब्रह्म से सब भूरादिलोक, सब देवता और वागादि इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं और वही ब्रह्म एकरस रहने और चराचर जगत् का आश्रय होने से सत्य कहाता है. उस ब्रह्म के उक्त ज्ञान का नाम ही उपनिषद् है, क्योंकि इस प्रकार का विचार ही पुरुष को ब्रह्म के समीप लेजाता है ॥

मायावादियों का कथन है कि यहां ऊर्णनाभि तथा अग्निविस्फुलिङ्ग के दृष्टान्त से ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण होना पाया जाता है? सो ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से ब्रह्म परिणामी होजाता है और परिणामी होने से आनन्दस्वरूप नहीं रहता, इसलिये उक्त दृष्टान्त उत्पत्ति अंश में केवल निमित्तकारण रूप से विवक्षित हैं उपादानरूप से नहीं, इसी भाव को मुण्ड० २।१।२ के भाष्य में स्फुट किया गया है, विशेषाभिलाषी वहां देखलें ॥

इति प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ द्वितीयं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब प्रसङ्गसङ्गति से प्राणों का वर्णन करने के लिये शिशु ब्राह्मण का आरम्भ करते हैंः—

यो ह वै शिशुँ साधानँ सप्रत्याधानँ सस्थूणँ सदामं वेद सप्त ह द्विषतो

भ्रातृव्यानवरुणद्धि, अयं वाव शिशुर्योयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाऽऽधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणाऽन्नंदाम ॥ १ ॥

अर्थ-निश्चयकरके साधान=शरीररूप अधिष्ठान के सहित सप्रत्याधान=मस्तक सहित, सस्थूण=खाद्य पदार्थों से उत्पन्न हुई शक्ति सहित और सदाम=बन्धन सहित, शिशु=बालक को जो जानता है वह अपने शत्रुओं को जीतलेता है, यह मध्यम प्राण=लिङ्ग शरीर ही शिशु है और उसका स्थूल शरीर ही आधान, मूर्द्धा प्रत्याधान, उक्त शक्ति स्थूणा और अन्न जीवन का हेतु होने से दाम=बन्धन कहाता है ॥

सं०-अब मूर्द्धास्थित उक्त शिशु के चक्षुरिन्द्रिय में सात देवता कथन करते हैं:-

तमेताः सप्ताऽक्षितया उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन्लोहिन्यो राजयः ताभिरेन रुद्रोन्वायत्तोऽथया अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनका तयादित्यो यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्याऽन्नं क्षीयते य एवं वेद ॥ २ ॥

अर्थ-सात देवता उस प्राण की सेवा करने को समय २

पर उपस्थित रहते हैं, और निरन्तर सेवा करने के कारण इनका नाम "आक्षिति" है, चक्षु में जो लाल रेखा हैं उनसे रुद्र, धूमादि संयोग से जो जलधारा आती हैं उनसे पर्जन्य, कनीनका=दर्शनशक्ति से आदित्य, कृष्णभाग से आग्नि, शुक्लभाग से इन्द्र, नीचे के पक्ष्म से पृथिवी और उपरि पक्ष्म से द्यौ इस प्राण की सेवा करते हैं, जो इस प्रकार प्राण की स्थिरता को जानता है उसका अन्न कभी क्षय नहीं होता ॥

सं०—अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:—

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति । अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एषह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते ॥ ३॥

अर्थ—उक्त शिशु के जिस मूर्द्धा स्थान को प्रत्याधान कथन किया है यह चमसस्थानीय है, जिसका अर्वाग्बिल=नीचे की

ओर मुख, और ऊर्ध्वबुध्न=गोल पृष्ठ ऊपर की ओर है, जिसमें विश्वरूप=नाना विषयों के चिन्तन का सामर्थ्य ही सोम स्थानीय है, उसके चारो ओर सप्तऋषि निवास करते हैं और आठवीं बाणी ब्रह्म के साथ मिली रहती है ॥

सं०–अब उक्त सप्त ऋषियों का नाम कथन करते हैं:–

इमा वेव गोतमभरद्वाजा वयमेव गोतमोयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपा वयमेव वसिष्ठोयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचाह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्हवैनामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवीत सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ–यह दोनों श्रोत्र गोतम तथा भरद्वाज ऋषि हैं अर्थात् दक्षिण श्रोत्र गोतम और वामश्रोत्र भरद्वाज कहाता है, इसी प्रकार दक्षिण नेत्र विश्वामित्र तथा वामनेत्र जमदग्नि, दक्षिण नासिका वसिष्ठ तथा वाम नासिका कश्यप और बाणी ही अत्रि ऋषि है, क्योंकि अन्न के भक्षण करने वाली होने से इसका नाम "अत्ति" और अत्ति का नाम ही "अत्रि" है, जो इस प्रकार जानता है वह प्राण की भांति सब का भोक्ता होता और सब अन्न उसके लिये होता है ॥

भाष्य-इस ब्राह्मण में रूपकालङ्कार से प्राण को शिशु कथन किया गया है जिसका आशय यह है कि जिस प्रकार प्राण शिशु=बालक की भांति किसी विषय में आसक्त नहीं होता अर्थात् इन्द्रियों की भांति किसी विषय में लम्पट न होकर केवल शरीर यात्रा के लिये यथाप्राप्त अन्नादि से सन्तुष्ट रहता है इसी प्रकार ब्रह्मवित् पुरुष को उचित है कि वह भी विषयासक्त न होकर यथाप्राप्त भोग में अलंबुद्धि करता हुआ ब्रह्मानन्द में मग्न रहे, इस प्रकार वर्त्तने से उक्त चक्षुरादि सप्त इन्द्रियरूप शत्रुओं को वशीभूत करलेता है और ऐसा करने पर फिर उसका चित्त किसी सांसारिक विषय भोग से प्रलोभित नहीं होता, और जो यह कथन किया है कि चक्षुरादि सप्त देवता समय २ पर प्राण की सेवा करने को उपस्थित रहते हैं, यह कथन प्राण की असङ्गता बोधन करता है अर्थात् क्रोधाग्नि से चक्षु में जो लाली का आवेश हो आता है उसी का नाम "रुद्र" है,इस प्रकार के रौद्रादि विकार इन्द्रियों में ही उत्पन्न होते हैं प्राण में नहीं, क्रोधरूप धूम से जो अश्रुपात होता है वही मेघ और क्रूरदृष्टि से देखना ही आदित्य है, इसी प्रकार अग्नि आदि जानने चाहियें, जो पुरुष प्राण की भांति क्रोधाग्नि से सन्तप्त नहीं होता, या यों कहो कि प्राण की भांति सब विषयों से उपरत रहता है उसका अन्न कभी क्षय नहीं होता अर्थात् ऐसा पुरुष सदा ही सुख भोगता हुआ संसार में विचरता है और ऐसे पुरुष का ही मस्तिष्क सोम से पूरित चमसपात्र की भांति आध्यात्मिक विचारों से पूरित होता है, ऐसे पुरुष का ही संसार में यश फैलता, और ऐसे ही पुरुष के उक्त सातों इन्द्रिय सात्विक भाव को धारण करने से

सप्त ऋषि कहाते हैं, या यों कहो कि ऐसे पुरुष के इन्द्रिय ही अन्तर्मुख होने से सात्विकभाव को धारण करते हैं अन्य के नहीं और ऐसे पुरुष की वाणी सदा ही ब्रह्म के साथ मिली रहती है अर्थात् एकमात्र ब्रह्म के उपदेश में तत्पर रहती है, ऐसा पुरुष ही संसार के सम्पूर्ण सुखों का भोक्ता होता और सम्पूर्ण अन्न उसी को प्राप्त होता है॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ तृतीयं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब मूर्त्त तथा अमूर्त्त दोनों प्रकार के पदार्थों से ब्रह्म को विलक्षण कथन करने के लिये इस मूर्त्तामूर्त्त ब्राह्मण का प्रारम्भ करते हैं:—

द्वे वाव ब्राह्मणो रूपे मूर्तं चैवा मूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च स-च्च त्यं च ॥ १ ॥

अर्थ-मूर्त्त तथा अमूर्त्त, मर्त्य तथा अमृत, स्थित=परिच्छिन्न तथा यत्=अपरिच्छिन्न और स=परोक्ष तथा सत्=अपरोक्ष भेद से ब्रह्म के दो रूप हैं॥

तदेतन्मूर्त्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैत-

न्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्यमूर्त्तस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ॥ २ ॥

अर्थ- वायु तथा आकाश से भिन्न पृथिव्यादि तीनों मूर्च्छितावयव=स्थूल होने से मूर्त्त, एकदेश में स्थित रहने से परिच्छिन्न और सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष होने से सत् कहाते हैं, उक्त तीनों रूपों का रस=सारभूत परमात्मा है जिसकी सामर्थ्य से यह सूर्य्यलोक चमकता है ।

अथाऽमूर्त्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं तस्यैतस्याऽमूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम् ॥ ३ ॥

अर्थ-वायु तथा आकाश यह दोनों ब्रह्म के रूप अमूर्त्त हैं अर्थात् उक्त पृथिव्यादि तीनों की भांति न स्थूल, न प्रत्यक्ष और न परिच्छिन्न हैं, और महाकल्पस्थायी होने के कारण "अमृत" कहाते हैं, इन रूपों का सारभूत वही परमात्मा है जो सम्पूर्ण विराट् में देदीप्यमान होरहा है, यह उसका अधिदैवतरूप है ।

सं०-अब ब्रह्म का आध्यात्मिक रूप कथन करते हैं:—

अथाध्यात्मम्, इदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणा-

च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत् तस्यैतस्य मूर्त्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः ॥ ४ ॥

अर्थ–इस शरीर के भीतर श्वास प्रश्वासरूप प्राणवायु तथा हृदयाकाश से भिन्न जो शरीर के आरम्भक पृथिव्यादि तीनों भूत वह मूर्त्त होने से मर्त्य, स्थित और सत् कहाते हैं, इन तीनो रूपों का सारभूत वही परमात्मा है जिसकी सत्ता से चक्षुरिन्द्रिय रूप का प्रकाशक होता है ॥

अथामूर्त्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्त्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येषरसः ॥ ५ ॥

अर्थ–और जो शरीर के भीतर प्राण तथा अन्तराकाश है वह परमात्मा का अमूर्त्तरूप है जो पृथिव्यादि की भांति विकारी न होने से "अमृत" और प्रत्यक्ष उपलब्ध न होने के कारण " त्य " नाम से प्रसिद्ध है, उक्त त्रिविध अमूर्त्तरूपों का सारभूत परमात्मा ही है और जो दक्षिण अक्षि में पुरुष दृष्टि-

गत होता है उसका भी सारभूत परमात्मा ही है, और यही शरीर के भीतर उसका आध्यात्मिक रूप है ॥

सं०-अब उपसंहार में उक्त द्विविध रूपों से भिन्न ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करते हैं:—

यथा माहारजनं वासो यथा पाण्डवाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथापुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तꣳसकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेद, अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयꣳसत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ ६ ॥

अर्थ-जिसप्रकार माहारजन=केसर से रंगा हुआ वस्त्र, आविक=आवी वर्णवाला ऊन का वस्त्र, अग्नि के चिनगारे तथा जिसप्रकार कमल खिला होता है और जैसे बिजुली चारो ओर चमकती है इसीप्रकार यह ब्रह्माण्ड उस पुरुष का रूप है जो नाना प्रकार से देदीप्यमान होरहा है और यह सब पंचभूतों का कार्य्य है, जो परिणामी होने से व्यावहारिक सत्य है, यह ब्रह्म का स्वरूपभूत सत्य नहीं किन्तु ज्ञापक होने से उसका रूप कहाता है, जिस ब्रह्म का यह रूप ज्ञापक है वही निरवधिकातिशय कल्याणगुणाकर ब्रह्म है और वही सत्य का सत्य है, निश्चयकरके प्राणों को सत्य कहते हैं परन्तु उनके मध्य भी

वास्तव में यही ब्रह्म सत्य है, जो उपासक इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप को जानता है वह विद्युत् की भांति देदीप्यमान तथा श्रीमान् होता है॥

भाष्य-रूप्यते ज्ञाप्यते येनारूपं परंब्रह्म इति तद्रूपं पंचभूतात्मकं मूर्त्तामूर्त्तम् "=जिससे रूप रहित ब्रह्म का ज्ञापन कियाजाय उसका नाम "रूप" है, और वह पंचभू-तात्मक रूप मूर्त्त तथा अमूर्त्त भेद से दो प्रकार का है अर्थात् पृथिवी, जल तथा तेज यह तीनों मूर्त्त और वायु तथा आकाश यह दोनों अमूर्त्त हैं, और यह सारा ब्रह्माण्ड इन्हीं पांच भूतों का कार्य्य है, ब्रह्म के आश्रित होने और कार्य्यरूप में परिणत हो-कर ब्रह्म का बोधन कराने से यह पांचों भूत उसका रूप कहाते हैं स्वरूप से नहीं और इनके परिणामी होने पर भी एकरस बना रहने से ब्रह्म को इनका रस=सारभूत कथन कियागया है, और जो उपसंहार में दृष्टान्त कथन किये गये हैं उनका आशय यह है कि जिसप्रकार केसर आदि में रंगा हुआ वस्त्र देदीप्यमान होकर रंगने वाले की निपुणता को बोधन करता है इसीप्रकार विचित्र रचनावाला यह पंचभूतात्मक ब्रह्माण्ड जगत्कर्त्ता ब्रह्म की महिमा का बोधन करता है, इसीप्रकार अन्य दृष्टान्त भी जानने चाहियें, यह पंचभूत व्यावहारिक सत्य हैं, क्योंकि उसी ब्रह्म के आश्रित होकर जगत् को उत्पन्न करते हैं और इन पांचों के मध्य ब्रह्म सत्स्वरूप है, जैसाकि "प्रकृतैता-वत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः" ब्र० सू० ३। २। २२ में पृथिव्यादि भूतों का निषेधकरके

एकमात्र ब्रह्म का ही सत्स्वरूप वर्णन किया गया है, जो उपासक इस प्रकार ब्रह्म को जानता है वह सब सम्पत्ति से सम्पन्न होकर सुख भोगता है।

इति तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ चतुर्थं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब संन्यास को ब्रह्मप्राप्ति का साधन कथन करने के लिये मैत्रेयी ब्राह्मण का प्रारम्भ करते हैं :—

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरे अहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥ १ ॥

अर्थ—याज्ञवल्क्य जब संन्यास आश्रम में जाने लगे तब उन्होंने मैत्रेयी को कहा कि हे मैत्रेयी ! मैं इस गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यास धारण करना चाहता हूं, इसलिये मेरा विचार है कि मैं सम्पूर्ण धन तुम्हे और कात्यायनी को बांटकर देजाऊं॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवि-

तꣳस्यादमृतत्वस्य तु नाशास्तिवित्तेनेति।२।

अर्थ-तब मैत्रेयी ने कहा कि हे भगवन् ! यदि सम्पूर्ण पृथिवी धन से पूर्ण हो तो क्या मैं उससे अमृत=मोक्ष लाभ करसक्ती हूं ? याज्ञवल्क्य ने कहा नहीं, जिसप्रकार प्राकृत पुरुषों का जीवन होता है उसी प्रकार का तेरा होगा, क्योंकि धन से मोक्ष कदापि प्राप्त नहीं होता।

स होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥ ३ ॥

अर्थ-मैत्रेयी ने कहा कि जिससे मैं अमृत को प्राप्त नहीं होसक्ती उस धन से मेरा क्या प्रयोजन, कृपाकरके मेरे लिये भी वही साधन बतलावें जिससे मेरी मुक्ति हो ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषसे एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ४ ॥

अर्थ-तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि तू हमें वास्तव में प्रिय है, क्योंकि प्रिय कथन करती है, आओ बैठजाओ मैं तुम्हारे लिये मुक्ति का साधन कथन करता हूं तुम मेरे कथन को ध्यानपूर्वक सुनो ॥

स होवाच नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । नवा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । नवा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । नवा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति ! नवा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । नवा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । नवा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । नवा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । नवा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रिया-

णि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वंविदितम् ॥ ५ ॥

अर्थ–याज्ञवल्क्य बोले कि हे मैत्रेयि ! पति की कामना के लिये पति प्रिय नहीं किन्तु आत्मा की कामना के लिये पति प्रिय होता है, स्त्री की कामना के लिये स्त्री प्रिय नहीं किन्तु आत्मा की कामना के लिये स्त्री प्रिय होती है, पुत्रों के लिये पुत्र प्रिय नहीं किन्तु अपनेही लिये पुत्र प्रिय होते हैं, धन के लिये धन प्रिय नहीं किन्तु आत्मा के लिये ही धन प्रिय होता है, ब्रह्म=ब्राह्मणत्व की कामना के लिये ब्रह्म प्रिय नहीं किन्तु अपने ही लिये ब्रह्म प्रिय होता है,क्षत्रित्व की कामना के लिये क्षत्र=क्षत्रिय जाति का कर्म प्रिय नहीं होता आपितु अपने ही लिये प्रिय होता है लोकों की कामना के लिये लोक प्रिय नहीं किन्तु अपनी कामना के लिये लोक प्रिय होते हैं, देवों की कामना के लिये देव प्रिय नहीं अपितु अपनी कामना के लिये देव प्रिय होते हैं, भूतों की कामना के लिये भूत प्रिय नहीं किन्तु अपनी ही कामना के

लिये भूत प्रिय होते हैं, सब की कामना के लिये सब पदार्थ प्रिय नहीं किन्तु अपने ही लिये सब प्रिय होते हैं, इसलिये हे मैत्रेयी ! आत्मा ही द्रष्टव्य=तत्वज्ञान द्वारा साक्षात्कार करने योग्य, श्रोतव्य=श्रुति वाक्यों से श्रवण करने योग्य, मन्तव्य=वेदाविरोधि तर्कों से मननकरने योग्य, और निदिध्यासितव्य=चित्तवृत्ति-निरोधद्वारा वारंवार अभ्यास करने योग्य है, हे मैत्रेयी ! निश्चय करके आत्मा के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा उत्पन्न हुए विज्ञान से ही सब कुछ जाना जाता है ।

सं०-अब ब्रह्म से पृथक् देखने वालों की निन्दा कथन करते हैं ।

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्मवेद क्षत्रं तं परादाद्योन्यत्रात्मन क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि तं परादुर्योन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानि इद ँ सर्वं यदयमात्मा ॥ ६ ॥

अर्थ जो आत्मा से पृथक् ब्रह्म=ब्राह्मण जाति को क्षत्र=क्षत्रिय जाति को मानता है उसको उक्त दोनों ही ब्रह्म से दूर अर्थात् ब्रह्मानन्द से वञ्चित रखते हैं इसीप्रकार जो लोकों, देवों तथा भूतों को आत्मा से पृथक् जानता है उसका लोक, देव तथा भूत सर्वदा ही ब्रह्मानन्द से पृथक् रखते हैं, हे मैत्रेयि ! निश्चयकरके ब्रह्म, क्षत्र, लोक, देव तथा भूत यह सब आत्मा=ब्रह्म के आश्रित हैं, क्योंकि सब उसी की सत्ता से देदीप्यमान होते और उसीके आनन्द से प्रिय लगते हैं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में दृष्टान्त कथन करते हैं:-

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न वाह्याञ् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ७ ॥

अर्थ-जिसप्रकार दुन्दुभि के ताड़न करने पर वाह्य शब्द नहीं सुनेजाते किन्तु दुन्दुभि के शब्द के ग्रहण से ही वाह्य शब्दों का ग्रहण होता है ॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न वाह्याञ्श-ब्दाञ् शक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः॥८॥

अर्थ-जिसप्रकार शंखध्वनि के होने पर वाह्य शब्द नहीं

सुनेजाते किन्तु शंखध्वनि के ग्रहण से ही वाह्य शब्दों का ग्रहण होता है ॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न वाह्याञ् शब्दाञ् शक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥९॥

अर्थ—जिसप्रकार वीणा के बजने पर और शब्द नहीं सुनेजाते किन्तु वीणा के शब्द से ही अन्य शब्दों का ग्रहण होता है, इसी प्रकार ब्रह्म की सत्ता से ही सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं, या यों कहो कि जिसप्रकार शब्दों के मंद, तीव्र तथा पटु आदि भेद शब्दसामान्य से पृथक् नहीं होते इसीप्रकार पदार्थमात्र की सत्ता ब्रह्म के अन्तर्गत है अर्थात् ब्रह्माश्रित होने से ही सब पदार्थों की प्रतीति होती है अन्यथा नहीं ।

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निश्वसितानि ॥ १० ॥

अर्थ–जिसप्रकार गीली लकड़ियों की अग्नि से नाना प्रकार के धूम और चिनगारे निकलते हैं इसीप्रकार हे मैत्रेयि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्यायें उपनिषदें, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान यह सब उसी परमात्मा के निश्वासभूत हैं ॥

स यथा सर्वासामपा᳭समुद्रमेकायनमेव᳭सर्वेषा᳭स्पर्शानां त्वगेकायनमेव᳭सर्वेषां गन्धांनां नासिके एकायनमेव᳭सर्वेषा᳭ँ रसानां जिह्वैकायनमेव᳭सर्वेषा᳭ रूपाणां चक्षुरेकायनमेव᳭ँ सर्वेषा᳭ँ शब्दानां श्रोत्रमेकायनमेव᳭ँ सर्वेषां संकल्पानां मन एकायनमेव᳭ँ सर्वासां विद्याना᳭ँ हृदयमेकायनमेव᳭ँ सर्वेषां कर्मणा᳭ँ हस्तावेकायनमेव᳭ँ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेव᳭ँ सर्वेषां विसर्गाणां वायुरेकायनमेव᳭सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेव᳭ँ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ ११ ॥

अर्थ–जिसप्रकार सब जलों का एक समुद्र ही आश्रय होता है और सब स्पर्शों का एक त्वक्, सब रसों का एक जिह्वा, सब गन्धों का एक घ्राण, सब रूपों का एक चक्षु, सब शब्दों का एक

श्रोत्र, सब सङ्कल्पों का एकमन, सब विद्याओं का एकहृदय= बुद्धि, सब कर्मों का हस्त सब आनन्दों का एकउपस्थ, सब मलों के साग का एकपायु सब मार्गों का पाद और सब वेदों का एक बाणी आश्रय होता है,इसीप्रकार सम्पूर्णपदार्थोंका एकमात्र आश्रयपरमात्मा ही है ॥

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेवस्यात् यतो यतस्त्वाददीत लवणमेव एवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीतिहोवाचयाज्ञवल्क्यः १२

अर्थ-जिसप्रकार लवण को पानी में डालने से वह जलमय होजाता है और फिर उसको पृथक् नहीं करसक्ते किन्तु जल के चारो ओर लवण ही लवण होता है इसीप्रकार हे मैत्रेयि ! यह महद्भूत ब्रह्म=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एकमात्र विज्ञानघन= परमात्मा के ही आश्रित है अर्थात् यह सब ओर से उसी की सत्ता में विराजमान है और इन्हीं महाभूतों से उत्पन्न होकर इन्हीं में लय होकर परमात्मा के आश्रित रहता है, या यों कहो कि कारणावस्था को प्राप्त होकर ब्रह्म के ही आश्रित रहता है और इस अवस्था में कोई नाम रूपात्मक संज्ञा नहीं रहती, इसप्रकार

याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के प्रति कथन किया ॥

सं०–अब मैत्रेयी कथन करती है:—

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्नप्रेत्य संज्ञास्तीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अरे इदं विज्ञानाय॥ १३ ॥

अर्थ–तब मैत्रेयी ने कहा कि हे भगवन् ! इस कथन से आप मुझे मोहित न करें कि नामरूपात्मक कोई संज्ञा नहीं रहती, फिर याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे मैत्रेयि ! मैंने यथार्थ कहा है उसके जानने के लिये इतना ही जानना पर्य्याप्त है ॥

सं०–अब उपसंहार में ब्रह्म के सजातीय तथा स्वगत भेद का निषेध करते हुए उसकी दुर्विज्ञेयता कथन करते हैं:—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतर᳭ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति, यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कᳯ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वी-

त तत्केन कं विजानीयात् येनेद ँ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥ १४ ॥

अर्थ–जहां द्वैत होता है वहां दूसरा दूसरे को सूंघता, दूसरा दूसरे को देखता, दूसरा दूसरे को सुनता, दूसरा दूसरे को कथन करता, दूसरा दूसरे का मनन करता और दूसरा दूसरे को जानता है पर जहां इसका सब अपना आप ही है वहां कौन किसको सूंघे, कौन किसको देखे, कौन किसको सुने, कौन किसको कथन करे, कौन किसको मनन करे और कौन किसको जाने, जिस की सत्ता से पुरुष सब को जानता है उसको किससे जाने, हे मैत्रेयि ! जो सबका विज्ञाता है उसको किससे जाने।

भाष्य–इस ब्राह्मण का आशय यह है कि परमात्मा की प्रियता से ही सब पदार्थ प्रिय प्रतीत होते हैं वस्तुतः किसी पदार्थ में स्वयं प्रियता नहीं, और प्राणीमात्र को यह अभिलाषा बनी रहती है कि मुझको निरतिशय आनन्द की प्राप्ति हो परन्तु वह जब तक सांसारिक विषयों से विरक्त नहीं होता, या यों कहो कि जब तक संन्यास ग्रहण नहीं करता तबतक उसको ब्रह्मरूप निरातिशय आनन्द की प्राप्ति नहीं होसक्ती, इसी अभिप्राय से आगे वर्णन किया है कि:—

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥

अर्थ-जब पुरुष यह निश्चय करलेता है कि एकमात्र ब्रह्म ही उपादेय है तब वह सब वासनाओं का त्याग करदेता है और ऐसा करने के कारण शरीर के दुःख से दुखी नहीं होता, यही समझ कर याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के प्रति संन्यास की अभिलाषा प्रकट करते हुए कथन किया कि एकमात्र ब्रह्म ही प्रिय है अन्य पुत्रादि सांसारिक पदार्थ प्रिय नहीं और यह भी कहा कि यह सब चराचर प्रपंच उसी परमात्मा की सत्ता के आश्रित रहता है अर्थात् दुन्दुभि आदि दृष्टान्तों से यह भलेप्रकार दर्शाया कि परमात्मा की सत्ता के सामने जगत् की सत्ता तुच्छ है, और लवण के दृष्टान्त से इसी भाव को इस प्रकार स्फुट किया कि जैसे लवण घुलकर जलमय होने पर भी जिधर से ग्रहण कियाजाय लवण ही लवण प्रतीत होता है इसी प्रकार इस चराचर प्रपंच के भीतर व्यापक होने से चहुंदिश परमात्मा ही परमात्मा दृष्टिगत होता है, इसी अभिप्राय से कहा है किः—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ मुण्ड० २।२।११

अर्थ-वही अमृत=आनन्दस्वरूप परमात्मा पूर्व की ओर वही पश्चिम की ओर वही उत्तर की ओर वही दक्षिण की ओर है, वही नीचे और वही ऊपर सर्वत्र फैला हुआ है, इसलिये यह चराचर प्रपंच उसी के आश्रित होने से ब्रह्म ही ब्रह्म है, इस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करते हुए उपसंहार में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा कि हे मैत्रेयी ! वह ब्रह्म एकमात्र अद्वितीय

है अर्थात् उसके समान दूसरा कोई नहीं, और उसी की सत्ता से जीव शब्दादि विषयों को जानते तथा मनन करते और वही सब का पूर्ण ज्ञाता है, वह दुर्विज्ञेय होने के कारण किसी से नहीं जानाजाता अर्थात् किसी लौकिक साधन द्वारा प्राप्त नहीं होसक्ता, इसलिये हे मैत्रेयि ! श्रवणादिक ही उसकी प्राप्ति के साधन हैं जिनको पीछे कथन कर आये हैं, इसी अभिप्राय से कठ० १ । २ । २३ में वर्णन किया है किः—

नाविरतो दुश्चरितान्नाऽशान्तो नाऽसमाहितः ।
नाशान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

अर्थ—जो शमदमादि साधन सम्पन्न नहीं अर्थात् जिसका चित्त सांसारिक विषयों में लिप्त है वह ब्रह्म को कदापि प्राप्त नहीं होसक्ता किन्तु श्रवण मनन द्वारा होने वाले निदिध्यासन रूप ज्ञान से ही उसकी प्राप्ति होती है, और इसी को योगशास्त्र में प्रसंख्यान कहते हैं ॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ पंचमं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब पृथिव्यादिकों को ब्रह्माश्रित कथन करने के लिये मधु ब्राह्मण का प्रारम्भ करते हैः—

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां

पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चाऽयमध्यात्मꣳशारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योयमात्मा इदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १ ॥

अर्थ–यह पृथिवी सब भूतों का मधु=उपकारक है, तथा यह सब भूत पृथिवी के कार्य्य होने से मधु=उपकारक हैं, जो इस पृथिवी में तेजोमय=प्रकाशक, अमृतमय=आनन्दमय पुरुष है वह ब्रह्म है, और जो शरीर में शरीराभिमानी तेजोमय=चेतन स्वरूप अमृतमय=अविनाशी पुरुष है वह उसी ब्रह्म के आश्रित है जो अमृत है, और यह पृथिव्यादि सब ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म हैं।

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ रैतसस्तेजोमयो ऽमृतमयःऽपुरुषोऽयमेव स योयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ २ ॥

अर्थ–यह जल सब भूतों के मधु और सब भूत जल के मधु हैं, और जो जलों में तेजोमय तथा अमृतमय पुरुष है वह ब्रह्म है, और जो शरीर के भीतर पुरुष=जीवात्मा है वह और जल तथा उन के कार्य्य यह सब ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म हैं।

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद ँ सर्वम् ।३।

अर्थ—यह अग्नि सब भूतों का मधु और सब भूत अग्नि के मधु हैं और जो अग्नि में तेजोमय तथा अमृतमय पुरुष है वही ब्रह्म है और जो शरीर में वागिन्द्रिय का अभिमानी तेजोमय, अमृतमय जीवात्मा है वह और अग्न्यादि सब ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म हैं।

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय मस्मिन्वायौ तेजोमयो ऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद ँ सर्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ—यह वायु सब भूतों का मधु और सब भूत वायु के मधु हैं और जो वायु में व्याप्त होकर वायु का नियन्ता तेजोमय अमृतमय पुरुष है वही ब्रह्म है और जो शरीर में घ्राण इन्द्रिय

का अभिमानी तेजोमय, अमृतमय जीवात्मा है वह और वायु आदि सब ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म हैं।

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽदित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद ँ सर्वम् ॥ ५ ॥

अर्थ—यह आदित्य सब भूतों का मधु और सब भूत आदित्य के मधु हैं, और जो आदित्य का नियन्ता तेजोमय अमृतमय पुरुष है वही ब्रह्म है, और जो शरीर में चक्षुरिन्द्रिय का अभिमानी जीवात्मा है वह और सूर्य्यादि सब ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म हैं।

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशा ँ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय मासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्म श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद ँ सर्वम् ॥ ६ ॥

अर्थ–यह दिशा सब भूतों के मधु और सब भूत दिशाओं के मधु हैं, और जो दिशाओं का नियन्ता तेजोमय, अमृतमय पुरुष है वही ब्रह्म है, और जो शरीर में श्रोत्र इन्द्रिय का अभिमानी जीव है वह और दिशादिक सब ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म हैं।

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिꣳश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ७ ॥

अर्थ–यह चन्द्रमा सब भूतों का मधु और सब भूत चन्द्रमा के मधु हैं, और जो चन्द्रमा का नियन्ता तेजोमय अमृतमय पुरुष है वही ब्रह्म है और जो शरीर में मन का अभिमानी जीव है वह और यह चन्द्रमादि सब ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म हैं।

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोमृतमयः पुरुषो ऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं

ब्रह्मेदं ँसर्वम् ॥८॥

अर्थ-यह विद्युत् सब भूतों का मधु और सब भूत बिजुली के मधु हैं और विद्युत् का नियन्ता जो तेजोमय विज्ञानमय पुरुष है वह और जो शरीर में त्वक् इन्द्रिय का अभिमानी जीव और विद्युदादि यह सब ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म हैं।

अय ँ स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्म ँ शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद ँ सर्वम् ॥ ९ ॥

अर्थ-यह स्तनयित्नु=पर्जन्य सब भूतों का मधु और सब भूत पर्जन्य के मधु हैं, और जो पर्जन्य का नियन्ता चेतनमय, अमृतमय पुरुष है वही ब्रह्म है और जो शरीर में शब्द का अभिमानी जीव और पर्जन्यादि यह सब ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म हैं।

अयमाकाशःसर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायम-

स्मिन्नाकाशे तेजोमयोमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं हृद्याकाशस्तेजोमयो मृतमयः पुरुषोयमेव स योयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ १० ॥

अर्थ–यह आकाश सब भूतों का मधु और सब भूत आकाश के लिये मधु हैं, और जो आकाश का नियन्ता तेजोमय, अमृतमय पुरुष है वही ब्रह्म है, और जो शरीर में हृदयाकाशवर्त्ती जीव है वह और आकाशादि सब ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म हैं।

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधुयश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ११ ॥

अर्थ–यह धर्म सब भूतों का मधु और सब भूत धर्म के मधु हैं, और जो धर्म का नियन्ता तेजोमय अमृतमय पुरुष है वही ब्रह्म है, और जो शरीर में धर्मानुष्ठाता जीव है वह और धर्मादिक सब ब्रह्म के आश्रित होने से ब्रह्मरूप हैं।

इदं सत्यं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य

सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायम-
स्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चा-
यमध्यात्म ँ सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयःपु-
रुषोऽयमेव स योयमात्मेदममृतमिदं ब्र-
ह्मेद ँ सर्वम् ॥ १२ ॥

अर्थ-यह सत्य=कारणरूप पृथिव्यादि सब भूतों का मधु और सब भूत सत्य के मधु हैं, और जो सत्य का नियन्ता तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो शरीररूप संघात का अभिमानी जीव है वह और सत्यादि सब ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्मरूप हैं ॥

इदं मानुष ँ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य
मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-
मस्मिन्मानुषे तेजोमयोमृतमयः पुरुषो
यश्चायमध्यात्मं मानुषस्तेजोमयोमृतम-
यः पुरुषोयमेव स योयमात्मेदममृतमिदं
ब्रह्मेद ँ सर्वम् ॥ १३ ॥

अर्थ-यह मानुषादि जाति सब भूतों का मधु और सब भूत मानुषादि जाति के मधु हैं, और जो उक्त जाति का नियन्ता तेजोमय अमृतमय पुरुष है वही ब्रह्म है और मानुषादि जाति

का अभिमानी जीव और उक्त जाति आदि सब ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म हैं ॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद सर्वम् ॥ १४ ॥

अर्थ—यह मानुषादि जातिविशिष्ट आत्मा सब भूतों का मधु और सब भूत उसके लिये मधु हैं और जो उक्त जातिविशिष्ट आत्मा का नियन्ता तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह ब्रह्म है और यह विज्ञानमय आत्मा तथा अन्य सब ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म हैं ॥

सं०—अब परमात्मा को सब भूतों का आधिपति कथन करते हैं :—

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूताना ँ राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौचाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत

आत्मानः समर्पिताः ॥ १५ ॥

अर्थ–निश्चयकरके वही परमात्मा सब भूतों का अधिपति तथा सब का राजा है, क्योंकि जिसप्रकार रथ की नाभी और नेमी में अरे लगे होते हैं इसीप्रकार सब भूत सब देवता, सब लोक, सब प्राण और सब जीव उसी ब्रह्म के आश्रित हैं ॥

सं०–अब उक्त मधुविद्या में प्रमाण कथन करते हैं:—

इदं वै तन्मधुदध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्या-मुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् तद्वां न-रा सनयेदꣳस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतु-र्नवृष्टिम् । दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वाम-श्वस्य शीर्ष्णा प्रयदीमुवाचेति ॥ १६ ॥

अर्थ–इस मधुविद्या को अश्विनी कुमारों के प्रति अथर्व गोत्रोत्पन्न दध्यङ् नाम ऋषि ने इसप्रकार वर्णन किया कि हे अश्विनी कुमारो इस मंत्र में परमात्मा ने स्त्री पुरुष के लिये उपदेश किया है कि जिसप्रकार बादल वर्षा द्वारा शान्ति करता है इसीप्रकार मैं तुम्हारे आत्मलाभ के लिये इस उत्तम कर्म का अविष्कार करता हूं कि ब्रह्मश्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ पुरुष वेद-विद्या से सब भूतों के मधु=प्रिय ब्रह्म का उपदेश करें ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणाश्विभ्या-मुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । आ-

थर्वणायाश्विनादधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्। स वां मधु प्रवोचदृतायन् त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यंवामिति ॥ १७ ॥

अर्थ—हे मिलकर गृहस्थ सम्बन्धी कर्म करने वाले स्त्री पुरुषो ! तुम आत्मज्ञानार्थ ब्रह्मनिष्ठ तथा ब्रह्मश्रोत्रिय पुरुष को प्राप्त होओ, वह अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ तुम्हारे लिये मधुविद्या=परमात्म सम्बन्धी विज्ञान का उपदेश करेगा ॥

सं०—अब मधुविद्या का स्वरूप कथन करते हैं :—

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्,पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति । स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनाऽनावृतं नैनेन किंचनाऽसंवृतम् ॥ १८ ॥

अर्थ—वह परमात्मा द्विपात् तथा चतुष्पात् आदि अनन्त जीवों को उत्पन्न करके अपने जीवरूप आत्माद्वारा मनुष्य शरीर में प्रविष्ट हुआ, इसी पुरुष को सब पुरि=शरीरों में शयन करने के कारण पुरिशय कहते हैं, ऐसा कोई स्थान नहीं जो इससे आच्छादित न हो और न कोई ऐसा स्थान है जहां इसका प्रवेश न हो ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्या-मुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति-चक्षणाय इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश, अयं वै हर-योऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चान-न्तानि च तदेतद्ब्रह्मा ऽपूर्वमनपरमनन्त-रमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनु-शासनम् ॥ १९ ॥

अर्थ–वही परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा प्रत्येक रूप में अपनी सत्ता ख्यापन करने के लिये प्रतिरूप=उस २ रूप के समान हुआ अर्थात् उसने प्रकृति को कार्य्याकार किया, क्योंकि वह परमात्मा इस संसार को अपनी शक्तियों द्वारा अनेक रूपों में परिणत करता है, फिर वह कैसा है अपूर्व=उसका कोई कारण नहीं, अनपर=न उसका कोई कार्य्य है, अनन्तर=वह अन्तर से रहित. अबाह्य=बाह्यदेश से रहित है, वही सर्वान्तर होने से आत्मा और सर्वानुभवी होने से ब्रह्म है, यही वेद का उपदेश है ॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ षष्ठं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब ब्रह्मविद्या के ज्ञाताओं की वंशावली कथन करने के लिये वंश ब्राह्मण का प्रारम्भ करते हैं :—

अथ वꣳशः पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात् पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात् कौशिकः कौण्डिन्यात् कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥

अर्थ—गौपवन से ब्रह्मवादिनी पौतीमाषी के पुत्र पौतीमाष्य ने, पौतीमाष्य से गौपवन ने, कासायनी के पुत्र गौपवन से पौतीमाष्य ने, कौशिकी के पुत्र कौशिक से गौपवन ने, कौण्डिन्य से कौशिक ने, शाण्डिल्य से कौण्डिन्य ने, कौशिक और गौतम से शाण्डिल्य ने ब्रह्मविद्या का अध्ययन किया ॥

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लातो गौतमाद्गौतमः सैतवप्राचीनयोग्याभ्याꣳसैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वा-

जाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्चगौतमाच्चगौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाजः पाराशर्यात्पाराशर्यो बैजवापायनाद्बैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥

अर्थ–आग्निवेश्य से गौतम ने, शाण्डिल्य और आनभिम्लात से आग्निवेश्य ने,आनभिम्लात से आनभिम्लात ने,आनभिम्लात से आनभिम्लात ने, गौतम से आनभिम्लात ने, सैतव औरप्राचीन-योग्य से गौतम ने,पाराशर्य्य सेसैतव और प्राचीनयोग्य ने,भारद्वाज से पाराशर्य्य ने, भारद्वाज और गौतम से भारद्वाज ने, भारद्वाज से गौतम ने,पाराशर्य्य से भारद्वाज ने, बैजवापायन से पाराशर्य्य ने, और कौशिकायनि से बैजवापायन ने ब्रह्मविद्या का अध्ययन किया ॥

घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः पाराशर्या-यणात् पाराशर्यायणः पराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्चयास्का च्चाऽसुरायणस्त्रैवर्णेस्त्रैवर्णि रौपजन्धनेरौप-जन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आ-त्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौ-तमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्या-च्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः का-

पयः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातोबाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणोदैवादथर्वादैवो मृत्योःप्राध्वंसनान्मृत्युः प्रध्वंसनः प्रध्वंसनात्प्रध्वंसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोःसनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनःपरमेष्ठीब्रह्मणोब्रह्मस्वयम्भुब्रह्मणेनमः॥३

अर्थ—घृतकौशिक से कौशिकायनि ने, पाराशर्य्यायण से घृतकौशिक ने, पाराशर्य्य से पाराशर्य्यायण ने, जातूकर्ण्य से पाराशर्य्य ने, आसुरायण और यास्क से जातूकर्ण्य ने, त्रैवार्णि से असुरायण ने, औपजन्धनि से त्रैवर्णि ने आसुरि से औपजन्धनि ने, भारद्वाज से आसुरि ने, आत्रेय से भारद्वाज ने, माण्टि से आत्रेय ने, गौतम से माण्टि ने, गौतम से गौतम ने, वात्स्य से

गौतम ने, शाण्डिल्य से वात्स्य ने, काप्य कैशोर्य्य से शाण्डिल्य ने, कुमारहारित से काप्यकैशोर्य्य ने, गालव से कुमारहारित ने, विदर्भिकौण्डिन्य से गालव ने, बाभ्रववत्सनपाद से विदर्भिकौण्डिन्य ने, सौभर पथि से वत्सनपाद्बाभ्रव ने, अयास्य आङ्गिरस से सौभर पथि ने, आभूतित्वाष्ट्र से अयास्य आङ्गिरस ने, विश्वरूपत्वाष्ट्र से आभूतित्वाष्ट्र ने, अश्विनीकुमारों से विश्वरूपत्वाष्ट्र ने, दध्यङ्ङाथर्वण से अश्विनी कुमारों ने, अथर्वादैव से दध्याङ्ङाथर्वण ने, मृत्यु प्राध्वंसन से अथर्वादैव ने, प्रध्वंसन से मृत्यु प्राध्वंसन ने, एकर्षि से प्रध्वंसन ने, विप्रचित्ति से एकर्षि ने, व्यष्टि से विप्रचित्ति ने, सनारु से व्यष्टि ने, सनातन से सनारु ने, सनग से सनातन ने, परमेष्ठी से सनग ने और ब्रह्मा से परमेष्ठी ने जिस ब्रह्मविद्या को सीखा वह ब्रह्म स्वयम्भू है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
बृहदारण्यकार्य्यभाष्ये
द्वितीयः अध्यायः समाप्तः

अथ तृतीयः अध्यायः प्रारभ्यते

सं०—अब मधु काण्ड में कथन किये हुए अर्थ को आख्यायिका द्वारा स्फुट करते हैं:—

जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुः तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कःस्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति सह गवा ँ सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्या शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥ १ ॥

अर्थ—वैदेह=विदेहवंशीय राजा जनक ने बहु दक्षिणावाला अश्वमेध यज्ञ किया, जिस में कुरु तथा पञ्चाल देश के प्रसिद्ध ब्राह्मण एकत्रित हुए थे, उन ब्राह्मणों को देखकर जनक की इच्छा हुई कि इन में से कौन ब्रह्मनिष्ठ तथा ब्रह्मश्रोत्रिय है जिस से मैं ब्रह्मविद्या को प्राप्त होऊं, इस निमित्त उस ने एक सहस्र गौओं के सींगों पर दश २ पाद *सुवर्ण बांधकर गोशाला में एकत्रित किया ।

ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः

* पल के चतुर्थ भाग का नाम "पाद" है अर्थात् एक पल चार तोले का होता है ।

स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा ३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्राह्मिष्ठोब्रुवीते-त्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्राह्मिष्ठोसी ३ इति स होवाच नमोवयंब्राह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयꣳ स्म इति तꣳ ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताश्वलः ॥ २ ॥

अर्थ–और बोला कि हे ब्राह्मणो ! आप के मध्य जो भले प्रकार ब्रह्मश्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ है वह इन गौओं को हांक ले जाय, यह सुनकर उन ब्राह्मणों में से किसी का साहस न हुआ कि गौओं को हांके तब याज्ञवल्क्य अपने शिष्य सामश्रवा से बोले कि हे शिष्य ! तू इन गौओं को हांक, यह सुन कर वह गौओं को हांककर लेचला तब अन्य सब ब्राह्मण कुपित होकर बोले कि हमारे मध्य यही अपने को कैसे ब्रह्मनिष्ठ कहसकता है, यह अवस्था देखकर जनक का प्रसिद्ध "अश्वल" नामा होता क्रुद्ध होकर बोला कि हे याज्ञवल्क्य ! हमारे सन्मुख तू अपने को कैसे ब्रह्मिष्ठ कहसकता है तब याज्ञवल्क्य बड़ी शान्ति से बोले कि "नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मः"=मैं ब्रह्मनिष्ठ के प्रति नम-

स्कार करता हूं, मेरी इच्छा तो केवल गौओं के लेने की थी, यह सुनकर उसी समय अश्वल प्रश्न करने को उद्यत होगया ।

सं०—अब अश्वल याज्ञवल्क्य के प्रति प्रश्न करता है:—

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिद ँ सर्वं मृत्युनाऽऽप्त ँ सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति,होत्रर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक् सोयमग्निः स होता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ३ ॥

अर्थ—हे याज्ञवल्क्य ! जो यह सब जिस मृत्यु से व्याप्त और ग्रस्त है उस मृत्यु से यजमान किस साधन द्वारा मुक्त होता है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि ऋत्विजरूप होता तथा बाणी रूप अग्नि द्वारा यजमान मृत्यु से अतिक्रमण करजाता है, निश्चय करके यजमान की बाणी ही होता और वही यज्ञ सम्बन्धी अर्थ का प्रकाशक होने से अग्नि है, अर्थात् जब यजमान ऋत्विज् द्वारा, अग्नि होत्रादि कर्मों को करता कराता है तभी से वह मृत्यु को जीत लेता है, इस प्रकार उक्त कर्मों का पूर्ण करना ही "मुक्ति" और वही मोक्ष का साधन होने से "अतिमुक्ति" है ।

सं०—अब अश्वल फिर प्रश्न करता है:—

याज्ञवल्क्येतिहोवाच यदिद ँ सर्वमहोरात्राभ्यामाप्त ँ सर्वमहोरात्राभ्यामभि-

**पन्नं केन यजमानो ऽहोरात्रयोराप्तिमति-
मुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषादित्येन
चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽ
सावादित्यः सोध्वर्युः सा मुक्तिः साति-
मुक्तिः ॥ ४ ॥**

अर्थ–अश्वल बोला कि हे याज्ञवल्क्य ? जिस अहोरात्र से यह व्याप्त और ग्रस्त है उस को यजमान किस प्रकार अतिक्रमण कर सकता है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि अध्वर्युरूप ऋत्विज् और चक्षुरूप आदित्य से यजमान अहोरात्र का अतिक्रमण करता है, निश्चय कर के यजमान का चक्षु ही अध्वर्यु है, क्योंकि उसी से यजमान यज्ञसम्बन्धी सामग्री का यथावत् आलोचन कर के अध्वर्यु नामक ऋत्विक् को यज्ञ में लगाता है और यही यजमान का चक्षुः यज्ञसम्बन्धी कर्म का दर्शक होने से आदित्य है, इस प्रकार जो यजमान यज्ञ की सामग्री और उस के यथावत् व्यवहार में साक्षी रहता है वही अहोरात्र का अतिक्रमण कर सकता है, या यों कहो कि ऐसे यजमान के दिन और रात्रि कभी व्यर्थ नहीं जाते और उस यज्ञ का पूर्ण करलेना ही उस की "मुक्ति" तथा "अतिमुक्ति" है ।

सं०–अब अश्वल फिर प्रश्न करता है:–

**याज्ञवल्क्येतिहोवाच यदिदँ सर्वं पूर्व-
पक्षापरपक्षाभ्यामाप्तँ सर्वं पूर्वपक्षापर-**

पक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इत्युदगात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥ ५ ॥

अर्थ– अश्वल बोला कि हे याज्ञवल्क्य ! जो यह शुक्ल और कृष्णपक्ष से व्याप्त तथा ग्रस्त है, इन दोनों पक्षों को यजमान किस साधन द्वारा अतिक्रमण करसक्ता है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि उद्गातारूप ऋत्विज् और प्राणरूप वायु से यजमान दोनों पक्षों को जीत लेता है, निश्चय करके यजमान का प्राण ही उद्गाता और वही वायु है अर्थात् जो यजमान उद्गाता=सामगान करने वाले ऋत्विक् को प्राण समान समझकर दर्शपौर्णमासादि उभयपक्ष सम्बन्धी यज्ञों को पूर्ण करता है वही दोनों पक्षों का अतिक्रमण करजाता है और यही उसके लिये "मुक्ति" तथा "अतिमुक्ति" है ।

सं०–अब अश्वल फिर प्रश्न करता है:—

याज्ञवल्क्येतिहोवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा

तद्यदिदं मनः सोऽसौचन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः सातिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ संपदः ॥ ६ ॥

अर्थ-हे याज्ञवल्क्य ! जो यह प्रसिद्ध आकाश निरालम्बन सा प्रतीत होता है उसको यजमान किस आधार द्वारा प्राप्त होसक्ता है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि ब्रह्मारूप ऋत्विक् और मनरूप चन्द्रमा द्वारा यजमान आकाश=स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है, निश्चय करके यजमान का मन ही ब्रह्मा है, जिसको यज्ञ की समाप्ति होने पर आल्हादित होने से चन्द्रमा कहाजाता है अर्थात् जो यजमान प्रसन्नचित्त होकर ब्रह्माद्वारा यज्ञ को समाप्त कराता है वही स्वर्गलोक=उत्तमगति को प्राप्त होता है, यही उसके लिये "मुक्ति" तथा "अतिमुक्ति" है।

भाष्य-एक समय राजा जनक ने एक बृहद् यज्ञ किया जिसमें कुरु तथा पञ्चाल देश के मुख्य २ ब्राह्मणों को निमंत्रित करके यज्ञ में सम्मिलित कर कहा कि जो आप लोगों में ब्रह्म-वेत्ता और ब्रह्मश्रोत्रिय है वह इन सुवर्णभूषित एक सहस्र गौओं को हांक लेजाय, जनक के इस प्रकार कथन करने पर कोई भी गौओं को हांकने के लिये समर्थ न हुआ, क्योंकि वहां पर किसी ने भी अपने को पूर्ण ब्रह्मवित् न पाया तब याज्ञवल्क्य ने बड़े साहसपूर्वक अपने शिष्य सामश्रवा को आज्ञा दी कि तुम इन गौओं को हांक कर लेचलो, उसके हांकने पर क्षुब्ध होकर अश्वल ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! हमारे सन्मुख तू ब्रह्म-

वित् होने का अभिमान करता है, तब याज्ञवल्क्य ने बड़ी नम्रतापूर्वक उत्तर दिया जैसाकि ब्रह्मवेत्ता शान्तस्वभाव सम्पन्न को देना चाहिये, फिर अश्वल ने प्रश्न किये जिनका समाधान याज्ञवल्क्य ने बड़ी योग्यता से किया अर्थात् अश्वल का यह प्रश्न कि यजमान किस प्रकार मृत्यु का अतिक्रमण कर स्वर्ग लोक को प्राप्त होसक्ता है, या यों कहो कि यजमान मुक्त तथा अतिमुक्त कैसे होसक्ता है ? इस भाव को स्फुट करने के लिये अश्वल ने प्रथम चार प्रश्न किये जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं, उनका समाधान याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार किया कि जो यजमान अग्निहोत्रादि कर्मों को विधिपूर्वक समाप्त करता है वही स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है और उन कर्मों का पूर्ण करना ही यजमान के लिये मुक्ति तथा अतिमुक्ति=कृतकृत्य होना है, जैसाकि इसी प्रकरण में वार्तिककार "सुरेश्वराचार्य्य" ने कथन किया है कि:-

प्रयोग समवाय्येव द्रव्यकर्त्रादि साधनम् ।
तत्प्रयोगावसाने च सर्वं तदपवृज्यते ॥

अर्थ-यज्ञ सम्बन्धी द्रव्य तथा होता आदि ऋत्विजों द्वारा यज्ञ को समाप्त करना ही यजमान के लिये "मुक्ति" तथा "अतिमुक्ति" है

यहां पर मायावादियों का यह कथन कि होता आदि ऋत्विजों का वाणी आदि में जो अग्नि आदि की दृष्टि करना है वही यजमान की मुक्ति तथा अतिमुक्ति है, सो ठीक नहीं, क्योंकि केवल दृष्टिमात्र का करना ही मृत्यु से अतिक्रमण का साधन नहीं किन्तु उन कर्मों को यथाविधि अनुष्ठान करके ही यजमान मुक्तिलाभ कर सक्ता है अन्यथा नहीं, जैसाकि:—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुं मर्हसि ॥

गी० ३ । २०

अर्थ–कर्मों के अनुष्ठान द्वारा ही जनकादि सिद्धि को प्राप्त हुए, इसलिये हे अर्जुन ! लोक मर्य्यादा के स्थिर रखने के लिये तुमको यथाधिकार कर्म करने चाहियें।

सं०–अब अश्वल सम्पत्कर्म विषयक प्रश्न करता हैः—

याज्ञवल्क्येतिहोवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होताऽस्मिन्यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति ॥ ७ ॥

अर्थ–हे याज्ञवल्क्य ! इस अश्वमेध यज्ञ में कितनी ऋचाओं से होता को शंसन नामक स्तुति करनी चाहिये ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि तीन ऋचाओं से, फिर अश्वल ने प्रश्न किया कि उन तीनों ऋचाओं के क्या २ नाम हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा कि पुरोनुवाक्या, दूसरी याज्या और तीसरी शस्या नामक ऋचा है अर्थात् "प्रयोगकालात्प्राक् या ऋचः प्रयुज्यन्ते ता पुरोनुवाक्या इत्युच्यन्ते"=कर्मानुष्ठान से पूर्व जिन ऋचाओं का प्रयोग किया जाता है उनका नाम "पुरोनुवाक्या" तथा "यागार्थं याः प्रयुज्यन्ते ता

याज्याः"=अग्निहोत्रादि कर्मों में जिनका प्रयोग किया जाय उनका नाम "याज्या" और "शस्त्रार्थं याः प्रयुज्यन्ते ताः शस्याः"=शंसनात्मक कर्मके लिये जिनका प्रयोग किया जाय उनका नाम "शस्या" है, यह तीन प्रकार की ऋग् जातियें कहलातीं हैं, अश्वल ने फिर पूछा कि इन ऋचाओं से यजमान किसको जीत लेता है याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि यह जो कुछ संसार में चराचर दृश्य है इस सब को वशीभूत करलेता है अर्थात् इन्हीं ऋचाओं से यजमान सम्पूर्ण फलों को प्राप्त होसक्ता है।

सं०-अब अश्वल फिर प्रश्न करता है:—

याज्ञवल्क्येतिहोवाच कत्ययमद्याध्वर्यु-रस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या हुता उज्ज्वल-न्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधि-शेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्व-लन्ति देवलोकमेवताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेवताभिर्जयतीव हि पितृलो-को या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेवता-भिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥ ८ ॥

अर्थ-अश्वल ने प्रश्न किया कि हे याज्ञवल्क्य ! आज इस यज्ञ में अध्वर्यु कितने प्रकार की आहुतियों से होम करेगा ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि तीन प्रकार की आहुतियों से फिर अश्वल ने पूछा कि वह कौन आहुतियें हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि प्रथम "समिधाज्याहुति" जिससे अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है दूसरी "माषादि" मांसल द्रव्यों की आहुति और तीसरी "सोम" तथा "पय" आदिकों की आहुति है, अश्वल ने फिर प्रश्न किया कि इन आहुतियों से यजमान किसको जीतता है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि प्रथमाहुति से देवलोक को, द्वितीयाहुति से पितृलोक को और तृतीयाहुति से मनुष्य लोक को जय करता है अर्थात् प्राप्त होता है।

सं०-अब अश्वल फिर प्रश्न करता है:—

याज्ञवल्क्येतिहोवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥९॥

अर्थ-अश्वल ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! ब्रह्मा नामक होता आहवनीय अग्नि के दक्षिण ओर आसन पर बैठकर कितने देवताओं से यज्ञ की रक्षा करता है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि एक देवता से, फिर अश्वल ने पूछा कि वह एक देवता कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा कि वह मन है, निश्चय करके

मन अनन्त वृत्तियों वाला होने से अनन्त कहाता है और उसकी नानावृत्तियें हीं विश्वेदेव हैं, जो इस प्रकार मन को अनन्त जानता है वह इस लोक को जीत लेता है अर्थात् जब ब्रह्मा मन की वृत्तियों को एकाग्र करके आहवनीयाग्नि में यज्ञ कर्म को पूर्ण करता है तभी यज्ञ की रक्षा होसक्ती है अन्यथा नहीं।

सं०–अब अश्वल फिर प्रश्न करता है:—

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन्यज्ञेस्तोत्रियाः स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकं शस्यया ततो ह होताऽश्वल उपरराम ॥ १० ॥

अर्थ–अश्वल ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! आज इस यज्ञ में उद्गाता नामक ऋत्विक् कितनी स्तोत्रिय नामक ऋचाओं से स्तवन करेगा? याज्ञवल्क्य ने कहा कि तीन ऋचाओं से अश्वल ने पूछा कि वह तीन ऋचायें कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा कि

वही पूर्वोक्त अधियज्ञ=यज्ञ में होनेवाली पुरोनुवाक्या, याज्या और शस्या नामक तीन प्रकार की ऋचा हैं, तब अश्वल ने कहा कि फिर वह अध्यात्मरूप से कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि प्राण ही पुरोनुवाक्या है, क्योंकि पुरोनुवाक्या और प्राण में "प" शब्द की समानता पाईजाती है, तथा अपान ही याज्या है, क्योंकि जिस प्रकार पुरोनुवाक्या के पश्चात् याज्या होती है इसी प्रकार प्राण के पीछे अपान होता है, व्यान नामक प्राण ही शस्या है, क्योंकि श्रुति में प्राण तथा अपान के विना शंसन करने की आज्ञा है अर्थात् पुरोनुवाक्या और याज्या के अनन्तर शस्या का विधान है, इस प्रकार यजमान पुरोनुवाक्या से पृथिवी लोक, याज्या से अन्तरिक्ष लोक और शस्या से द्युलोक को जय करता है, या यों कहो कि अध्यात्म= पूरक, कुम्भक तथा रेचक इन तीनों प्रकार के प्राणायाम से यजमान को सब भुवनों का साक्षात्कार होजाता है, और चिर-काल में समाप्त होने वाले अश्वमेधादि बृहत् कर्मों की भांति अधिक फल देने वाला समझकर पुरोनुवाक्यादि द्वारा अल्पकाल में समाप्त होने वाले अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान करना ही "सम्पत्कर्म" कहाता है, यह सुनकर अश्वल चुप होगया ॥

इति प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ द्वितीयं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब "आर्तभाग" नामक होता प्रश्न करता है :—

अथ हैनं जारात्कारव आर्त्तभागः प-

प्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति, अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमेत इति ॥ १ ॥

अर्थ—अश्वल के चुप होने पर जारत्कारव=जरत्कारु गोत्रोत्पन्न "ऋतभाग" के पुत्र आर्तभागने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य ! कितने ग्रह और कितने अतिग्रह हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं, आर्तभाग ने कहा कि वह कौन ?

सं०—अब याज्ञवल्क्य कथन करते हैं:—

प्राणो वै ग्रहः सोपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धान् जिघ्रति ॥ २ ॥

अर्थ—निश्चयकरके घ्राण इन्द्रिय ही ग्रह है जो अपान= अन्तःश्वासरूप अतिग्रह से गृहीत है, क्योंकि यह जीव अन्तःश्वास लेता हुआ घ्राण द्वारा सूंघता है ॥

वाग्वैग्रहः स नाम्नातिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥ ३ ॥

अर्थ—निश्चयकरके बाणी ही ग्रह है जो नामरूप अतिग्रह से मिली हुई है, क्योंकि यह जीव बाणी से ही बोलता है ॥

जिह्वा वै ग्रहः सरसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ॥४॥

अर्थ–निश्चयकरके रसना इन्द्रिय ही ग्रह है जो रसरूप अतिग्रह से जकड़ा हुआ है, क्योंकि यह जीव इसी से रस लेता है ॥

चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतः चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥ ५ ॥

अर्थ–निश्चयकरके चक्षुरिन्द्रिय ही ग्रह है जो रूपनामक अतिग्रह से पकड़ा हुआ है, क्योंकि यह जीव इसी से देखता है ॥

श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दान् शृणोति ॥ ६ ॥

अर्थ–निश्चयकरके श्रोत्र इन्द्रिय ही ग्रह है जो शब्द नामक अतिग्रह से गृहीत है, क्योंकि यह जीव इसी से सुनता है ॥

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते ॥ ७ ॥

अर्थ–निश्चयकरके मन ही ग्रह है जो काम=विषयवासना नामक अतिग्रह से गृहीत है, क्योंकि यह जीव मन से ही विषयों का चिन्तन करता है ॥

हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्याꣳहि कर्म करोति ॥८॥

अर्थ-निश्चयकरके हाथ ही ग्रह हैं जो कर्म नामक अतिग्रह से गृहीत हैं, क्योंकि यह जीव हाथों से ही लेन देन करता है।

त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीत-स्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥ ९ ॥

अर्थ-निश्चयकरके त्वक् ही ग्रह है जो स्पर्श नामक अति-ग्रह से गृहीत है, क्योंकि यह जीव इस से स्पर्श करता है, यही आठ ग्रह और यही आठ अतिग्रह हैं ॥

सं०-अब आर्तभाग फिर प्रश्न करता है :—

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳसर्वं मृ-त्योरन्नं कास्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्न-मित्यग्निर्वैमृत्युः सोपामन्नमप पुनर्मृ-त्युंजयति ॥ १० ॥

अर्थ-आर्तभाग ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! यह सब चराचर मृत्यु का अन्न है परन्तु वह कौन देवता है जिसका अन्न मृत्यु है, याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि निश्चयकरके अग्नि=प्रकाश स्वरूप परमात्मा ही वह देव है जिसका मृत्यु अन्न है और वही परमात्मा चराचर का अत्ता होने से " अन्न " कहाता है, जो इसप्रकार जानता है वह मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है ॥

याज्ञवल्क्येतिहोवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो३-

नेति, नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव सम-
वनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मा-
तोमृतः शेते ॥ ११ ॥

अर्थ-आर्तभाग ने फिर कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! जब यह ब्रह्मवेत्ता पुरुष मरता है तब उस के प्राण साधारण जीवों की भांति निकलते हैं अथवा अन्य प्रकार से ? " नेति होवाच याज्ञवल्क्यः "=याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि साधारण जीवों की भांति नहीं निकलते किन्तु उसी परमात्मा में लय होजाते हैं, और मुक्त पुरुष का देह फूल कर निश्चेष्ट पड़ा रहता है अर्थात् देह ही मरणधर्मा है पुरुष नहीं ॥

सं०-अब आर्त्तभाग फिर प्रश्न करता है :—

याज्ञवल्क्येतिहोवाच यत्रा ऽयं पुरुषो
म्रियते किमेनं न जहातीति, नामेत्यन-
न्तं वै नामानन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव
तेन लोकं जयति ॥ १२ ॥

अर्थ०- हे याज्ञवल्क्य ! जब ब्रह्मवेत्ता पुरुष मरता है तब इसको कौन नहीं त्यागता ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि इसकी मृत्यु के पीछे इसको " नाम " नहीं त्यागता, क्योंकि नाम अनन्त=व्यावहारिक नित्य है, और निश्चयकरके विश्वे=सब देव=मुक्त पुरुष अनन्त हैं अर्थात् कल्पपर्य्यन्त मुक्ति में रहते हैं, जो इसप्रकार जानता है वह अनन्तलोक=मोक्ष को जय करता है ॥

सं०–अब आर्तभाग फिर प्रश्न करता है:–

याज्ञवल्क्येतिहोवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीꣳ शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वाय तदा पुरुषो भवतीत्याहरसोम्य हस्तमार्तभागाऽऽवामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत्सजन इति। तौ होत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैवतदूचतुरथ यत्प्रशशꣳसतुः कर्म हैव तत्प्रशशꣳसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥ १३ ॥

अर्थ–हे याज्ञवल्क्य ! जब अज्ञानी मृत पुरुष की वाणी अग्नि में, प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशा में,शरीर पृथिवी में,हृदयाकाश महाकाश में,लोम ओषधियों में, केश वनस्पतियों में और रुधिर तथा वीर्य्य जलों में लय होजाते हैं तब यह पुरुष किसके आश्रित होता है अर्थात् किस के

आश्रित होकर अन्य नवीन देह को प्राप्त करता है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि " आहर सोम्य हस्तमार्तभाग "=हे सोम्य आर्तभाग हाथ पकड़ाओ और चलो हम दोनों एकान्त में विचार करें, तब दोनों वहां से उठ एकान्त में जा विचारकर बोले कि कर्म ही उस पुरुष का आश्रय होता है और जो कुछ उन्हों ने प्रशंसा की वह कर्म ही की प्रशंसा की कि वही पुरुष के साथ जाता है अर्थात् "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेनेति "=पुण्यकर्म से पुण्यलोक को और पापकर्म से पापिष्ठ लोकों को प्राप्त होता है, तब आर्तभाग चुप होगया ।

भाष्य-अश्वल के चुप होने पर आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि आप यह कथन करें कि कितने ग्रह और कितने अतिग्रह हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि घ्राण, वाक्, रसना, चक्षु,ः श्रोत्र, मन, हस्त और त्वक् यह आठ " ग्रह " और अपान, नाम, रस, रूप, शब्द, काम, कर्म और स्पर्श यह आठ अतिग्रह हैं, इनको ग्रह और अतिग्रह इस लिये कथन कियागया है कि जीवात्मा घ्राणादि इन्द्रियों द्वारा गन्धादि विषयों में आसक्त हुआ २ परमार्थ से विमुख रहता है, और जब नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि से इन्द्रियों को अंतर्मुख करलेता है तब आत्मदर्शी होकर मुक्त हो जाता है, जैसा कि कठ० ४ । १. में वर्णन किया है किः-

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त-चक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।

अर्थ–चक्षुरादि इन्द्रिय स्वभाव से ही रूपादि विषयों को ग्रहण करने वाले हैं, इन्हीं के वशीभूत हुआ जीवात्मा वाह्य विषयों में रस अनुभव करता है परन्तु वास्तव में इन में रस नहीं, रसका आकर एकमात्र वही आनन्द स्वरूप परमात्मा है जिस को प्राप्त कर के पुरुष आनान्दित होजाता है, पर वह आनन्द इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने ही से उपलब्ध होता है अन्यथा नहीं, इसी भाव को आगे के श्लोक में इस प्रकार वर्णन किया है किः–

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् । अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते । कठ० ४ । २

अर्थ–अविवेकी पुरुष वाह्यविषयों के पीछे चलकर विस्तृत मृत्यु के पाश को प्राप्त होते हैं और विवेकी पुरुष वाह्य विषयों से इन्द्रियों को हटाकर अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा अमृत स्वरूप ब्रह्म मे चित्तवृत्तियों का निरोध करते हैं वह अनित्य पदार्थों में सुख का अनुभव नहीं करते, इस प्रथम प्रश्न का समाधान होने पर "आर्तभाग" ने दूसरा यह प्रश्न किया कि "मृत्यु का मृत्यु कौन है"? इस का उत्तर याज्ञवल्क्य ने यह दिया कि मृत्यु की मृत्यु परमात्मा है अर्थात् परमात्मज्ञान द्वारा ही पुरुष पुनः २ मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, जैसा कि यजु० ३१ । १८ में वर्णन किया है कि "**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**"=उसी को जानकर पुरुष मृत्यु से अतिक्रमण करजाता है अन्य कोई मार्ग नहीं ।

और जो पौराणिकों का यह कथन है कि मृत्यु पदवाच्य

लोकविशेष का अधिष्ठाता यम=मृत्यु है और उस का नियन्ता परमात्मा मृत्यु कहाता है, सो ठीक नहीं क्योंकि इस विषय को स्वा० "सुरेश्वराचार्य्य" ने अपने वार्तिक में इस प्रकार स्पष्ट किया है कि:—

न कश्चिन्नियतो भावो मृत्युरित्युपदिश्यते ।
विनाशको यतो मृत्युर्विनाश्यान्प्रति भण्यते ॥

अर्थ—कोई नियत पदार्थ मृत्यु पद का वाच्यार्थ नहीं, क्यों कि नाश होने वाले पदार्थ की अपेक्षा से प्रत्येक विनाशक पदार्थ को मृत्यु कहाजाता है परन्तु सब का संहार कर्ता होने से परमात्मा ही मृत्यु का मृत्यु है, इसी भाव को "अत्ताचराचरग्रहणात्" ब्र० सू० १।२।९ में इस प्रकार स्फुट किया है कि चराचर का ग्रहण=संहार करने से परमात्मा का नाम "अत्ता" है, फिर आर्तभाग ने तीसरा यह प्रश्न किया कि ब्रह्मवेत्ता की साधारण पुरुषों के समान मृत्यु होती है अथवा अन्य प्रकार से ? जिस का उत्तर याज्ञवल्क्य ने यह दिया कि ब्रह्मवित् पुरुष की मृत्यु साधारण पुरुष की भांति नहीं होती, क्योंकि उस के प्राण ब्रह्म में लय होजाते हैं अर्थात् मृत्यु के अनन्तर जिस प्रकार अज्ञानी पुरुष अनेक प्रकार की विषय वासनाओं के वशीभूत हुआ २ जन्म जन्मान्तरों को प्राप्त होता रहता है इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता नहीं, वह परमात्मा के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करके मुक्त हुआ स्वतन्त्र विचरता है, यही ज्ञानी और अज्ञानी की मृत्यु का भेद है, इत्यादि, यह सुनकर आर्तभाग चुप होगया ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ तृतीयं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब "भुज्यु" नामक ऋत्विक् प्रश्न करता है:—

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्जलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्याऽऽसीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाऽथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता ऽभवन्स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥ १ ॥

अर्थ-आर्तभाग के चुप होने पर लाह्यायनि=लाह्य के पुत्र भुज्यु ने प्रश्न किया कि हे याज्ञवल्क्य ! एकसमय हम ऋत्विज् होकर मद्रदेश में विचरते हुए काप्य=कपि गोत्रोत्पन्न पतञ्जल नामक ब्राह्मण के गृहपर आये, उसकी एक दुहिता=कन्या गन्धर्व=सामगान करने वाले वेदवेत्ता विद्वान् की शिष्या थी, उस गन्धर्व को हमने पूछा कि आप कौन हैं ? उसने कहा

कि मैं आङ्गिरस=अङ्गिरा गोत्रोत्पन्न सुधन्वा नाम ब्राह्मण हूं, फिर उससे हमने लोकलोकान्तरों की सीमा का प्रश्न करके यह पूछा कि अश्वमेध करने वालों की क्या गति होती है? सो हे याज्ञवल्क्य! वही प्रश्न पुनः आपसे करता हूं कि पारिक्षित=अश्वमेध करने वाले किस अवस्था को प्राप्त होते हैं?

सं०–अब याज्ञवल्क्य उक्त प्रश्न का समाधान करते हैं:—

सहोवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वैते तद्य-त्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क न्वश्व-मेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिꣳशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तꣳसमंतं पृथि-वी द्विस्तावत्पर्येति ताꣳ समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरे-णाकाशस्तावानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागम-यद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमिव वै स वायुमेव प्रशशꣳस तस्माद्वायुरेव व्य-ष्टिर्वायुः समष्टिः अपपुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरु-

पदार्थ ॥ २ ॥

अर्थ–याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे भुज्यु ! तुम्हारे प्रति गन्धर्व ने यह उत्तर दिया था कि प्राचीन यज्ञ करने वाले जिस अवस्था को प्राप्त हुए थे उसी अवस्था को वर्त्तमान काल के अश्वमेध यज्ञकर्त्ता प्राप्त होते हैं, फिर भुज्यु ने पूछा कि वह कौन अवस्था है जिसको वह प्राप्त होते हैं, याज्ञवल्क्य ने इसप्रकार उत्तर दिया कि सूर्य्य ३२ दिन में जितनी यात्रा करता है उतना ही यह लोक है,उसके चारो ओर उससे दुगुण पृथिवी उसको घेरे हुए है और पृथिवी को उससे द्विगुण समुद्र चारो ओर से घेरे हुए है, सो जितनी छुरे की धार अथवा मक्षिका का पंख सूक्ष्म होता है उतना ही सूक्ष्म इनके मध्य आकाश है, सो इन्द्र=अश्वमेध की अग्नि ने उन याज्ञिक लोगों को वायु को प्राप्त किया और वायु ने उनको वहां पहुंचाया जहां अश्वमेध यज्ञ करने वालों का वास होता है अर्थात् परमात्मा को प्राप्त किया, इसप्रकार हे भुज्यु ! उस गन्धर्व ने वायु=परमात्मा की ही प्रशंसा की कि समष्टिव्यष्टि=कार्य्यकारणसंघातरूप पदार्थों के भीतर वही वायु=परमात्मा सूत्ररूप से व्याप्त है, जो इस प्रकार परमात्मा को जानता है वह अपमृत्यु को प्राप्त नहीं होता, इतना सुनकर भुज्यु चुप होगया ॥

इति तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ चतुर्थं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०–अब "उषस्त" नामा ऋत्विक् प्रश्न करता है:—

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष ते आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानीति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥ १ ॥

अर्थ-भुज्यु के चुप होने के अनन्तर चाक्रायण=चक्र ऋषि के पुत्र उषस्त ने प्रश्न किया कि हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सब का अन्तरात्मा है उसका आप मेरे प्रति स्पष्टतया वर्णन करें ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि उक्त विशेषण-विशिष्ट जो तेरा आत्मा है वही सर्वान्तरात्मा है फिर उषस्त ने पूछा कि वह कौन है ? तब याज्ञवल्क्य बोले कि जो प्राण से प्राण,अपान से अपान, व्यान से व्यान और उदान से उदानरूप चेष्टा करता है वह तेरा आत्मा सर्वान्तरात्मा है अर्थात् जिसकी शक्ति द्वारा तू प्राणादि चेष्टा करता है वही तेरा नियन्ता परमात्मा सब का अन्तरात्मा है ॥

सं०—अब उषस्त फिर प्रश्न करता है:—

सहोवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा वि-ब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवैतद्व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्त-रस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः। न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया नर्मतमन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥२॥

अर्थ—हे याज्ञवल्क्य ! "स त आत्मा सर्वान्तरः"= वही तेरा आत्मा सर्वान्तरात्मा है, यह कथन इसप्रकार है कि "असौगौरसावश्वः"=यह गौ और यह घोड़ा है अर्थात् जिस प्रकार गौ घोड़े का लक्षण पूछने पर कोई उक्त रीति से उत्तर दे और इनका लक्षण न करे, इसीप्रकार आप का कथन है, कृपा-करके उस अन्तरात्मा का लक्षण करके बतलावें कि वह कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि जो दृष्टि=दर्शनात्मक अनित्य वृत्ति का द्रष्टा=साक्षी है वह उक्त वृत्ति का विषय नहीं, इसी-प्रकार जो श्रवणात्मक वृत्ति का श्रोता मननात्मक वृत्ति का मन्ता और विज्ञानात्मक वृत्ति का विज्ञाता है वह उक्त वृत्ति का

विषय नहीं अर्थात् जिसकी सत्ता से जीवात्मा दर्शनादि वृत्तियों द्वारा पदार्थों का अनुभव करता है वही सर्वान्तरात्मा ब्रह्म है, उससे भिन्न अन्य सब पदार्थ आर्त्त=अल्प हैं,यही ब्रह्म का लक्षण है, यह सुनकर उषस्त चुप होगया ॥

भाष्य-उषस्त ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि जो सब का अन्तरात्मा है उसका आप मेरे प्रति भले प्रकार वर्णन करें ? तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि जो सर्वान्तरात्मा है वही ब्रह्म है, तब उषस्त ने कहा कि आपका यह उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि आपके इस कथन से ब्रह्म का ठीक बोध नहीं होता, आपका कथन ऐसा ही है जैसे गौ का लक्षण पूछने पर कोई यह कहदे कि यह गौ है, ऐसा ही आपका कथन है, कृपाकरके ब्रह्म का लक्षण द्वारा स्पष्टतया वर्णन करें, फिर याज्ञवल्क्य बोले कि हमने ब्रह्म का स्पष्टतया वर्णन किया है पर आप समझे नहीं, अब आप ध्यान पूर्वक स्वस्थ होकर श्रवण करें मैं फिर उसी ब्रह्म का लक्षण करता हूं, यह शरीर में प्रविष्ट हुआ जीवात्मा जिसकी सत्ता द्वारा दोनों प्रकार के इन्द्रियों से विषयों का अनुभव करता है वही सर्वान्तरात्मा सब का नियन्ता ब्रह्म है, उस की अपेक्षा सब पदार्थ अल्प=तुच्छ हैं,इस भावको श्वेता० ६।११ में इसप्रकार वर्णन किया है कि :—

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूता-न्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

वित्तैषणा और लोकैषणा का त्यागकर देह यात्रा निमित्त भिक्षा करते हुए पर्य्यटन करते हैं, हे कहोल ! जो पुत्रैषणा है वह वित्तैषणा और जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है, क्योंकि इनका फल समान पायाजाता है, इस प्रकार साध्यसाधनरूप यह दोनों ही एषणा त्यागने योग्य हैं, इसी लिये कथन किया है कि ब्राह्मण आत्मविषयक श्रवण पूर्ण करके शास्त्रीय तर्कोंद्वारा उसी आत्मा का मनन करे, और मनन की दृढता के अनन्तर निदिध्यासन करता हुआ अन्य वृत्तियों के त्यागपूर्वक परमात्मा का चिन्तन करे यही ब्रह्मप्राप्ति के साधन हैं, यह सुनकर कहोल चुप होगया।

इति पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ षष्ठं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब "गार्गी" प्रश्न करती है:—

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येतिहोवाच यदिदꣳ सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गा-

र्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्द्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि माऽतिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वा-

चक्रव्युपरराम ॥ १ ॥

अर्थ--वाचक्नवी=वचक्नु की पुत्री गार्गी ने प्रश्न किया कि हे याज्ञवल्क्य ! जो यह सब भू भूधरादिक जलों में ओतप्रोत हैं वह जल किसमें ओतप्रोत हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि यह सब जल अपने कारण वायु में ओतप्रोत हैं,वायु किसमें ओत प्रोत है ? अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष किसमें ओतप्रोत है ? गन्धर्व लोक में प्रश्न-गन्धर्वलोक किसमें ओतप्रोत है ? उत्तर-आदित्य लोक में, प्रश्न-आदित्यलोक किसमें ओतप्रोत है ? उत्तर-चन्द्रलोक में, प्रश्न-चन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत है ? उत्तर-नक्षत्र लोक में, प्रश्न-नक्षत्रलोक किसमें ओतप्रोत है ? उत्तर-देवलोक में, प्रश्न-देवलोक किसमें ओतप्रोत है ? उत्तर-इन्द्रलोक में, प्रश्न-इन्द्र-लोक किसमें ओतप्रोत है ? उत्तर-प्रजापति लोक में, प्रश्न-प्रजा-पति लोक किसमें ओतप्रोत है ? उत्तर-ब्रह्मलोक में फिर गार्गी ने पूछा कि ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है ? इसका उत्तर न देकर याज्ञवल्क्य बोले कि हे गार्गि ! इस प्रकार अति प्रश्नों को न कर, इस प्रकार प्रश्न करने से तेरा मूर्द्धा गिर जायगा, क्योंकि सब लोक लोकान्तरों का एकमात्र आधार ब्रह्म किसी के आश्रित नहीं किन्तु उसी में सम्पूर्ण पदार्थ ओतप्रोत हैं, इसलिये हे गार्गि ! मैं फिर कहता हूं कि तू अनतिप्रश्न्या=केवल शास्त्र से जानने योग्य ब्रह्म को तर्क द्वारा जानने की इच्छा न कर, वह ब्रह्म तर्क का विषय नहीं, यह सुनकर गार्गी चुप होगई ॥

इति षष्ठं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ सप्तमं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०–अब "उद्दालक" प्रश्न करता है:—

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येतिहोवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्जलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोसीति सोऽब्रवीत्कबन्ध आथर्वण इति सोऽब्रवीत्पतञ्जलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनाऽयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्जलः काप्यो नाहं तद्भगवन् वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्जलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकꣳ सर्वाणि च भूतानि योन्तरोयमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्जलः काप्यो नाहं तं भगवन् वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्जलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च यो

स्याङ्गानीति"=इसके हस्तपादादि सब अङ्ग सूत्र से निकले हुए मणकों की भांति विशीर्ण=विखिर गये हैं, इसलिये निश्चय करके वायु ही सबका सूत्रात्मा है, वायु के विना क्षणभर भी पुरुष का जीवन नहीं रहसक्ता, यह सुनकर उद्दालक बोले कि हे भगवन् ! इसी प्रकार आप अन्तर्यामी का भी कथन करें।

सं०-अब याज्ञवल्क्य कथन करते हैं:—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरोयमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ३ ॥

अर्थ-जो पृथिवी में स्थिर होकर पृथिवी का अन्तरात्मा है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है और जो पृथिवी के भीतर वर्त्तमान होकर उसका नियमन करता है वही अन्तर्यामी ब्रह्म है।

योऽप्सुतिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥४॥

अर्थ-जो जलों में स्थिर होकर उनका अन्तरात्मा है, जिसको जल नहीं जानते, जल जिसके शरीर हैं और जो जलों के भीतर वर्त्तमान होकर उनका नियमन करता है वही अन्तर्यामी ब्रह्म है।

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योग्निमन्तरोयमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो अग्नि में स्थिर होकर उसका अन्तरात्मा है, जिसको अग्नि नहीं जानती, अग्नि जिसका शरीर है और अग्नि के भीतर वर्त्तमान होकर जो उसका नियमन करता है वही अन्तर्यामी अमृत है।

योऽन्तरिक्षेतिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्ष ँ शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो अन्तरिक्ष में स्थिर होकर उसका अन्तरात्मा है, जिसको अन्तरिक्ष नहीं जानता, अन्तरिक्ष जिसका शरीर है और अन्तरिक्ष के भीतर वर्त्तमान होकर जो उसका नियमन करता है वही अन्तर्यामी अमृत है।

यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥७॥

अर्थ—जो वायु में स्थिर होकर उसका अन्तरात्मा है, जिसको वायु नहीं जानता वायु जिसका शरीर है और वायु के भीतर

वर्त्तमान होकर जो उसका नियमन करता है वही अन्तर्यामी अमृत है ।

यो दिवि तिष्ठन्दिवोन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ८ ॥

अर्थ–जो द्युलोक में स्थिर होकर उसका अन्तरात्मा है, जिस को द्यौ नहीं जानता, द्यौ जिसका शरीर है और द्यौ के भीतर वर्त्तमान होकर जो उसका नियमन करने वाला है वही अन्तर्यामी ब्रह्म है ।

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ९ ॥

अर्थ–जो आदित्य में स्थिर होकर उस का अन्तरात्मा है, जिसको आदित्य नहीं जानता, आदित्य जिसका शरीर है और आदित्य के भीतर वर्त्तमान होकर जो उस का नियमन करता है वही अन्तर्यामी परमात्मा है ।

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १० ॥

अर्थ–जो दिशाओं में स्थिर होकर उनका अन्तरात्मा है, जिस को दिशायें नहीं जानतीं, दिशायें जिस का शरीर हैं और जो दिशाओं के भीतर वर्त्तमान होकर उनका नियन्ता है वही अन्तर्यामी ब्रह्म है।

यश्चन्द्रतारके तिष्ठ ँ श्चन्द्रतारकाद-न्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्र-तारक ँ शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यम-यत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ११ ॥

अर्थ–जो चन्द्रमा और तारों में स्थिर होकर उनका अन्त-रात्मा है, जिसको चन्द्र तथा तारे नहीं जानते, वह जिसका शरीर हैं और चन्द्र तथा तारों के भीतर वर्त्तमान हुआ २ जो उन का नियन्ता है वही अन्तर्यामी ब्रह्म है।

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरोयमा-काशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आ-काशमन्तरो यम यत्येष त आत्मान्तर्याम्य-मृतः ॥ १२ ॥

अर्थ–जो आकाश में स्थिर होकर उसका अन्तरात्मा है, जिसको आकाश नहीं जानता, आकाश जिसका शरीर है और जो आकाश के भीतर वर्त्तमान होकर उस का नियन्ता है वही अन्तर्यामी ब्रह्म है।

यस्तमसि तिष्ठ ँ स्तमसोन्तरो यं तमो

न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १३ ॥

अर्थ–जो तम=अन्धकार में स्थिर होकर उस का अन्तरात्मा है, जिस को तम नहीं जानता, तम जिसका शरीर है और तम के भीतर वर्त्तमान होकर जो उस का नियमन करता है वह अन्तर्यामी अमृत है।

यस्तेजसि तिष्ठ ँस्तेजसोन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोन्तरो-यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥ १४ ॥

अर्थ–जो तेज में स्थिर होकर उस का अन्तरात्मा है, जिस को तेज नहीं जानता, तेज जिसका शरीर है और तेज के भीतर वर्त्तमान होकर जो उस का नियन्ता है वही अन्तर्यामी ब्रह्म है, यहां तक अधिदैवत=देवता विषयक अन्तर्यामी का वर्णन कर के अब अधिभूत=भूत विषयक अन्तर्यामी का कथन करते हैं॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरोय ँ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥ १५ ॥

अर्थ-जो सब भूतों में स्थिर होकर उन का अन्तरात्मा है, जिस को भूत नहीं जानते, भूत जिस के शरीर हैं और भूतों के भीतर व्यापक होकर जो उनका नियमन करता है वही तेरा अन्तर्यामी आत्मा अमृत है।

सं०-अब अध्यात्म=शरीर विषयक अन्तर्यामी का कथन करते हैं:-

यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१६॥

अर्थ-जो प्राण में रह कर प्राण से पृथक् है जिस को प्राण नहीं जानता, जिस का प्राण शरीर है और जो प्राण के भीतर रह कर उस को नियम में रखता है वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

यो वाचि तिष्ठन्वाचोन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १७॥

अर्थ-जो वाणी में स्थिर होकर वाणी से पृथक् है, जिस को वाणी नहीं जानती, वाणी जिस का शरीर है और जो वाणी के भीतर रह कर उस को नियम में रखता है वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

यश्चक्षुषि तिष्ठँश्चक्षुषोन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरोय-

मयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१८॥

अर्थ–जो चक्षु में स्थिर होकर चक्षु से पृथक् है, जिस को चक्षु नहीं जानता, चक्षु जिसका शरीर है और जो चक्षु के भीतर रह कर उस को नियम में रखता है वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

यः श्रोत्रे तिष्ठन् श्रोत्रादन्तरो यꣳ श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रꣳ शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।१९।

अर्थ–जो श्रोत्र में स्थिर होकर श्रोत्र से पृथक् है, जिस को श्रोत्र नहीं जानता, श्रोत्र जिसका शरीर है और जो श्रोत्र के भीतर रहकर उस को नियम में रखता है वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

यो मनसि तिष्ठन् मनसोन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥२०॥

अर्थ–जो मन में स्थिर होकर मन से पृथक् है, जिसको मन नहीं जानता, मन जिसका शरीर है और जो मन के भीतर रहकर उसका नियमन करता है वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥

यस्त्वचि तिष्ठꣳस्त्वचोन्तरो यं त्वङ् न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्त-

रोयमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः२१॥

अर्थ-जो त्वचा में स्थिर रहकर उससे पृथक् है, जिसको त्वचा नहीं जानती, त्वचा जिसका शरीर है और जो त्वचा के भतिर रहकर उसका नियमन करता है वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥

यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानॅ शरीरं यो विज्ञानमन्तरोयमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ २२ ॥

अर्थ-जो विज्ञान=बुद्धि में स्थिर होकर उससे पृथक् है, जिसको बुद्धि नहीं जानती, बुद्धि जिसका शरीर है और जो बुद्धि के भीतर रहकर उसको नियम में रखता है वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी ब्रह्म है ॥

यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोन्तरोयॅ रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोन्तरोयमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टा ऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योतोऽस्ति श्रोता नान्योतोऽस्तिमन्ता नान्यो-

तोस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणि-रुपरराम ॥ २३ ॥

अर्थ—जो वीर्य्य में स्थिर होकर वीर्य्य से पृथक् है, जिसको वीर्य्य नहीं जानता, वीर्य्य जिसका शरीर है और जो वीर्य्य के भीतर रहकर उसको नियम में रखता है वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, और वही द्रष्टा है पर चक्षु का विषय नहीं, श्रोता है पर श्रोत्र का विषय नहीं, मन्ता है पर मन का विषय नहीं, विज्ञाता है पर विज्ञान का विषय नहीं, उससे अन्य न कोई द्रष्टा, न श्रोता, न मन्ता और न विज्ञाता है, हे उद्दालक ! वही तेरा अन्तर्यामी ब्रह्म अमृत है और उससे भिन्न अन्य सब पदार्थ तुच्छ हैं, यह सुनकर उद्दालक चुप होगया ॥

इति सप्तमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ अष्टमं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब गार्गी पुनः याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने के लिये प्रथम ब्राह्मणों से कथन करती है :—

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तोहन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मेवक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं

कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥१॥

अर्थ-उद्दालक के चुप होने पर गार्गी ब्राह्मणों से बोली कि हे ब्राह्मणों ! अब मैं याज्ञवल्क्य के प्रति दो प्रश्न करती हूं, यदि इनका उत्तर उन्होंने देदिया तो तुम सब में से इस ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य को कोई नहीं जीत सकेगा, सो यदि आप कहें तो मैं प्रश्न करूं ? ब्राह्मणों ने कहा कि हां तुम प्रश्न करो ॥

सं०-अब गार्गी याज्ञवल्क्य से कथन करती है:—

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहोवोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वां द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपादस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति ॥ २ ॥

अर्थ-हे याज्ञवल्क्य ! जिस प्रकार काशी देश का प्रसिद्ध काश्य नामक राजा अथवा विदेह देश का राजा उग्रपुत्र धनुष पर चिल्ला चढ़ाकर शत्रुओं को मारने वाले दो बाण लेकर युद्ध के लिये सन्नद्ध होवे इसीप्रकार मैं तुम्हारे सन्मुख दो प्रश्नों को लेकर आई हूं, इनका आप उत्तर दें, याज्ञवल्क्य ने कहा कि "पृच्छ गार्गीति"=हे गार्गि ! आप उन दोनों प्रश्नों को कहें मैं अवश्य उत्तर दूंगा ॥

सं०-अब गार्गी प्रश्न करती है:—

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावा पृथिवी इमे यद्भूतञ्च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ३ ॥

अर्थ-गार्गी बोली कि हे याज्ञवल्क्य ! जो द्यौलोक से ऊपर पृथिवी से नीचे और जो द्युलोक तथा पृथिवी के बीच में है, जिसका द्युलोक, पृथिवी और भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान शब्दों से व्यवहार कियाजाता है यह सब किसमें ओतप्रोत है ?

सं०-अब याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं :—

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ४ ॥

अर्थ-याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे गार्गि ! जो द्यौलोक से ऊपर पृथिवी से नीचे और जो द्यावा पृथिवी के मध्य तथा द्यावा पृथिवी और भूत भविष्यत् वर्त्तमान यह सब आकाश= अव्याकृत में ओतप्रोत हैं ॥

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म

एतं व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥ ५ ॥

अर्थ--गार्गी ने कहा कि "नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य"= हे याज्ञवल्क्य आपको नमस्कार हो, आपने मेरे प्रथम प्रश्न का उत्तर ठीक दिया है, अब दूसरा सुनिये, तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे गार्गि ! अब आप दूसरा प्रश्न कहें ॥

सं०—अब गार्गी कथन करती है:—

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवोयदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिꣳ स्तदोतं च प्रोतञ्चेति ॥ ६ ॥

अर्थ–हे याज्ञवल्क्य ? जो द्यौलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे और जो द्यावा पृथिवी के मध्य तथा द्यावा पृथिवी और भूत, भविष्यत् वर्त्तमान शब्दों से जिसका व्यवहार किया जाता है यह सब किसमें ओतप्रोत हैं ॥

सा होवाच यदूर्ध्वं गार्गि देवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति क-

स्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोत-श्चेति ॥ ७ ॥

अर्थ—याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे गार्गि! जो द्यौलोक से ऊपर पृथिवी से नीचे और जो द्यावा पृथिवी के मध्य तथा द्यावा पृथिवी और भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान यह सब आकाश में ओत-प्रोत हैं, गार्गी ने कहा कि आकाश किसमें ओतप्रोत है?

सं०—अब याज्ञवल्क्य द्वितीय प्रश्न का उत्तर कथन करते हैं:—

स होवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलो-हितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशम-सङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागम-नोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरम-बाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति क-श्चन ॥ ८ ॥

अर्थ—याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे गार्गि! ब्राह्मण लोग अक्षर=अवि-नाशी ब्रह्म को इसप्रकार कथन करते हैं कि वह न स्थूल, न अणु, न ह्रस्व, न दीर्घ. न लोहित, न स्निग्ध, न तेज, न तिमिर, न वायु और न आकाश है किन्तु असङ्ग=एकरस है, वह रसना तथा घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन का विषय नहीं और नाहीं

वह बुद्धि का विषय है, वह प्राण तथा मुख से रहित किसी से मापा नहीं जासक्ता, वह परिपूर्ण सब के बाहर भीतर विराजमान है पर उसका कोई अन्दर बाहर नहीं, न वह किसी को खाता और न उसको कोई खासक्ता है, उसी में आकाश ओतप्रोत है ॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्य पर्वतेभ्यः प्रतीच्योन्याः यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशꣳसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥ ९ ॥

अर्थ–हे गार्गि ! निश्चय करके इसी अविनाशी ब्रह्म की आज्ञा से सूर्य्य तथा चन्द्रमा अपनी २ मर्य्यादा में स्थिर हैं, द्यौ

तथा पृथिवी लोक भी इसी की आज्ञा का पालन करते हैं, हे गार्गि ! इसी ब्रह्म के प्रशासन में निमेष,मुहूर्त्त,दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर स्थित हैं, इसी के प्रशासन में नदियें श्वेत पर्वतों से निकलकर पूर्व की ओर बहतीं और दूसरी पश्चिम की ओर बहती हैं अर्थात् जिस २ दिशा में बहती हैं उस २ दिशा में उसी के शासन से बहती हैं, इसी के शासन से मनुष्य दाताओं की स्तुति करते हैं, इसी के शासन से विद्वान् यजमान को यज्ञ करात और पितर=कर्मी लोग इसी के शासन से अग्निहोत्रादि कर्म करते हैं ।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति सकृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः ॥ १० ॥

अर्थ–हे गार्गि! इस लोक में जो उक्त ब्रह्म को न जानकर होम, यज्ञ तथा तप करता है उसको बहुत वर्ष पर्यन्त भी नित्य फल की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् उसके कर्मों का फल अन्त वाला होता है,हे गार्गि ! जो उस अक्षर ब्रह्म को न जानकर इस लोक से प्रयाण करता है वह कृपण है और जो इस अक्षर ब्रह्म को जानकर प्रयाण करता है वही ब्राह्मण है ।

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मंत्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ११ ॥

अर्थ-हे गार्गि ! निश्चय करके वह ब्रह्म अदृष्ट=दृष्टि का विषय नहीं पर सब का द्रष्टा है, इसीप्रकार वह श्रोत्र का विषय न होने पर भी श्रोत्र का श्रोत्र है, वही सब का मन्ता, विज्ञाता है, उससे अतिरिक्त न कोई द्रष्टा न श्रोता न मन्ता और न विज्ञाता है, हे गार्गि ! निश्चय करके उसी अक्षर ब्रह्म में आकाश= अव्याकृत ओत प्रोत है।

सं०-अब गार्गी ब्राह्मणों के प्रति कथन करती है :-

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारमात्रेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम। १२।

अर्थ-गार्गी ने कहा कि हे ब्राह्मणो ! निश्चय करके यह ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य आप में से किसी से भी पराजित न होगा,

इसलिये आप लोगों को उचित है कि आप इसको नमस्कार करके बड़ा मानें, यह कहकर गार्गी चुप होगई ।

इति अष्टमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ नवमं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब " विदग्ध " नामा ऋत्विक् प्रश्न करता है :—

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतया निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिँशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति

होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्यो मिति होवाच कतमेते त्रयश्च त्रीच शता त्रयश्च त्रीच सहस्रेति ॥ १ ॥

अर्थ—शाकल्य = शकल के पुत्र विदग्ध नामा ऋत्विक् ने प्रश्न किया कि हे याज्ञवल्क्य ! कितने देवता हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि वैश्वदेव नामक शस्य = स्तुति विशेष के निविद् नामक मंत्र में जितने कथन किये गये हैं उतने ही देवता हैं अर्थात् "त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति" = तीन हजार तीन सौ छ (३३०६) देवता हैं, विदग्ध ने कहा कि हां ठीक है, पर मैं फिर पूछता हूं कि कितने देवता हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा कि "षड् इति" = छः हैं, इनको भी विदग्ध ने स्वीकार करके फिर पूछा कि देवता कितने हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा कि " त्रय इति " = तीन, उसने कहा हां ठीक है पर फिर भी और कितने हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि " द्वा-विति " = दो हैं, फिर उसने पूछा कि कितने देवता हैं ? याज्ञ-वल्क्य ने उत्तर दिया कि " अध्यर्ध इति " = डेढ़ देवता है, फिर विदग्ध ने उसी प्रकार प्रश्न किया, तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि " एक इति " = एक देवता है, इस प्रकार देवताओं की संख्या स्वीकार करके विदग्ध ने फिर पूछा कि वह ३३०६ देवता कौन हैं।

सं०—अब याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं :—

सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिँशत्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिँशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिँशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिँशाविति ॥ २ ॥

अर्थ—याज्ञवल्क्य ने कहा कि वास्तव में ३३ देवता हैं और यह ३३०६ देवता इन्हीं की महिमा है, विदग्ध ने कहा कि वह ३३ देवता कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि ८ वसु ११ रुद्र १२ आदित्य यह सब मिलकर ३१ होते हैं और इन्द्र तथा प्रजापति यह दोनों मिलकर ३३ देवता हैं ॥

सं०—अब वसुओं का कथन करते हैं :—

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदँ सर्वँ हितमिति तस्माद्वसव इति ॥ ३ ॥

अर्थ—विदग्ध ने कहा कि आप प्रथम वसुओं का वर्णन करें, तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र यह आठ "वसु" कहाते हैं, इनको वसु इसलिये कहागया है कि यह सब चराचर को वास देने से सब के हितकारी हैं ॥

सं०-अब रुद्रों का कथन करते हैं:—

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ४ ॥

अर्थ-पुरुष के शरीर में दश प्राण अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय और ११ वां मन यह एकादश "रुद्र" हैं, इनको रुद्र इसलिये कहागया है कि जब पुरुष इस संसार से पयान करता है तब इनके निकलने पर उसके सम्बन्धी लोग रुदन करते हैं ॥

सं०-अब आदित्यों का कथन करते हैं:-

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः एते हीद ँ सर्वमाददाना यन्ति ते यदिद ँ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ५ ॥

अर्थ-निश्चय करके वर्ष के १२ मास ही आदित्य हैं, इनको आदित्य इसलिये कहा गया है कि यही मास पुनः २ आवर्तन करते हुए मनुष्य की आयु को क्षीण करते हैं ।

सं०-अब इन्द्र तथा प्रजापति का कथन करते हैं:-

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्त-

नयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥ ६ ॥

अर्थ-मेघ ही "इन्द्र" है, क्योंकि इसी के वर्षण से अन्नादि द्वारा मनुष्यों को ऐश्वर्य्य प्राप्त होता है, और यज्ञ=परमात्मा तथा अग्निहोत्रादि कर्म ही "प्रजापति" हैं, क्योंकि परमात्मा तथा यज्ञादि द्वारा ही प्रजा की रक्षा होती है, और सहचारी होने से अशनि=मेघगर्जन को "इन्द्र" तथा पशु आदि यज्ञ के साधनों को भी "प्रजापति" कहते हैं।

सं०-अब षट् देवताओं का कथन करते हैं:-

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीद ँ सर्व ँ षडिति ॥ ७ ॥

अर्थ-अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यौ यह छ देवता हैं, अन्य सब देवता इन्हीं के अन्तर्गत हैं।

सं०-अब दो श्लोकों में शेष देवताओं का कथन करते हैं:-

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ तौ द्वौ देवा वित्यन्नं चैव प्राणश्चैति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति

अर्थ-अग्नि, वायु, आदित्य यही तीन देवता हैं, क्योंकि शेष देवता इन्हीं के आधार पर स्थिर हैं, और अन्न तथा प्राण यही दो देवता हैं, क्योंकि यही सबका जीवन हेतु होने से शेष देवताओं का इन्हीं में अन्तर्भाव होजाता है, और जो यह बाह्य वायु है इसी को अध्यर्ध=डेढ देवता कहते हैं।

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदꣳ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥ ९ ॥

अर्थ-विदग्धादि वादिओं ने प्रश्न किया कि यह एक ही वायु बहता है फिर इसको अध्यर्ध क्यों कहाजाता है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि सब चराचर इसी से वृद्धि को प्राप्त होने के कारण इसका नाम "अध्यर्ध" है वस्तुतः डेढ के अभिप्राय से नहीं, फिर विदग्ध ने कहा कि एक देवता कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि प्राण=ब्रह्म ही एक देव है, क्योंकि वही सब देवों का देव और वही प्राणिमात्र को प्राणन रूप चेष्टा देने वाला है।

सं०-चराचर के आश्रयभूत प्राणरूप ब्रह्म का वर्णन करके अब शरीरवर्त्ती प्राण का आठ प्रकार से विभाग कथन करते हैं:-

पृथिव्येव [illegible]
यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः

परायण ँ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुष ँ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं शारीरः पुरुषः स एव वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्य-मृतमिति होवाच ॥ १० ॥

अर्थ-हे याज्ञवल्क्य ! पृथिवी जिसका आयतन=शरीर, अग्नि जिसका लोक=देखने का साधन और मन जिसका ज्योति=सङ्कल्प विकल्प का प्रकाशक है, निश्चयकरके जो उस पुरुष को शरीर के कारणभूत पितृसम्बन्धी अस्थि, मज्जा तथा वीर्य्य का आश्रय जानता है वही विद्वान् है, याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे विदग्ध ! जिसको तू शरीर=पितृसम्बन्धी अस्थि आदि का आश्रय कथन करता है मैं उस पुरुष को भले प्रकार जानता हूं जो मातृसम्बन्धी त्वक्, मांस तथा रुधिर से बना हुआ है, वह यही "शारीर पुरुष" है जिसके विषय में आपने पूछा था, यदि इस विषय में और भी कुछ प्रष्टव्य होतो पूछो मैं यथातत्व उत्तर दूंगा, विदग्ध ने कहा कि उस शारीर पुरुष का देवता=उत्पादक कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि उसका देवता अमृत है, प्रकृत में माता के भक्षण किये हुए अन्नादि से उत्पन्न होने वाले रस का नाम यहां "अमृत" है ।

काम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्या

त्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवाऽयं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥ ११ ॥

अर्थ-हे याज्ञवल्क्य ! काम जिसका आश्रय, हृदय=बुद्धि जिसका देखने का साधन और मन जिसका ज्योति है, निश्चय करके जो उस पुरुष को शरीर का आश्रय जानता है वही विद्वान् है, याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे विदग्ध ! जिसको तु शरीर का आश्रय कथन करता है मैं उसको जानता हूं कि जो स्त्री-विषयक प्रीति है वह यही काममय पुरुष है, यदि इस विषय में और सन्देह होतो पूछें मैं उत्तर दूंगा, विदग्ध ने कहा कि उसका कौन देवता है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि उसका देवता स्त्री है अर्थात् स्त्री चिन्तन से ही कामोत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं ।

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स

एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच ॥ १२ ॥

अर्थ—हे याज्ञवल्क्य ! रूप जिसका आश्रय=अपने प्रकाश के लिये सहायक, चक्षु जिसका लोक और मन ज्योति है, निश्चय करके जो उसको शरीर का आश्रय जानता है वही विद्वान् है, याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि मैं उस पुरुष को भले प्रकार जानता हूं जिसके विषय में आपने पूछा है, वह यही आदित्य पुरुष है, यदि इसमें और कुछ सन्देह होतो प्रश्न करें, विदग्ध ने पूछा कि उसका देवता कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि उसका देवता सत्यशब्दवाच्य अध्यात्म चक्षु है अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय वालों को ही सूर्य्य का प्रकाश होता है अन्य को नहीं ।

आकाश एव यस्यायतनꣳ श्रोत्रं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच ॥ १३ ॥

अर्थ—हे याज्ञवल्क्य ! आकाश जिसका आश्रय, श्रोत्र जिसका लोक=शब्दसाक्षात्कार का साधन और मन जिसका ज्योति

है, निश्चय करके जो उस पुरुष को शरीर का आश्रय जानता है वही विद्वान् है, याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे विदग्ध ! जिसके विषय में तुमने प्रश्न किया है मैं उसको भले प्रकार जानता हूं वह यही श्रोत्र में होने वाला "प्रातिश्रुत्क" पुरुष है अर्थात् इसी की सत्ता से शब्द सुना जाता है, यदि इस विषय में कुछ विशेष प्रष्टव्य होतो और पूछें, विदग्ध ने कहा कि उसका देवता कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि उसका देवता दिशा हैं अर्थात् दिशाओं में शब्द का प्रकाश होता है।

तम एव यस्मायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच ॥ १४ ॥

अर्थ-हे याज्ञवल्क्य ! तम=अन्धकार वा अज्ञान जिसका आश्रय, हृदय जिसका लोक और मन जिसका ज्योति है, निश्चयकरके जो उस पुरुष को शरीर का आश्रय जानता है वही विद्वान् है, याज्ञवल्क्य बोले कि हे विदग्ध ! मैं उसको जानता हूं वह यही छायामय=अज्ञानी पुरुष है जिसके विषय में-

आपने पूछा है, यदि विशेष पूछना चाहें तो पुनः प्रश्न करें मैं उत्तर दूंगा, विदग्ध ने पूछा कि उसका देवता कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा कि उसका देवता मृत्यु है अर्थात् अज्ञानी पुरुषों की ही पुनः २ मृत्यु होती है ज्ञानियों की नहीं ।

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोकोमनो-ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरि-ति होवाच ॥ १५ ॥

अर्थ—हे याज्ञवल्क्य ! रूप जिसका आश्रय, चक्षु लोक और मन ज्योति है, निश्चय करके जो उस पुरुष को शरीर का आश्रय जानता है वही विद्वान् है, याज्ञवल्क्य बोले कि हां मैं उस पुरुष को जानता हूं अर्थात् जो प्रतिबिम्ब के आश्रय आदर्श में पुरुष है उसी विषयक आपका प्रश्न था, यदि उक्त विषय में कुछ और प्रष्टव्य हो तो पूछें, विदग्ध ने कहा कि उसका देवता कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि उसका देवता असु= प्राण विशेष है अर्थात् इसी के बल से संघर्षण करने पर दर्पणादिकों में प्रतिबिम्ब का उदय होता है ।

आप एव यस्यायतनं हृदयं लोको

मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्या-
त्मनः परायणं स वै वेदिता स्यात्
याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्व-
स्यात्मनःपरायणं यमात्थ य एवाप्सु पुरुषः
स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति
वरुण इति होवाच ॥ १६ ॥

अर्थ-हे याज्ञवल्क्य! जल जिसका आश्रय, हृदय लोक और मन ज्योति है, निश्चय करके जो उस पुरुष को शरीर का आश्रय जानता है वही विद्वान् है, याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि मैं उसको भले प्रकार जानता हूं वह यही जलों में पुरुष है जिसके विषय में आपका प्रश्न था, यदि कुछ विशेष पूछना चाहो तो और प्रश्न करो, विदग्ध ने कहा कि उसका देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि उसका देवता वरुण=जलोत्पादक शक्ति विशेष है।

रेत एव यस्यायतनं हृदयं लोकोमनो-
ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः
परायणं स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य
वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परा-
यणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स

एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजा-पतिरिति होवाच॥ १७॥

अर्थ–हे याज्ञवल्क्य! वीर्य्य जिसका आयतन, हृदय लोक और मन ज्योति है, निश्चय करके जो उस पुरुष को जानता है वही विद्वान् है, याज्ञवल्क्य ने कहा कि हां मैं उस पुरुष को जानता हूं वह यही पुत्रमय=पितृसम्बन्धी अस्थि, मज्जा और शुक्ररूप पुरुष है, इसी विषयक आपका प्रश्न था, कुछ अधिक पूछना चाहें तो पूछें, मैं उत्तर दूंगा, फिर विदग्ध ने कहा कि उसका देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि उसका देवता प्रजापति=पिता है अर्थात् पिता से ही पुत्र के शरीर की उत्पत्ति होती है॥

सं०–अब याज्ञवल्क्य विदग्ध के प्रति दया से कथन करते हैं:—

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यः त्वाꣳ स्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता३ इति॥१८॥

अर्थ–हे विदग्ध? निश्चयकरके इन ब्राह्मणों ने तुमको अङ्गारावक्षयण=संदंशनस्थानी बनाया है अर्थात् जिस प्रकार चिमटा अङ्गारे को पकड़ता हुआ दोनों ओर से दग्ध होता है इसीप्रकार तुम मेरे सम्मुख प्रश्नोत्तर करने से असन्त दुःखी हो क्योंकि मैं तुम्हारे कठिन से कठिन प्रश्नों का उत्तर भलेप्रकार दे रहा हूं, इसलिये मैं तुम से दयापूर्वक कहता हूं, कि तुम अतिप्रश्न करने से निवृत्त होजाओ।

सं०-अब विदग्ध कथन करता है :-

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्मविद्वानिति दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥ १९ ॥

अर्थ-हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने आपको ब्रह्मवेत्ता समझकर बड़े अभिमान से कुरु तथा पञ्चाल देश वासी ब्राह्मणों की निन्दा करते हुए कहते हो कि इन ब्राह्मणों ने तुमको संदंशन स्थानी बनाया है, मैं तुम से पूछता हूं कि क्या तुमको दिग्विषयक ब्रह्मज्ञान है, या यों कहो कि क्या आप दिशाओं को भले प्रकार जानते हैं ? यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि मैं केवल दिशा ही नहीं किन्तु उनके देवता तथा प्रतिष्ठा को भी जानता हूं,फिर विदग्ध ने कहा कि यदि तुम देवता और प्रतिष्ठा सहित दिशाओं को जानते हो तो बतलाओ कि:-

किं देवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि

रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येव मेवैतद्याज्ञवल्क्य।२०।

अर्थ-प्राची दिशा में कौन देवता है ! याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि इस दिशा का आदित्य=सूर्य्यादिकों का प्रकाशक परमात्मा देवता है, फिर विदग्ध ने पूछा कि वह आदित्य किस में प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि चक्षु में, क्योंकि उसी के प्रकाश से चक्षु रूप के देखने में समर्थ होता है, फिर उसने पूछा कि चक्षु किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि रूप में, क्योंकि निश्चयकरके पुरुष चक्षु से ही रूप को देखता है, विदग्ध ने कहा कि रूप किसमें प्रतिष्ठित हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि हृदय में, क्योंकि पुरुष हृदय से ही रूप का अनुभव तथा स्मरण करता है, विदग्ध ने कहा कि हां ठीक है ॥

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति-यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदाह्येव श्रद्धत्तेऽथदक्षिणां ददाति श्रद्धायाᳶह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धाप्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जा-

नाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवती-
त्येव मेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २१ ॥

अर्थ-फिर विदग्ध ने पूछा कि दक्षिण दिशा का देवता कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि यम=सब का नियमन करने वाला परमात्मा ही देवता है, फिर विदग्ध ने कहा कि यम किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि यज्ञ में, क्योंकि यज्ञद्वारा ही परमात्मा की प्रतिष्ठा होती है, प्रश्न-यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ? उत्तर-दक्षिणा में, प्रश्न-दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है ? उत्तर-श्रद्धा में,क्योंकि पुरुष जब श्रद्धालु होता है तभी दक्षिणा देकर यज्ञ की पूर्त्ति को सम्पादन करता है, इसलिये श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है ? प्रश्न-श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है ? उत्तर-हृदय में, क्योंकि हृदय से ही पुरुष श्रद्धा का अनुभव करता है,या यों कहो कि सत्वगुण की अधिकता से हृदय में श्रद्धा उत्पन्न होती है, विदग्ध ने कहा कि हां ठीक है ॥

किंदेवतोस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुण देवत इति स वरुणः कस्मिन्प्र-तिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन् न्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नुरेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्र-तिरूपं जातमाहुर्हृदयादिवसृप्तो हृदया

दिवनिर्मित इति हृदयेह्येवरेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येव मेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

अर्थ–विदग्ध ने पूछा कि आप प्रतीची दिशा में किस देवता को मानते हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि वरुण देवता को अर्थात् अपनी व्याप्तिद्वारा सब को आच्छादित करने वाला परमात्मा ही वरुण देवता है, प्रश्न–वरुण किसमें प्रतिष्ठित है ? उत्तर–जलों में, जल यहां पदार्थमात्र का उपलक्षण है, प्रश्न–जल किसमें प्रतिष्ठित है ? उत्तर–वीर्य्य में, क्योंकि जल रसरूप परिणाम द्वारा वीर्य्य में अधिकता से पाये जाते हैं, प्रश्न–वीर्य्य किसमें प्रतिष्ठित है ? उत्तर–हृदय में, क्योंकि हृदय से ही कामोत्पत्ति होती है, इसीलिये उत्पन्न हुए पुत्र को कहते हैं कि "हृदयादिवसृप्तो हृदयादिव निर्मित इति"=यह पिता के हृदय से निकला और हृदय से ही बना है, इसलिये वीर्य्य को हृदय में प्रतिष्ठित मानना ही ठीक है, विदग्ध ने कहा कि हां सत्य है ॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोम देवत इति स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नुदीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्येह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति

हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २३ ॥

अर्थ–विदग्ध ने कहा कि आप उदीची दिशा में किस देवता को मानते हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि सोम देवता को अर्थात् कर्मफलरूप अमृत को उत्पन्न करने वाला होने से परमात्मा ही " सोम " है, प्रश्न–सोम किसमें प्रतिष्ठित है ? उत्तर–दीक्षा=यज्ञसम्बन्धी नियम में,प्रश्न–दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ? उत्तर–सत्य में, इसी कारण दीक्षित हुए पुरुष को कहते हैं कि " सत्यं वद "=सत्य बोल, प्रश्न–सत्य किसमें प्रतिष्ठित है ? उत्तर–हृदय में, क्योंकि पुरुष हृदय से ही सत्य का अनुभव करता है, इसलिये हृदय में ही सत्य की प्रतिष्ठा माननी चाहिये, विदग्ध ने कहा कि हां ठीक है ।

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥ २४ ॥

अर्थ–फिर विदग्ध ने पूछा कि ध्रुवा नामक दिशा में आप किस देवता को मानते हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि अग्नि

देवता को, क्योंकि सब का अग्रणी होने से परमात्मा का नाम ही " अग्नि " है, प्रश्न–अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है ? उत्तर– वेद-रूप बाणी में, प्रश्न–बाणी किसमें प्रतिष्ठित है ? उत्तर–हृदय में, क्योंकि प्रथम हृदय से ही बाणी का चिन्तन किया जाता है प्रश्न–हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ? इसका उत्तर आगे के श्लोक में कथन करते हैं॥

अहँल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैत-दन्यत्रास्मन्मन्यासै यद्ध्येतदन्यत्रास्मत् स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयांसि वैनद्विम-थ्नीरान्निति॥ २५॥

अर्थ–याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे अहँल्लिक=पिशाचवत भाषण करने वाले विदग्ध क्या तु शरीर से हृदय को अन्यत्र प्रतिष्ठित मानता है, यदि शरीर से अन्यत्र हृदय=लिङ्गशरीर प्रतिष्ठित हो तो निश्चय करके इसको "श्वानो वैनदद्युर्वयाꣳसि वैनद्विमथ्नीरन्निति"=कुत्ते खाजायं और गिद्धादि पक्षी इसको नोच डालें, इसलिये यह शरीर में ही प्रतिष्ठित है।

कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्य पान इति कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्यु-

दान इति कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान् पुरुषान्नि-रुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति तꣳ ह न मेने शाकल्यस्त-स्य ह मूर्धा विपपातापि हास्य परिमोषि-णोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः॥२६॥

अर्थ–फिर विदग्ध ने कहा कि यह स्थूल और सूक्ष्म शरीर किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि प्राण में, प्रश्न-प्राण किसमें प्रतिष्ठित है? उत्तर–अपान में, प्रश्न-अपान किसमें प्रतिष्ठित है? उत्तर–व्यान में, प्रश्न–व्यान किसमें प्रतिष्ठित है? उत्तर–उदान में, प्रश्न- उदान किसमें प्रतिष्ठित है? उत्तर–समान में, प्रश्न- समान किसमें प्रतिष्ठित है? उत्तर–सूत्रात्मा में, प्रश्न-सूत्रात्मा किसमें प्रतिष्ठित है? उत्तर–अक्षर पदवाच्य अन्तर्यामी कूटस्थ ब्रह्म में, वही परमात्मा जो सबका आश्रय है और जिसको पीछे नेतिं, नेति शब्दों द्वारा प्रतिपादन किया गया

है वह अगृह्य=किसी इन्द्रिय का विषय नहीं, अशीर्य=उपचयापचय धर्म से रहित है, असङ्ग =किसी से लिपायमान नहीं होता असित=सब प्रकार के बन्धन से रहित है, न वह दुखी होता और न नष्ट होता है ।

हे विदग्ध ! ऊपर जो आठ आयतन, आठ लोक, आठ देव और आठ पुरुष कथन किये हैं इनको जो भलेप्रकार निश्चय करके अपने २ कारण के आश्रित समझकर अशनायादि धर्मों से वर्जित जिस औपनिषद् पुरुष को जानता है वह पुरुष कौन है ? यदि तुम मेरे इस प्रश्न का उत्तर न दोगे तो तेरा मूर्द्धा गिरजायगा, याज्ञवल्क्य के इस प्रश्न का उत्तर विदग्ध न देसका तब उसका मूर्द्धा गिरगया अर्थात् वह लज्जित होकर मृत्यु को प्राप्त होगया, जब उसके शिष्य उसकी गठड़ी बांधकर मृतक संस्कार करने के लिये लेजारहे थे कि मार्ग में चोर धन समझकर बलात्कार उनसे छीनकर लेगये और उसका मृतकसंस्कार न होने पाया ।

सं०—अब याज्ञवल्क्य सब ब्राह्मणों को सम्बोधन करके कथन करते हैं:—

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो योवः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान्वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ।२७।

अर्थ—हे ब्राह्मणो ! तुम में से जिस २ का सङ्कल्प हो वह मेरे प्रति प्रश्न करे अथवा तुम सब में से जिसकी इच्छा हो

उससे मैं प्रश्न करता हूं या आप सब से मैं पूछता हूं, यह सुनकर किसी का भी साहस न हुआ कि कुछ बोलसके।

सं०–अब याज्ञवल्क्य ब्राह्मणों के प्रति जगत् के कारण विषयक प्रश्न करने के लिये प्रथम पुरुष की वृक्ष से समानता कथन करते हैं:–

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा। तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिकाबहिः ॥ १ ॥ त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः। तस्मात्तदाऽऽतृराणात्प्रैति रसोवृक्षादिवाऽऽहतात् ॥ २॥ मा ᳡ सान्यस्य शकराणि किनाट ᳡ स्नावतत्स्थिरम्। अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥३ ॥ यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥ ४ ॥ रेतस इति मावोचत जीवतस्तत्प्रजायते। धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य संभवः ॥ ५ ॥ यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥ ६ ॥ जात एव

न जायते कोन्वेनं जनयेत्पुनः विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥७॥ २८॥

अर्थ–जिसप्रकार लोक में वृक्ष होता है निश्चयकरके इसी प्रकार यह पुरुष है अर्थात् वृक्ष के पर्णस्थानी पुरुष के लोम और उसकी बाह्य शुष्क त्वचा के समान इसकी त्वचा है (१) जिस प्रकार त्वचा के उत्पाटन से पुरुष के शरीर से रुधिर निकलता है इसी प्रकार वृक्ष की त्वचा से निर्यास=चिपकता हुआ पानी निकलता है, जैसाकि वृक्ष के काटने से देखा जाता है (२) वृक्ष के छिल्क स्थानीय पुरुष का मांस और वृक्ष के नरम छिलके के समान पुरुष की हड्डी और नसों के मध्य लगे हुए छोटे२ रेशे हैं, और वृक्ष की अन्दर की लकड़ियों के समान पुरुष की अस्थियें हैं और गुदा के समान ही पुरुष का मज्जा है (३) पर हे ब्राह्मणो ! जिस प्रकार काटा हुआ वृक्ष पुनः मूल से नया उगता है, इसी प्रकार मृत्यु से मारा हुआ पुरुष किस मूल से फिर उत्पन्न होता है (४) यदि वीर्य्य से कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि वह जीवित पुरुष से उत्पन्न होता है मृत से नहीं, और वृक्ष की बीज तथा काण्ड दोनों से उत्पत्ति देखी जाती है पर इस प्रकारका कोई धर्म मृत पुरुषमें नहीं पाया जाता जिससे उसकी पुनः उत्पत्ति मानी जाय(५) यदि वृक्ष को मूल से ही उखाड़ दियाजाय तो फिर वही नहीं लगता, इसी प्रकार जब तक जिस पुरुष को यथार्थ ज्ञान नहीं होता वह मृत्यु से मारा हुआ फिर किस मूल से उत्पन्न होता है (६)

यदि यह कहाजाय कि जो मरजाता है वह फिर उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि एकवार उत्पन्न होचुका है और जो उत्पन्न होगा उसी के लिये कारण का विचार करना चाहिये नकि जो एकवार उत्पन्न होचुका है अर्थात् स्वभाव से ही पुरुष की उत्पत्ति होती है इसका कोई कारण नहीं, यह इसलिये ठीक नहीं कि मृत पुरुष का पुनः जन्म पाया जाता है, यदि ऐसा न हो तो कृतनाश=किये हुए कर्मों का नाश और अकृताभ्यागम=न किये हुए कर्मों के फल की प्राप्तिरूप दोष की आपत्ति होगी, इसलिये मैं तुम से पूछता हूं कि बतलाओ मृत पुरुष की पुनः उत्पत्ति का कौन कारण है, ? इस प्रकार पूछने पर जब किसी ने उत्तर न दिया तब याज्ञवल्क्य ने स्वयं ही कथन किया कि हे ब्राह्मणो! "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"=कूटस्थ चिन्मात्र आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही जगत् का कारण है, या यों कहो कि मृत पुरुष को पुनः जन्म देने के लिये वही समर्थ है और वही ब्रह्मयज्ञादि कर्म करने वाले यजमानों के कर्मों का फलदाता है और वही तीनों प्रकार की एषणाओं से व्युत्थान को प्राप्त हुए ब्रह्मवेत्ता पुरुष की परमगति है अर्थात् जबतक उस पुरुष को परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता तबतक वह अपने अदृष्टों के अधीन हुआ पुनः २ जन्मों को प्राप्त होता रहता है और उसके अदृष्टानुसार ही परमात्मा नाना योनियों में उसको फल देते हैं, इस प्रकार अदृष्ट ही मनुष्य के पुनर्जन्म का कारण हैं, ऐसा मानने से किसी प्रकार के अकृताभ्यागमरूप दोष की आपत्ति नहीं होसक्ती पर जब पुरुष सत्पुण्यों के उपार्जनद्वारा अन्तःकरण के शुद्ध होने पर श्रवण मनन तथा निदिध्यासन को

भले मकार करता हैं तब उसके सब पापकर्म क्षीण होजाते हैं और परमात्म साक्षात्कार से वह पुनः जन्म मरण के बन्धन में नहीं आता ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
बृहदारण्यकार्य्यभाष्ये तृतीयः
अध्यायः समाप्तः

ओ३म्

अथ चतुर्थः अध्यायः प्रारभ्यते

सं०-तृतीयाध्याय में जल्पकथा द्वारा ब्रह्म का बर्णन किया अब वादकथा द्वारा उसी ब्रह्म का विस्तारपूर्वक निपरूण करने के लिये इस अध्याय का आरम्भ करते हैं:—

जनकोह वैदेह आसाञ्चक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवब्राज तꣳहोवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तानित्युभयमेव सम्राडिति होवाच ॥ १ ॥

अर्थ-राजा जनक ने ब्रह्मवेत्ताओं से मिलने के लिये एक समय नियत कररखा था, उस काल में जनक बैठे हुए किसी ब्रह्मवेत्ता की प्रतीक्षा कर रहे थे कि उसी समय में याज्ञवल्क्य उनके समीप आ उपस्थित हुए, उनको देखकर बड़े आदरपूर्वक जनक ने पूछा कि हे भगवन् ! किस निमित्त से पधारे हैं ? क्या गौयें लेने के लिये अथवा मेरे प्रश्नों का उत्तर देने के लिये कृपा की है ? याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे सम्राट् दोनों निमित्त से आया हूं ॥

सं०-अब याज्ञवल्क्य राजा को उपदेश करते हैं:—

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृ-

मान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छै-
लिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किꣳ
स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रति-
ष्ठां नमेब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति
स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य वागेवायतनमा-
काशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत का
प्रज्ञता याज्ञवल्क्य वागेव सम्राडिति हो-
वाच वाचा वै सम्राड्बन्धुः प्रज्ञायत ऋ-
ग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इति-
हासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः
सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ
हुतमाशितं पायितमयञ्चलोकः परश्चलो-
कः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राड् प्रज्ञा
यन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग्ज-
हाति सर्वाण्येन भूतान्यभिरक्षन्ति देवो
भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपा-
स्ते हस्त्यृषभꣳसहस्रं ददामीति होवाच
जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पि-

तामेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥२॥

अर्थ-याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे राजन् ! जो कुछ तुमको किसी ने बतलाया है वह सुनाओ, राजा बोले कि हे भगवन् ! शैलिनि=शिलिन के पुत्र जित्वा नामक ब्राह्मण ने मेरे प्रति उपदेश किया कि " वाग्वै ब्रह्म इति "=निश्चयकरके वाणी ही ब्रह्म है, याज्ञवल्क्य बोले कि हां जिसप्रकार मातृमान्=माता से, पितृमान्=पिता से, आचार्य्यवान्=आचार्य्य से शिक्षा पाने-वाला उपदेश करे वैसे ही शैलिनि ने आपके प्रति वाणी को ब्रह्म कथन किया है, क्योंकि वाणी अर्थ का प्रकाशक होने से ब्रह्म है; यदि आपको शैलिनि उपदेश न करता तो उसका अध्ययन किया हुआ निष्फल था, पर हे राजन् ! उसने वाग् रूप ब्रह्म का आयतन=शरीर और प्रतिष्ठा का कथन किया वा नहीं ? राजा ने कहा कि " न मेऽब्रवीदिति "=मुझको इनका उपदेश नहीं किया, मुनि बोले कि हे राजन् ! यदि ऐसा है तो "एकपाद्वा एतत्"=यह ब्रह्म का पूर्ण उपदेश नहीं, राजा ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! कृपाकरके आप उसका पूर्णरूप से उप-देश करें, याज्ञवल्क्य बोले कि हे सम्राट् ! वाक् इन्द्रिय ही वाणी का आयतन=शरीर है और आकाश=ब्रह्म ही उसकी प्रतिष्ठा है अर्थात् ब्रह्म की सत्ता से ही वागिन्द्रिय शब्द व्यवहार करता है, इसलिये वाक्रूप ब्रह्म की " प्रज्ञा " नाम से उपासना करे, राजा ने कहा कि हे भगवन् ! वह प्रज्ञा कौन है ? याज्ञवल्क्य बोले कि हे सम्राट् ! वाक् ही प्रज्ञा है, क्योंकि निश्चयकरके

वाक् द्वारा ही बन्धु का ज्ञान होता है, या यों कहो कि वेदरूप वाणी से ही बन्धु=सब के हितकारी परमात्मा का ज्ञान होता है, जैसाकि "स नो बन्धुर्जनिता स विधाता" यजु० ३२। १० इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि वही बन्धु और वही पिता आदि है, इसलिये वाक् ही प्रज्ञा है, हे राजन् ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और इतिहासपुराण विद्या=नक्षत्रादि की विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट=यागादिकर्म, हुत=अग्निहोत्र के साधन हुतद्रव्य, आशित=अन्नदान, पायित=दान योग्य प्रिय पदार्थ, यह लोक, परलोक और सब भूत वाणी से ही जाने जाते हैं, इसलिये निश्चयकरके वाक् ही ब्रह्म=बड़ा है, जो इस प्रकार जानकर वाणी की उपासना करता है उसका वाणी कभी परित्याग नहीं करती और सब भूत उसकी रक्षा करते हैं, जो वागुपासक=वाणी को ब्रह्म समझकर तद्विहित कर्मों का अनुष्ठान करता है वह देव होकर विद्वानों के मध्य विराजमान होता है, यह सुनकर राजा ने कहा कि हे भगवन् ! मैं गज समान बलवाले वृषभ सहित सहस्र गौयें आपकी भेट करता हूं, याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे राजन् ? मुझको पिता की शिक्षा है कि जबतक शिष्य को पूर्ण बोध न हो तबतक उससे कोई भेट न ले अर्थात् गुरु दक्षिणा ग्रहण न करे ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः शौल्बायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्त-

था तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मे ब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट् कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र बधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् कामाय प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्मनैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पितामेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ३ ॥

अर्थ–हे राजन् ! किसी ने आपके प्रति और कुछ उपदेश किया होतो वह भी कहिये, राजा बोले कि हे भगवन् ! शौल्बायन=

शुल्व के पुत्र उदङ्क ने मेरे प्रति उपदेश किया था कि **"प्राणो वै ब्रह्मेति"**=निश्चयकरके प्राण=वायु ही ब्रह्म है, याज्ञवल्क्य बोले कि जैसे मातृमान्, पितृमान्, आचार्य्यवान् उपदेश करे वैसे ही शौल्वायन ने आपके प्रति प्राणरूप ब्रह्म का उपदेश किया है सो सत्य है, क्योंकि प्राण के बिना कुछ नहीं होसक्ता, पर यह बतलाओ कि उसने प्राण के आयतन तथा उसकी प्रतिष्ठा का भी उपदेश किया वा नहीं ? राजा ने कहा कि नहीं किया,याज्ञवल्क्य बोले कि यदि ऐसा है तो यह भी ब्रह्म का पूर्ण उपदेश नहीं,राजा ने कहा कि कृपाकरके आपही उपदेश करें, याज्ञवल्क्य बोले कि हे राजन् ! अध्यात्म वायु सहित घ्राणेन्द्रिय ही प्राण का आयतन और आकाश उसकी प्रतिष्ठा है, क्योंकि परमात्मा की सत्ता से ही घ्राणेन्द्रिय जीवित रहसक्ता है, इसलिये प्राणरूप ब्रह्म की प्रिय नाम से उपासना करे, फिर राजा बोले कि हे भगवन् ! इसमें प्रियपन क्या है ? मुनि ने कहा कि हे सम्राट् ! प्राण ही प्रिय है, क्योंकि इसी प्राण की रक्षा के लिये आर्त्त=दुःखी पुरुष अयाज्य=पतितों को यज्ञ कराते और अप्रतिगृह्य=अनधिकारियों से भी दान लेते हैं, और इसी प्राण की रक्षा के लिये धनलिप्सु पुरुष डाकुओं का भय न करते हुए भी दिशा विदिशा में भ्रमण करते हैं, इत्यादि, सब चेष्टा पुरुष प्राण के लिये ही करते हैं, इसलिये जीवन का हेतु होनेसे प्राण ब्रह्म है, जो प्राण के महत्व को इस प्रकार जानता है उसको प्राण कभी परित्याग नहीं करता अर्थात् उसकी अपमृत्यु नहीं होती और सब भूत उसकी रक्षा करते तथा वह प्राणवित् विद्वानों में मान पाता है, यह सुनकर राजा ने कहा कि हे भगवन् ! मैं गज के

समान बलवाले वृषभसहित सहस्र गौयें भेट करता हूं, तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे राजन् ! मुझको पिता की शिक्षा है कि जबतक शिष्य को पूर्ण बोध न हो तबतक उससे किसी प्रकार की गुरुदक्षिणा ग्रहण न करे।

यदेवते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मेबर्क्कुर्व्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्य्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि कि॰स्यादित्य ब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां नमेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिरक्षन्ति देवो भूत्वा दे-

वानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते ह-
स्त्यृषभᳫ सहस्रं ददामीति होवाच जन-
को वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता-
मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ४ ॥

अर्थ-हे राजन् ! किसी ने आपके प्रति कुछ और उपदेश किया हो तो वह भी कहिये, राजा बोले कि हे भगवन् ! वार्ष्ण= वृष्ण के पुत्र बर्कु ने मेरे प्रति उपदेश किया था कि "चक्षुर्वै ब्रह्म"=निश्चय करके चक्षु=आदित्य ब्रह्म है, याज्ञ-वल्क्य बोले कि जैसे कोई आप्त पुरुष उपदेश करे वैसे ही बर्कु ने आपके प्रति चक्षुरूप ब्रह्म का उपदेश किया है, सो ठीक है, क्योंकि जिसके चक्षु नहीं उसका जीवन क्या है, पर यह बतलाओ कि उसने चक्षु के आयतन तथा प्रतिष्ठा का भी उपदेश किया वा नहीं ? राजा ने कहा कि नहीं किया, तब मुनि बोले कि यदि ऐसा है तो यह उपदेश पूर्ण नहीं, राजा ने कहा कि कृपाकरके आप ही पूर्ण उपदेश करें, तब याज्ञवल्क्य बोले कि उसका चक्षु-रिन्द्रिय ही आयतन और आकाश उसकी प्रतिष्ठा है, क्योंकि परमात्मा की सत्ता पाकर ही चक्षुरिन्द्रिय रूप का अनुभव करता है, इसलिये हे राजन् ! आदित्य की सत्य नाम से उपासना करे, राजा बोले कि हे भगवन् ! इसकी सत्यता क्या है ? मुनि ने कहा कि चक्षुरिन्द्रिय ही इसका सत्यपन है, क्योंकि चक्षु से देखने वाले को ही कहते हैं कि " अद्राक्षीरिति "=तुमने देखा है, और वह उत्तर देता है कि " अद्राक्षमिति "=हां मैंने देखा है, इस

प्रकार यदि वह दम्भ नहीं करता तो उसका देखा हुआ सत्य होता है, इसलिये चक्षुः सत्य और पदार्थ का यथावत् प्रकाशक होने से ब्रह्म=बड़ा है, हे राजन् ! निश्चयकरके जो इस प्रकार चक्षु=आदित्य तथा चक्षुरिन्द्रिय की महिमा को जानता है उसका चक्षु उसको कभी परित्याग नहीं करता अर्थात् उसके चक्षुरिन्द्रिय में तिमिरादि दोष उत्पन्न नहीं होते तथा सब भूत उसकी रक्षा करते हैं और चक्षुर्वित् पुरुष ही विद्वानों के मध्य प्रतिष्ठा पाता है ॥ (शेष पूर्ववत्)

यदेवते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्द्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्भारद्वाजोब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यश्रृण्वतो हि कि ँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठानन्त इत्येनदुपासीतकानन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपियां काञ्चदिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो

दिशो वै सम्राट् श्रोत्र ँ श्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैन ँ श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभ ँ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ५॥

अर्थ—मुनि बोले कि हे राजन् ! किसी ने आपके प्रति कुछ और उपदेश किया हो तो सुनाओ, राजा ने कहा कि हे भगवन् ! भरद्वाज गोत्रोत्पन्न गर्दभिविपीत नामक ब्राह्मण ने मेरे प्रति उपदेश किया था कि "श्रोत्रं वै ब्रह्मेति"=निश्चयकरके श्रोत्र= दिशा ब्रह्म है, याज्ञवल्क्य बोले कि जैसे कोई आप्त पुरुष उपदेश करे वैसे ही गर्दभिविपीत ने आपके प्रति श्रोत्ररूप ब्रह्म का उपदेश किया सो ठीक है, क्योंकि जो सुन नहीं सक्ता उसका जीवन क्या है, पर यह बतलावें कि उसने श्रोत्र के आयतन और उसकी प्रतिष्ठा का भी उपदेश किया वा नहीं ? राजा ने कहा कि नहीं किया, तब मुनि बोले कि यदि ऐसा है तो यह उपदेश भी पूर्ण नहीं, फिर राजा ने कहा कि कृपाकरके आप ही पूर्ण उपदेश करें, तब मुनि ने उपदेश किया कि उसका श्रोत्र इन्द्रिय ही आयतन और आकाश प्रतिष्ठा है अर्थात् परमात्मा की सत्ता पाकर ही श्रोत्रेन्द्रिय शब्द का ग्रहण करने में समर्थ

होता है, इसलिये हे राजन् ! श्रोत्र की अनन्त नाम से उपासना करे, राजा ने कहा कि इसकी अनन्तता क्या है ? मुनि बोले कि दिशाओं का अपना आप ही अनन्त है, क्योंकि पुरुष जिस २ दिशा को जाता है उसका अन्त नहीं पाता, इसलिये दिशाओं को अनन्त मानना अयुक्त नहीं, निश्चयकरके जो इस प्रकार दिशाओं को अनन्त समझकर श्रोत्ररूप ब्रह्म की उपासना करता है, या यों कहो कि सर्वत्र शब्द साक्षात्कार में परमात्मा की सत्ता का अनुभव करता है उसको श्रोत्रेन्द्रिय कभी नहीं त्यागता तथा सब भूत उसकी रक्षा करते हैं और ऐसा पुरुष विद्वानों में मान पाता है ॥ (शेष पूर्ववत्)

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि कि ँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मे ब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठानन्द इत्येनदुपासीत का आनन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै

सम्राट् स्त्रियमभिहाचार्य्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वाने तदुपास्ते हस्त्यृषभ ँ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पितामेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥६॥

अर्थ–याज्ञवल्क्य बोले कि हे राजन् ! किसी ने कुछ और उपदेश किया हो तो वह भी सुनाओ, राजा ने कहा कि जाबाल=जबाला के पुत्र सत्यकाम ने मुझको उपदेश किया कि "मनो वै ब्रह्मेति" = निश्चयकरके मन=चन्द्रमा ब्रह्म है, मुनि बोले कि जैसे कोई आप्त पुरुष उपदेश करे वैसा ही यह उपदेश है, क्योंकि जिसका मन नहीं वह क्या करसक्ता है, पर यह बतलावें कि उसने उसका आयतन तथा प्रतिष्ठा का भी उपदेश किया वा नहीं ? राजा ने कहा कि नहीं, फिर मुनि बोले कि यदि ऐसा है तो यह भी ब्रह्म का पूर्ण उपदेश नहीं, राजा ने कथन किया कि कृपाकरके आप ही इसको पूर्ण करें, याज्ञवल्क्य बोले कि हे राजन् ! मन ही इसका आयतन और आकाश प्रतिष्ठा है अर्थात् परमात्मा की सत्ता से ही मन जीव की सङ्कल्प विकल्पात्मक

वृत्तियों में सहायक होता है, इसलिये इसकी "आनन्द" नाम से उपासना करे. फिर राजा बोले कि इसकी आनन्दता क्या है? मुनि ने कहा कि मन ही आनन्द है, क्योंकि मन से ही स्त्री का सङ्कल्प करता है कि इसमें मेरे समान पुत्र हो, सो यही मन की आनन्दता है, हे राजन्! जो इसप्रकार मन को ब्रह्म=बड़ा समझकर उपासना करता है उसका मन उसको कभी परित्याग नहीं करता अर्थात् उसके मन में कभी व्यभिचार उत्पन्न नहीं होता, और सब भूत उसकी रक्षा करते तथा वह सब विद्वानों में प्रतिष्ठित होता है ॥ (शेष पूर्ववत्)

यदेवते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति तथा मातृमान्पितृमानाचार्य्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मे ब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठास्थितिरित्येन दुपासीत कास्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानामायतनꣳ हृदयं

वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये-
ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि
भवन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳ
हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षर-
न्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं वि-
द्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददा-
मीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच
याज्ञवल्क्यः पितामेऽमन्यत नाननुशि-
ष्य हरेतेति ॥ ७ ॥

अर्थ-याज्ञवल्क्य फिर बोले कि किसी ने और उपदेश किया हो वह भी सुनाओ, तब राजा ने कहा कि हे भगवन् ! शाकल्य=शकल के पुत्र विदग्ध ने मेरे प्रति उपदेश किया कि "हृदयं वै ब्रह्मेति"=निश्चयकरके हृदय=प्रजापति*ब्रह्म है, मुनि बोले कि यह उपदेश भी आप्तोक्त है पर यह बतलावें कि इसके आयतन तथा प्रतिष्ठा का भी उसने आपके प्रति उपदेश किया वा नहीं ! राजा बोले कि नहीं किया, मुनि ने कहा कि यदि ऐसा है तो यह उपदेश भी पूर्ण नहीं, फिर राजा ने नम्रभाव से कहा कि कृपाकरके आप ही पूर्ण करें, याज्ञवल्क्य ने कथन किया कि

*जिस बीजरूप शक्ति से हृदय की क्रिया होती है उसका नाम यहां "प्रजापति" है ॥

हृदय ही उसका आयतन और आकाश प्रतिष्ठा है, क्योंकि परमात्मा की सत्ता पाकर ही हृदय बलवान् होता है, इसलिये इसकी स्थिति नाम से उपासना करे, राजा ने फिर पूछा कि वह स्थिति क्या है ? मुनि बोले कि हृदय ही स्थिति है, क्योंकि हृदय ही सब भूतों का आयतन तथा प्रतिष्ठा है, इसलिये इसमें सब भूत प्रतिष्ठित होने के कारण हृदय ब्रह्म है, जो इस प्रकार हृदय को ब्रह्म समझकर उपासना करता है उसका हृदय उसको कभी परित्याग नहीं करता अर्थात् ऐसा पुरुष सदा उत्साही रहता, सब भूत उसकी रक्षा करते और वह विद्वानों में प्रतिष्ठा पाता है ॥ (शेष पूर्ववत्)

भाष्य-इस ब्राह्मण में जो वागादि इन्द्रियों को ब्रह्म कथन किया है वह उपासना के अभिप्राय से नहीं किन्तु ज्ञान के अभिप्राय से है अर्थात् वागादि ब्रह्मज्ञान के साधन होने से ब्रह्म=बड़े हैं, इसलिये इनके आयतन तथा प्रतिष्ठा का विचार इस ब्राह्मण में कियागया है, यदि यह प्रतीकरूप से ब्रह्म होते अथवा उपासना के अभिप्राय से इनको ब्रह्म कथन किया जाता तो इनके आयतन तथा प्रतिष्ठा का कदापि निरूपण न होता, क्योंकि ब्रह्म का कोई अन्य पदार्थ आयतन तथा प्रतिष्ठा नहीं होसक्ता,और युक्ति यह है कि उपनिषदों में अन्य उपासनाओं का निषेध करके एकमात्र परमात्मदेव को ही उपास्य विधान कियागया है, जैसाकि " अथ यो अन्यां देवतां उपासते"इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म से भिन्न देवताओं की उपासना का निषेध किया है, और इसी प्रकार केन में" तदेव ब्रह्म

त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" इत्यादि वाक्यों में भी एकमात्र ब्रह्म को ही उपास्य माना है, इससे स्पष्ट है कि "मनो वै ब्रह्म" इत्यादि कथन प्रतीकोपासना के अभिप्राय से नहीं किन्तु समनस्क होने के अभिप्राय से है अर्थात् मनस्वी पुरुष ही ब्रह्म को जानसक्ता है अन्य नहीं, इस प्रकार उक्त ब्राह्मण का तात्पर्य्य वाग्मि तथा मनस्वी होने में है प्रतीकोपासना में नहीं ॥

इति प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ द्वितीयं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब ब्रह्मज्ञानोपयोगी जीव की अवस्थाओं का वर्णन करते हैं:-

जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानुमाशाधीति सहोवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैव मेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्माऽस्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीत वेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्भ-

गवन् वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वैतेहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति ॥ १ ॥

अर्थ-जनक अपने आसन से उठकर याज्ञवल्क्य से बोले कि हे भगवन् ! नमस्तेऽस्तु, कृपाकरके आप मुझे और उपदेश कर कृतार्थ करें, याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे सम्राट् ! जिस प्रकार कोई पुरुष बड़ी यात्रा पूर्ण करने के लिये स्थल पर रथादिकों का और जल में नौकादिकों का आश्रय लेता है इसी प्रकार आप भी परलोक यात्रा को पूर्ण करने के लिये उपनिषदों के आश्रित हैं अर्थात् वागादि ब्रह्म विषयक ज्ञान से आप सम्पन्न हैं और अधीत वेद श्रुतोपनिषत्क तथा ऐश्वर्य्यवान् होने से पूज्य हैं, पर मैं आप से पूछता हूं कि आप देहत्यागानन्तर वागादि ब्रह्म विषयक ज्ञान से कहां जायंगे ? राजा बोले कि जिस अवस्था को मैं प्राप्त होऊंगा उसको आप ही भले प्रकार जानते हैं, मैं नहीं जानता, मुनि ने कहा कि अच्छा मैं उस अवस्था का आपके प्रति कथन करता हूं जिसको आप प्राप्त होंगे, राजा बोले कि कृपा करके कथन करें।

सं०-अब याज्ञवल्क्य जीव को जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था का साक्षी कथन करते हैं:-

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्ध ँ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते

परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥ २ ॥

अर्थ—जाग्रतावस्था में जो यह दक्षिण अक्षिगत पुरुष उसका नाम "इन्ध" है, इसी इन्ध नाम वाले पुरुष को छिपाकर विद्वान् लोग इन्द्र शब्द से कथन करते हैं, क्योंकि वह रहस्य के प्रिय होते हैं।

अथैतद्वामेऽक्षिणि पुरुषरूपमेषास्य पत्नी विराट्, तयोरेष सꣳस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहित पिण्डोथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः सञ्चरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैताहितानामनाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छरीरादात्मनः ॥ ३ ॥

अर्थ—और जो यह वाम अक्षिगत पुरुष है वही इस इन्द्र की

पत्नि इन्द्राणि कहाती है, जो प्रसिद्ध हृदयान्तर्वर्ति आकाश है यही इन दोनों का संस्ताव=शयन स्थान है, और जो हृदयवर्ति लोहित पिण्ड=खाये हुए अन्न का अत्यन्तशूक्ष्म नाडीगत रस वह उक्त दोनों का अन्न है, जो हृदय में जाल के समान लिपटा हुआ मांस है वही इन दोनों का प्रावरण=ओढ़ने का वस्त्र है, जो हृदय से ऊपर की ओर नाडी जाती है वही इनकी संचरणी= जाग्रत् में आने के लिये सड़क है,और जो हृदय के भीतर बाल के सहस्र भाग समान अत्यन्त सूक्ष्म हित नामक नाडियें हैं इन्हीं के द्वारा रसविशेष सब देह में व्याप्त होता हुआ इनका भोग बनता है, इसलिये स्वप्नावस्था का साक्षी जीव इस शारीरात्मा=जाग्रतावस्था के भोक्ता की अपेक्षा अत्यन्त शूक्ष्म आहार वाला होने के कारण "प्रविविक्ताहारतर" कहाता है।

तस्य प्राचीदिक् प्राञ्चः प्राणादक्षिणा- दिग्दाक्षिणे प्राणःप्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वादि- गूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः सर्वादिशः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्या- त्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्य्यो नहि शी- र्य्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते- न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोसीति होवाच

याज्ञवल्क्यः सहोवाच जनको वैदेहोऽभयन्त्वा गच्छताद्याज्ञवल्क्ययो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मी ३ इति ॥ ४ ॥

अर्थ-उसके नासाग्रवर्ती प्राण ही प्राची दिक्,दक्षिण दिक्वर्ति प्राण दक्षिण दिशा, पृष्ठभागवर्ती प्राण प्रतीची दिशा, वाम भागवर्ति प्राण उदीची दिशा, ऊर्ध्व=मूर्द्धागत प्राण ऊर्ध्वादिशा, अधोगत प्राण अवाची दिशा और सब शरीरगत प्राण सब दिशायें हैं, इस प्रकार जिसकी सत्ता से यह जीव अहर्निश जाग्रतादि अवस्थाओं का भोक्ता होता है वही नेति २ शब्दों द्वारा प्रतिपाद्य आत्मा ब्रह्म है, वह किसी इन्द्रिय का विषय न होने से अगृह्य, क्षीण न होने से अशीर्य्य, लिपायमान न होने से असङ्ग, किसी प्रकार के बन्धन में न आने से असित, दुखी न होने से आनन्दस्वरूप और एकरस रहने से सन्मात्र कहाता है, हे जनक ! इसी आत्मा को जानकर अब तू अभय को प्राप्त होगया है, जनक बोले कि हे भगवन् ! आपने मुझको अभय ब्रह्म का उपदेश किया है इसलिये आपको भी अभय प्राप्त हो, मैं आप को नमस्ते करता हूं, यह विदेह देश आपके यथेष्ट भोग के लिये होवें अर्थात् इस राज्य के आप ही स्वामी हैं और मैं आप का सेवक हूं ।

भाष्य-इस ब्राह्मण में जाग्रतादि अवस्थाओं के अभिमानी जीव का वर्णन कियागया है और इसके प्राण का वर्णन प्राची आदि दिशाओं के अलङ्कार द्वारा इस अभिप्राय से किया है

कि स्वप्नादि अवस्थाओं में भी इसके प्राण यथावत् चेष्टा करते रहते हैं, इन सब अवस्थाओं का नियन्ता एकमात्र परमात्मा निराकार पर्याप्तकाम होने से असङ्गादि विशेषणों द्वारा कथन किया गया है ॥

मायावादियों ने इस ब्राह्मण को जीव ब्रह्म की एकता में लगाया है कि जो जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का जीवरूप से अभिमानी है वही उपाधि से विनिर्मुक्त हुआ २ " नेति नेति " वाक्यों द्वारा वर्णन किया गया है, उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि इस अध्याय के उपक्रम तथा उपसंहार से यह सिद्ध नहीं होता कि जीव ब्रह्म है प्रत्युत इससे भिन्न एकमात्र ब्रह्म की ही उपासना सिद्ध होती है जिसको आगे स्पष्टरूप से वर्णन कियागया है ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ तृतीयं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब उक्त अर्थ का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं:--

जनकꣳ ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेनेन वदिष्य इत्यथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समुदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ सहकाम प्रश्नमेव वव्रे-

तꣳहास्मै ददौ तꣳ सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ॥१॥

अर्थ—याज्ञवल्क्य यह विचार करके कि अब मैं सम्वाद न करूंगा जनक के समीप आये, जनक ने उनका यथायोग्य सत्कार किया, और वह दोनों यज्ञशाला में बैठकर अग्निहोत्र सम्बन्धी विचार करने लगे, उस विचार से प्रसन्न हुए मुनि ने राजा को कहा कि आप मेरे से वर मांगें, तब राजा ने अपनी इच्छानुसार प्रश्न करने का वर मांगा, याज्ञवल्क्य ने कहा तथाऽस्तु, फिर राजा ने यह प्रश्न किया कि:—

याज्ञवल्क्य किं ज्योतिरयं पुरुष इति आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचादित्येनैव ज्योतिषास्तेपल्ययते कर्मकुरुते विपल्येतीत्येवमेवतद्याज्ञवल्क्य ॥ २ ॥

अर्थ—हे याज्ञवल्क्य "किं ज्योतिरयं पुरुषः"=यह पुरुष किस ज्योति=प्रकाश से जाग्रत में खानपानादि व्यवहार करता है? मुनि ने उत्तर दिया कि "आदित्यज्योति सम्राडिति"=हे सम्राट्! आदित्य की ज्योति से यह व्यवहार करता है अर्थात् सूर्य के प्रकाश में ही बैठता, चलता, फिरता और नाना प्रकार के व्यापार करता है।

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किं ज्योतिरेवा यं पुरुष इत्य-

ग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषास्तेपल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येव मेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ३ ॥

अर्थ–हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य्य के अस्त होने पर यह पुरुष किस ज्योति से व्यवहार करता है ? मुनि बोले कि उस काल में इसकी ज्योति चन्द्रमा होता है, उसी के प्रकाश से चलना फिरना आदि व्यवहार करता है, राजा ने कहा कि हां ठीक है।

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किं ज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषस्तेपल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ४ ॥

अर्थ–सूर्य्य तथा चन्द्रमा के अस्त होने पर पुरुष के व्यवहारार्थ कौन ज्योति होती है ? उत्तर–अग्नि के प्रकाश से ही अपने सब व्यवहार करता है, राजा ने कहा कि हां ठीक है।

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किं ज्योतिरेवायं पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषास्तेपल्ययते कर्म कुरुते

विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरयत्युपैव तत्रन्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ५ ॥

अर्थ—सूर्य्य, चन्द्रमा तथा अग्नि के शान्त होने पर सर्वथा अन्धकार में पुरुष के व्यवहारार्थ कौन ज्योति होती है ? उत्तर—वाक्, इस अवस्था में पुरुष वाणी द्वारा ही सब व्यवहार करता है, क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि जब अन्धकार में पुरुष को अपना हाथ भी दृष्टिगत नहीं होता तब जिस ओर से पशु आदि का शब्द आता है उसी ओर उसके निकट जाता है राजा ने कहा कि हां ठीक है।

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते-पल्यते कर्म कुरुते विपल्येतीति ॥ ६ ॥

अर्थ—सूर्य्य तथा चन्द्रमा के अस्त होने पर अग्नि के अभाव में जब वाणी भी किसी प्रकार का व्यवहार नहीं करती अर्थात् जब पुरुष की स्वप्नावस्था होती है तब उसका व्यवहार किस ज्योति द्वारा होता है ? उत्तर—"आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति"= उस काल में इसका अपना आत्मा ही ज्योति होता है जिससे यह जीव अनेक प्रकार की चेष्टा करता है।

कतम आत्मेति, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव सहि स्वप्नोभूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥ ७ ॥

अर्थ-वह कौन आत्मा है जो स्वरूपभूत ज्योति से स्वप्न में सब प्रकार की चेष्टा करता है ? उत्तर-"यो यं विज्ञानमय प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः"=जो यह विज्ञानमय=बुद्धि का स्वामी तथा जिसके आश्रय से शरीर में प्राण चेष्टा करते हैं वही आत्मा स्वयंप्रकाश है, वही बुद्धि की समीपता से उसके समान धर्मों को धारण करता हुआ इसलोक तथा परलोक में विचरता है अर्थात् बुद्धि के सम्बन्ध से गन्धादि विषयों का अनुभव करता और कर्मेन्द्रियों से अनेक प्रकार की चेष्टा करता है वह कभी स्वप्नावस्था को भोगकर जाग्रत् में और कभी जाग्रत् को भोगकर स्वप्नावस्था में जाता है।

सं०-अब जीव की उत्क्रान्ति कथन करते हैं:—

स वायं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः स ँसृज्यते स उत्क्रामन्म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ।८।

अर्थ-हे याज्ञवल्क्य ! यही पूर्वोक्त जीव दूसरे जन्म को

धारण करता हुआ जिस २ शरीर के साथ मिलता है उसी २ के धर्मों को धारण करके अपने कर्मों का फल भोगता और भोगप्रद कर्म के समाप्त होने पर पुनः जन्मान्तर को प्राप्त होता है।

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदञ्च परलोकस्थानञ्च सन्ध्यं तृतीय ँ स्वप्नस्थानं तस्मिन्सन्ध्येस्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदञ्च परलोकस्थानञ्च अथ यथाक्रमो यं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्यो भयान् पाप्मन आनन्दा ँ श्च पश्यति स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्राम-पादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ॥ ९ ॥

अर्थ—यह लोक =इस जन्म, परलोक=पुनर्जन्म यह दो ही उस पुरुष के प्रधान स्थान हैं और सन्ध्य नामक तीसरा स्वप्न-स्थान है, इसी स्थान में वर्त्तमान हुआ जीव दोनों स्थानों को देखता है अर्थात् जिस प्रकार जाग्रत् से स्वप्न और स्वप्न से जाग्रत् में आता हुआ उक्त दोनों अवस्थाओं से भिन्न

होता है इसी प्रकार लोक तथा परलोक दोनों का भोक्ता जीव स्वतन्त्र ज्योति है, उसका जैसा कर्म होता है वैसा ही जन्म धारण करता है और उसी के अनुसार सुख दुःख का भोक्ता होता है, इसी प्रकार जाग्रतावस्था की सब वासनाओं को साथ लेकर उनके अनुसार ही स्वप्न में नानाविध रचना करता हुआ सुखदुःखादि का अनुभव करता है पर उस अवस्था में इसकी अपने स्वरूप से भिन्न अन्य कोई ज्योति नहीं होती ।

सं०–अब उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं:—

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते न तत्रानन्दामुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दा-मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता ।१०।

अर्थ–इस स्वप्नावस्था में यह प्रसिद्ध रथ, घोड़े और उनके चलने योग्य मार्ग नहीं होते पर तोभी यह जीव जाग्रत वासना के बल से उक्त पदार्थों की कल्पना करलेता है, एवं जाग्रत सम्बन्धी आनन्द और पुत्रादि के सम्बन्ध से होने वाले मोद प्रमोद, क्षुद्र नदियें, तड़ाग, बड़ी नदियें, इत्यादि पदार्थ नहीं होते पर वह जीव इन सबको वासना से रचलेता है ।

सं०–अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:—

तदेते श्लोका भवन्ति स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति शुक्रमादाय पुनरैति स्थानꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥११॥

अर्थ–जाग्रतावस्था की वासना द्वारा कल्पना किये हुए स्वाप्न पदार्थों से जाग्रत की भांति सुखादि का अनुभव करता हुआ जीव पुनः अपने उसी प्रकाशस्वरूप से जाग्रतावस्था को प्राप्त होता है, और इसको जाग्रत, स्वप्न तथा लोक परलोक में एकाकी गमन करने के कारण एक हंस कहते हैं।

सं०–अब उक्त अर्थ को दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं:—

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा स इयतेऽमृतो यत्र कामꣳ हिरण्मयः पुरुष एक हंसः ॥ १२ ॥

अर्थ–जिस प्रकार पक्षी देशदेशान्तरों में भ्रमण करके पुनः अपने घोसले में आकर विश्राम पाता है इसी प्रकार यह एक हंस पांच प्रकार के प्राणद्वारा अपने शरीर की रक्षा करता हुआ स्वप्न से पुनः जाग्रत में आता है।

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ।१३।

अर्थ–और स्वप्न में देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि नाना-प्रकार के रूपों की कल्पना करता हुआ कभी स्त्रियों के साथ आनन्द को प्राप्त होता, कभी अन्य सम्बन्धियों के साथ भोजन करता, हंसता और कभी भय को प्राप्त होता है।

सं०–अब पुरुष को गाढ़निद्रा से बलात्कार जगाने में दोष कथन करते हैं :—

तन्नायतं बोधयेदित्याहुः दुर्भिषज्य ँ हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यतेऽथोखल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति, यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति सोहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्द्ध विमोक्षाय ब्रूहीति ॥ १४ ॥

अर्थ–इस प्रकार लोग इस जीव की स्वप्नरचना को जानते हैं पर इसकी स्वयंज्योति का विवेक नहीं करसक्ते, कई एक चिकित्सकों का कथन है कि गाढ़निद्रा में सोये हुए पुरुष को सहसा न जगावे, क्योंकि ऐसा करने से इस जीव का कदाचित् अन्धादि दोषों से दूषित होजाना सम्भव है अर्थात् शरीर के जिस २ देश से इन्द्रियों की शक्ति को साथ लेकर जीव सुषुप्ति में जाता है उस अवस्था में सहसा बलात्कार जगाने से किसी इन्द्रिय की मात्रा=सूक्ष्मशक्ति को साथ न लासकने के कारण कई प्रकार के शरीर सम्बन्धी विकारों से आर्त्त होजाता है

जिनकी चिकित्सा करनी कठिन होती है, कई एक लोगों का कथन है कि जीव जाग्रत् देश सम्बन्धी पदार्थों को ही स्वप्न में देखता है वासनामय पदार्थों को नहीं, पर यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से लिङ्गशरीर को स्थूल शरीर से बाहर मानना पड़ेगा, इसलिये स्वप्न में पुरुष को स्वयंज्योति मानना ही ठीक है, यह सुनकर राजा जनक बोले कि हे भगवन् ! मैं आपके प्रति सहस्र गौयें भेट करता हूं, आप कृपाकर और उपदेश करें।

सं०—अब याज्ञवल्क्य आत्मा को असङ्ग कथन करते हैं:—

स वा एष एतस्मिन्सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्द्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १५ ॥

अर्थ—याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे राजन् ! निश्चयकरके यह स्वप्नावस्था का साक्षी स्वयंज्योति आत्मा स्वप्न में भले प्रकार पुण्य पाप के फलरूप सुख दुःख को भोगकर सुषुप्ति अवस्था में आता और वहां सब वृत्तियों के शान्त होजाने से ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, फिर जिसप्रकार स्वप्न से

सुषुप्ति में गया था उसी प्रकार फिर सुषुप्ति से स्वप्न को प्राप्त होता है, इस प्रकार उक्त अवस्थाओं का भोक्ता होने पर भी स्वरूप से असङ्ग रहता है,राजा ने कहा कि हे भगवन्! मैं आपको सहस्र गौयें देता हूं कृपाकर और उपदेश करें ॥

स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च पापञ्च पुनःप्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धन्तयैव सयत्तत्र किञ्चित्यश्यत्यनन्वागतस्ते न भवत्य सङ्गोह्ययं पुरुष इत्येव मेवैतद्याज्ञवल्क्यसोहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१६॥

अर्थ–मुनि बोले कि हे राजन्! जिसप्रकार यह जीव स्वप्न से सुषुप्ति और सुषुप्ति से स्वप्न को प्राप्त होता है इसी प्रकार कभी सुषुप्ति से जाग्रत् को प्राप्त होकर कर्मानुसार यथाप्राप्त विषयों के भोगने पर भी स्वरूप से विकारी नहीं होता, राजा ने कहा कि हे भगवन्! कुछ और भी उपदेश करें मैं आपको सहस्र गौयें दान देता हूं ॥

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च पापञ्च प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥ १७ ॥

अर्थ–याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे राजन् ! उक्त रीति से यह जीव जाग्रत् में नाना प्रकार के विषय भोग से श्रान्त हुआ कदाचित् अपने पुण्यवश से स्वप्न को प्राप्त न होकर सुषुप्ति को प्राप्त हो परमानन्द का अनुभव करता है पर तोभी इसके स्वरूप में कोई विकार नहीं होता, यह सुनकर राजा ने कहा कि हे भगवन् ! मैं आपको सहस्र गौयें दान देता हूं कृपाकर और भी उपदेश करें ।

तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं चैव मेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च वुद्धान्तं च ॥ १८ ॥

अर्थ–मुनि बोले कि हे राजन् ! जिस प्रकार महामत्स्य नदी की लहरों से उसके दोनों किनारों पर विचारता है इसी प्रकार यह पुरुष कभी स्वप्न और कभी जाग्रतावस्था को प्राप्त होता है ।

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः स॰हत्य पक्षौ सल्लयैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति, यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ॥ १९ ॥

अर्थ–और जिस प्रकार आकाश में कोई श्येन=बाज अथवा

कोई अन्य मन्द वेगवाला पक्षी उड़कर श्रान्त हुआ २ अपने दोनों पक्षों को सकोड़कर घोंसले में प्रवेश करता है इसी प्रकार यह पुरुष जाग्रत् तथा स्वप्न में परिभ्रमण करने से श्रान्त होकर सुषुप्ति को प्राप्त होता है उस अवस्था में सोया हुआ न किसी पदार्थ की कामना करता और नाही किसी स्वप्न को देखता है ।

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाय यतिगर्त्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजे वाह मेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोस्य परमोलोकः ॥२०॥

अर्थ–यह प्रसिद्ध हितनामक नाडियें जो बाल के सहस्र भाग समान अत्यन्त सूक्ष्म हैं और जिनमें शुक्ल, नील, पीत, हरित तथा लोहित वर्ण वाला भुक्त अन्न का परिणामरूप रस बहता है, इनमें संचरण करता हुआ जीव जब स्वप्न को प्राप्त होता है तब इसको मानो कोई तस्करादिक मार रहे हैं, कोई वश कररहे हैं, कोई हाथी की भांति भगारहे हैं तथा कोई गढ़े में गिरा रहे हैं, इस प्रकार इसको जैसे २ जाग्रतावस्था के संस्कार

होते हैं, वैसे ही अविद्या से अपने आप में दुःखादिकों को मानता है पर जब इस जीव को पूर्ण बोध होजाता है कि मैं तीनों अवस्थाओं का साक्षी देह के धर्मों से असङ्ग हूं और मेरा नियन्ता एकमात्र परमात्मा सर्वत्र एकरस परिपूर्ण है तब देवता किंवा राजा की भांति परमात्मानन्द से देदीप्यमान होता है और जीव की इसी अवस्था का नाम परमलोक है ।

सं०—अब जीव की तद्धर्मतापत्ति कथन करते हैं:—

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहत पाप्माऽभयꣳरूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न वाह्यं चिञ्चन वेदनान्तरमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेदनान्तरम् तद्वा अस्यै तदाप्तकाममाप्तकाममकामꣳरूपꣳशोकान्तरम् ॥ २१ ॥

अर्थ—हे राजन् ! जिस प्रकार कोई पुरुष अपनी प्रिया के आनन्द में मग्न होकर वाह्य तथा आन्तरीय किसी विषय को न जानता हुआ तन्मय होजाता है इसी प्रकार यह जीव प्राज्ञ=परमात्मा के साथ मिलकर उसके कामवर्जित अपहतपाप्मादि धर्मों वाले शान्तस्वरूप को अनुभव करता हुआ वाह्य तथा आन्तरीय किसी विषय को नहीं जानता, निश्चयकरके जीव की यह अवस्था शोक से रहित होती है, क्योंकि वह उस

समय किसी सांसारिक कामना से लिपायमान नहीं होता।

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा अत्रस्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहाचाण्डालोऽचाण्डलःपौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति ॥ २२ ॥

अर्थ—जीव की इस असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था में पिता अपिता, माता अमाता, लोक अलोक, देव अदेव, वेद अवेद, स्तेन अस्तेन भ्रूणहा अभ्रूणहा, चाण्डाल अचाण्डाल पौल्कस * अपौल्कस, संन्यासी असंन्यासी और तापस अतापस होते हैं अर्थात् ब्रह्मानन्द में नितान्त मग्न होने से उसको माता पितादि किसी वाह्य विषय की सुध नहीं रहती, तब यह जीव पुण्य पाप के फल से पार होकर हृदयगत सब शोकों से रहित होजाता है।

यद्वैतन्न पश्यति पश्यन्वैतन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोन्यद्वि-

* शूद्रा में ब्राह्मण से उत्पन्न हुए को "निषाद" और उससे क्षत्रिया में उत्पन्न हुए का नाम "पौल्कस" है।

भक्तं यत्पश्येत् ॥ २३ ॥

अर्थ–निश्चयकरके वह उस अवस्था में देखता हुआ भी नहीं देखता अर्थात् वह अपने अविनाशी स्वरूपभूत चैतन्यरूप से ब्रह्म को विषय करता हुआ उसके गुणों को धारण करके तद्रूव होजाता है तब उसका ब्रह्म से विशेष अन्तर नहीं रहता ।

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति नहि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्नतु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥ २४ ॥

अर्थ–जो वह उस अवस्था में सूंघता नहीं उससे यह तात्पर्य्य नहीं कि उसकी गन्धग्राहक शक्ति का लोप होगया है किन्तु जब वहां गन्ध ही नहीं तब उस अवस्था में किस को सूंघे ।

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते, नहि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोन्यद्विभक्तं तद्रस्येत् ॥ २५ ॥

अर्थ–जो उस अवस्था में रस लेता हुआ भी लौकिक रस का अनुभव नहीं करता इससे उसकी रसनात्मक शक्ति का लोप नहीं पाया जाता, क्योंकि वह अविनाशी है अर्थात् जब वहां

रस ही नहीं किन्तु जब परमात्मा के साथ एकरस होजाता है तब उस अवस्था में अन्य किस पदार्थ के रस का अनुभव करे ॥

यद्वै तन्न वदति वदन्वैतन्न वदति, न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविना शित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत् ॥ २६ ॥

अर्थ-जो वह बोलता नहीं इससे अविनाशी होने के कारण उसकी वाक्शक्ति का लोप नहीं होता अर्थात् जब वहां शब्द ही नहीं किन्तु अशब्द परमात्मा के साथ एकरस होजाता है तब उस अवस्था में किस शब्द का उच्चारण करे ॥

यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वैतन्न शृणोति नहि श्रोतुःश्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात् ॥ २७ ॥

अर्थ-जो वह उस अवस्था में सुनता नहीं इससे उसकी श्रवणशक्ति का लोप नहीं होजाता अर्थात् जब वहां कोई शब्द ही नहीं किन्तु जब वह परमात्मा के आनन्द का अनुभव कर रहा है तब उस अवस्था में किसको सुने ॥

तद्वै तन्न मनुते मन्वानो वैतन्न मनुते न

हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशि त्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥ २८ ॥

अर्थ-जो वह मन से कोई सङ्कल्प नहीं करता इससे उसकी मननात्मकशक्ति का लोप नहीं होता अर्थात् जब वहां परमात्मा से भिन्न मन का अन्य कोई विषय ही नहीं तो फिर वह किसका मनन करे।

यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन्वै तन्न स्पृशति, नहि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत् ॥ २९ ॥

अर्थ-जो वह स्पर्श नहीं करता इससे उसकी स्पर्शग्राहक शक्ति का लोप नहीं पायाजाता किन्तु अस्पर्श परमात्मा के साथ एकरस होजाता है फिर वहां किसका स्पर्श करे ॥

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वैतन्न विजानाति नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥ ३० ॥

अर्थ-जो वह परमात्मा से भिन्न किसी अन्य विषय को नहीं जानता इससे उसकी विज्ञानात्मक शक्ति का लोप नहीं पायाजाता अर्थात् जब वहां कोई घटपटादि विषय ही नहीं तब वह परमात्मा से भिन्न अन्य किस पदार्थ को जाने ॥

यत्र वा ऽन्यदिवस्यात्तत्रान्यो ऽन्यत्पश्ये-दन्यो ऽन्यज्जिघ्रेदन्यो ऽन्यद्रसयेदन्यो ऽन्य-द्वदेदन्यो ऽन्यच्छृणुयादन्यो न्यन्मन्वीता-न्यो ऽन्यत्स्पृशेदन्यो न्यद्विजानीयात् ।३१।

अर्थ-निश्चयकरके जिस अवस्था में वृत्तियों के विषय बाह्य पदार्थ उपस्थित रहते हैं उसी अवस्था में दूसरा दूसरे को देखता, दूसरा दूसरे को सूंघता, दूसरा दूसरे का रस लेता, दूसरा दूसरे का कथन करता, दूसरा दूसरे को सुनता, दूसरा दूसरे का मनन करता, दूसरा दूसरे का स्पर्श करता और दूसरा दूसरे को जानता है ॥

सं०-अब परमात्मा को उपासक की परमगति कथन करते हैं:--

सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवत्येषब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमागतिरेषास्य परमासंपदेषोऽस्य परमोलोकएषोऽस्य परमआनन्द

एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रा-मुपजीवन्ति ॥ ३२ ॥

अर्थ–हे राजन्! निरञ्जन एक अद्वैत परमात्मा जो सब का द्रष्टा है वही उसका ब्रह्मलोक, वही उसकी परमगति, वही उसकी सब से उत्कृष्ट सम्पत्=विभूति और वही उसका परम आनन्द है, क्योंकि उसी परमानन्द के किसी अंश को लेकर अन्य सब भूत आनन्द वाले होते हैं ॥

सं०–अब परमात्मानन्द की निरतिशयता कथन करते हैं:—

स यो मनुष्याणाᳶ राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोकआनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्ते अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकाम-

हतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापति लोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोकआनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः, सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह याज्ञवल्क्यो विभयाञ्चकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो मान्तेभ्य उदरौत्सीदिति ॥ ३३ ॥

अर्थ–मनुष्यों में सब प्रकार के भोग साधनों से सम्पन्न तथा अन्यों का अधिपति होना पुरुष का सब से बड़ा आनन्द है, यदि मनुष्यों के सौ आनन्द एकत्रित कियेजायं तो पितर=कर्मी लोगों का एक आनन्द होता है, पितरों के सौ आनन्द एकत्रित कियेजायं तो गन्धर्वो का एक आनन्द, और गन्धर्वों के सौ आनन्दों को एकत्रित करने से कर्मी देवों का एक आनन्द होता है अर्थात् जो कर्मों के अनुष्ठान द्वारा देवभाव को प्राप्त हुए हैं यह उन विद्वानों का आनन्द है, यदि कर्मी देवों के सौ आनन्द एकत्रित किये जांय तो अजानदेवों=परम्परा से स्वयंसिद्ध विद्वानों के एक आनन्द के समान है और जो

पापरहित निष्काम श्रोत्रिय होता है उसका आनन्द भी अजान देवों के समान ही है, यदि अजान देवों के सौ आनन्द एकत्रित करें तो वह विद्वानों के शिरोमणि प्रजापति का एक आनन्द होता है और वैसा ही पापरहित निष्काम श्रोत्रिय का आनन्द होता है, यदि प्रजापति के सौ आनन्द एकत्रित कियेजायं तो वह एक ब्रह्मलोक का आनन्द है अर्थात् सब से उत्कृष्ट निरतिशय एकमात्र परमात्मा का ही आनन्द है, इसी भाव को तैत्ति० २।८।१७ में विस्तारपूर्वक वर्णन कियागया है, फिर राजा ने कहा कि हे भगवन् ! मैं आप को सहस्र गौयें भेट करता हूं कृपाकरके और उपदेश करें, यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने भय माना कि राजा ने अपनी इच्छानुसार प्रश्न करने का मुझ से वर लेलिया है सो यह मेधावी राजा अबतक भी प्रश्नों से विराम नहीं करता ॥

सं०—अब उपसंहार में याज्ञवल्क्य जीव की परलोक गति को सदृष्टान्त कथन करने के लिये सुषुप्ति से जाग्रत् प्राप्ति का पुनः अनुवाद करते हैं:—

स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च पापञ्च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥ ३४ ॥

अर्थ—हे राजन् ! निश्चयकरके यह जीव सुषुप्ति में सौषुप्तानन्द को भोगकर पुनः कर्मफल भोगने के लिये उसी क्रम से जाग्रतावस्था को प्राप्त होता है ।

तद्यथानः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेव

मेवायꣳशारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वा-रूढमुत्सर्जद्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३५ ॥

अर्थ–जिसप्रकार अनेक पदार्थों से पूर्ण गाड़ीवान से चलाया हुआ शकट=गड्डा अनेकविध चींचीं शब्द करता हुआ जाता है इसी प्रकार मृत्युकाल में परमात्मा से अधिष्ठित जीवात्मा अनेक प्रकार के आर्त्तशब्दों से ऊर्ध्वश्वास लेता हुआ जाता है।

सं०–अब उक्त अर्थ को दो श्लोकों द्वारा स्फुट करते हैंः—

स यत्राय मणिमानं न्येति जरयावोप तपतो वाणिमानं निगच्छति तद्यथाम्रं वोदुम्वरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥ ३६ ॥

अर्थ–जब यह शारीरात्मा अनेक प्रकार के रोगों वा जरा से अत्यन्त कृश होजाता है तब जिसप्रकार पकने पर आम, उदुम्बर अथवा पीपल का फल बन्धन से च्युत होजाता है इसी प्रकार यह जीवात्मा शरीर के जर्जर होने पर सब अङ्गों से निकलकर अपने कर्मानुसार पुनः २ अनेक योनियों में जन्म लेता है।

तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरवसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्य यमागच्छतीत्येवꣳ हैवं विदꣳ सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार राजा के आने पर उसके आमात्य मंत्री तथा सूदादि सब अन्नपानादिकों से यथाधिकार सेवा करने के लिये उपस्थित होजाते हैं कि यह हमारा स्वामी आया है इसी प्रकार एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जीव के आने पर उसके आरम्भक सब भूत उपस्थित होजाते हैं अर्थात् दूसरे जन्म में उसके भोगार्थ कर्मानुसार शरीर का आरम्भ करते हैं ॥

तद्यथा राजानं प्रतियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति।३८।

अर्थ—और जिसप्रकार राजा के जाने पर सब अनुचर उसके पीछे होलेते हैं इसीप्रकार इस आत्मा के शरीर छोड़ने पर सब प्राण=वागादि इन्द्रिय पुनः दूसरे जन्म में गन्धादि विषयों की उपलब्धि करने के लिये साथ ही निकल जाते हैं ॥

इति तृतीयंब्राह्मणं समाप्तं

अथ चतुर्थं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब वैराग्य की दृढ़ता के लिये जीव की उत्क्रान्ति विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं :—

स यत्रायमात्मावल्यं न्येत्य सम्मोहमिवन्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति, स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति,स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्य्यावर्त्ततेऽथा रूपज्ञो भवति।१।

अर्थ—जब यह जीवात्मा रोगादि से जर्जर होकर मृत्यु के सन्निहित होता है उस समय यह मोह को प्राप्त होकर उत्क्रान्ति के अभिमुख होता है तब सब प्राण इसके पीछे चलते हैं, उस अवस्था में यह जीव चक्षुरादि इन्द्रियों का उपसंहार करके बुद्धि कोही प्राप्त होता है, इस प्रकार भोगप्रद कर्म के समाप्त होने पर उनसे विमुख हुए इस मुमूर्षु पुरुष को रूप का ज्ञान नहीं रहता॥

सं०—अब उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं:—

एकी भवति न पश्यतीत्याहुरेकी भवति न जिघ्रतीत्याहुरेकी भवति न रसयत इत्याहुरेकी भवति न वदतीत्याहु-

रेकी भवति न शृणोतित्याहुरेकी भवति न मनुत इत्याहुरेकी भवति न स्पृशती-त्याहुरेकी भवति न विजानातित्याहुस्त-स्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा ऽन्येभ्यो वा शरीरदेशभ्यस्त-मुत्क्रामन्तं प्राणो नूत्क्रामति प्राणमनू-त्क्रामन्तꣳ सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति स विज्ञानो भवति स विज्ञानमेवान्ववक्रा-मति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्व प्रज्ञा च ॥ २ ॥

अर्थ—जब चक्षुरिन्द्रिय लिङ्गात्मा के साथ एक होजाता है तब मुमूर्षु पुरुष के निकटवर्ति बान्धव लोग कहते हैं कि अब नहीं देखता, घ्राण, रसना, वाक्, श्रोत्र, मन, त्वक् और विज्ञान यह सब लिङ्गात्मा के साथ एक होजाने से न सूंघता, न रसलेता, न बोलता, न सुनता, न मनन करता, न स्पर्श करता और नाही किसी प्रिय सम्बन्धी को जानसक्ता है, निश्चयकरके उस समय मुमूर्षु की हृदय छिद्र की जो नाडी उसका मुख विकसित रहता है अर्थात् तद्वर्ति जीवात्मा स्वप्न की भांति अ-पनी चैतन्य ज्योति से भावी देहविषयक वासना को

ग्रहण करके कुछ काल पर्य्यन्त प्रकाशता है और उसी वासना से तन्मय हुआ अपने कर्मानुसार चक्षु, मूर्द्धा अथवा शरीर के किसी अन्य छिद्र द्वारा निकल जाता है, उसके निकलने पर मुख्यप्राण निकलता और मुख्य प्राण के निकलते हुए राजा के पीछे अनुचरों की भांति सब वागादि इन्द्रिय निकल जाते हैं तब वह मुमूर्षु जीव उत्क्रान्ति काल में भावीशरीरविषयक वासना से विशेष ज्ञानवाला होता है और "तं विद्या कर्मणी समन्वारभेते पूर्व प्रज्ञा च"=उपासना विहिता-विहित कर्मों के संस्कार तथा पूर्वजन्म की प्रज्ञा यह तीनों उसके साथ जाते हुए सहायक होते हैं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ को दो श्लोकों द्वारा सदृष्टान्त कथन करते हैं :—

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरत्येवमेवाय मात्मेदꣳशरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरति ॥ ३ ॥

अर्थ-जिसप्रकार तृणजलायुका=कीटविशेष जब एक तृण पर पांव रखलेता है तब दूसरे पांव को उठाता है इसीप्रकार यह जीवात्मा मृत्युकाल में वासनामय शरीर को ग्रहण करके पूर्वशरीर का त्याग करता है ॥

तद्यथा पेशस्कारी पेशसोमात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳरूपं तनुत एवमेवायमात्मेदꣳशरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳरूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥४॥

अर्थ—जिसप्रकार सुवर्णकार सोने का भाग लेकर प्रथम रचना से विलक्षण अन्य नई रचना करलेता है इसी प्रकार यह जीव प्रथम शरीर का त्याग करता हुआ भूतों की सूक्ष्ममात्राओं को लेकर अन्य नया रूप बना लेता है अर्थात् अपने कर्मानुसार प्रथम शरीर का भोग समाप्त होने पर कभी पितर, कभी गन्धर्व, कभी देवता, कभी प्रजापति और कभी ब्रह्मा आदि के शरीरों को धारण करता है।

स वा अयमात्मा ब्रह्मविज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयः धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदम्मयोऽदोमय इति य-

थाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन, अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्मकुरुते तदभिसम्पद्यते॥ ५॥

अर्थ-निश्चयकरके यह जीवात्मा चेतनांश में प्रकृति से विलक्षण होने के कारण ब्रह्म=बड़ा है, और विज्ञानमय=बुद्धि का प्रेरक, मनोमय=मन का प्रेरक, प्राणमय प्राणों में क्रियाशक्ति देने वाला, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय और तेजोमय है अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीरों को धारण करता है और कभी किसी पदार्थ विषयक इच्छा करने से काममय, उसके त्यागने पर अकाममय, इसी प्रकार क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय इत्यादि जैसे कर्म करता है वैसा ही होजाता है, या यों कहो कि पुण्य कर्मों से पुण्यात्मा और पापमय कर्मों से पापात्मा बनजाता है, इस विषय में कई एक लोगों का कथन है कि यह पुरुष काममय ही है, क्योंकि विषय वासनाओं के वशीभूत हुआ ही अनेक रूप धारण करता है अर्थात् जैसा सङ्कल्प करता है वैसे ही निश्चयवाला होता, जैसा निश्चय करता वैसे ही कर्म करता और जैसे कर्म करता है वैसे ही फल को प्राप्त होता है॥

तदेष श्लोको भवति तदेवसक्तः सह कर्म-

णैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य प्राप्या-
न्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययं त-
स्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण इति
नु कामयमानोऽथाकामयमानो यो कामो
निष्काम आप्तकाम आत्मकामः न तस्य
प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥६॥

अर्थ–उक्त विषय में प्रमाण यह है कि जिस शुभाशुभ कार्य्य में इसका मन दृढ़ता से लगजाता है उसी के अनुसार कर्म करता हुआ फल भोग के लिये इस लोक से परलोक को प्राप्त होता है, पर जो निष्काम होकर कर्मों का अनुष्ठान करता है वही आप्तकाम और वही आत्मकाम=जीवनमुक्त होता है, उसके प्राण साधारण पुरुषों के समान नहीं निकलते किन्तु ब्रह्म के धर्मों को धारण करता हुआ उसको प्राप्त होकर मुक्त होजाता है।

सं०–अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:–

तदेष श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते
कामा येऽस्य हृदि श्रिताः अथ मर्त्योऽमृतो
भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति तद्यथा ऽहि
निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत-

वमेवेद ँ शरीर ँ शेतेथायम शरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥७॥

अर्थ–जब इसके हृदय से सब विषय वासनायें दूर होजाती हैं तब यह पुरुष अमृत होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है अर्थात् जिसप्रकार सर्प अपनी केंचुली को त्यागकर निर्मल होजाता है, इसी प्रकार ब्रह्मवित् पुरुष इस शरीर को त्यागकर मुक्त होता है, यह सुनकर राजा जनक बोले कि हे भगवन् ! मैं आपको एक सहस्र गौयें दान करता हूं ।

सं०–अब ब्रह्मवेत्ता का अनुभव कथन करते हैं:–

तदेते श्लोका भवन्ति । अणुः पन्था विततः पुराणो मा ँ स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥ ८ ॥

अर्थ–जिस प्रकार परमात्मप्राप्ति का मार्ग कष्टसाध्य होने से अति सूक्ष्म और जो चिरकाल पर्य्यन्त ब्रह्मानन्दप्रद होने से विस्तृत है वह मैंने भले प्रकार प्राप्त करलिया है, इसी प्रकार अन्य ब्रह्मवेत्ता भी जीवन्मुक्ति का आनन्द भोगकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।

सं०–अब मुक्त पुरुष का स्वरूप कथन करते हैं:–

तस्मिञ्छुक्लमुतनीलमाहुः पिङ्गल ँ हरि-

तं लोहितं च एष पन्था ब्रह्मणा ह्यनुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ॥९॥

अर्थ- मुक्ति अवस्था में मुक्त पुरुष का स्वरूप शुक्ल, नील, पिङ्गल, हरित तथा लोहित वर्ण का होता है अर्थात् मुक्त पुरुष अपनी इच्छानुसार विचित्र शक्तियों को धारण करलेता है और यह मार्ग उसको ब्रह्म=वेद द्वारा ही प्राप्त होता है।

सं०-अब अज्ञानी पुरुषों की निन्दा कथन करते हैं:-

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः।१०।

अर्थ-जो अज्ञानी पुरुष अविद्या की उपासना करते हैं अर्थात् अनित्य में नित्य, शुचि में अशुचि और अनात्म में आत्म बुद्धि करते हैं वह अन्धतम=मूढ़ावस्था को प्राप्त होते हैं और जो ज्ञानमात्र के अभिमान में रहकर कर्मानुष्ठान से वर्जित रहते हैं वह उससे भी महामूढ़ावस्था को प्राप्त होते हैं।

आनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाँसोऽबुधो जनाः ॥ ११ ॥

अर्थ-जो अज्ञानी लोग ब्रह्मवित् न होकर शरीर त्यागते हैं वह पुनः २ जन्म मरण को प्राप्त होते हैं, या यों कहो कि ऐसे लोग उन लोकों को प्राप्त होते हैं जो दुःखमय तथा अन्धकार से आवृत हैं ॥

सं०-अब ब्रह्मज्ञान का महात्म्य कथन करते हैं:—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीर मनुसंज्वरेत् ॥१२॥

अर्थ-जब पुरुष परमात्मा को भलेप्रकार जानलेता है कि "अयमस्मीति"=मैं परमात्मा से भिन्न नहीं अर्थात् वही मेरा आत्मा है तब वह किसी सांसारिक कामना के लिये संतप्त नहीं होता।

सं०-अब परमात्मा को सर्वकर्त्ता कथन करते हैं:—

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्सं-देह्ये गहने प्रविष्टः स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥१३॥

अर्थ-ज्ञान से पूर्व जिज्ञासु को जिसमें अनेक प्रकार के संशय होते हैं और ज्ञान के होने पर अपने हृदय की निर्मलता से जिज्ञासु जिसको भलेप्रकार अनुभव करता है वही परमात्मा सबका कर्त्ता होने से विश्वकृत कहाता है और यह विविध सृष्टि ही उसका लोक=प्रकाशक है।

सं०—अब ज्ञानी को अमृत तथा अज्ञानी को दुःख की प्राप्ति कथन करते हैं:—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्य

थेतरे दुःखमेवापि यन्ति ॥ १४ ॥

अर्थ–यदि इसी देह में पुरुष ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं करता तो वह नाश को प्राप्त होता है और जो ब्रह्म का साक्षात् कार करलेता है वह ब्रह्म को प्राप्त होकर अमृत होजाता है ।

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा । ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ १५ ॥

अर्थ–जब पुरुष भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान के साक्षी परमात्मदेव का भलेप्रकार साक्षात्कार करलेता है तब उसका हृदय निर्मल होजाता है ।

सं०–अब ब्रह्म को काल से परे कथन करते हैंः—

यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते । तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥ १६ ॥

अर्थ–जिस कारण यह संवत्सररूप काल अपने अवयवभूत अहोरात्र्य के साथ ही परे हटजाता है अर्थात् ईश्वर को अपनी गति से परिच्छिन्न नहीं करसक्ता, इसीलिये विद्वान् लोग "ज्योतिषां ज्योतिः"=सूर्य्यादि ज्योतियों के प्रकाशक जीवनदाता ब्रह्म की उपासना करते हैं कि हम भी अमृतपद को प्राप्त होजायं ॥

सं०–अब उक्त अर्थ में ब्रह्मवित् पुरुष का अनुभव कथन करते हैंः—

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ १७ ॥

अर्थ-जिसमें पांच पञ्चजन अर्थात् प्राण, श्रोत्र, चक्षु, अन्न और मन यह पांच पदार्थ तथा आकाश=अव्याकृत प्रतिष्ठित हैं निश्चयकरके उसी की उपासना से जीवनमुक्त हुआ मैं उसी ब्रह्म को अमृत मानता हूं ॥

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुतश्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्मपुराण मग्र्यम् ॥ १८ ॥

अर्थ-और जो उसको प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र और मन का मन जानते हैं निश्चयकरके उन्हीं पुरुषों ने सब के पूज्य शाश्वत ब्रह्म को पालिया है।

सं०-अब शुद्ध मन को ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन कथन करते हैंः—

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेहनानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १९ ॥

अर्थ-निश्चयकरके यह ब्रह्म शुद्ध मन से ही जाना जाता है, इसके जानने के लिये अन्य कोई उपाय नहीं, और वह मृत्यु

से मृत्यु को प्राप्त होता है जो ब्रह्म में नानापन देखता है ।

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् । विरजः पर आकाशादज आत्मामहान्ध्रुवः।२०।

अर्थ–जो ब्रह्म विरज=शुद्ध, अव्याकृत से परे, अजन्मा और कूटस्थ अविनाशी है वह एकमात्र पूर्वोक्त प्रकार से ही द्रष्टव्य है अन्यथा नहीं ।

सं०–अब निदिध्यासनात्मक कर्म को ब्रह्मप्राप्ति का साधन कथन करते हैं :—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनꣳहि तदिति ॥ २१ ॥

अर्थ–विवेकी पुरुष आचार्य्य द्वारा शास्त्र का श्रवण करके ब्रह्मप्राप्ति के लिये निदिध्यासनरूप कर्म करे और बहुत शब्दों का अध्ययन न करे, क्योंकि ऐसा करना केवल वाणी का ही विग्लापन=श्रम है ॥

सं०–अब ब्रह्म को सबका अधिपति कथन करते हैं :—

स वा एष महानज आत्मा यो ऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषो ऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः । स न साधुना कर्मणा भू-

यान्नो एवासाधुनाकनीयानेष सर्वेश्वर
एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतु-
र्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय तमेतं
वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन
दानेन तपसाऽनासकेनैतमेव विदित्वा मुनि-
र्भवति, एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः
प्रव्रजन्ति एतद्धस्म वै तत्पूर्वे विद्वाꣳसःप्रजां
न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नो
यमात्माऽयं लोक इति,ते हस्म पुत्रैषणायाश्च
वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चव्युत्था-
याथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा
सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणो-
भे ह्येते एषणे एव भवतः स एष नेति ने-
त्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि
शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्य-
थते न रिष्यत्येतमुहैवैतेन तरत इत्यतः
पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्यु-

मे उ हैवैष एष ते तरति नैनं कृताकृते तपतः ॥ २२ ॥

अर्थ—निश्चयकरके जो यह विज्ञानमय परमात्मा हृदयाकाश में विराजमान है वही सबका नियन्ता और वही सबको वश में रखने वाला है, महान्, अजन्मा और वही सबका अधिपति है, वह किसी प्रकार के पुण्य पाप से लिपायमान नहीं होता और वही सब लोकों को मर्यादा में रखने वाला सेतुरूप है, ब्राह्मण लोग वेदाभ्यास, यज्ञ, दान तथा तप आदि कर्मों से उसके जानने की इच्छा करते हैं, क्योंकि इसी को जानकर पुरुष मुनि होता और उसी के जानने के लिये पुरुष संन्यास लेते हैं, यह भी स्पष्ट है कि पूर्व विद्वान् लोग प्रजा की कामना न करते हुए यह कहते थे कि यदि परमात्मा की प्राप्ति न हुई तो हम प्रजा से क्या करेंगे, यह विचार कर पुत्रैषणा वित्तैषणा तथा लोकैषणा इन तीन एषणाओं से व्युत्थान को प्राप्त हुए संन्यासी भिक्षाटन करते हैं, यदि विचारकर देखाजाय तो जो पुत्रैषणा है वही वित्तैषणा और जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है, इस प्रकार यह दोनों ही एषणा बनती हैं जिनसे यती लोग पार होकर केवल परमात्मा के आनन्द में मग्न रहते हैं, हे राजन् ! यह आत्मा अगृह्य=किसी कर्मेन्द्रिय का विषय नहीं, अशीर्य्य=उपचयापचय से रहित, असङ्ग, असित=सब प्रकार के बन्धन से रहित आनन्दस्वरूप है, इसी के साक्षात्कार द्वारा यती लोग शुक्ल तथा कृष्ण दोनों प्रकार के कर्मों से पार होजाते हैं फिर उनके चित्त में किसी प्रकार का ताप नहीं रहता।

सं०–अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैंः—

तदेतदृचाभ्युक्तम् । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्द्धते कर्मणा नो कनीयान् तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति । तस्मादेवं विच्छान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोहं भगवते विदेहान्ददामिमांचापि सहदास्यायेति।२३।

अर्थ–यह ब्रह्मवित् पुरुष की महिमा है कि वह किसी प्रकार के पाप कर्म से लिपायमान नहीं होता, इस भाव को जानने वाला पुरुष शम, दम, उपराति, तितिक्षा तथा समाधान आदि साधनों से युक्त होकर अपने आपमें परमात्मा को और परमात्मा में सब को देखता है उसको पाप स्पर्श नहीं करते, वह सब प्रकार के पाप से पार होजाता है, उसको पाप तपाता नहीं किन्तु वह

सब पापों को भस्म करदेता है, इस प्रकार वह पाप से रहित निष्काम हुआ शान्त होजाता है फिर उसके चित्त में कोई संशय नहीं रहता, हे राजन् ! इस प्रकार का सर्वात्मभाव ही ब्रह्म लोक है जिसको तू प्राप्त होगया है, राजा ने कहा कि हे भगवन् ! यह विदेह देश और अपने को आपकी भेट करता हूं !

सं०—अब ब्रह्मज्ञान का अवान्तर फल कथन करते हैं :—

स वा एष महानजआत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद ॥ २४ ॥

अर्थ—निश्चयकरके यह महान, अज, आत्मा=परमात्मा अन्नाद=अत्ता=सबका उपसंहार करने वाला तथा वसुदान= सबका कर्मफल दाता है, जो इसको इस प्रकार जानता है वह सब प्रकार की वसु= कामनाओं को प्राप्त होता है।

सं०—अब उपसंहार में ब्रह्मज्ञान का मुख्य फल कथन करते हैं:—

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माऽभय वै ब्रह्माभयꣳ हवै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥ २५ ॥

अर्थ—निश्चय करके यह महान् अज=आत्मा=सर्वव्यापक अजर, अमर, अमृत तथा अभयरूप ब्रह्म है जो इस प्रकार ब्रह्म को अभय जानता है वह निश्चयकरके अभय=मोक्ष पद को प्राप्त होता है।

भाष्य—इस ब्राह्मण में मुक्ति अवस्था का वर्णन कियागया

है कि ब्रह्मवेत्ता पुरुष शरीर त्याग के अनन्तर विमुक्त=बन्धन रहित हुए २ स्वर्गलोक=मोक्ष को प्राप्त होते हैं, इससे सिद्ध है कि औपनिषद लोगों की मुक्ति ऐश्वर्य्यप्राप्तिरूप है अर्थात् मुक्त पुरुष मुक्ति अवस्था में सुखविशेष का अनुभव करता है मायावादियों के समान पाषणकल्प नहीं होता, इससे सिद्ध है कि मुक्ति एक सुखरूप अवस्था विशेष है केवल अविद्यानिवृत्ति अथवा ब्रह्मानन्दानुभवरहित ब्रह्मरूप नहीं, इसी अभिप्राय से आगे यह कथन किया है कि मुक्ति अवस्था में भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान के स्वामी परमात्मा का जीव ज्ञाता होता है अर्थात् उस अवस्था में जीव ज्ञानरहित नहीं होता, इस प्रकार इस ब्राह्मण में मुक्ति का वर्णन कियागया है, और युक्ति यह है कि २१ वें श्लोक में यह लिखा है कि परमात्मा को जानकर ही जीव ब्रह्माकारवृत्ति करे, इस श्लोक ने स्पष्ट करदिया कि ज्ञान से उत्तर काल में अनुष्ठान करने से ही उक्त अवस्था प्राप्त होती है केवल ज्ञान से नहीं, अन्य सब स्पष्ट है॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ पञ्चमं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०–अब पूर्व ब्राह्मण में विस्तारपूर्वक कथन किये हुए परमात्मतत्व की दृढ़ता के लिये पुनः मैत्रेयी ब्राह्मण का प्रारम्भ करते हैं:—

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतु-

मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्री प्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योन्यद्वृत्तमुपा करिष्यन् ॥ १ ॥

अर्थ—याज्ञवल्क्य की मैत्रेयी तथा कात्यायनी दो स्त्रियें थीं, उनमें से मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी और कात्यायनी उतनी ही प्रज्ञावाली थी जितनी साधारण स्त्रियां होती हैं, जब याज्ञवल्क्य संन्यास धारणकर वन को जाने लगे तब उन्होंने मैत्रेयी से कहा कि :—

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्राजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥२॥

अर्थ—हे मैत्रेयि ! मैं इस गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यास धारण करना चाहता हूं, इसलिये मेरा विचार है कि मैं सम्पूर्ण धन तुम्हें और कात्यायनी को बांटकर देजाऊं॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यांन्वहं तेनामृताऽऽहो ३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव

ते जीवितꣳ स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति ॥ ३ ॥

अर्थ-तब मैत्रेयी ने कहा कि हे भगवन् ! यदि सम्पूर्ण पृथिवी धन से पूर्ण हो तो क्या मैं उससे अमृत=मोक्ष लाभ करसक्ती हूं ? याज्ञवल्क्य ने कहा नहीं, जिसप्रकार प्राकृत पुरुषों का जीवन होता है उसी प्रकार का तेरा होगा, क्योंकि धन से मोक्ष कदापि प्राप्त नहीं होता ॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥ ४ ॥

अर्थ-मैत्रेयी ने कहा कि जिससे मैं अमृत को प्राप्त नहीं होसक्ती उस धन से मेरा क्या प्रयोजन, कृपाकरके मेरे लिये भी वही साधन बतलावें जिससे मेरी मुक्ति हो ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ५ ॥

अर्थ-तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि तू हमें वास्तव में प्रिय है, क्योंकि प्रिय कथन करती है, आओ बैठजाओ मैं तुम्हारे लिये मुक्ति का साधन कथन करता हूं तुम मेरे कथन को ध्यानपूर्वक सुनो ॥

स होवाच नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे पशूनां पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्या-

त्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳ सर्वं विदितम् ॥६॥

अर्थ–याज्ञवल्क्य बोले कि हे मैत्रेयि ! पति की कामना के लिये पति प्रिय नहीं किन्तु आत्मा की कामना के लिये पति प्रिय होता है, स्त्री की कामना के लिये स्त्री प्रिय नहीं किन्तु आत्मा की कामना के लिये स्त्री प्रिय होती है, पुत्रों के लिये पुत्र प्रिय नहीं किन्तु अपने ही लिये पुत्र प्रिय होते हैं धन के लिये धन प्रिय नहीं किन्तु आत्मा के लिये ही धन प्रिय होता है, पशुओं की कामना के पशु प्रिय नहीं होते किन्तु अपने ही लिये प्रिय होते हैं, ब्रह्म=ब्राह्मणत्व की कामना के लिये ब्रह्म प्रिय नहीं किन्तु अपने ही लिये ब्रह्म प्रिय होता है, क्षत्रित्व

की कामना के लिये क्षत्र=क्षत्रिय जाति का कर्म प्रिय नहीं होता अपितु अपने ही लिये प्रिय होता है, लोकों की कामना के लिये लोक प्रिय नहीं किन्तु अपनी कामना के लिये लोक प्रिय होते हैं, देवों की कामना के लिये देव प्रिय नहीं अपितु अपनी कामना के लिये देव प्रिय होते हैं, वेदों की कामना के लिये वेद प्रिय नहीं किन्तु अपने ही लिये वेद प्रिय होते हैं, भूतों की कामना के लिये भूत प्रिय नहीं किन्तु अपनी ही कामना के लिये भूत प्रिय होते हैं, सब की कामना के लिये सब पदार्थ प्रिय नहीं किन्तु अपने ही लिये सब प्रिय होते हैं, इसलिये हे मैत्रेयी! आत्मा ही द्रष्टव्य=तत्वज्ञान द्वारा साक्षात्कार करने योग्य, श्रोतव्य=श्रुति वाक्यों से श्रवण करने योग्य, मन्तव्य=वेदाविरोधि तर्कों से मनन करने योग्य और निदिध्यासितव्य=चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा वारंवार अभ्यास करने योग्य है, हे मैत्रेयी! निश्चयकरके आत्मा के श्रवण मनन तथा निदिध्यासन द्वारा उत्पन्न हुए विज्ञान से ही सब कुछ जाना जाता है ॥

सं०—अब ब्रह्म से पृथक् देखने वालों की निन्दा कथन करते हैं:—

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योन्यत्रात्मनो देवान्वेद वेदास्तं परादुर्योन्यत्रात्मनो वेदान्वेद, भूतानि तं परा-

दुर्योन्यत्रात्मनः भूतानि वेद सर्वं तं परा-
दाद्योन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे
लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदं
सर्वं यदयमात्मा ॥ ७ ॥

अर्थ–जो आत्मा से पृथक् ब्राह्म=ब्राह्मण जाति क्षत्र= क्षत्रिय जाति को मानता है उसको उक्त दोनों ही ब्रह्म से दूर अर्थात् ब्रह्मानन्द से वञ्चित रखते हैं, इसी प्रकार जो लोकों, देवों तथा भूतों को आत्मा से पृथक् जानता है उसको लोक, देव तथा भूत सर्वदा ही ब्रह्मानन्द से पृथक् रखते हैं, हे मैत्रेयी ! निश्चयकरके ब्रह्म, क्षत्र, लोक, देव तथा भूत यह सब आत्मा= ब्रह्म के आश्रित हैं, क्योंकि सब उसी की सत्ता से देदीप्यमान होते और उसी के आनन्द से प्रिय लगते हैं ॥

सं०–अब उक्त अर्थ में दृष्टान्त कथन करते हैं:—

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न वाह्याञ्छब्दा-
ञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन
दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

अर्थ–जिसप्रकार दुन्दुभि के ताड़न करने पर वाह्य शब्द नहीं सुनेजाते किन्तु दुन्दुभिगत शब्द के ग्रहण से ही वाह्य शब्दों का ग्रहण होता है ॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न वाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥

अर्थ–जिसप्रकार शंखध्वनि के होने पर वाह्य शब्द नहीं सुने जाते किन्तु शंखध्वनि के ग्रहण से ही वाह्य शब्दों का ग्रहण होता है ॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न वाह्याञ्छाब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ।१०।

अर्थ–जिसप्रकार वीणा के बजने पर और शब्द नहीं सुनेजाते किन्तु बीणा के शब्द से ही अन्य शब्दों का ग्रहण होता है इसी प्रकार ब्रह्म की सत्ता से ही सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं, या यों कहो कि जिसप्रकार शब्दों के मंद, तीव्र तथा पटु आदि भेद शब्दसामान्य से पृथक् नहीं होते इसीप्रकार पदार्थमात्र की सत्ता ब्रह्म के अन्तर्गत है अर्थात् ब्रह्माश्रित होने से ही सब पदार्थों की प्रतीति होती है अन्यथा नहीं ॥

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवे-

दोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्ट ँ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्चलोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥११॥

अर्थ-जिसप्रकार गीली लकड़ियों की अग्नि से नाना प्रकार के धूम और चिनगारे निकलते हैं इसी प्रकार हे मैत्रेयि! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्यायें, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान यज्ञ, होम, आशित=खाद्यपदार्थ, पायित=पीने के पदार्थ, यह लोक, परलोक और सब प्राणी, उसी परमात्मा के निश्वासभूत=अधीन हैं ॥

स यथा सर्वासामपा ँ समुद्र एकायनमेव ँ सर्वेषा ँ स्पर्शानां त्वगेकायनमेव ँ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेव ँ सर्वेषा ँ रसानां जिह्वैकायनमेव ँ सर्वेषा ँ रूपाणां चक्षुरेकायनमेव ँ शब्दाना ँ श्रोत्रमेकायनमेव ँ सर्वेषा ँ संकल्पानां मन एकायनमेव ँ सर्वासां विद्याना ँ हृदयमेकायनमेव ँ सर्वेषां कर्मणा ँ हस्तावेकायनमेव ँ सर्वेषामानन्दानामुप-

स्थ एकायनमेव ँ सर्वेषां विसर्गाणा पायुरेकायनमेव ँ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेव ँ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ १२ ॥

अर्थ–जिसप्रकार सब जलों का एक समुद्र ही आश्रय होता है और सब स्पर्शों का एक त्वक्, सब रसों का एक जिह्वा, सब गन्धों का एक घ्राण, सब रूपों का एक चक्षु, सब शब्दों का एक श्रोत्र, सब सङ्कल्पों का एक मन, सब विद्याओं का एकहृदय= बुद्धि, सब कर्मों का हस्त सब आनन्दों का एक उपस्थ, सब मलों के त्याग का एक पायु सब मार्गों का पाद और सब वेदों का एक वाणी आश्रय होता है,इसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों का एकमात्र आश्रय परमात्मा ही है।

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघनएवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १३ ॥

अर्थ–जिसप्रकार लवण को पानी में डालने से वह जलमय होजाता है और फिर उसको पृथक् नहीं करसक्ते किन्तु

जल के चारो ओर लवण ही लवण होता है इसी प्रकार हे मैत्रेयि ! यह महद्भूतब्रह्म=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एकमात्र विज्ञानघन= परमात्मा के ही आश्रित है अर्थात् यह सब ओर से उसी की सत्ता में विराजमान है और इन्हीं महाभूतों से उत्पन्न तथा इन्हीं में लय होकर परमात्मा के आश्रित रहता है, या यों कहो कि कारणावस्था को प्राप्त होकर ब्रह्म के ही आश्रित रहता है और इस अवस्था में कोई नाम रूपात्मक संज्ञा नहीं रहती, इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के प्रति कथन किया।

सं०–अब मैत्रेयी कथन करती है :–

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरे यमात्माऽनुच्छित्ति धर्मा ॥ १४ ॥

अर्थ–तब मैत्रेयी ने कहा कि हे भगवन् ! इस कथन से आप मुझे मोहित न करें कि नाम रूपात्मक कोई संज्ञा नहीं रहती, फिर याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे मैत्रेयि ! मैंने यथार्थ कहा है उसके जानने के लिये इतना ही जानना पर्य्याप्त है ॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतर ँ रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतर ँ शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतर ँ स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन क ँ रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन क ँ शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन क ँ स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्येनेद ँ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति, विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार॥ १५॥

अर्थ-जहां द्वैत होता है वहां दूसरा दूसरे को देखता, दूसरा दूसरे को सूंघता, दूसरा दूसरे को सुनता, दूसरा दूसरे को कथन करता, दूसरा दूसरे का मनन करता और दूसरा दूसरे को जानता है पर जहां इसका सब अपना आप ही है वहां कौन किसको देखे, कौन किसको सूंघे, कौन किसको सुने, कौन किसको कथन करे, कौन किसको मनन करे और कौन किसको जाने, जिसकी सत्ता से पुरुष सब को जानता है उस को किससे जाने, हे मैत्रेयि ! जो सबका विज्ञाता है उसको किससे जाने, जो आत्मा नेति नेति शब्दों द्वारा वर्णन किया गया है वह अग्राह्य=किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं किया जाता, अशीर्य्य=नाशरहित और असङ्ग है, किसी बन्धन को प्राप्त नहीं होता और न किसी दुःख को प्राप्त होता है, हे मैत्रेयि ! ऐसे परमात्मा को किससे जाने अर्थात् वह अपने आपका पूर्ण ज्ञाता आप ही है, और वही अमृत है, यह कथन करके याज्ञवल्क्य वन को चले गये ।

इति पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ षष्ठं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये वंश ब्राह्मण का प्रारम्भ करते हैं:-

अथ वंशः—पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवना-

द्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥

अर्थ—गौपवन से पौतिमाष्य ने, पौतिमाष्य से गौपवन ने, गौपवन से पौतिमाष्य ने, कौशिक से गौपवन ने, कौण्डिन्य से कौशिक ने, शाण्डिल्य से कौण्डिन्य ने, कौशिक और गौतम से शाण्डिल्य ने ब्रह्मविद्या का अध्ययन किया ।

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गौतमाद्गौतमः सैतवात्सैतवः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद्गार्ग्यायण उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्यन्दिनायनान्माध्यन्दिनायनः सौकरायणात्सौकरायणः काषायणात्काषायणः सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥

अर्थ—आग्निवेश्य से गौतम ने, गार्ग्य से आग्निवेश्य ने, गार्ग्य से गार्ग्य ने, गौतम से गार्ग्य ने, सैतव से गौतम ने, पाराशर्य्यायण से सैतव ने, गार्ग्यायण से पाराशर्य्यायण ने, उद्दालकायन से

गार्ग्यायण ने, जाबालायण से उद्दालकायण ने, माध्यन्दिनायन से जाबालायन ने, सौकरायण से माध्यन्दिनायन ने, काषायण से शौकरायण ने, सायकायन से काषायण ने और कौशिकायनि से सायकायन ने ब्रह्मविद्या का अध्ययन किया।

घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चाऽऽसुरायणः त्रैवणेस्त्रैवणि रौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातोबाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादायास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्या-

मश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणोदैवादथर्वादैवो मृत्योः प्राध्व ँ सनान्मृत्युः प्राध्व ँ सनः प्रध्व ँ सनात्प्रध्व ँ सन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्राचित्तिर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्मस्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

अर्थ—घृतकौशिक से कौशिकायनि ने, पाराशर्य्यायण से घृतकौशिक ने, पाराशर्य्य से पाराशर्य्यायण ने, जातुकर्ण्य से पाराशर्य्य ने, आसुरायण और यास्क से जातुकर्ण्य ने, त्रैवर्णि से आसुरायण ने, औपजन्धनि से त्रैवार्णि ने, आसुरी से, औपजन्धनि ने, भारद्वाज से आसुरी ने, आत्रेय से भारद्वाज ने, माण्टि से आत्रेय ने, गौतम से माण्टि ने, गौतम से गौतम ने, वात्स्य से गौतम ने, शाण्डिल्य से वात्स्य ने, काप्यकैशोर्य्य से शाण्डिल्य ने, कुमार हारीत से काप्यकैशोर्य्य ने, गालव से कुमार हारित ने, विदर्भि कौण्डिन्य से गालव ने, वत्सनपात्बाभ्रव से विदर्भिकौण्डिन्य ने, सौभर पथि से वत्सन्पात्बाभ्रव ने, अयास्य आङ्गिरस से सौभरपथि ने, त्वाष्ट्रआभूति से अयास्य आङ्गिरस ने, विश्वरूपत्वाष्ट्र से आभूतित्वाष्ट्र ने, अश्विनीकुमारों से विश्वरूपत्वाष्ट्र ने, दध्यङाथर्वण से अश्विनीकुमारों ने, अथर्वादैव से दध्यङाथर्वण ने, प्राध्वंसनमृत्यु से अथर्वादैव ने, प्रध्वंसन से प्राध्वंसनमृत्यु ने, एकर्षि से प्रध्वंसन ने,

विप्रचित्ति से एकर्षि ने, व्याष्टि से विप्रचित्ति ने, सनारु से व्यष्टि ने, सनातन से सनारु ने, सनग से सनातन ने, परमेष्ठि से सनग ने और ब्रह्मा से परमेष्ठि ने ब्रह्मविद्या का अध्ययन किया, और वह ब्रह्म स्वयम्भू है उसको हमारा नमस्कार हो ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
बृहदारण्यकार्य्यभाष्ये चतुर्थः
अध्यायः समाप्तः

ओ३म्

अथ पंचमः अध्यायः प्रारभ्यते

सं०-अब ब्रह्म को "पूर्ण" कथन करते हैं:-

**पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ओ३म् खं ब्रह्म, खं पुराणं, वायुरं खमिति
हस्माऽऽह कौरव्यायणी पुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा
विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम् ॥ १ ॥**

अर्थ-सर्वत्र आकाशवत् व्यापक होने के कारण ब्रह्म पूर्ण है, उसी पूर्ण ब्रह्म से उत्पन्न हुआ कार्य्यकारणसंघातरूप जगत् भी पूर्ण कहाता है और उस पूर्ण परमात्मा के पूर्णभाव को लेकर ही जगत् अव्याकृतरूप से शेष रहजाता है, कौरव्यायणी के पुत्र का कथन है कि जो परमात्मा निरतिशय कल्याण गुणाकर होने से ब्रह्म तथा आकाश की भांति सर्वगत होने से पूर्ण है उसी को ब्राह्मण=ब्रह्मवेत्ता लोग "ओ३म्" पद वाच्य कहते और समाधि अवस्था में उसी का जप करते हैं, क्योंकि मनुष्य एकमात्र उसी पूर्ण ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा प्रसंख्यान की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर सब प्रकार के क्लेशों से रहित होजाता है।

भाष्य-सूर्य्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्र तथा पृथिवी आदि सब चराचर जगत् जिस परमात्मा की सत्ता से उत्पत्ति, स्थिति तथा

लय को प्राप्त होता है, या यों कहो कि जो परमात्मा सब कार्य्य कारणात्मक संघात का कर्त्ता, धर्त्ता तथा हर्त्ता है वह सदा एक रस तथा आकाश की भांति व्यापक होने के कारण "पूर्ण" कहाता है, ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो उसकी व्याप्ति से रहित हो और नाही कोई ऐसा पदार्थ है जो उसकी सत्ता के बिना आत्मलाभ करसके, जैसाकि अथर्व० १४ । १ । १ । १ । में वर्णन किया है कि :—

सत्येनोत्तभिताभूमिः सूर्य्येणोत्तभिताद्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमोदिविश्रिताः ॥

अर्थ—जो सत्यादि पदवाच्य ब्रह्म सब का नियन्ता तथा सबको सत्ता देने वाला है उसी की अपूर्व सामर्थ्य से सूर्य, द्यौ, चन्द्र तथा नक्षत्रादि अनेक पदार्थ स्थिर होकर अपने २ कार्य्य में प्रवृत्त रहते हैं, और "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" छान्दो० १।१।१="ओ३म्" यह अक्षर ब्रह्म का मुख्य नाम है इसीको उद्गीथ=वाणी का आधार मानकर उपासना करे, "तस्य वाचकः प्रणवः" यो० १ । २७= "ओ३म्" यह ईश्वर का मुख्य नाम है और "तज्जपस्तदर्थभावनम्" यो० १ । २८=इसी प्रणव का जप करता हुआ परमात्मा का चिन्तन करे, इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि "ओ३म" ही परमात्मा का मुख्य नाम है इसी का जप करते हुए योगी लोग समाधिस्थ होकर उस ब्रह्मानन्द का

अनुभव करते हैं जिसका वाणी से वर्णन करना असम्भव है जैसाकि :—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो-
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं तदा गिरा-
स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते ॥

अर्थ—समाधि के प्रबल अभ्यास द्वारा जिसका चित्त मान, मत्सर, ईर्षादि अनेक प्रकार की मलिनता से रहित होकर देदीप्यमान होरहा है ऐसे योगी पुरुष को ईश्वरीय आनन्दादि गुणों के साक्षात्कार से आनन्दलाभ होता है उस आनंद को वाणी से कदापि वर्णन नहीं किया जासक्ता किन्तु वही योगी स्वयं उस पूर्ण परमात्मा के आनन्द को अपने अन्तःकरण द्वारा अनुभव करता है, इसी अभिप्राय से कहा है कि "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" छां० ७ । २३ । १= भूमा=पूर्ण ब्रह्म ही सुखस्वरूप है, अल्प=सांसारिक तुच्छ विषयों में सुख नहीं, इसलिये भूमा=ब्रह्म ही जानने योग्य है जिसके साक्षात्कार का एकमात्र उपाय प्रणव चिन्तन=ओ३म् का आलम्बन ही है, इसी के चिन्तन द्वारा प्रसंख्यान प्राप्ति के अनन्तर योगी उक्त आनन्द का अनुभव करके कृतकृत्य होजाता है, जैसाकि पीछे कौरव्यायणीपुत्र का अनुभव कथन कर आये हैं, इससे सिद्ध है कि एकमात्र परमात्मा ही पूर्ण और वही सबका उपास्य इष्टदेव है ॥

इति प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ द्वितीयं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अत्र प्रजापति की आख्यायिका द्वारा ब्रह्मप्राप्ति के साधन कथन करते हैं :—

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाचद इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिस्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥१॥

अर्थ-देवता, मनुष्य तथा असुर भेद से प्रजापति नामक ऋषि के तीन पुत्र थे, उन तीनों ने ब्रह्मप्राप्ति के लिये अपने पिता के निकट ही ब्रह्मचर्य्य आश्रम पूर्ण किया, ब्रह्मचर्य्य की समाप्ति के अनन्तर देवता विनीत भाव से बोले कि हे भगवन् ! अब हमको कृपाकरके ब्रह्मप्राप्ति के लिये अनुशासन करें, यह सुनकर प्रजापति ने देवताओं के प्रति "द" अक्षर का उपदेश कर कहा कि हे देवताओ ! आपने समझा ? तब देवता बोले कि हां समझा, प्रजापति ने कहा कि क्या समझे ? देवताओं ने उत्तर दिया कि "द" अक्षर से आपने यह उपदेश किया है कि "दाम्यत"=इन्द्रियों का दमन करो, प्रजापति बोले कि "ओमिति"=हां ठीक है।

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाचद इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति॥ २ ॥

अर्थ—देवताओं के अनन्तर मनुष्य बोले कि भगवन् ! हमने ब्रह्मचर्य्य समाप्त करलिया, कृपाकर ब्रह्मप्राप्ति के अन्य साधनों का उपदेश करें, तब प्रजापति ने देवताओं की भांति मनुष्यों के प्रति "द" अक्षर का उपदेश करकहा कि आपने मेरे उपदेश को समझा वा नहीं ? मनुष्य बोले कि हां समझा अर्थात् आपका कथन है कि "दत्त"=दान करो, प्रजापति ने कहा कि हां ठीक समझे हो, लुब्ध पुरुषों के अन्तःकरण की शुद्धि दान के बिना नहीं होसक्ती ।

अथ हैनमसुराऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाचद इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषादैवीवागनु वदतिस्तनयित्नुर्ददद इति दाम्यत दत्त दयध्व-

मिति तदेतत्त्रयꣳ शिक्षेद्दमं दानं दया-
मिति ॥ ३ ॥

अर्थ-मनुष्यों के उपदेश ग्रहण करने के अनन्तर इसीप्रकार असुरों ने कहा कि हे पितः ! कृपाकरके हमारे लिये भी ऐसा उपाय बतलावें जिससे हम सहज ही अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ब्रह्मानन्द का अनुभव करसकें तब प्रजापति ने उसी प्रकार असुरों के प्रति भी "द" अक्षर का उपदेश कर कहा कि हे असुरों! आपने मेरे उपदेश का तात्पर्य्य समझा वा नहीं ? असुरों ने उत्तर दिया कि हां समझलिया है, आपका कथन है कि "दयध्वं"=दया करो, प्रजापति बोले कि हां ठीक समझे हो, क्योंकि तुम्हारी वृत्ति स्वभाव से ही हिंसा में प्रवृत्त है और हिंसक पुरुषों का चित्त दया के विना कदापि शुद्ध नहीं होसक्ता, इसलिये मैं यही उचित समझता हूं कि आप लोग दया का अनुष्ठान करें, इस प्रकार उपनिषत्कार अलङ्कार रूप से कथन करते हैं कि जो मेघ "द, द, द" इस प्रकार का नाद=गर्जन करता है वह मानो प्रजापति के किये हुए "दाम्यत, दत्त, दयध्वं" इस उपदेश का अनुकरण करता हुआ यह शिक्षा देता है कि मनुष्यमात्र को दम, दान तथा दया का अनुष्ठान करना चाहिये।

भाष्य-जो पुरुष रूप, रस, गन्धादि विषयों में आसक्त होकर भी किञ्चित् सात्विकवृत्ति वाले हैं उनका नाम "देव" विषयभोग में अलंबुद्धि न करने वाले पुरुषों का नाम "मनुष्य" तथा रसना इन्द्रिय के अत्यन्त वशीभूत होकर प्राणियों की

हिंसा करने वाले पुरुषों का नाम "असुर" है, इन तीन प्रकार के मनुष्यों की वृत्तियें यथाक्रम राजस सात्विक, राजस तामस तथा केवल तामस होने के कारण अन्तर्मुख नहीं होतीं और वृत्तियों के अन्तर्मुख न होने से शमदमादि साधनों की सम्पत्ति का होना असम्भव है,या यों कहो कि जबतक अन्तःकरण में सत्त्वगुण की प्रधानता नहीं होती तबतक आत्मविषयक ज्ञान नहीं होसक्ता, इसी अभिप्राय से गी० १४ । १७ में वर्णन किया है कि "सत्वात्सञ्जायते ज्ञानं"=सत्वगुण की अधिकता से ही पदार्थ का यथार्थज्ञान होता है, इसी भाव से प्रजापति की आख्यायिका द्वारा यह उपदेश किया गया है कि जिनके हृदय में किञ्चित्सत्वगुण होने पर भी रजोगुण की अधिकता होती है अर्थात् जो ऐश्वर्य्यसम्पन्न पुरुष केवल गन्धादि विषयों के भोग में लम्पट रहते हैं वह अन्तःकरण की शुद्धि के लिये इन्द्रियों का दमन करें, क्योंकि अदान्त इन्द्रिय पुरुष को विवेक रूप पथ से प्रच्युत करके विषयरूप गर्त्त=गार में गिराकर नष्ट भ्रष्ट करदेते हैं, जैसाकि:—

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेनमनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इवसारथेः ॥ कठ० ३।५

अर्थ—जो अज्ञानी पुरुष सदा ही विषयों में लम्पट रहकर संशयग्रस्त मन से वर्त्तमान हैं उनके चञ्चल इन्द्रिय सारथि के दुष्ट घोड़ों के समान वश में नहीं रहते अर्थात् अदान्त इन्द्रिय सदा ही पुरुष को विषयों का दास बनाते हैं, या यों कहो कि इन्द्रियों को वश में न रखने वाला पुरुष इसप्रकार नष्ट होजाता

है जैसे दुष्ट घोडों वाले रथ का रथी नाश को प्राप्त होता है, इसलिये उचित है कि प्रथम जिज्ञासु शम दमादि साधन सम्पन्न हो जिससे किसी प्रकार के अनर्थ को प्राप्त न होकर ब्रह्मप्राप्ति का अधिकारी बन सके, और जो पुरुष यथाप्राप्त भोग में सन्तुष्ट न रहकर लोभवश अनेक प्रकार के अनर्थ करते हैं उनको उचित है कि वह दानरूप कर्म का अनुष्ठान करें अर्थात् अन्याय से धनसञ्चय करना पाप समझकर जो कुछ न्याय से प्राप्त हो उसी में सन्तोष करते हुए यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों के अनुष्ठानद्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करके परमात्म परायण हों, ऐसे पुरुषों को ही सब प्रकार के सुख उपलब्ध होते हैं, और जो ऐसा न करते हुए मलिन अन्तःकरण वाले हैं वह पापात्मा सदा ही दुःख भोगते हैं, जैसाकि ऋग्० ८।६।२३।६। में वर्णन किया है कि :—

मोघमन्नं विन्दतेऽप्रचेताः सत्यंब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

अर्थ—जिस पुरुष का चित्त यथाप्राप्त भोग में सन्तुष्ट नहीं अर्थात् जो न्यायपूर्वक धन सञ्चय न करता हुआ केवल स्वार्थ परायण होकर भोग करता है उसका अन्न=भोग्य पदार्थ उसकी अपमृत्यु का हेतु होते हैं और ऐसा पुरुष केवलाघ=नितान्त पापी होता है॥

और जो तमोगुण प्रधान असुर लोग हिंसा करते हैं उनकी शुद्धि का एकमात्र उपाय "दया" है, जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं अर्थात् ऐसे पुरुषों का यह कर्तव्य है कि वह

अहिंसा को परमधर्म समझते हुए मांसादि अखाद्य पदार्थों का कदापि भक्षण न करें, क्योंकि मांसभक्षण करने वाले पुरुष का अन्तःकरण कदापि शुद्ध नहीं होसक्ता, इसीलिये मनुजी ने वर्णन किया है कि :—

नाकृत्वाप्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
नच प्राणिवधः श्रेयस्तस्माद्धिंसां विवर्जयेत् ॥

अर्थ—प्राणियों की हिंसा के विना मांस की उपलब्धि नहीं होती और प्राणियों का बध करना कल्याण का हेतु नहीं, इसलिये हिंसा का सर्वथा त्याग करना ही श्रेयसकर है ॥

सार यह है कि इन्द्रियों का दमन करना, दान देना तथा प्राणियों पर दयादृष्टि रखना, यह तीनों कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के मुख्य साधन हैं और इन्हीं के अनुष्ठान से शेष साधनों की भी प्राप्ति होती है, इसलिये पुरुष को उचित है कि वह उक्त साधनों के अनुष्ठानद्वारा अन्तःकरण की शुद्धि सम्पादन करे, ऐसा करने वाला पुरुष सदा सुख भोगता हुआ परमात्म परायण होता है ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ तृतीयं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब ब्रह्म को हृदयस्थानीय कथन करते हैं:—

एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदे-

तत्त्र्यक्षरꣳ हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मैस्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ १ ॥

अर्थ-प्रजापति=सबका उत्पन्न करनेवाला परमात्मा "हृदय" है, क्योंकि उपासक लोग हृदयदेश में ही उसका ध्यान करते हैं, वही निरतिशयकल्याणगुणाकर होने के कारण सबका आश्रय "ब्रह्म" है, हृ, दा, और इण् इन तीन धातुओं के हृ, द तथा य रूप त्रिविध अक्षर समुदाय से "हृदय" की सिद्धि होती है अर्थात् जो हृदयान्तर्वर्त्ती जीव के भोगार्थ चक्षुरादि इन्द्रिय परमात्मा की सामर्थ्य से गन्धादि विषयोपलब्धिरूप कार्य्य को सम्पादन करते हैं यही हृदय का हृदयपन है, जो इसप्रकार हृदयस्थ बुद्धि के स्वामी जीव के नियन्ता परमात्मा को जानते हैं उनका सब विद्वान् मान करते तथा सब लोग उनको उत्तम २ पदार्थ भेट देते हैं और उन्हीं पुरुषों को स्वर्ग=सुखविशेष प्राप्त होता है अन्य को नहीं ।

इति तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ चतुर्थं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब ब्रह्म को "सत्य" कथन करते हैं:—

तद्वैतदेतदेव तदा स सत्यमेव स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमा ँ ल्लोकाञ्जित इन्न्वसावसद्य एवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्य ँ ह्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

अर्थ—निश्चयकरके ब्रह्म सत्यस्वरूप है, क्योंकि सत्यपद वाच्य पंचभूत उसी की सत्ता से जगत् को उत्पन्न करते हैं और वही सत्य ब्रह्म सब से पूज्य तथा सब का आदिकारण होने से "महद्यक्ष" कहाता है, जो इस महद्यक्ष सत्यरूप परमात्मा को जानलेता है निश्चयकरके वह सर्वोपरि होकर परमात्मा के अपहत पाप्मादि गुणों के धारण करने से ब्रह्म=ब्रह्मवत् पूज्य होता है।

इति चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ पञ्चमं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब ब्रह्म के वाचक सत्य पद का निर्वचन करते हैं:—

आपएवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवा ँ स्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदे-

तत्त्र्यक्षर ᳬ सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीत ᳬ सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वा ᳬ समनृत ᳬ हिनस्ति।१।

अर्थ--सृष्टि के पूर्व एक परमात्मा ही था उसने अपनी आत्मभूत प्रकृति से सत्य=महत्तत्व को उत्पन्न किया, वह महत्तत्व सब से प्रथम उत्पन्न होने के कारण सब कार्य्यों का जनक होने से ब्रह्म=बड़ा है, इस प्रकार महत्तत्व से अहंकार, अहंकार से पञ्च-तन्मात्र तथा दोनों प्रकार के इन्द्रिय उत्पन्न हुए, यह सब महदादि कार्य्यवर्ग सत्यस्वरूप परमात्मा की ही उपासना करते अर्थात् उसी के आश्रित होकर जीवों के भोगार्थ अपने सृष्टि रूप कार्य्य को सम्पादन करते हैं, और " स " " ति " तथा " य " इन तीन अक्षरों के योग से " सत्य " पद की सिद्धि होती है, प्रथम तथा अन्तिम अक्षर " स " और " य " यह दोनों सत्य=सर्वाधिष्ठान परमात्मा के वाचक और मध्यवर्त्ती " ति " अनृत=विनाशी कार्य्यकारणरूप संघात का वाचक है, इस प्रकार सदा एकरस तथा सब कार्य्यकारणात्मक जगत् का आश्रय होने के कारण परमात्मा ही परमार्थ सत्य है, जो इस प्रकार परमात्मा को सबका आश्रय जानता है उसको अनृत=मिथ्याज्ञान कदापि हनन नहीं करता अर्थात् वह अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुःख में सुख, अनात्मा में आत्मबुद्धि

रूप अविद्या के वश होकर पुनः२ जन्म मरण के बन्धन में नहीं आता ॥

सं०-अब उक्त ब्रह्म को सबका नियन्ता कथन करते हैंः—

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन्सयदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेतेरश्मयःप्रत्यायन्ति ॥ २ ॥

अर्थ-जो सत्य ब्रह्म वही आदित्य=सूर्य्य=सूर्य्य का नियन्ता है, यहां आदित्य पद शेष पदार्थों का उपलक्षण है अर्थात् पदार्थमात्र का वही नियन्ता है, और आदित्य मण्डलवर्त्ती पुरुष तथा अक्षिगत पुरुष यह दोनों परस्पर प्रतिष्ठित=सखा हैं, आदित्य मण्डलगत पुरुष ही सूर्य्य की किरणों द्वारा सबका प्रकाशक और अक्षिगत पुरुष प्राणों द्वारा चक्षुरादि इन्द्रियों का नियामक है, जो पुरुष उक्त भाव को पूर्ण प्रकार से जानता है वह सब के नियन्ता ब्रह्म की उपासना करने से शुद्ध होजाता है, फिर उसको रश्मयः=सांसारिक वासनायें अपनी ओर नहीं खींच सक्तीं, या यों कहो कि ऐसा पुरुष वार २ जन्म मरण में नहीं आता ।

सं०-अब अलङ्कार द्वारा "भूः" आदि तीनो व्याहृतियों को परमात्मा का अवयव कथन करते हैं:—

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकँ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद॥ ३॥

अर्थ-आदित्यमण्डलवर्त्ती पुरुष का "भूः" मूर्द्धास्थानी "भुवः" दोनों भुजा और "स्वः"=सुवः दोनों पादस्थानीय हैं, इसी सत्यब्रह्म का "अहः" नाम इसलिये उपनिषद्=गुप्त कहाजाता है कि जिसप्रकार दिन के उदय होने से अन्धकार की निवृत्ति होती है इसी प्रकार औपनिषद परमात्मा के साक्षात्कार से अविद्यारूप अन्धकार की निवृत्ति होजाती है, जो उपासक इस अर्थ को भले प्रकार जानलेता है वह पापरूप अविद्या के निवृत्त होने से शुद्ध होजाता है।

सं०-अब उक्त व्याहृतियों को दक्षिण अक्षिगत पुरुष का अवयव कथन करते हैं:—

यो यं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकँ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्र-

तिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योप-निषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ४॥

अर्थ–दक्षिणअक्षिगत पुरुष का "भूः" मूर्द्धास्थानीय "भुवः" दोनों भुजास्थानीय और "स्वर्" उभय पादस्थानी है, जिस प्रकार स्वाभाविक पाप्मादि धर्मों से वर्जित होने के कारण परमात्मा का "अहर्" नाम है इसी प्रकार ब्रह्म की उपासना से पाप्मादि मलों की निवृत्ति द्वारा जीव का नाम भी "अहर्" है, जो उपासक इस प्रकार जानता हुआ परमात्मस्वरूप का चिन्तन करता है निश्चय करके वह सब प्रकार के मलों से रहित होकर शुद्ध होजाता है।

इति पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ षष्ठं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०–अब परमात्मा को सबका अधिपति कथन करते हैं:—

मनोमयो यं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्न-न्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्व-स्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशा-स्ति यदिदं किञ्च ॥ १॥

अर्थ-यह मनोमय=मन का नियन्ता परमात्मा निखिल ब्रह्माण्डरूप शरीर में एकारस व्यापक तथा सत्य=त्रैकालाबाध्य और प्रकाशस्वरूप है, वही पुरुष के हृदय में ब्रीहि तथा यव से भी अतिसूक्ष्म होकर विराजमान है, वही सबका ईशान=नियन्ता तथा सबका अधिपति है और जो यह चराचर दृश्यमान जगत् प्रतीत होरहा है इस सब का प्रशासन करने वाला है।

भाष्य-इस ब्राह्मण का आशय यह है कि जो मन आदि पदार्थों का नियन्ता सत्य पद वाच्य ब्रह्म है वही सबका उपास्य देव है, इसी अभिप्राय से गार्गी के प्रति याज्ञवल्क्य का कथन है कि:—

"एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि-
सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" बृहदा० ३।८।९

अर्थ-हे गार्गि ! इसी अक्षर परमात्मा के प्रशासन में सूर्य्य तथा चन्द्रमा स्थिर हैं, और इसी अर्थ को गी० १८।६१ में इस प्रकार स्फुट किया है कि:-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया ॥

अर्थ-हे अर्जुन ! परमात्मा ही सब जीवों के हृदय में विराजमान होकर अदृष्टरूप यन्त्र में आरूढ़ भूतों को कर्मानुसार फल देने के कारण वही सबका अधिपति है।

इति षष्ठं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ सप्तमंब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब ब्रह्म को "विद्युत" रूप से कथन करते हैं:—

विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

अर्थ—ब्रह्मवेत्ताओं का कथन है कि जिस प्रकार यह प्रसिद्ध बिजुली चमकती हुई अन्धकार को नष्टभ्रष्ट कर देती है इसी प्रकार उपासक के पापरूप अन्धकार का विनाशक होने से परमात्मा का नाम "विद्युत्" है अर्थात "विद्योतत इति विद्युत्"=जो प्रकाशस्वरूप हो उसको "विद्युत्" कहते हैं, इस प्रकार जो प्रकाशस्वरूप परमात्मा को विद्युत समान समझ कर उपासना करता है वह पापरूप मल से रहित होकर शुद्ध होजाता है।

इति सप्तमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ अष्टमंब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब वेदरूप वाणी को "धेनु" कथन करते हैं:—

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः

स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राणऋषभो नमो वत्सः ॥ १ ॥

अर्थ-वेदरूप वाणी धेनु=गौ के समान है,जिस प्रकार गौ के चार स्तन होते हैं इसी प्रकार वाणीरूप धेनु के भी स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार तथा स्वधाकर यह चार स्तन हैं जिनमें से स्वाहाकार तथा वषट्काररूप दो स्तनों द्वारा अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान रूप दुग्ध का दोहन करते हुए देवता=विद्वान् जीवित रहते हैं और जो उक्त धेनु का हन्तकार नामक तीसरा स्तन है उसी के आश्रय मनुष्यों का जीवन है अर्थात् जो अन्य वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में किसी कारणवशात् अवकाश न मिलने से केवल अतिथि यज्ञ को पूर्ण करते हैं उनका जीवन भी पवित्र होजाता है, और जो स्वधाकार नाम चतुर्थ स्तन है उसके आश्रय पितर=केवल कर्मी लोग अपना जीवन पूर्ण करते हैं अर्थात् जीवित पितरों के उद्देश्य से श्राद्धरूप पितृयज्ञ का अनुष्ठान करने वाले पुरुष पितृलोक को प्राप्त होते हैं, और जिस प्रकार वृषभ से वत्स=बछड़ा उत्पन्न करके धेनु दुग्ध का स्रवण करती है वैसे ही प्राणात्मक वृषभ द्वारा मनरूप वत्स से वाक्रूप धेनु पुण्यरूप दुग्ध को स्रवण करती है, क्योंकि प्राण के बल से ही वाणी का उच्चारण होता और मनद्वारा संकल्प करके स्वाहाकारादि स्तनों से पुण्यरूप दूध का दोहन किया जासक्ता है, जो इस प्रकार वेदवाणी की धेनुरूप से

उपासना करते हैं उन्हीं पुरुषों को पुण्यात्मक अमृत का लाभ होता है अन्यों को नहीं ।

इति अष्टमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ नवमं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब परमात्मा को " वैश्वानर " कथन करते हैं:-

अयमग्निर्वैश्वानरो यो यमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष-घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणो-ति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैन ँ घोषं शृणोति ॥ १ ॥

अर्थ-अग्नि=प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही वैश्वानर है, क्यों कि जो कुछ खायाजाता है वह सब परमात्मा की सत्ता को पाकर ही वैश्वानर=जठराग्नि द्वारा जीर्ण होता है स्वतः नहीं, और जो दोनों श्रोत्रों को बन्द करने से घोषात्मक शब्द सुनाई देता है वह इसी वैश्वानराग्नि का शब्द है जिसका श्रवण आसन्नमृत्यु पुरुष को नहीं होता ॥

भाष्य-" विश्वस्य नरः विश्वनरः "=जो ब्रह्माण्ड का नेता हो उसका नाम " विश्वानर " और " वि-श्वानर एव वैश्वानरः "=विश्वानर को ही " वैश्वानर " कहते हैं, " वैश्वानर " परमात्मा का नाम इसलिये है कि इसी

के बलद्वारा जठराग्नि चारो प्रकार के अन्न को भस्म करती है, जैसाकि :—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमास्थितः ।
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधं ।
गी० १५ । २४

अर्थ—हे अर्जुन ! मैं ही वैश्वानर रूप से प्राणियों के देह में व्याप्त होकर प्राण तथा अपान सम्बन्धी क्रिया करता हुआ चारो प्रकार के अन्न को पाचन करता हूं अर्थात् भक्ष्य= दांतों से चबाकर खाने योग्य रोटी आदि पदार्थ, भोज्य= चबाने के विना ही खाने योग्य दुग्धादि पदार्थ, लेह्य=जिह्वा से चाटने योग्य चटनी आदि पदार्थ और चोष्य=चूसने योग्य इक्षु आदि पदार्थ, यह चतुर्विध अन्न मेरी सत्ता से ही जीर्ण होता है, इसी भाव को " वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् " ब्र०सू० १ । २ । २४ में यों स्फुट किया है कि साधारण वैश्वानर से विशेषता पायेजाने के कारण परमात्मा का नाम "वैश्वानर" है, इस भाव को " वेदान्तार्य्यभाष्य" के " वैश्वानराधिकरण " में विस्तारपूर्वक स्फुट किया है, इस लिये यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं ॥

इति नवमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ दशमं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब उपासक पुरुष की गति कथन करते हैं:—

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा-रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते, स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स लोक-मागच्छत्यशोकमहिमं, तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥ १ ॥

अर्थ–जब उपासक इस लोक से प्रयाण करता है तब प्रथम वायु को प्राप्त होता है और वायु उसके लिये रथचक्र के छिद्र की भांति अवकाश देता है जिससे वह सूर्य्य लोक को प्राप्त होता है, इसीप्रकार सूर्य्य से चन्द्र लोक को चन्द्र लोक से प्रजापति लोक को प्राप्त होकर परान्तकाल तक वहां निवास करता है अर्थात् उपासक मुक्ति अवस्था में चन्द्रादि लोकों में स्वच्छन्द विचरता है उसकी गति में किसी प्रकार का निरोध नहीं होता ॥

इति दशमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ एकादशं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब ज्वरादि क्लेशों के सहन को परमतप कथन करते हैं:—

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमꣳहैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यꣳहरन्ति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परम ꣳहैव लोकं जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

अर्थ-ज्वरादि रोगों से सन्तप्त होकर अनेक प्रकार के दुःख का भोगना "परमतप" है अर्थात् मनुष्य को उचित है कि जब ज्वरादिकों से किसी प्रकार की पीड़ा प्राप्त हो तो बड़ी धीरता से उसका सहन करे, ऐसा तितिक्षु पुरुष परमलोक=उत्तम लोक को प्राप्त होता है, या यों कहो कि सहनशील पुरुष किसी प्रकार के क्लेश से सन्तप्त नहीं होता वह अपने जीवन में मृत्यु के दुःख को भी तुच्छ जानकर अपने धर्म पर दृढ़ रहता है, इसी प्रकार मृत पुरुष को अरण्य में लेजाना और वेद मन्त्रों द्वारा उसका मृतक संस्कार करना भी "परमतप" जानना चाहिये।

इति एकादशं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ द्वादशं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब अन्न तथा प्राण को ब्रह्म=बड़ा कथन करते हैं:—

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृतेप्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राणाऋतेऽन्नादेते-ह्त्वेव देवते एकधा भूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तद्धस्माऽऽह प्रातृदः पितरं किᳬस्विदेवैवं विदुषे साधुकुर्यां किमेवास्मा असाधुकुर्यामिति सहस्माऽऽह पाणिना-माप्रातृद कस्त्वेन योरेकधा भूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्नं वैव्यन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा अस्मिन्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥ १ ॥

अर्थ—कई आचार्यों का कथन है कि "अन्न" ही ब्रह्म है सो ठीक नहीं, क्योंकि प्राण के बिना अन्न सड़ जाता है अर्थात्

प्राणधारी जीवों के भोगे बिना निरर्थक पड़ा हुआ उपादेय नहीं रहता, और दूसरे आचार्यों का मत है कि "प्राणो ब्रह्म"=प्राण ही ब्रह्म है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि अन्न के बिना प्राण सूख जाता है, अतएव कहा है कि "अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः"= निश्चयकरके जीवों का अन्न ही प्राण है, इसलिये अन्न तथा प्राण दोनों मिलकर ही ब्रह्म कहाते हैं, "प्रातृद" नामा ऋषि ने अपने पिता के प्रति कहा कि हे पितः ! जो अन्न तथा प्राण को पृथक् २ ब्रह्म जानता है, वह पूजनीय होता है वा नहीं ? तब उस के पिता ने सत्कारपूर्वक पुत्र का हाथ पकड़कर कहा कि हे पुत्र! जो दोनों को साथ २ ब्रह्म जानता है वही पूजनीय है अन्य नहीं, "वीत्यन्नं वै"=निश्चयकरके अन्न का नाम "वी" है, क्योंकि सब भूत अन्न द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्राण का नाम "र" इसलिये है कि "प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते"= प्राण के बल से ही सब प्राणी स्वच्छन्द विचरते तथा जितने बल-साध्य कर्म हैं उनको प्राण ही की सामर्थ्य से करते हैं, जो इस प्रकार अन्न को "वी" तथा प्राण को "र" समझकर दोनों से यथायोग्य उपकार लेता है, या यों कहो कि जो सबके प्रति यथाधिकार अन्न विभक्त करता तथा परोपकारार्थ अपने बल को अर्प्पण करता है उसके साथ सब प्राणी प्रेम करते तथा उसके आश्रय होते हैं ।

इति द्वादशं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ त्रयोदशं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब प्राण का महत्त्व कथन करते हुए प्रथम उसको उक्थरूप से वर्णन करते हैं:—

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीद ँ सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मादुक्थ विद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्य ँ स लोकतां जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

अर्थ-निश्चयकरके प्राण ही "उक्थ"=सबका उठाने वाला है, क्योंकि सब चराचर प्राण द्वारा ही अपनी २ चेष्टा करते हैं, जो प्राण को उक्थरूप जानकर वीर्य्य की रक्षा करता है उसका पुत्र वीर=पराक्रमी होता और वह प्राणवित् पुरुष सायुज्य=प्राण के समान बल वाला होता तथा सलोकतां=लोगों में प्रतिष्ठा पाता है ।

सं०-अब प्राण को यजुरूप कथन करते हैं:-

यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्य ँ स लोकतां जयति य एवं वेद ॥ २ ॥

अर्थ-निश्चयकरके प्राण ही यजु=दूसरे से सम्बन्ध कराने वाला है, क्योंकि प्राण ही के बल से सब भूत युक्त होते हैं, जो

इस प्रकार प्राण को "यजु" समझकर सबके साथ मिलाप करता है उसके सुख दुःख में सब भूत सहायक होते हैं।

सं०-अब प्राण को सामरूप कथन करते हैं:-

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि, सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्य ँ स लोकतां जयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अर्थ-निश्चयकरके प्राण ही साम है, क्योंकि इसी के बल से सब भूत मिलकर श्रेष्ठता के लिये उद्यत होते हैं। (शेष पूर्ववत्)

सं०-अब प्राण को क्षत्ररूप कथन करते हैं:-

क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्रक्षत्रमत्र प्राप्नोति क्षत्रस्य सायुज्य ँ स लोकतां जयति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ-निश्चयकरके प्राण ही क्षत्र=क्षत्रियजाति का बल है, क्योंकि प्राण की सामर्थ्य से ही क्षत्रिय लोग धर्म की रक्षा करते हैं अर्थात् प्राण ही सब प्रकार की क्षति से बचाने वाला है, इस प्रकार जो प्राण=वीर्य के महत्त्व को समझकर उसकी रक्षा के

लिये यत्नवान् होता है वह कदापि हताश नहीं होता ।

इति त्रयोदशं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ चतुर्दशं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब प्राणरक्षा के मुख्य साधन गायत्री का महत्व कथन करते हैं:—

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षर ँ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदुहैवास्या एतत्सयावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १ ॥

अर्थ—जैसे भूमि, अन्तरिक्ष तथा द्यौ=दियौ यह त्रिलोकी वाचक तीन पद आठ अक्षरों के हैं वैसे ही गायत्री का "तत्सवितुर्वरेणियं" यह प्रथम पाद आठ अक्षरों का है, इस प्रकार जो उपासक गायत्री के प्रथम पाद को भले प्रकार जानलेता है वह तीनो लोकों में जय को प्राप्त होता है ।

ऋचो यजु ँ षि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षर ँ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदुहैवास्या एतत्सयावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योस्या एतदेवं पदं वेद ॥२॥

अर्थ–जिसप्रकार ऋचः, यजूंषि, सामानि इन तीनों वेदों के वाचक तीन पदों के अक्षरों का योग करने से आठ अक्षर बनते हैं इसी प्रकार "भर्गोदेवस्य धीमहि" यह गायत्री का दूसरा पाद भी आठ अक्षरों का है अर्थात् जो पुरुष गायत्री के इस दूसरे पाद का भलेप्रकार जप करता है वह मानो तीनो वेदों के अध्ययन से होनेवाले फल को उपार्जन करता है।

प्राणोऽपानोव्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षर ँ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदुहैवास्या एतत्सयावदिदं प्राणितावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजाय एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति. ददृश इव ह्येषपरोरजा इति सर्वमुह्येवैष रज उपर्युपरितपत्येव ँ हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ ३ ॥

अर्थ–प्राण, अपान तथा व्यान=वियान इन प्राणवाची आठ अक्षरों के समान ही "धियो यो नः प्रचोदयात्" यह गायत्री का तृतीयपाद भी आठ अक्षरों का है, जो गायत्री के तृतीयपाद सम्बन्धी महत्त्व को जानता है निश्चयकरके वह प्राण, अपानादि की क्रिया में स्वतन्त्र होजाता है अर्थात् प्राणायाम के अभ्यास द्वारा मन को अपने वश में करलेता है,

और "तुरीयं दर्शतं पदं परोरजः य एष तपति"=गायत्री का जो दर्शत=दर्शनीय तुरीय=चतुर्थ पद है वह सब लोकों से ऊपर है अर्थात् गायत्री के उक्त तीन पादों द्वारा उपासना करने वाले पुरुष को जिस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है उसका नाम "तुरीय" पद इसलिये है कि इस अवस्था में मुक्त पुरुष के साथ किसी प्रकार के पाप का सम्बन्ध नहीं रहता प्रत्युत परमात्म सम्बन्धी सत्यसङ्कल्पादिकों के धारण करने से वह देदीप्यमान होकर ब्रह्मानन्द में मग्न रहता है, जो इस प्रकार गायत्री के महत्व को जानता है वह श्रीमान् तथा यशस्वी होता है ।

सं०—अब गायत्री की प्रतिष्ठा कथन करते हैं:—

सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरीये दर्शते पदे परो रजसि प्रतिष्ठिता तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्यामतद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलꣳसत्यादोगीय इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गयाꣳस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाꣳस्तत्रेत-

यद्गया ँ स्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामू ँ सावित्री मन्वाहैषैव सा स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणा ँ स्त्रायते॥४॥

अर्थ-उक्त गायत्री उस तुरीयदर्शननामक पद में स्थिर है जिसकी प्रतिष्ठा सत्यपद वाच्य परमात्मा है अर्थात् जो मुक्ति पद गायत्री द्वारा मुमुक्षुजनों को उपलब्ध होता है उसकी प्रतिष्ठा एकमात्र परमात्मा है, क्योंकि उस अवस्था में मुक्त जीव केवल परमात्मा के आनन्द को भोगते हैं, निश्चयकरके चक्षुः ही "सत्य" है, क्योंकि जब एक द्रष्टा दूसरा श्रोता दोनों किसी एक विषय में विवाद करते हुए निर्णयार्थ मध्यस्थ के समीप आवें तो जिसने अपनी आंखों से देखा हो उसी पर विशेषतः विश्वास किया जाता है इसी प्रकार समाधि अवस्था में सत्य परमात्मा के साक्षात्कार द्वारा योगी जिस पदार्थ का अनुभव करते हैं वह सत्य ही होता है मिथ्या नहीं अर्थात् जैसे लौकिक पुरुषों के दोषरहित नेत्र यथार्थ वस्तु के दर्शक होते हैं वैसे ही योगी लोग परमात्मरूप चक्षु से ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा पदार्थ को यथार्थ रूप से उपलब्ध करते हैं, इस अवस्था में उनका ज्ञान भ्रान्तिरूप नहीं होता, उक्त सत्यरूप परमात्मा बल=ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित है, क्योंकि ब्रह्मचर्य्य के विना परमात्मप्राप्ति का होना सर्वथा असम्भव है, निश्चयकरके प्राण=प्राणायाम ही बल है इसी के द्वारा योगी अपने ब्रह्मचर्य्य को स्थिर करते हुए परमात्मा को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार गायत्री को परमात्मा में प्रतिष्ठित कथन किया है, उसका निर्वचन इस प्रकार है कि "सा हैषा

गया २ स्तत्रे०"=निश्चयकरके प्राण=वागादि इन्द्रियों का नाम "गय" है और उनकी रक्षा करने वाली को "गायत्री" कहते हैं अर्थात् जो पुरुष अहर्निश गायत्री का जप करते हैं उनके इन्द्रिय पापों से लिपायमान नहीं होते, और उपनयन कराकर आचार्य्य जिस गायत्री के एक पाद, अर्द्ध, सम्पूर्ण अथवा एक अक्षर का उपदेश करता है उसी को "सावित्री" कहते हैं, क्योंकि सविता=सब का उत्पन्न करने वाला परमात्मा ही इसका देवता है, इस प्रकार गायत्री तथा सावित्री को एकार्थवाची जानना चाहिये।

सं०—अब उक्त अर्थ में अन्य आचार्य्य का मत कथन करते हैं :—

ताᳬहैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वानुष्टुवेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद्यदिह वा अथेवं विद्वह्विवप्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकं च न पदं प्रति ॥ ५ ॥

अर्थ—कई एक आचार्यों का कथन है कि उपनयनोत्तर काल में ब्रह्मचारी के प्रति अनुष्टुप्छन्द द्वारा ही सावित्री का उपदेश करना चाहिये,क्योंकि अनुष्टुप् वाणी का स्वरूप है? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि गायत्री सब छन्दों में मुख्य है और मुख्यामुख्य दोनों के मध्य मुख्य में कार्य्यप्रतीति का नियम है, इसलिये गायत्री छन्द द्वारा ही सावित्री का उपदेश

करना उचित है, जो इस प्रकार गायत्री के रहस्य को जानता है वह बहुत प्रतिग्रह=दान लेने पर भी प्रतिग्रहजन्य दोष का भागी नहीं होता अर्थात् शिष्य गायत्री के उपदेष्टा आचार्य्य के प्रति कितना ही धन देवे वह एकपाद के उपदेश के लिये भी पर्याप्त नहीं फिर दान लेकर दोषभागी होने की तो कथा ही क्या ।

सं-अब उक्त अर्थ में और विशेषता कथन करते हैं:—

स य इमा॑ᳫँस्त्री ᳫँल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद् द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजाय एष तपति नैवकेन च नाऽऽप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात् ॥६॥

अर्थ-यदि गायत्री का तत्त्ववेत्ता आचार्य्य विविध पदार्थों से पूर्ण त्रिलोकी को गुरुदक्षिणा में ग्रहण करे तो वह गायत्री के प्रथमपाद सम्बन्धी विज्ञान का फल जानना चाहिये अर्थात् उक्त आचार्य्य महान् दान को लेकर भी उससे यथाविहित ऐश्वर्य्य भोगता हुआ भी किसी प्रकार के पाप से लिपायमान

नहीं होता, क्योंकि वह परमात्मसुख की अपेक्षा अन्य सब सुखों को तुच्छ जानता है, इस प्रकार गायत्री के द्वितीयपाद का अर्थ सहित चिन्तन करना तीनों वेदों के अध्ययन समान और तृतीयपाद का विज्ञान सम्पूर्ण जगत् पर स्वत्व रखने के समान होता है परन्तु जो गायत्री का तुरीयदर्शत नामक पद कथन कर आये हैं उसके प्रत्युपकारार्थ संसार में कोई पदार्थ नहीं अर्थात् गुरुपदेश द्वारा गायत्री के जप से शिष्य को जिस अमृत-पद का लाभ होता है उसके बदले शिष्य के पास कोई पदार्थ नहीं होसक्ता जिसको वह भेट करसके, इससे सिद्ध है कि गायत्री सर्वोपरि है ॥

सं०—अब गायत्री के अधिष्ठाता परमात्मा का उपस्थान कथन करते हैं:—

तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्येकपदी द्वि-पदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोर-सेऽसावदो मा प्रापदिति यद्विष्यादसावस्मै कामोसमृद्धीति वा नहैवास्मै स कामः स मृध्यते यस्मा एव मुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥ ७ ॥

अर्थ—हे गायत्रि=सर्वरक्षक परमात्मन् ! आप त्रिलोकीरूप पाद से एकपदी=एकपद हैं अर्थात् यह चराचर प्राणियों का

निवासभूत ब्रह्माण्ड आप के एकदेश में है और आप ही द्विपदी=वेदों के प्रकाशक होने से द्विपाद्, त्रिपदी=वागादि समस्त इन्द्रियों के अधिष्ठाता होने से त्रिपाद्, चतुष्पदी=सूर्य्यमण्डल का नियन्ता होने से चतुष्पाद् और अपदी=स्वयंप्रकाश, शुद्धस्वरूप से अपद=वास्तविक पादकल्पना रहित हैं और फिर आप कैसे हैं ? "नहि पद्यसे"=किसी इन्द्रिय का विषय नहीं, हे भगवन् ! आप के तुरीय=अमृतस्वरूप को नमस्कार हो, आप की कृपा से यह पापरूप शत्रु कदापि उपासना में विघ्न न करे यही मेरी प्रार्थना है, इस प्रकार उपासक जिस पाप की निवृत्ति के लिये प्रार्थना करता है उसका वही पाप निवृत्त होजाता है ॥

सं०-अत्र जनक की आख्यायिका द्वारा गायत्री को पूर्णरूप से न जानने वाले प्रतिग्रही पुरुष के लिये दोष कथन करते हैं:—

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाचयन्नुहो तद्गायत्री विदब्रूथा अथ कथꣳहस्ती भूतो वहसीति मुखꣳ ह्यस्याः सम्राड् न विदांचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत्संदहत्येवꣳहैवैवं विद्यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः संभवति ॥ ८ ॥

अर्थ—आश्वतराश्वि=अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल के प्रति राजा जनक ने कहा कि हे बुडिल! तू अपने आपको गायत्रीवित् कथन करता था फिर "कथं हस्ति भूतो वासीति"= हस्ति होकर मुझको क्यों वाहन करता है ? बुडिल ने कहा कि हे सम्राट्! मैं गायत्री को पूर्ण रूप से नहीं जानता अर्थात् उस के देवता का मुझको पूर्ण रूप से ज्ञान नहीं, तब राजा बोले कि हे बुडिल! अग्नि=प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही गायत्री का मुख= देवता है, जिस प्रकार अग्नि में डाला हुआ पदार्थ भस्म होजाता है इसी प्रकार गायत्री द्वारा उपासना करने वाले पुरुष के सब पाप भस्म होजाते हैं, सब पापों का दाह यहां अर्थवाद से कथन कियागया है वास्तविक बात यह है कि वह कोई पापाचरण नहीं करता, और पापों के न करने से शुद्ध हुआ पुरुष अमृतपद को प्राप्त होता है।

भाष्य—इस श्लोक में जनक की आख्यायिका द्वारा यह बोधन किया गया है कि जो पुरुष गायत्री को भले प्रकार जानकर उसका मनन करता है वह सब पापों से रहित होकर अमृतपद को प्राप्त होता है, जैसाकि सुरेश्वराचार्य्य ने अपने वार्तिक में लिखा है कि:—

यो वेदाग्निमुखामेतां गायत्रीमग्निरेवसः ।
अग्निरिन्धनवत्सर्वं दहेद्विद्वान् प्रतिग्रहं ॥

अर्थ—जो पुरुष परमात्मा को गायत्री का देवता समझकर उपासना करता है वह अग्नि से लकड़ियों की भांति सम्पूर्ण प्रतिग्रह जन्य दोष को दग्ध कर देता है, परन्तु जो पुरुष अनुष्ठानशील नहीं और न गायत्री को उसके देवता सहित भले प्रकार जानता है वह हस्ति, घोड़ा आदि अनेक वाहनरूप योगियों को प्राप्त

होता है, इसी आशय से अर्थवाद द्वारा बुडिल का हस्ति होना कथन किया गया है किसी असंभव अर्थ में इसका तात्पर्य्य नहीं, इसी भाव को स्वामी सुरेश्वराचार्य्य ने इस प्रकार स्फुट किया है कि :-

कार्त्स्न्येन विद्याह्यभ्यस्ता फलायालमुपासितुः ।
विपर्ययेणानर्थाय तदेत्प्रतिपाद्यते ॥

अर्थ-बुडिल का जो हस्ति होना कथन किया गया है उस का तात्पर्य्य यह है कि भले प्रकार जानी हुई विद्या उपासना करने वाले को पूर्ण फल देती है और जो उसको अन्यथा समझ कर उपासना करता है वह अनेक प्रकार के अनर्थों को प्राप्त होता है ।

इति चर्तुदशं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ पंचदशं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब मोहनिवृत्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना करते हैं:-

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत्वंपूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ पूषन्नेकर्षे यमसूर्यप्राजापत्य व्यूहरश्मीन् सहमूह । तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥ योऽसावसौ पुरुषः

सोऽहमस्मि । वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम् ।ओम् क्रतो स्मर कृतꣳस्मर क्रतो स्मर कृतꣳस्मर । अग्नेनय सुपथाराये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ १ ॥

अर्थ–सुवर्ण की भांति प्रलोभन करने वाले एषणा त्रय रूप पात्र से सत्य=परमात्मा का स्वरूप ढका हुआ है, हे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पोषक परमात्मन् ! आप उसको अपने सत्यस्वरूप के दर्शनार्थ खोलदें अर्थात् ऐसी कृपा करें कि जिससे हम लोग उक्त एषणाओं से निवृत्त होकर आपके यथार्थ स्वरूप का दर्शन कर सकें । हे पूषन्=पुष्टिकारक, एकर्षे=सब के ज्ञाता, यम=सब के नियन्ता, सूर्य्य=सर्वोत्पादक, प्राजापत्य=सब के स्वामिन् परमात्मन् ! आप उक्त हिरण्मय पात्र की प्रलोभनरूप रश्मियों का भले प्रकार उपसंहार करें ताकि आपका जो कल्याण देने वाला तेजोमय स्वरूप है उसका दर्शन करसकें,हे पिता ऐसी कृपा करो कि हम आप के ही स्वरूप में मग्न होकर आनन्द लाभ करते रहें । जब मृत पुरुष का प्राणवायु वाह्यवायु को प्राप्त होता है तब इसका शरीर दाह योग्य होजाता है, इसलिये हे जीव ! तू उस परमात्मा का स्मरण कर, अपने भविष्य का स्मरण कर और अपने किये हुए कर्मों का स्मरण कर ।

हे प्रकाशस्वरूप दिव्यशक्ति सम्पन्न परमात्मन् ! आप हमारे सब मानस कर्मों को जानते हुए हमको ऐश्वर्य्य प्राप्ति के लिये शुभ मार्ग द्वारा लेचलें और हमारे अति कुटिल पापों को हम से दूर करें, हम सब आपको बहुत २ नमस्कार करते हैं।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
बृहदारण्यकार्य्यभाष्ये पंचमः
अध्यायः समाप्तः

ओ३म्

अथ षष्ठः अध्यायः प्रारभ्यते

सं०—अब प्राणविद्या का उपदेश करते हैं:—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ १ ॥

अर्थ—निश्चयकरके प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, जो प्राण को भले प्रकार ज्येष्ठ और श्रेष्ठ जानता है वह अपने सम्बन्धियों के मध्य ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होकर मान पाता है अर्थात् जिसप्रकार प्राण सब इन्द्रियों को बल देने से श्रेष्ठ है इसीप्रकार प्राण की भांति सब की सहायता करने वाला पुरुष भी अपने सम्बन्धीवर्ग में मान को प्राप्त होता है।

सं०—अब वाक् को वसिष्ठ=श्रेष्ठ कथन करते हैं:—

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वाग्वै वसिष्ठावसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ २ ॥

अर्थ—निश्चयकरके वाक्=वाणी ही शब्दार्थ का प्रकाशक होने से श्रेष्ठ है, जो इस प्रकार वाणी को श्रेष्ठ जानता है वह वाग्मी=प्रशस्त वक्ता होने के कारण प्रतिष्ठित होता है।

सं०–अब चक्षुः को श्रेष्ठ कथन करते हैंः—

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति स मे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥ ३ ॥

अर्थ–निश्चयकरके चक्षु ही प्रतिष्ठा=श्रेष्ठ है, क्योंकि सम विषम सब देश काल में पुरुष इसी द्वारा देखता हुआ प्रतिष्ठित होता है।

सं०–अब श्रोत्र को संपत्‌रूप कथन करते हैंः—

यो ह वै संपदं वेद सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै संपच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्ना सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ–निश्चयकरके श्रोत्र ही सम्पत्‌=ऐश्वर्य्य देने वाला है, क्योंकि सब वेद शास्त्र श्रोत्रद्वारा ही सुने जाते और धारण किये जाते हैं, जो इस प्रकार श्रोत्र की सम्पत्ति को जानता है वह निश्चयकरके ऐश्वर्य्यशाली होता है और ऐसा होने से जिस कामना को चाहता है उसी को पूर्ण करलेता है।

सं०–अब मन को आयतनरूप कथन करते हैंः—

यो ह वा आयतनं वेदा यतनꣳ स्वानां भवत्यायतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनꣳ स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५॥

अर्थ-निश्चयकरके मन ही आयतन=सब इन्द्रिय तथा विषयों का आश्रय है, क्योंकि इसी के सङ्कल्प द्वारा इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्त होते हैं और इन्द्रियों से प्रकाशित हुए विषय मन द्वारा ही आत्मा के भोग को सम्पादन करते हैं, जो इस प्रकार मन को आयतनरूप जानता है वह सब सम्बन्धी तथा अन्य लोगों का आश्रय होता है अर्थात् जैसे मन इन्द्रियों का सहायक है इसी प्रकार सबका सहायक पुरुष पूज्य होता है।

सं०-अब उपस्थ को प्रजातिरूप कथन करते हैं:—

यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभीरेतो वै प्रजातिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥ ६॥

अर्थ-निश्चयकरके रेतस्=उपस्थेन्द्रिय ही प्रजाति=प्रजा की उत्पत्ति का हेतु है, जो इसको उक्त प्रकार से जानता है वह प्रजा तथा पशुओं से सम्पन्न होता है अर्थात् जो पुरुष ऋतुगामी होता है उसी के उत्तम प्रजा और बलवान् होने से उसी के सब प्रकार की सम्पत्ति होती है।

सं०-अब सब इन्द्रियों में प्राण को श्रेष्ठ वर्णन करने के लिये इन्द्रियों का परस्पर विवाद कथन करते हैं:—

ते हेमे प्राणा अहँ श्रेयसे विवदमाना ब्रह्मजग्मुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन्वउत्क्रान्त इदँ शरीरं पापीयो मन्यते सवोवसिष्ठ इति ।७।

अर्थ-वह प्रसिद्ध इन्द्रिय अपने रक्षक ब्रह्म के निकट जाकर बोले कि हे भगवन् ! हम में से कौन श्रेष्ठ है ? प्रजापति ने उत्तर दिया कि तुम में से जिसके निकलजाने पर शरीर पापिष्ठ=अमङ्गलसा होजाता है वही श्रेष्ठ है ।

सं०-अब प्रथम वाक् इन्द्रिय का उत्क्रमण कथन करते हैं:-

वाग्घोच्चक्रामसा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकतमदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाकला अवदन्तोवाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाँसोमनसा प्रजायमानारेतसैव मजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥८॥

अर्थ-इसके अनन्तर वागेन्द्रिय शरीर से उत्क्रमण कर एकवर्षपर्य्यन्त वाहर रहकर फिर लौट आया और आकर शेष इन्द्रियों से बोला कि तुम मेरे विना कैसे जीवित रहे, तब इन्द्रियों ने कहा कि जैसे मूक वाणी से न बोलते हुए भी प्राणों से

जीवित रहते, चक्षु से देखते, श्रोत्र से सुनते, मन से जानते और उपस्थ से प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं इसी प्रकार हम भी जीवित रहे, यह सुनकर वागेन्द्रिय शरीर में प्रवेश कर अपना व्यापार करने लगा।

सं०-अब चक्षुः का उत्क्रमण कथन करते हैं:—

चक्षुर्होच्चक्रामतत्संवत्सरं प्रोष्यागत्यो-
वाच कथमशकतमदृते जीवितुमिति ते
होचुर्यथान्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः
प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण
विद्वा ँ सो मनसा प्रजायमाना रेतसैव-
मजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

अर्थ-वाणी के प्रवेशानन्तर चक्षुरिन्द्रिय शरीर से उत्क्रमण कर एक वर्ष पर्य्यन्त बाहर रहकर फिर लौट आया और आकर शेष इन्द्रियों से बोला कि तुम मेरे विना कैसे जीवित रहे तब इन्द्रियों ने कहा कि जैसे अन्धपुरुष आंखों से न देखते हुए भी प्राणों से जीवित रहते, वाणी से बोलते, श्रोत्र से सुनते, मन से जानते और उपस्थ द्वारा प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं इसी प्रकार हम जीवित रहे, यह सुन चक्षुरिन्द्रिय शरीर में प्रवेश कर अपना व्यापार करने लगा।

सं०-अब श्रोत्र का उत्क्रमण कथन करते हैं:-

श्रोत्रᳬहोच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकतमदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अश्रृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाᳬसो मनसा प्रजायमानारेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥१०॥

अर्थ—चक्षु के प्रवेशानन्तर श्रोत्रेन्द्रिय शरीर से उत्क्रमण कर एकवर्ष पर्य्यन्त बाहर रहकर लौट आया और आकर शेष इन्द्रियों से बोला कि आप मेरे बिना कैसे जीवित रहे ? इन्द्रियों ने कहा कि जैसे बधिर श्रोत्र से न सुनते हुए भी प्राणों से जीवित रहते, वाणी से बोलते, चक्षु से देखते, मन से जानते और उपस्थ से प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, इसी प्रकार हम भी जीवित रहे, यह सुनकर श्रोत्र शरीर में प्रवेश कर अपना व्यापार करने लगा ॥

सं०—अब मन का उत्क्रमण कथन करते हैं :—

मनोच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकतमदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वाᳬसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना-

रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः॥११॥

अर्थ–श्रोत्र के प्रवेशानन्तर मन शरीर से उत्क्रमण कर एक वर्ष पर्य्यन्त बाहर रहकर फिर लौट आया और आकर शेष इन्द्रियों से बोला कि तुम मेरे विना कैसे जीवित रहे ? इन्द्रियों ने उत्तर दिया कि जैसे विना मन वाले बालकादि मन से न जानते हुए भी प्राण से जीवित रहते, वाणी से बोलते, चक्षु से देखते, श्रोत्र से सुनते और उपस्थ से प्रजा उत्पत्ति की योग्यता रखते हुए जीवित रखते हैं इसी प्रकार हम भी जीवित रहे, यह सुनकर मन शरीर में प्रवेश कर अपना व्यापार करने लगा॥

सं०–अब उपस्थ का उत्क्रमण कथन करते हैं:—

रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकतमदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीवा अप्रजायमानारेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाᳪसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः॥१२॥

अर्थ–मन के प्रवेशानन्तर उपस्थेन्द्रिय=प्रजननशक्ति शरीर से उत्क्रमण कर एकवर्ष पर्य्यन्त बाहर रहकर फिर लौट आई और आकर शेष इन्द्रियों से बोली कि तुम मेरे विना कैसे जीवित रहे ? तब इन्द्रियों ने कहा कि जैसे नपुंसक उपस्थ से प्रजा उत्पन्न न करते हुए भी प्राणों से जीवित रहते,

वाणी से बोलते, चक्षु से देखते, श्रोत्र से सुनते और मन से जानते हुए जीवित रहते हैं इसी प्रकार हम भी जीवित रहें, यह सुनकर उपस्थेन्द्रिय शरीर में प्रवेश कर अपना व्यापार करने लगा ॥

सं०–अब प्राण का उत्क्रमण कथन करते हैं :–

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन् यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून्संवृहे देव हैवेमान्प्राणान्संववर्हते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्नवैशक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे वलिं कुरुतेति तथेति।१३।

अर्थ–उपस्थेन्द्रिय के प्रवेशानन्तर निकलते हुए प्राण ने सब इन्द्रियों को अपने २ स्थान से चलायमान करादिया, जैसे सैन्धव=सिन्धु देशोद्भव बलवान घोड़ा बांधने की कीलों को उखाड़ देता है इसीप्रकार सब इन्द्रियों को उखाड़ कर जब प्राण चलने लगा तब उस मुख्य प्राण को जाते देखकर सब इन्द्रिय चारो ओर से उसके समीप आकर बोले कि हे भगवन् ! कृपाकर आप इस शरीर से उत्क्रमण न करें, क्योंकि आपके बिना हम एकक्षण भी जीवित नहीं रहसक्ते तब प्राण ने कहा कि तुम मुझे भेट दो, इन्द्रिय बोले कि तथास्तु ॥

सं०–अब वागादि इन्द्रिय अपने ऐश्वर्य को प्राणों के अधीन कथन करते हैं:—

सहवागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोसीति चक्षुर्यद्वा अहं संपदस्मित्वं तत्संपदसीति श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमास्मि त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो मेकिमन्नं किंवास इति यदिदं किंचाऽऽश्वभ्य आक्रामिभ्य आकीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेन्नमापोवास इति न हवा अस्यनन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं,वेद तद्विद्वा ँ सः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचमन्त्याशिलाचामन्त्ये तमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते॥१४॥

अर्थ–प्रसिद्ध वागिन्द्रिय ने कहा कि हे प्राण ! जो मैं वसिष्ठ=शब्दार्थ प्रकाशरूप ऐश्वर्य वाला हूं, उस ऐश्वर्यवाले आप हों, क्योंकि आपकी शक्ति के विना मैं अपने व्यापार को नहीं करसक्ता,चक्षु ने कहा कि हे भगवन् !जो रूपादिकों के ग्रहण करने से मेरी प्रतिष्ठा है वह आपकी ही प्रतिष्ठा है, श्रोत्र ने कहा कि जो मेरी सम्पत्ति=श्रवण सामर्थ्य है वह आपकी ही महिमा है,मन

बोला कि जो मैं संकल्पविकल्पात्मक क्रिया में प्रवृत्त होकर रूपादि विषयों के लिये इन्द्रियों का सहायक होता हूं वह आपकी सहायता का ही फल है, उपस्थ इन्द्रिय बोला कि जो मैं प्रजा की उत्पत्ति करता हूं वह भी आपकी ही सामर्थ्य है अर्थात् आप ही मुख्य प्रजापति हैं, इस प्रकार जब सब इन्द्रियों ने निर-भिमान होकर अपने ऐश्वर्य को प्राण के अर्पण करादिया तब प्राण बोला कि "**तस्यो मे किमन्नं किं वास इति**"= हे इन्द्रियो! मेरे लिये अन्न तथा वस्त्र क्या होगा? इन्द्रियों ने उत्तर दिया कि "**यदिदं किंचाश्वभ्य आकृमिभ्य आकीटप-तङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति**"=यह जो कीट पतङ्ग तथा पशु आदि चराचर हैं वह आपका अन्न और वस्त्र जल है, क्योंकि विद्वान् लोग भोजन से प्रथम तथा भोजनोत्तर काल में आचमन द्वारा अन्न का आच्छादन करते हैं, जो इस प्रकार प्राण के अन्न तथा वस्त्र को जानता है वह अन्न के दोष से लिपायमान नहीं होता अर्थात् ऐसा पुरुष भक्ष्याभक्ष्य के विवेक द्वारा युक्ताहारविहारी होने से रोगार्त्त तथा धर्म से च्युत नहीं होता, इसी प्राणविद्या के भाव को पीछे "**छान्दोग्योप-निषद्**" ५।१ में भले प्रकार वर्णन कियागया है, विशेषा-भिलाषी वहां देखलें ॥

इति प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ द्वितीयं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब श्वेतकेतु की आख्यायिका द्वारा पंचाग्नि विद्या का कथन करते हैं:-

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमुदीक्ष्याभ्युवादकुमारा३ इति स भो३इति प्रतिशुश्रावानुशिष्ठोन्वासि पित्रेत्योमिति होवाच ॥ १ ॥

अर्थ-प्रसिद्ध आरुणेय=आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पंचाल देश की सभा में जैवलि=जीवल के पुत्र प्रवाहण नामक राजा के समीप इस साहसपूर्वक आया कि इस सभा में ब्राह्मणों को जीतकर राजा को भी पराजित करुंगा, श्वेतकेतु को आता देख कर राजा बोले कि "कुमार ३ इति"=हे कुमार ! आइये, तब श्वेतकेतु ने राजा को इस प्रकार सम्बोधन किया कि "भो ३ इति" फिर राजा ने पूछा कि तुम पिता द्वारा शिक्षित हो वा नहीं ? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कि "ओमिति"= हां सुशिक्षित हूं ।

सं०-अब राजा श्वेतकेतु से प्रश्न करता है:-

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति, नेति होवाच वेत्थोयथेमं

लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति, नेति हैवोवाच वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न संपूर्यता ३ इति, नेति हैवोवाच वेत्थोयतिथ्यामाहुत्या ४ हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती ३ इति, नेति हैवोवाच वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं, पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वाऽपिहि न ऋषेर्वचः श्रुतं द्वे सृती अश्रृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानां ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति, नाहमत एकंचन वेदेति होवाच ॥ २ ॥

अर्थ–हे श्वेतकेतु ! जो यहां से यह सब प्रजा मरकर जहां जाती है उसको तुम जानते हो ? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कि मैं नहीं जानता, राजा ने फिर प्रश्न किया कि जो प्रजा पुनः लौट कर आती है उसको जानते हो ? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कि "नेति हैवोवाच"=मैं नहीं जानता, राजा ने फिर प्रश्न किया कि जिस प्रकार प्रतिदिन प्राणियों के मरने पर भी पर

लोक नहीं भरता उसको जानते हो ? श्वेतकेतु ने कहा कि नहीं जानता, राजा ने पूछा कि जिस आहुति में जल पुरुषरूप होकर पुनः वागादि व्यापार करते हैं क्या उसको जानते हो ? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कि नहीं जानता, राजा ने फिर पूछा कि जिस प्रकार प्राणी देवयान तथा पितृयाण को प्राप्त होते हैं उसको तुम जानते हो ? और क्या तुमने ऋषि=वेदवाक्य सुना है कि देव-यान तथा पितृयाण भेद से दो मार्ग द्यौ तथा पृथिवी लोक के मध्य वर्त्तमान हैं जिनके द्वारा सब प्राणी एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त होते हैं अर्थात् एक के पश्चात् दूसरा जन्म धारण करता है ? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कि इन प्रश्नों में से मैं एक भी नहीं जानता।

अथैनं वसत्योपमन्त्रयांचक्रे नादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव स आजगाम पितरं त ँ होवाचेति वाव किल नो भवान्युराऽनुसिष्टानवोच इति कथ ँ सुमेध इति पञ्चमाप्रश्नान्राजन्यवन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकंचन वेदेति कतमेत इती म इतिह प्रतीकान्युदाजहार ॥ ३ ॥

अर्थ–इस प्रकार श्वेतकेतु का जब विद्याभिमान जाता रहा तब उससे राजा बोले कि हे श्वेतकेतु ! आप यहां निवास करें, श्वेतकेतु ने वहां रहना स्वीकार न कर तुरन्त ही अपने पिता उद्दालक के निकट आकर बोला कि हे पितः ! आपने

समावर्त्तन काल में मुझ से कहा था कि तुम सुशिक्षित हो, परन्तु राजा प्रवाहण ने मेरे प्रति पांच प्रश्न किये जिनमें से मैं एक का भी उत्तर न देसका, फिर उद्दालक के पूछने पर उसने उन प्रश्नों को दिङ्मात्र कह सुनाया।

सं०-अब गौतम श्वेतकेतु के प्रति कथन करते हैं:-

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंच वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहितु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयां चकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार त ँ होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति ॥ ४ ॥

अर्थ-हे पुत्र ! मैं जो कुछ जानता था वह सब तेरे प्रति वर्णन किया, यदि मैं उक्त प्रश्नों में से किसी को जानता होता तो अवश्य तेरे प्रति कथन करता, आओ हम दोनों राजा के समीप चलें और वहां ब्रह्मचर्य्यपूर्वक विद्या के लिये निवास करें, श्वेतकेतु ने कहा कि हे पितः ! "भवानेव गच्छत्विति"= आप जावें मैं नहीं जाता, इसके अनन्तर गौतम राजा के निकट आये, राजा ने सत्कारपूर्वक आसन देकर उनकी प्रतिष्ठा की और कहा कि "वरं भगवते गौतमाय दद्म इति"= हे गौतम ! मैं आपके लिये वर देता हूं आप यथेच्छ पदार्थ मांगें।

सं०-अब गौतम वर मांगते हैं:-

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति।५।

अर्थ-गौतम ने कहा कि हे राजन्! आपने जो कुमार के सन्मुख पांच प्रश्न किये थे कृपाकरके उनका उत्तर कथन करें, मैं यही वर मांगता हूं।

सं०-अब राजा कथन करते हैं:—

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद् वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥ ६ ॥

अर्थ-हे गौतम! यह वर देवताओं के लिये है आप मनुष्य सम्बन्धी वर मांगे अर्थात् आप भोग्य पदार्थों में से कोई वर मांगे विद्वत्सम्बन्धी ज्ञेय पदार्थ न मांगें।

सं०-अब गौतम कथन करते हैं:—

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्याऽऽपात्तं गो अश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य मानो भवान् वहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्यो भूदिति स वै गौतमतीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचाहस्मैव पूर्व उपयन्ति सहोपायन कीर्त्योवास ॥ ७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! आप जानते हैं कि मेरे पास हिरण्य, गौ, अश्व, दासियें और परिधान योग्य विविध वस्त्र इत्यादि सब प्रकार की सम्पत्ति उपस्थित है मुझको किसी प्रकार के मानुष्य-वित्त की इच्छा नहीं, फिर आप देवसम्बन्धी वर देने के लिये क्यों कदर्य्य होते हैं ? राजा ने कहा कि यदि ऐसा है तो शास्त्र मर्य्यादानुसार मेरे शिष्य बनकर विद्या सीखें, गौतम ने उत्तर दिया कि हां मैं शिष्यवृत्ति को भले प्रकार पूर्ण करूंगा, यह प्रसिद्ध है कि आपत्काल में विद्या की इच्छा वाले ब्राह्मणों ने वाणी द्वारा क्षत्रिय तथा वैश्यों की शिष्यवृत्ति की थी सेवा द्वारा नहीं, इसलिये विद्या के अर्थी गौतम ने भी ऐसा ही किया।

सं०—अब राजा गौतम से क्षमा की प्रार्थना करते हैं:—

स होवाच तथा नस्त्वं गौतम माऽपराधास्तवच पितामहायथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मि ँ श्चन ब्राह्मण उवासतां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हित्वैवं ब्रूवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥ ८ ॥

अर्थ—हे गौतम ! जिसप्रकार आपके पिता पितामह हमारे बड़ों को क्षमा करते आये हैं इसी प्रकार मैं भी आप से क्षमा का प्रार्थी हूं, आप जानते हैं कि इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण को प्राप्त न थी किन्तु परम्परा से इस की स्थिति क्षत्रियों में ही चली आई है सो इसी मर्यादा को स्थिर रखने के लिये मैंने आप से कहा था कि आप दैव=आध्यात्मिक वर न मांगकर मानुष

सम्पत्ति का ही ग्रहण करें, अस्तु अब मैं आपको उक्त विद्या का उपदेश करता हूं, क्योंकि इस प्रकार कथन करने पर कौन इनकार करसकता है ।

सं०— अब राजा गौतम के प्रति पञ्चाग्नि विद्या का उपदेश करते हैं:—

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति ॥ १ ॥

अर्थ—हे गौतम निश्चयकरके प्रसिद्ध द्युलोक ही आहवनीयाग्नि है, आदित्य समिधायें, रश्मियें धूम, दिन ज्वाला, दिशायें अङ्गार और अवान्तर दिशायें चिनगारे हैं, इस अग्नि में देव=प्राकृतशक्तियें श्रद्धा=परमाणुरूप द्रव्यों का हवन करती हैं फिर उस आहुति से सोम=वाष्परूप जल उत्पन्न होते हैं ।

भाष्य—पूर्वोक्त पांच प्रश्न जो राजा प्रवाहण ने कुमार श्वेतकेतु के प्रति किये थे उनमें से प्रथम चतुर्थ प्रश्न का उत्तर इस श्लोक में इस अभिप्राय से दिया गया है कि शेष प्रश्नों का निर्णय इस प्रश्न के अधीन है, क्योंकि इसमें पांचवी आहुति द्वारा जीव की उत्पत्ति का प्रकार कथन किया गया है, इसी भाव को स्फुट करने के लिये द्युलोकादिकों को अग्न्यादि रूप से वर्णन किया है, इस पंचाग्नि विद्या के भाव को पीछे "छान्दोग्य"

में भले प्रकार दर्शा आये हैं, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०-अब द्वितीयाग्नि का कथन करते हैं:-

पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारान्हादुनयो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति ॥ १० ॥

अर्थ-हे गौतम! निश्चयकरके पर्जन्य=मेघ ही अग्नि है, सम्बत्सर समिधायें, अभ्र=अबर धूम, बिजुली ज्वाला, अशनि अङ्गार और गर्जन ही विस्फुल्लिङ्ग हैं, इस पर्जन्य रूप अग्नि में देवता सोम की आहुति देते हैं जिससे वर्षा होती है।

सं०-अब तृतीयाग्नि का कथन करते हैं:-

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नꣳ संभवति ॥ ११ ॥

अर्थ-हे गौतम निश्चयकरके यह प्रसिद्ध भूलोक ही अग्नि है, उसकी पृथिवी समिधायें, अग्नि धूम, रात्रि ज्वाला, चन्द्रमा

अङ्गार और नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं, इसमें देवता वृष्टिरूप आहुति देते हैं जिससे ब्रीहि आदि विविध अन्न उत्पन्न होते हैं ।

सं०-अब चतुर्थाग्नि का कथन करते हैं:-

पुरुषो वा अग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गस्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्य आहुत्यै रेतः संभवति ॥ १२ ॥

अर्थ-हे गौतम ! निश्चयकरके यह पुरुष ही अग्नि है, उस का खुला हुआ मुख समिधायें, प्राण धूम, जिह्वा ज्वाला, चक्षु अङ्गार और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं, इस अग्नि में देव=आध्यात्मिक वागादि इन्द्रिय अन्न का होम करते हैं जिससे वीर्य्य उत्पन्न होता है ।

सं०-अब पांचवीं अग्नि कथन करते हैं:—

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो यो निरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेता जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते ॥ १३ ॥

अर्थ-हे गौतम ! निश्चयकरके यह प्रकृति ही अग्नि है,

उसका सङ्कल्प आसक्ति ही समिधा, जो रजोगुण के भावों से अपनी ओर खींचना है वही धूम, कारणता ज्वाला, जो अपने भीतर पुरुष को आसक्त करना है वही अङ्गार और प्राकृत आनन्द ही विस्फुलिङ्ग हैं, इस अग्नि में देवता वीर्य्य की आहुति देते हैं जिससे पुरुष उत्पन्न होता है और वह अपने कर्मफल पर्य्यन्त उपभोग करके पश्चात् मृत्यु को प्राप्त होता है।

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति ॥१४॥

अर्थ-तब उसके सम्बन्धी दाह करने के लिये उसको बाहर लेजाते हैं वहां उसके लिये यह भौतिकाग्नि ही अग्नि, समिधायें हीं समिधायें, धूम ही धूम, ज्वाला ही ज्वाला, अङ्गार ही अङ्गार और विस्फुलिङ्ग ही विस्फुलिङ्ग होते हैं, इस अग्नि में ऋत्विक् लोग वैदिक मन्त्रों द्वारा पुरुष का हवन करते हैं जिससे वह गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार पर्य्यन्त कर्मों द्वारा संस्कृत होने के कारण देदीप्यमान होता है।

सं०-अब प्रथम तथा पांचवें प्रश्न का उत्तर देते हुए देवयान मार्ग का कथन करते हैं:—

ते य एवमेतद्विदुर्येचामी अरण्ये श्रद्धा सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽ

हरन्ह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्या-न् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान् वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥ १५ ॥

अर्थ—हे गौतम ! जो लोग उक्त विद्या को जानते हैं वह वन में श्रद्धापूर्वक तितिक्षा करते हुए उपासना द्वारा अर्चिरादि मार्ग को प्राप्त होते हैं अर्थात् अग्नि की अर्चि के समान प्रकाशरूप अवस्था को प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार अर्चि से दिन को, दिन से शुक्लपक्ष, शुक्लपक्ष से उत्तरायण को, उत्तरायण से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को, आदित्य से वैद्युत लोक को प्राप्त होते और फिर ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर परान्तकाल तक वहीं स्थिर रहते हैं।

सं०—अब द्वितीय तथा तृतीय प्रश्न का उत्तर देते हुए पितृयाण मार्ग का कथन करते हैं:—

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्ज-यन्ति ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाण पक्षा-द्यान् षण्मासान्दक्षिणादित्य एति मासे-

भ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ता ँ स्तत्र देवा यथा सोम ँ राजानमाप्याय स्वापक्षीयस्वेत्येव-मेना ँ स्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत्प-र्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आ-काशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं प्राप्या-न्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्द शूकम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जो यज्ञ, दान तथा तप का अनुष्ठान करते हैं वह धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन को, दक्षिणायन से आदित्य को, आदित्य से पितृलोक को, पितृलोक से चन्द्रलोक को प्राप्त होकर देवताओं का अन्न बनते हैं अर्थात् जिसप्रकार चन्द्रमा कभी क्षीण और कभी वृद्धि को प्राप्त होता है इसी प्रकार वह पुण्य के क्षीण होने से आकाश को, आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को, वृष्टि से पृथिवी तथा अन्न को प्राप्त होकर पुरुषरूप अग्नि में आहुतिरूप होकर स्त्रीरूप अग्नि से पुनः इस लोक को प्राप्त

होते हैं, और जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते वह इस तीसरे स्थान को प्राप्त होते हैं अर्थात् पुनः २ कीट पतङ्गादि योनियों में जाते हैं।

भाष्य—यहां देवयान तथा पितृयाण मार्ग का तात्पर्य्य यह है कि जो लोग परमात्मपरायण होकर आरण्य में श्रद्धा भक्ति से परमात्मा की उपासना करते हैं वह अर्चि के समान प्रकाशमान् होकर पुनः आदित्य के तुल्य प्रकाश को प्राप्त होते हैं, एवं उत्तरोत्तर अधिक प्रकाश को पाकर मुक्ति को प्राप्त हो परान्त काल तक वहीं रहते हैं फिर उनकी उस कल्प में पुनरावृत्ति नहीं होती, और जो उक्त मार्ग से भिन्न रागद्वेष से लोकों का विजय करना चाहते हैं वह प्रथम धूम जैसी अवस्था को, और फिर रात्रि जैसी मलिनावस्था को प्राप्त होते हैं, एवं उत्तरोत्तर क्षीणावस्था को प्राप्त होकर कीट पतङ्गादि योनियों में जाते हैं।

भाव यह है कि परमात्म विषयक उपासनादि साधनों से जो ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं उसका नाम "देवयान" और जो यज्ञादिकों द्वारा सांसारिक भोग की प्राप्ति को ही मुख्य मानते हैं वह वारम्वार जन्म मरण को प्राप्त होते हैं, इसका नाम "पितृयाण" है, यह मार्ग पितृलोक=केवल जन्म का ही साधन है, शेष सब स्पष्ट है।

इति द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ तृतीयं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०-अब ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिये मन्थकर्म का वर्णन करते हैं:—

स यः कामयेतमहत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद् व्रती भूत्वौदुम्बरे क ँ से चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्याऽऽवृताऽऽज्य ँ स ँ स्कृत्यपु ँ सा नक्षत्रेण मन्थ ँ संनीय जुहोति यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान् तेऽभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति तां त्वा घृतस्य यजस ँ राधनीमह ँ स्वाहा॥१॥

अर्थ-उच्चगति को प्राप्त होने वाले पुरुष के लिये कर्तव्य है कि वह उत्तरायण शुक्लपक्ष के किसी पवित्र दिन में १२ दिन तक उपसदों का व्रत करे अर्थात् इन दिनों केवल दुग्ध तथा दुग्धमिश्रित पदार्थों का ही सेवन करे और गूलर अथवा

कांसे के चमसपात्र में सब ओषधियों तथा सब फलों को रखकर फिर वेदी को लीप अग्न्याधान करे, तदनन्तर वेदि के चारो ओर कुशा विछाकर घृत का संस्कार कर शुभ नक्षत्र में होम करे, इसमें हवन की सब सामग्री तथा ओषधियें पृथक् २ स्थान में रखकर प्रथम यह प्रार्थना करे कि हे जातवेद परमात्मन् ! जो देव=प्राकृत शक्तियें पुरुष की कामनाओं का हनन करती हैं उनके लिये हम आहुति देते हैं कि वह अनुकूल होकर हमारी तृप्ति का साधन बनें, उन सब को हम घृत की धारा संयुक्त हवन से तृप्त करें, ताकि स्वाहा=हमारा यह विचार शुभ हो ॥

सं०—अब इन्द्रियों की शुद्धि के उद्देश्य से हवन करते हैं:—

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स ँ स्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स ँ स्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स ँ स्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स ँ स्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स ँ स्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजापत्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स ँ स्रवमवनयति

भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रवम-
वनयति ॥ २ ॥

अर्थ–जो सब से बड़ा तथा श्रेष्ठ प्राण है वह हमारे लिये मङ्गलप्रद हो और जो साधारण प्राण हैं वह भी हमारे लिये मङ्गलकारी हों, वाणी, प्रतिष्ठा, चक्षु, सम्पत, मन तथा प्रजाति, यह सब हमारे लिये मङ्गलकारी हों, इस उद्देश्य से "जेष्ठाय स्वाहा" पढ़कर अग्नि में आहुति दे और शेष भाग मन्थ में डाले, एवं "प्राणाय स्वाहा" पढ़कर आहुति दे और शेषभाग मन्थ में डाले।

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रवमवनयति सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रुवमवनयति भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रवमवनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रवमवनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रवमवनयति स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रवमवनयति भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रुवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँ स्रवमवनयति क्षत्राय स्वाहेत्य-

ग्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रुवमवनयति भूता-
यस्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳ स्रुवमवन-
यतिं भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे
सꣳस्रुवमवनयति विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ
हुत्वा मन्थे सꣳस्रुवमवनयति सर्वाय स्वा-
हेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳ स्रुवमवनयति
प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स ꣳस्रु-
वमवनयति ॥ ३ ॥

अर्थ–" अग्नये स्वाहा " पढ़कर आहुति दे और शेष भाग मन्थ में डाले " सोमाय स्वाहा " इस द्वारा आहुति देकर शेषभाग मन्थ में डाले, " भूः स्वाहा " पढ़कर आहुति दे और शेषभाग मन्थ में डाले, " भुवः स्वाहा " पढ़कर आहुति दे शेषभाग मन्थ में डाले, " स्वः स्वाहा " पढ़कर आहुति दे शेषभाग मन्थ में डाले, " भूर्भुवः स्वः " पढ़कर आहुति दे, शेषभाग मन्थ में डाले, एवं ब्रह्म, क्षत्र, भूत, विश्व, सर्व, प्रजापति इत्यादिकों के उद्देश्य से आहुति दे और शेषभाग मन्थ में डाले ॥

भाष्य–यहां भूः, भुवः, स्वः यह सब परमात्मा के नाम हैं, भूः=प्राण का प्राण, भुवः दुःखों को दूर करने वाला, स्वः=सुखस्व-रूप जो परमात्मा है वह हमारे लिये मङ्गलप्रद हो, इसीप्रकार अग्नि=

ज्ञानस्वरूप, सोम=शान्तिस्वरूप जो परमात्मा है वह हमारे लिये मङ्गलकारी हो ताकि हमारा क्षत्र=क्षात्रधर्म, भूत=सब प्राणी, विश्व=सब देश और प्रजापति=राजा, इन सब के लिये मङ्गल हो ॥

सं०-अब उक्त मन्थ का महत्व कथन करते हैं :—

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रध्वस्तमस्येक सभमसि हिं कृतमसि हिं क्रियमाणमस्युद्गीथ मस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्या श्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि विभूरसि प्रभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोसीति ॥४॥

अर्थ-हे मन्थ ! तू वायु के समान भ्रमण करने वाला, अग्नि के समान तेजवाला तथा ब्रह्म=वेद के समान सब यज्ञों में पूर्ण, आकाश के समान स्थिर और पृथिवी के समान अन्य कर्मों का आधार है, तू प्रस्तोता से स्तुति किया जाता, उद्गाता से गायाजाता और अध्वर्यु से सुनाया जाता है, तू अग्नीध्र से प्रशंसा किया जाता है, तू विजुली के समान चमकीला है, तू भूतों का प्राणप्रद होने के कारण अन्न और अनधिकारियों के लिये मृत्यु है, अधिक क्या तू संवर्ग=अपने भीतर सब गुण रखने वाला है ॥

भाष्य–इस श्लोक में मन्थ की प्रशंसा इस अभिप्राय से कीगई है कि वह यज्ञ का शेष होने से उत्तम पदार्थ है, जो पुरुष यज्ञ करता है वही इस उत्तम पदार्थ को पाता है अन्य नहीं, इसलिये प्रत्येक पुरुष को उचित है कि वह यज्ञ द्वारा इस उत्तम पदार्थ को उपलब्ध कर अपने जीवन को पवित्र बनावें ॥

सं०–अब परमात्मा की स्तुतिपूर्वक मन्थ पात्र का उठाना कथन करते हैं:—

अथैनमुद्यच्छत्यामꣳस्यामꣳहि तेमहि सहि राजेशानोधिपतिः समाꣳराजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥ ८ ॥

अर्थ–वह पूर्वोक्त परमात्मा जिसका व्याहृतियों में वर्णन कियागया है वह हम सब का राजा, ईशान = शासनकर्त्ता और अधिपति = स्वामी है वह हमको भी उक्त गुणों से भूषित करे, इस प्रकार परमात्मा की स्तुति करके मन्थपात्र को उठावे ॥

सं०–अब मन्थ द्रव्य का आचमन करते समय परमात्मा की स्तुति करते हैं:—

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यम् मधुवाताऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः भूः स्वाहा । भर्गोदेवस्यधीमहि मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳरजः मधुद्यौरस्तुनः पिता भुवः

स्वाहा । धियो योनः प्रचोदयात् मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तुनः स्वः स्वाहेति । सर्वां च सावित्री मन्वाह सर्वाश्च मधुमतीरहमे वेदँ सर्वं भूयास्तं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक् शिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघने नाग्निमासीनो वँशं जपति ॥ ६ ॥

अर्थ-सर्वोत्पादक परमात्मा जो सब से श्रेष्ठ है उसकी कृपा से हमारे लिये वायु मधु समान हो, नदियें मधुसमान होकर बहें और ओषधियें मधु समान हों, इस प्रकार पवित्र परमात्म देव की हम उपासना करें ताकि हमारे लिये रात्रि और ऊषाकाल मधुसमान हों, अधिक क्या पृथिवी के जितने रज हैं वह सब हमारे लिये मधु समान हों और गौयें हमारे लिये मीठा दुग्ध दें, यह आप से प्रार्थना है, इस प्रकार परमात्मा से प्रार्थना करता हुआ " तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि " इस मंत्र का जप करे और जो ऋचायें ईश्वर को कर्त्ता तथा मङ्गलप्रद कथन करने वाली हैं, उन सब का इस समय पाठ करे तथा

अन्त में " भूर्भुवः स्वः " पढ़कर मन्थ के सम्पूर्ण द्रव्य का भक्षण कर पात्र को प्रक्षालन करके रख दे, फिर हवनाग्नि के अभिमुख बैठकर यह प्रार्थना करे कि हे परमात्मन् ! मैं सब दिशाओं और सब मनुष्यों में फूले हुए कमल के समान होऊं, और उसी अग्नि के सन्मुख ब्रह्मवेताओं के वंश का स्मरण करे ॥

सं०—अब उक्त द्रव्य का प्रभाव वर्णन करते हुए याज्ञिक लोगों की उपदेश परम्परा कथन करते हैं:—

त ँ हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्ते वासिन उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छा-खाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥७॥

एतमुहैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधु-काय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेर-ञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ८ ॥

एतमुहैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवि-त्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्केस्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्र-रोहे युः पलाशानीति ॥ ९ ॥

एतमुहैव चूलोभागवित्तिर्जानकय आ-
यस्थूणायान्तेवासिन उक्तोवाचापि य
एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छा-
खाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ १० ॥

एतमुहैव जनकिरायस्थूणः सत्यकामाय
जाबालायान्तेवासिन उक्तोवाचापि य
एन ँ शुष्केस्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छा-
खाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ११ ॥

एतमुहैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासि-
भ्य उक्तोवाचापि य एन ँ शुष्केस्थाणौ
निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पला-
शानीति तमेतं नापुत्रायवाऽनन्तेवासिने
वाब्रूयात् ॥ १२ ॥

अर्थ–आरुणि = उद्दालक ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञ-
वल्क्य के प्रति कथन किया कि यदि उक्त द्रव्य को शुष्क ल-
कड़ी के ऊपर डाल दियाजाय तो उसमें शाखें फूटकर पत्ते
निकल आवेंगे,यही रहस्य याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुपैङ्ग्य
के प्रति कथन किया, मधुपैङ्ग्य ने चूलभागवित्ति के प्रति, चूल-
भागवित्ति ने जानकीआयस्थूण के प्रति, जानकीआयस्थूण ने

सत्यकाम जाबाल के प्रति और सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को मन्थ का प्रभाव कथन करके कहा कि यह रहस्य अपने पुत्र तथा शिष्य से भिन्न अन्य किसी के प्रति कथन न करे अर्थात् इस रहस्य को अधिकारी के प्रति ही कथन करे अनधिकारी के प्रति नहीं, उक्त भाव मन्थ:द्रव्य की स्तुति के अभिप्राय से है ॥

सं०—अब उक्त मन्थ कर्म के द्रव्यों का कथन करते हैं:—

चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रवऔ-दुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ दशग्राम्याणि धान्यानि भ-वन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्चमसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान्दधनि मधुनि घृत उपसि-ञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥ १३ ॥

अर्थ—इस कर्म में गूलर का स्रुवा, उसी का चमसा, उसी की समिधायें और उसी की उपमान्थियें होती हैं और व्रीहि, जौ, तिल, माष, बाजरा, गेहूं, मसूर, कुलथ, खल्वाश = मूंग और खलकुश = चने, यह दश प्रकार का अन्न पीसकर घृत में संस्कार करके मन्थ द्रव्य बनाया जाता है ॥

इति तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ चतुर्थं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०–अब गर्भाधान के लिये सब भूतों का सार कथन करते हैंः–

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥ १ ॥

अर्थ–सब भूतों का रस पृथिवी, पृथिवी का रस जल, जलों का ओषधियें, ओषधियों का रस पुष्प, पुष्पों का फल, फलों का रस मनुष्य शरीर और मनुष्य शरीर का रस वीर्य्य है ॥

स ह प्रजापति रीक्षां चक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियꣳ ससृजे ताꣳसृष्ट्वाध उपास्त तस्मात्स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत् ॥ २ ॥

अर्थ–प्रजापति परमात्मा ने सन्तति उत्पन्न करने के लिये स्त्री को रचा ॥

तस्यावेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणो समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ

स यावान्ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासंचरत्या सᳪंस्त्रीणाᳪं सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासंचरत्यऽऽस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ॥३॥

अर्थ–स्त्री एक प्रकार की वेदी है जिसमें वीर्य्यरूप आहुति से शुभ सन्तान उत्पन्न होती है, जो इस प्रकार सन्तानोत्पत्ति का उद्देश्य समझकर वीर्य्यदान देता है वह वाजपेय यज्ञ के फल का भागी होता है, और ऐसा पुरुष ही स्त्री को स्वाधीन रखसकता है ॥

एतद्धस्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्धस्म वै तद्विद्वान् नाको मौद्गल्य आहैतद्धस्म वै तद्विद्वान्कुमारहारित आह वहवोमर्या ब्राह्मणायनानिरिन्द्रियाविसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदम विद्वाᳪंसोऽधोपहासं चरन्तीति बहुवा इदᳪं सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति॥ ४॥

अर्थ–आरुणि=उद्दालक, नाकमौद्गल्य तथा कुमार हारीत का कथन है कि वहुत से मनुष्य जो नाममात्र ब्राह्मण हैं

वह सन्तानोत्पत्ति के रहस्य को न जानकर पशुमार्ग समान अधोपहास का आचरण करते हैं वह इसलोक से नष्ट होजाते हैं अर्थात् जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था में वीर्य्य को वृथा नष्ट करने के कारण उनकी अल्पायु होती है ॥

सं०-अब वीर्य्य को व्यर्थ खोने वाले के लिये प्रायश्चित्त कथन करते हैं :—

तदभिमृशेदनुवामन्त्रयेत यन्मेघरेतः पृथिवी मस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः पुनरग्निधिष्ण्या यथास्थान कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेणस्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् ॥५॥

अर्थ-अवकीर्णी=वीर्य्य को नष्ट करने वाला पश्चात्ताप करे कि जो मेरे से उक्त पाप हुआ है उसकी शुद्धि का उपाय यही है कि मैं फिर तेज तथा ऐश्वर्य्य को सम्पादन करूं ताकि फिर पूर्ववत् तेजस्वी होऊं ॥

सं०-अब गर्भाधान कर्त्ता परमात्मा से प्रार्थना करता है:-

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्तदभिमन्त्रयते मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳसुकृतमिति श्रीर्हवा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वा-

सास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभि-क्रम्योपमन्त्रयेत ॥ ६ ॥

अर्थ-फिर जल अथवा आदर्श में अपना मुख देखकर हे परमात्मन् ! अपनी कृपा से आप मुझको तेज, बलवान् इन्द्रिय, शुभकर्म तथा धन दें और स्त्री को श्री तथा शुद्धवस्त्र रखने का स्वभाव दें ॥

साचेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रणी-यात्साचेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या-वा पाणिनावोपहत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति।७।

अर्थ-यदि स्त्री उक्त शोभा को धारण न करे अर्थात् स्वभाव से ही मलिन रहे और पुरुष के अनुकूल नहो तो उसको शिक्षा तथा यथायोग्य दण्ड से श्री तथा शुद्ध वस्त्रों के स्वभाववाली बनावे, और यदि स्त्री उक्त पुरुष को स्वीकार न करे तो उसको पुरुष यथायोग्य शिक्षा दे ॥

साचेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसायश आदधामीति यशस्विनावेव भवतः॥ ८ ॥

अर्थ-जब स्त्री पुरुष को स्वीकार करले तब पुरुष उसके प्रति यह कथन करे कि मैं तुम में यश धारण करने के लिये उपस्थित हुआ हूं, सन्तानोत्पत्ति द्वारा हम दोनों यश लाभ करें ॥

सयामिच्छेत्कामयेतमेति तस्या मर्थं

निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधि जायसे सत्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिवमादयेमाममूं मयीति ॥ ९ ॥

अर्थ–इसके अनन्तर पुरुष इस मंत्र को पढ़े कि "अङ्गादङ्गात्सम्भवसि"=हमारे अङ्ग२ तथा हृदय की नाड़ी २ से यह वीर्य्यरूपी रस उत्पन्न होता है इसलिये इसको सन्तानोत्पत्ति के उपयोग में ही लाना चाहिये, व्यर्थ नष्ट करना उचित नहीं, इसलिये तुम शुभ सङ्कल्प से उत्तम सन्तान का ध्यान करो ॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायाभिप्राण्याऽपान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥ १० ॥

अर्थ–एतदर्थ मुख से मुख मिलाकर प्राणापान का निरोध करके स्त्री पुरुष रति करें ॥

अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायाभिप्राण्याऽपान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥ ११ ॥

अर्थ–उक्त रीत्यानुसार रति करने से स्त्री निश्चित गर्भवती होती है ॥

सं०–अब पतिव्रतधर्म की दृढ़ता के लिये जारकर्म की निन्दा कथन करते हैं:—

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद्
द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳ
शरबर्हिः तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽ
हौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम
समिद्धेऽहौषीः पुत्र पशूꣳस्त आददेऽसा-
विति मम समिद्धेऽहौषीरिष्टा सुकृते त आ-
ददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ
त आददेऽसाविति स वा एषनिरिन्द्रियो
विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति य मेवं विद्ब्राह्मणः
शपति तस्मादेवं विच्छ्रोत्रियस्य दारेण नो-
पहासमिच्छेदुतह्येवं वित्परो भवति॥ १२॥

अर्थ–जिस स्त्री का कोई उपपति हो तो उस उपपतिरूप दोष की निवृत्ति के प्रायश्चित्त में हवन का विधान इस प्रकार है कि अग्न्याधान करके कुशा के स्थान में उलटे सरकण्डे बिछाकर हवन करे, और उस समय यह कथन करे कि किसी को भी

ऐसा निन्दित कर्म नहीं करना चाहिये, जो इस प्रकार का कर्म करेगा वह विकलेन्द्रिय होजायगा और उसके सब पुण्य नष्ट होजावेंगे, इसलिये परदारागमन करना पाप कर्म है, यह कथन उपलक्षणरूप से है अर्थात् स्त्री भी परपुरुष गमन न करे।

सं०–अब स्वस्त्री के साथ ऋतुकालाभिगामी होने का कथन करते हैं:—

अथ यस्य जाया मार्तवं विन्देत् त्र्यहं कꣳसेन पिबेदहतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात् त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥ १३ ॥

अर्थ–जिसकी स्त्री ऋतुमती हो वह स्त्री तीन दिन तक कांस्य पात्र में पानी न पीवे और न उसको कोई मलिन स्त्री वा मलिन पुरुष स्पर्श करे, फिर स्नान करने के अनन्तर वह सुन्दर वस्त्र पहन धानों को छड़े, जिसका आशय यह है कि ऋतुमती स्त्री को यदि कोई मलिन स्त्री स्पर्श करेगी तो सम्भव है कि उसके शरीर में दुर्गन्धित परमाणु प्रविष्ट होकर उसको हानि पहुंचावें, इसलिये उस समय किसी मलिन द्रव्य अथवा वस्त्रादिकों को उपयोग में न लावे।

सं०–अब उत्तम पुत्रोत्पन्न करने के लिये स्त्री पुरुष का आहार कथन करते हैं:—

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पा-

चयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १४ ॥

अर्थ–जिनकी यह इच्छा हो कि हमारे गौरवर्ण, एक वेद को जानने वाला, पूर्ण सौवर्ष आयु का भोगने वाला पुत्र उत्पन्न हो तो दम्पती को चाहिये कि वह दूध में चावल रींध उनमें घृत डालकर खायं, एवंविध आहार से वह उक्त प्रकार का पुत्र उत्पन्न करने के लिये समर्थ होते हैं।

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १५ ॥

अर्थ–जिनकी यह इच्छा हो कि हमारे कपिल वर्ण, भूरे नेत्र वाला, दो वेदों का ज्ञाता और पूर्ण आयु भोगने वाला पुत्र हो तो वह दम्पती चावल पका उनमें दधि और घी डाल कर भोजन करें ऐसा करने से वह उक्त पुत्र के उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १६ ॥

अर्थ–जिनकी यह इच्छा हो कि हमारे श्याम वर्ण, रक्त नेत्रों वाला, तीन वेदों का ज्ञाता और पूर्ण आयु भोगने वाला पुत्र हो तो वह चावल पकाकर घृत सेचन करके खायं तो वह उक्त पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ होंगे ।

अथ य इच्छेत्दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरो जनयितवै ॥ १७ ॥

अर्थ–जिनकी यह इच्छा हो कि हमारी कन्या पण्डिता तथा पूर्ण आयु को भोगने वाली हो, वह तिल मिश्रित चावल रींधकर घृत के साथ खायं, ऐसा करने से वह उक्त प्रकार की दुहिता उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं ।

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति मा ँ सौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयित वा औक्षेण वाऽऽर्षभेण वा ॥ १८ ॥

अर्थ–और जिनकी यह इच्छा हो कि हमारा पुत्र पण्डित सर्वत्र विख्यात, विद्वानों की सभा में जाने योग्य, सर्वप्रिय

वक्ता, सब वेदों का जानने वाला और पूर्ण आयु का भोगने वाला हो तो वह दम्पती मांस=मन की वृद्धि करने वाला रस जो उक्षा तथा ऋषभ ओषधियों से निकाला हुआ हो, उस रस के साथ घृतसंयुक्त चावलों को खायं तो वह उक्त प्रकार का पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ होंगे।

भाष्य-उक्त श्लोक में सब वेदों का कथन करने से स्पष्ट है कि वेद तीन नहीं किन्तु चार हैं, क्योंकि इससे प्रथम १६ वें श्लोक में तीन वेदों का कथन किये जाने से इस श्लोक में "सर्व" शब्द चारो वेदों के लिये आया है, और जो लोग "मांस" शब्द के अर्थ यहां पशुमांस करके सिद्धान्त ठहराते हैं उनकी अत्यन्त भूल है, क्योंकि जब उपक्रम में अन्न तथा दुग्ध घृत के भोजन का कथन है तो यहां उपसंहार में भी वही होना चाहिये अन्यथा उपक्रम उपसंहार की एकता नहीं होसक्ती, दूसरी तर्क यह है कि जब १७ वें श्लोक में पण्डिता दुहिता उत्पन्न करने के लिये केवल तिल ओदनरूप भोजन का कथन कियागया है तो फिर क्या कारण कि पुत्रोत्पत्ति के लिये मांसपिण्ड का भोजन हो,? तीसरी तर्क यह है कि जब "उक्षा" शब्द के अर्थ वीर्य्य वर्द्धक औषधि के हैं तो फिर इसके अर्थ पशु के क्यों लिये जांय, ? एवं ऋषभ के अर्थ जब राजनिर्घण्ट में औषधिविशेष के हैं तो यहां पशु के क्यों किये जायं, ? चौथी तर्क यह है कि जब मांस शब्द के अर्थ मांसच्छदा, मांसरोहिणी तथा मांसि आदि औषधियों के भी हैं तो फिर यहां पशुमांस के अर्थ करना कैसे सङ्गत होसक्ते हैं ? इत्यादि तर्कों से स्पष्ट है कि यहां "मांस" शब्द के अर्थ पशुमांस नहीं किन्तु

औषधिविशेष के हैं।

और जो अपने गुरुओं की उक्त भूल का मार्जन करने के लिये कई प्रकार से समाधान करते हैं सो वह समाधान हमारे मत के पोषक हैं, जैसाकि स्वा० शङ्कराचार्य्य के शिष्य आनन्दगिरि का कथन है कि "देशविशेषापेक्षया कालविशेषापेक्षया वा मांस नियमः"=किसी काल तथा किसी देश में पुत्रोत्पत्ति के लिये मांसभक्षण का नियम है सर्वत्र नहीं अथवा विकल्प है कि जिसकी इच्छा चाहे खाय और जिसकी इच्छा न चाहे न खाय, बृहदारण्यक के वृत्तिकार पुरुषोत्तमाश्रम मांस की यह व्यवस्था करते हैं कि "एतच्चभिन्नदेशकालादिविषयमत्र निषिद्धत्वात्तत्स्थानेऽत्र मृगादि मांसं क्रीत्वा ग्राह्यं"=मांसभक्षण यहां किसी देशकाल के अभिप्राय से था यह निषिद्ध है इसलिये इसके स्थान में मृगादिकों का मांस मोल लेकर ग्रहण करना चाहिये, और स्वामी शङ्कर सम्प्रदायानुयायी एक पण्डित इसके यह अर्थ करते हैं कि "बल वीर्य्य वर्द्धक हिमालयविषे प्रसिद्ध बलीवर्द के सिंग सदृश कंदविशेषरूप अर्थ का ग्रहण है, और औक्षण मांस अरु आर्षभ मांस शब्दकर नवीन वा पुरातन उक्त कंद के गुद्दे का ग्रहण है" इस प्रकार स्वा० शङ्कराचार्य्यजी के अनुयायियों ने भी यहां मांसभक्षण से अत्यन्त घृणा प्रकट की है।

ज्ञात होता है कि जिस समय उक्त वाक्य के अर्थ मांसभक्षण

किये गये हैं उस समय घोर वाममार्ग का प्रचार था, इसलिये केवल इसी वाक्य के अर्थों का अनर्थ नहीं कियागया किन्तु "मांसं तु सवनीयानां चोदनाद्यविशेषात्" मीमां० ३।८।४२ "मंत्रवर्णाच्च" मीमां० ९।२।५४ इत्यादि अनेक मीमांसा के सूत्र तथा वेद वाक्यों के भी घोर अनर्थ करके यज्ञों में मांस का विधान कियागया है, जिसका समाधान हमने "मीमांसार्य्यभाष्य" में भले प्रकार किया है, विशेषाभिलाषी वहां देखलें।

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताऽऽज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सहेति ॥ १९ ॥

अर्थ-प्रातःकाल स्थालीपाक की विधि से आज्य का संस्कार करके चरुसहित घृत द्वारा इन वाक्यों से हवन करे, "अग्नये स्वाहा" "अनुमतये स्वाहा" "देवायसवित्रे सत्य प्रसवाय स्वाहा" यह तीन आहुति देकर फिर स्विष्ट-

कृत आहुति दे, तत्पश्चात् जो स्थाली में चरु शेष रहे उसको प्रथम पति खाय और पश्चात् पत्नी को दे, फिर हस्तप्रक्षालन तथा शुद्ध जल से आचमन करके उदकपात्र भर अपनी स्त्री के ऊपर तीन बार जल छिड़क कर परमात्मा से प्रार्थना करे कि हे परमात्मन् ! आप हम दोनों को प्रसन्न रखें।

सं०–अब उक्त दम्पती का प्राण वागादिवत् सम्बन्ध कथन करते हैं:—

अथैनामभिपद्यतेऽमोहमस्मिसात्वꣳ सात्वमस्य मोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवीत्वं तावेहि सꣳरभावहै सह रेतो दधावहै पुꣳसे पुत्राय वित्तय इति ॥ २० ॥

अर्थ–तत्पश्चात् पति पत्नी को प्राप्त होकर कथन करे कि हे प्रिये ! मैं प्राण और तू वाणी है, मैं साम और तू ऋचा, मैं द्यौ और तू पृथिवी है अर्थात् जिसप्रकार वाणी प्राणाधीन होती है इसीप्रकार तू मेरे अधीन है, जिसप्रकार साम ऋचा के अधीन होता है इसीप्रकार मैं तेरे अधीन हूं और जिसप्रकार द्यौ उग्रवृष्टि से पृथिवी को तृप्त करता है इसी प्रकार मैं भोगादि पदार्थों से तुम्हें तृप्त रखुंगा, आओ हम दोनों मिलकर पुत्रोत्पत्ति के लिये गर्भाधान करें ॥

सं०–अब दोनों मिलकर गर्भाधान करते हैं:—

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावा पृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिꣳशतु, आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके गर्भं ते आश्विनौ देवा वाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥२१॥

हिरण्मयी अरणीयाभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ, तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये, यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी, वायुर्दिशां यथा गर्भं एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति ॥२२ ॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति, यथा वायुः पुष्करिणीꣳ समिञ्जयति सर्वतः,एवा ते गर्भं एजतु सहावैतु जरायुणा, इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः स परिश्रयः, तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावराꣳ सहेति ॥ २३ ॥

अर्थ–गर्भाधानान्तर पति पत्नी से कथन करे कि हे प्रिये ! वह परमात्मा तुम्हें गर्भ धारण करावे, जिसप्रकार ज्योतिर्मयी अरणि मथन करने से तेजस्वी अग्नि को उत्पन्न करती है इसीप्रकार तुम्हारा पुत्र तेजस्वी हो, जैसे पृथिवी अग्नि से गर्भवती है, जिसप्रकार द्यौ सूर्य्य से गर्भवती है और जिसप्रकार दिशाओं का वायु गर्भ है इसीप्रकार मैं तुम में गर्भाधान करता हूं, और प्रसव समय पुरुष स्त्री पर जल छिड़ककर परमात्मा से प्रार्थना करे कि हे परमात्मन् ! जिसप्रकार वायु तालाव के जल को चारो ओर से चलाता है इसीप्रकार इसका प्रसव समय गर्भ हिलकर विना आयास जरायु के साथ बाहिर आवे ॥

सं०–अब प्रसव समय हवन का विधान कथन करते हैं:—

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कꣳसे पृषदाज्यꣳ संनीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे अस्योपसन्द्यां माच्छैत्सीत्प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा, मयि प्राणाꣳस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा, यत्कर्मणाऽत्यरीरिचं यद्वान्यूनमिहाकरम्, अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्स्विष्टꣳ सुहुतं करोतु नःस्वाहेति ॥ २४ ॥

अर्थ-इस गृह में पुत्र के साथ वृद्धि को प्राप्त होकर मैं सहस्रों मनुष्यों का पोषक बनूं, इस मेरे पुत्र की सन्तति रूप प्रजा तथा पशुरूप श्री कभी भी विच्छेद को प्राप्त न हो, इत्यादि प्रार्थना करके अग्नि में आहुति दे, मुझ में जो प्राण हैं वह मेरे पुत्र में हों, यह पढ़कर आहुति दे और अन्त में यह कथन करे कि मैंने यह कर्म किया है इसमें जो न्यूनता रहगई हो उसको परमात्मा पूर्ण करें, इसके अनन्तर स्विष्टकृत आहुति दे ॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथदधिमधुघृत ँ संनीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति भूस्ते दधामि, भुवस्ते दधामि, स्वस्ते दधामि, भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति ॥ २५ ॥

अर्थ-इस स्विष्टकृत कर्म के अनन्तर पिता बालक के दक्षिण कर्ण में यह कथन करे कि कर्म, उपासना तथा ज्ञानरूप वेदों की वाणी तुम में प्रविष्ट हो, इस वाक्य को तीनवार पढ़ दधि, मधु तथा घृत मिलाकर सुवर्ण की सलाई से बालक को चटावे और चटाता हुआ यह वाक्य बोले कि "भूस्ते दधामि"=मैं तुम में प्राण धारण करता हूं, "भुवस्ते दधामि"=मैं तुम में अपान धारण करता हूं, "स्वस्ते दधामि"=मैं तेरे में व्यान का धारण कराता हूं, और "भूर्भुवः स्वःसर्वं त्वयि दधामि"=मैं तुम में सब प्राणों का धारण करता हूं ॥

सं०-अब पिता बालक का नाम धरता है:—

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद्गुह्यमेव नाम भवति ॥२६॥

अर्थ-हे पुत्र! "वेदोऽसि"=तु वेद है, यह बालक का गुप्त नाम है अर्थात् तेरा उद्देश्य वेद पढ़ना तथा वैदिकधर्म की रक्षा है ॥

भाष्य-मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि तू वेद=अनुभवस्वरूप है अर्थात् सब का निजरूप जो परमात्मा है वह तू है, सो ठीक नहीं, क्योंकि यदि "वेदोऽसि" वाक्य से उपनिषत्कार का यह भाव होता तो सीधा ही "तत्त्वमसि" नाम रख देते जिससे इनकी मनमानी जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध होजाती उक्त नाम धरना व्यर्थ था, क्योंकि इससे जीव ब्रह्म की एकता का भाव नहीं निकलता, इससे सिद्ध है कि मायावादियों का उक्त अर्थ ठीक नहीं ॥

सं०-अब पिता पुत्र के स्तनपान विषयक परमात्मा से प्रार्थना करता है:—

अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः,येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकरिति।२७।

अर्थ-हे स्वरस्वती=परमात्मन्! जो यह स्तन सुखरूप तथा सुख के देने वाला, मनुष्यादि रत्नों का पोषक, धन का

दाता तथा कल्याण के देने वाला है, इसको आप मेरे पुत्र के लिये दें ।

सं०—अब अन्त में पति स्त्री को आशीर्वाद देता है:—

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते,इलाऽसि-मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत्,सा त्वं वी-रवती भव याऽस्मान्वीरवतोऽकरदिति तं वा एतमाहुरतिपितावताभूरातिपितामहो बताभूः परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया य-शसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मण-स्य पुत्रो जायत इति ॥ २८ ॥

अर्थ—हे प्रिये ! तैने इस वीर पुत्र को उत्पन्न किया है, इसलिये तू वीरता से जीवित रहकर अनेक वीर पुत्रों को उत्पन्न कर और यह पुत्र पिता पितामह से भी श्री, यश तथा ब्रह्मतेज में बढ़कर हो ।

इति चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तं

अथ पंचमं ब्राह्मणं प्रारभ्यते

सं०—अब उक्त विद्या के ज्ञाताओं का वंश वर्णन करते हैं:—

अथ वꣳशः पौतिमाषीपुत्रः कात्या-

यनीपुत्रात्कात्यायनीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्र औपस्वस्तीपुत्रादौपस्वस्तीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्र कात्यायनीपुत्रात्कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात्कौशिकीपुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥१॥

अर्थ–पौतीमाषी के पुत्र ने कात्यायनी के पुत्र से, कात्यायनी के पुत्र ने गौतमी पुत्र से, गोतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पराशरी पुत्र ने औपस्वस्ती के पुत्र से, औपस्वस्ती के पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी के पुत्र ने कौशिकी पुत्र से, कौशिकी के पुत्र ने आलम्बी तथा वैयाघ्रपदी के पुत्र से, वैयाघ्रपदी के पुत्र ने काण्वी तथा कापी के पुत्र से अध्ययन किया।

आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद्वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पारा-

शरीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्रौ वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्र आर्तभागी पुत्रादार्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गी-पुत्रः सांकृतीपुत्रात्सांकृतीपुत्र आल-म्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बी पुत्रादालम्बीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जाय-न्तीपुत्रो मांडूकायनीपुत्रान्माण्डूकायनी-पुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शा-ण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरीपु-त्राद्राथीतरीपुत्रो भालुकीपुत्राद्भालुकी-पुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ वैद-भृतीपुत्राद्वैदभृतीपुत्रः कार्शकेयीपुत्रात्का-र्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्रात्प्राचीनयो-गीपुत्रः सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रः प्रा-श्नीपुत्रादासुरिवासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरा

यणादासुरायण आसुरेरासुरिः ॥ २ ॥

अर्थ—कापीपुत्र ने आत्रेयी के पुत्र से, आत्रेयी के पुत्र ने गौतमी पुत्र से, गौतमी के पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी के पुत्र से,पाराशरी के पुत्र ने वात्सी के पुत्र से, वात्सी के पुत्र ने पाराशरी के पुत्र से, पाराशरी के पुत्र ने वार्कारुणी के पुत्र से, वार्कारुणी के पुत्र ने वार्कारुणी के पुत्र से, वार्कारुणी के पुत्र ने आर्त्तभागी के पुत्र से, आर्त्त-भागी के पुत्र ने शौङ्गी के पुत्र से, शौङ्गी के पुत्र ने सांकृती के पुत्र से, सांकृती के पुत्र ने आलम्बायनी के पुत्र से, आलम्बा-यनी के पुत्र ने आलम्बी के पुत्र से, आलम्बी के पुत्र ने जायन्ती के पुत्र से, जायन्ती के पुत्र ने माण्डूकायनी के पुत्र से, माण्डू-कायनी के पुत्र ने माण्डूकी के पुत्र से, माण्डूकी के पुत्र ने शा-ण्डिली के पुत्र से, शाण्डिली के पुत्र ने राथीतरी के पुत्र से, राथीतरी के पुत्र ने भालुकी के पुत्र से,भालुकी के पुत्र ने क्रौञ्चि-की के दोनों पुत्रों से,क्रौञ्चिकी के दोनों पुत्रों ने वैदभृती के पुत्र से, वैदभृती के पुत्र ने कार्शकेयी पुत्रसे,कार्शकेयी के पुत्र ने प्राचीन-योगी के पुत्र से, प्राचीनयोगी के पुत्र ने सांजीवी के पुत्र से, सांजीवी के पुत्र ने प्राश्नी के पुत्र आसुरिवासी से, प्राश्नी के पुत्र ने आसुरायण से और असुरायण ने आसुरि से अध्य-यन किया ॥

याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽ रुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेः कुश्रि

र्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्यो-
गाज्जिह्वावान्बाध्योगोऽसिताद्वार्षगणाद-
सितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्धरितः क-
श्यपः शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः
कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वाग-
म्भिण्या अम्भिण्यादित्यादादित्यानीमानि
शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञव-
ल्क्येनाऽऽख्यायन्ते ॥ ३ ॥

अर्थ—आसुरि ने याज्ञवल्क्य से, याज्ञवल्क्य ने उद्दालक से, उद्दालक ने अरुण से, अरुण ने उपवेशि से, उपवेशि ने कुश्रि से, कुश्रि ने वाजस्रवा से, वाजस्रवा ने जिह्वावान् बाध्ययोगं से, जिह्वावान् बाध्ययोग ने असित वार्षगण से, असित वार्षगण ने हरित कश्यप से, हरित कश्यप ने शिल्प कश्यप से, शिल्प कश्यप ने कश्यप से, कश्यप ने नैध्रुवी से, नैध्रुवि ने वाक् से, वाक् ने अम्भिणी से और अम्भिणी ने आदित्य से अध्ययन किया, इसलिये यह आदित्य द्वारा प्राप्त हुए शुक्लयजुः वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने कथन किये ॥

समानमासां जीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रो
माण्डूकायनेर्माण्डूकायनिर्माण्डव्यान्मा-

ण्डव्यः कौत्सात्कौत्सो माहित्थेर्माहित्थि र्वामकक्षायणाद्वामकक्षायणः शाण्डिल्या- च्छाण्डिल्यो वात्स्याद्वात्स्यः कुश्रेः कुश्रि र्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद्यज्ञवचा राजस्त म्बायनस्तुरात्कावषेयात्तुरः कावषेयःप्रजा- पतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥

अर्थ-यह वंश परम्परा साञ्जीवी पुत्र तक समान है, सांजीवी पुत्र ने माण्डूकायनी से, माण्डूकायनी ने माण्डव्य से, माण्डव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्थि से, माहित्थि ने वामकक्षायण से, वामकक्षायण ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने वात्स्यसे, वात्स्य ने कुश्रि से, कुश्रि ने यज्ञवचा राजस्तम्बायन से, यज्ञवचा राजस्तम्बायन ने तुर-कावषेय से, तुर-कावषेय ने प्रजापति से, प्रजापति ने ब्रह्मा से अध्ययन किया ॥

अब उपानिषत्कार ऋषि ग्रन्थ की समाप्ति में ब्रह्म को नमस्कार करते हैं कि:—

स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः

उपनिषत्सु विद्येयं, ब्रह्म विद्येति भण्यते ।
नमो स्वयम्भवे तस्मात्, याज्ञवल्क्येन वर्णितम् ॥

ब्रह्मविद्यास्मि विद्यानामित्याह भगवान् स्वयम् ।
तस्मादस्याः कृतं भाष्यं, मुनिनाचार्य्यसम्मतम् ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धं बृहदारण्यकार्य्यभाष्यं समाप्तं

समाप्तश्चायं ग्रन्थः